

**THE BOOK WAS
DRENCHED**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186440

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H.551/D22B Accession No. 112817.

Author दासगुप्ता. ए

Title मूगोले के भौतिक रिश्ता 1955.

This book should be returned on or before the date last marked below.

भूगोल के भौतिक सिद्धान्त

लेखक

ए. एस. गुप्ता, एम. ए., बी. काम., एफ. आर. जी. एस. (लन्दन)

अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, देहली पालीटेकनिक, देहली

भूतपूर्व भूगोल अध्यापक, विद्यासागर कालेज, कलकत्ता

विभिन्न विश्व विद्यालयों के परीक्षक और लेखक—(१) 'Economic and Commercial Geography' (२) 'Economic and Commercial Geography of India and Pakistan' (३)

'Principles of Physical Geography' (४)

'आधुनिक आर्थिक व वाणिज्य भूगोल' तथा

(५) 'भारत व पाकिस्तान का

आर्थिक व वाणिज्य भूगोल'।

तथा

अमरनाथ कपूर, एम. ए. डी. फिल.,

अध्यापक, वाणिज्य विभाग, देहली पालीटेकनिक, देहली

भूतपूर्व अध्यापक, एस. एम. कालेज, चन्दौसी (उ. प्र.)

और लेखक (१) 'Principles of Physical Geography' (२)

'भूमंडल का आर्थिक व वाणिज्य भूगोल' (३) 'भारत का आर्थिक

भूगोल' (४) 'आधुनिक आर्थिक वाणिज्य भूगोल' (५) 'भारत

व पाकिस्तान का आर्थिक व वाणिज्य भूगोल'।

सर्वोदय साहित्य मंदिर,

१६५५ कोठी, (बसस्टेण्ड), ई. राबाइ ब,

एस० चंद एंड कम्पनी

देहली लखनऊ जलन्धर

प्रकाशक

गौरीशंकर शर्मा,

एस० चंद एण्ड कम्पनी देहली

इन्ही लेखको द्वारा—

भारत व पाकिस्तान का आर्थिक व वाणिज्य भूगोल मूल्य ५॥)

आधुनिक आर्थिक व वाणिज्य भूगोल „ ६॥)

Principles of Physical Geography , ७॥)

१९५५

मूल्य—७॥) रुपए

एस. चंद एण्ड कम्पनी

फव्वारा — दिल्ली

साई हीरा गेट — जालन्धर शहर

लाग बाग — लखनऊ

मुद्रक

सुरेन्द्र प्रिंटर्स लि०,

डिप्टीगंज, देहली

प्राक्कथन

भूगोल की प्रत्येक शाखा मनुष्य को अध्ययन करने की चेष्टा करती है परन्तु इस पृथ्वी पर मानव का महत्त्व केवल उतना ही है जितना कि चौराहे पर खड़े पुलिस सिपाही का। मनुष्य पर उसकी परिस्थिति का असर पड़ता है और स्पष्ट है कि यदि मानव भूगोल के अध्ययन में हम मानव-जीवन के भौतिक आधारों की चर्चा न करें तो विषय अधूरा ही रह जायेगा। अतएव प्रादेशिक, मानव या आर्थिक भूगोल के लिए भौतिक सिद्धान्तों का अध्ययन आधार के समान है।

“भूगोल के भौतिक सिद्धान्त” पुस्तक के अन्तर्गत इस पृथ्वी के रहस्यों का विवेचन किया गया है कि इसका ब्रह्माण्ड में क्या स्थान है और अन्य ग्रहों के साथ इसका क्या सम्बन्ध है पृथ्वी का धरातल और भूपटल कैसा है; वायुमण्डल जो इसे चारों ओर से घेरे हुए है; और जलमण्डल जो इसके दो तिहाई अंश में फैला हुआ है उनका क्या मतलब है। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य उपर्युक्त तथ्यों तथा सम्बन्धों के साथ पाठक की जानकारी उत्पन्न करना ही नहीं है बल्कि उनकी विस्तृत व्याख्या देना है। परन्तु इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थों से यह पुस्तक भिन्न है। इसमें सिद्धान्तों का सामान्य अमूर्त विवेचन मात्र नहीं है जैसा इस श्रेणी की अन्य पुस्तकों में होता है बल्कि भौतिक परिस्थिति के बीच मनुष्य को रख कर उसका उसकी प्राकृतिक स्थितियों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है।

प्रथम तीन अध्यायों में हमारे घर पृथ्वी के रहस्यों का विवेचन दिया गया है। इनके अन्तर्गत हम पृथ्वी की उत्पत्ति, इसका इतिहास, इसके सौर सम्बन्ध तथा इसके धरातल की विशेषताओं का अध्ययन करते हैं। चौथे अध्याय से नौवें अध्याय तक वायुमण्डल के विभिन्न तत्त्वों और जलवायु के रूप में उनका मनुष्य पर प्रभाव स्पष्ट किया गया है। इसके बाद भूपृष्ठ तथा उसके स्थलरूपों का क्रमिक वर्णन दिया गया है। साथ-साथ निर्माणकारी तथा विध्वंसकारी शक्तियों का भी वर्णन दिया गया है। इस विषय का प्रतिपादन दसवें अध्याय से बाईसवें अध्याय तक किया गया है। पुस्तक का यह खंड सबसे अधिक विस्तृत है क्योंकि यह स्थल-मण्डल से सम्बन्ध रखता है जिस पर हम चलते और काम करते हैं। अन्त के तीन अध्यायों में जलमण्डल, झील और दलदल तथा पृथ्वी की वनस्पति, जीवजन्तुओं और मिट्टी का अध्ययन दिया गया है।

प्रतिपादित विषय की यह व्यवस्था क्रमिक व तार्किक है। प्रत्येक तथ्य को कारण सहित आलोचनात्मक रीति से समझाया गया है। इस प्रकार भूमण्डल के विविध तथ्यों तथा भूदृश्यों का केवल विवरण ही नहीं दिया गया है बल्कि प्रत्येक तथ्य के विविध रूप आकारों का गुढ़ आलोचनात्मक विवेचन इस प्रकार किया गया है कि क्यों, क्या और कैसे वाले प्रश्नों का उत्तर स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

भौतिक आधारों के विस्तृत अध्ययन के साथ-साथ उनका मनुष्य से सम्बन्ध स्पष्ट करके प्रस्तुत पुस्तक ने एक बहुत बड़ी कमी को पूरा किया है। लेखकों ने कालेज तथा विश्वविद्यालयों के भूगोल विद्यार्थियों को पढ़ाते समय इस कमी का अनुभव किया और यह पुस्तक उसी की पूरक है। प्रस्तुत रूप में वर्तमान पुस्तक विभिन्न विश्वविद्यालयों की इण्टरमीडिएट, बी०ए० तथा बी०एस०सी० परीक्षाओं के पाठ्यक्रम का अनुसरण करती है।

लेखकों ने विषय को स्पष्ट, सरल तथा नवीन रीति से प्रस्तुत करने का विशेष प्रयत्न किया है। विषय को चित्रवत् एवम् मनोरंजक बनाने के लिए लगभग २०० मानचित्र, रेखाचित्र और फोटोचित्र यथास्थान समाविष्ट कर दिये गये हैं। अन्त में ब्रिटिश ऐसोशिएशन ग्लोसरी कमेटी द्वारा दी हुई परिभाषाओं को परिशिष्टरूप में दे दिया गया है। इससे सामान्य पाठक को विषय ज्ञान के स्पष्टीकरण और नियमन में सहायता मिलेगी। पाठकों को और अधिक पढ़ने में उत्साहित करने के लिए सहायक ग्रन्थों की एक सूची भी दे दी गई है।

हमें पूर्ण आशा है कि 'भूगोल के भौतिक सिद्धान्त' विषय के विद्यार्थियों एवं सामान्य पाठकों दोनों के ही लिए हितकर एवं रुचिकर सिद्ध होगी। अन्त में हम उन विभिन्न विशेषज्ञों तथा अनुसन्धान समितियों को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते जिनकी खोजों तथा ग्रन्थों से हमें इस पुस्तक के लिखने में विशेष सहायता मिली है।

देहली

१५ सितम्बर १९५५

ए० दास गुप्ता

अमरनाथ कपूर

विषय सूची

अध्याय

पृष्ठ संख्या

- विषय प्रवेश—भूगोल का अर्थ और क्षेत्र—भूगोल के अध्ययन का विकास—मनुष्य की परिस्थिति के तत्व—अन्य विज्ञानों के साथ भूगोल का सम्बन्ध—मानव और प्राकृतिक भूगोल—भौगोलिक परिस्थिति के तत्वों का महत्व । i—vi
- १ हमारी पृथ्वी—पृथ्वी की उत्पत्ति; लाप्लेस का नीहारिका सिद्धान्त; जेम्स जीन्स का ज्वारीय सिद्धान्त; चैम्बरलेन और मोल्टन का सिद्धान्त, लिटलटन का द्विग्रह सिद्धान्त; रासजन का आवर्तन और ज्वारीय सिद्धान्त; सीफइड सिद्धान्त—सौर मण्डल—पृथ्वी का आकार; इसके प्रमाण—पृथ्वी का विस्तार—पृथ्वी के सौर सम्बन्ध—ग्रहण : सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण; पृथ्वी की गतियाँ—पृथ्वी का आवर्तन—दिन और रात; पृथ्वी का परिभ्रमण; इसके प्रभाव—मौसम—अक्षांस व देशान्तर रेखायें—स्थानीय समय तथा प्रामाणिक समय—कटिबंधीय समय—अन्तर्राष्ट्रीय तिथि रेखा । १—२८
- २ पृथ्वी का आन्तरिक भाग—भूकम्प लहरों का प्रमाण—पृथ्वी की रचना और परतें; सिआल, सिमा, निफे—परिमाण मंडल, मिश्रित मंडल, स्थल मंडल । २९—३२
- ३ पृथ्वी का धरातल—जल-थल का वितरण—इसका स्थायित्व-समतुलन—महाद्वीपों तथा महासागरों की उत्पत्ति; चतुष्फलक सिद्धान्त; स्वेस का सिद्धान्त; वेगनर का महाद्वीपीय प्रवाह सिद्धान्त; जॉली का तापीय-चक्र सिद्धान्त; होम्स का संवाहन-धारा सिद्धान्त—सिआल परत का टूटना; पृथ्वी के धरातल का इतिहास—प्राचीन कल्प (Eozoic or Precambrian era); प्रारम्भिक कल्प (Paleozoic or Primary era); मध्य कल्प (Mesozoic era); नवीन कल्प (Neozoic or Tertiary era); प्रति नूतन कल्प (Quaternary era) । ३३—४६
- ४ वायुमंडल—इसके अंग—अधोमंडल—समतापमंडल—वायुमंडल की रचना—वायुमंडल का तापक्रम; सूर्यताप, स्थायी सूर्यताप—वायुमंडल का गरम होना—वायुमंडल के तापक्रम को निश्चित करने वाले तत्व—तापक्रम परिवर्तन—दैनिक तथा मौसमी तापक्रम परिवर्तन; ऊँचाई और तापक्रम परिवर्तन—तापक्रम की विलोमता—

तापक्रम का समानान्तर वितरण—समताप रेखायें ।

४७—५८

- ५ वायुमंडल का भार और हवाये—वायुभार और तापक्रम—ऊँचाई और वायुभार—जलवाष्प की मात्रा और वायुभार—वायुभार परिवर्तन—वायुभार का धरातल पर वितरण—समभार रेखायें । ५९—६३
- ६ हवाये—वायुभार ढाल—वायुभार विस्तार—फेरल का नियम—वाईस बैलट का नियम—वायु की गति—हवाओं के प्रकार; स्थायी हवायें, मौसमी हवाये, स्थानीय हवायें, तूफानी आंधियाँ, बाधित हवाये, अस्थिर हवाये—स्थायी हवाये : भूमध्यरेखिक शान्तमण्डल या डोलड्रमस—व्यापारिक हवाये—उपोष्णीय या अयनरेखिक शान्तमण्डल—पछुवाँ हवाये—अर्द्धध्रुवीय निम्नभार पेटी—हवा की पेटियों का खिसकना—मौसमी हवाये : मानसून—स्थानीय हवाये : समुद्री व स्थलीय पवन; पर्वतीय व घाटी पवन; बवंडर; बर्ग, मिस्ट्रल, बोरा; सिराको, खामसिन, त्रिकफील्डर—तूफानी आंधियाँ—बाधित हवाये वायुभंवर, फोएन और चिनूक हवाये, टारनेडो । ६४—७९
- ७ अस्थिर हवाये : उष्णकटिबंधीय चक्रवात—हरीकेन और टाईफून—विस्तार और आकार, गति और तीव्रता, मार्ग और प्रवाह, रचना और ऋतु—शीतोष्ण चक्रवात—उत्पत्ति और प्रकार—प्रगति सिद्धान्त—ध्रुवीय सीमान्त सिद्धान्त—गौण गर्तचक्र—हम्फ्रीज के अनुसार इनका वर्गीकरण—तापीय, सूर्यतापिज तथा चलनशील—आकार तथा विस्तार, गति और तीव्रता, मार्ग और प्रवाह, रचना और ऋतु—सीमांत मिलन । विरुद्ध चक्रवात—सामान्य विशेषतायें और ऋतु—प्रकार : शीत और गर्म—घर्षणीय, विकिरणीय और तापीय । ८०—९५
- ८ वायुमंडल में नमी—जलवाष्प—संतृप्त तल—वास्तविक आर्द्रता, सापेक्ष आर्द्रता—वाष्पीभवन—घनीभवन—हिमसंगोपिक पदार्थ घनीभवन के बाद के रूप : वर्षा, तुषार, कुहरा, धुंध, पाला, ओस—ओस और पाला—धुंध और कुहरा—विकिरण कुहरा, स्पर्शण कुहरा—बादल : क्यूमूलस, सिरस, निम्बस, स्ट्रेटस—मेघाच्छिन्नता—वृष्टि—तुषार—ओले । वर्षा—विभिन्न स्थितियाँ व दशायें—वर्षा को निश्चित करने वाले तत्व—वर्षा के प्रकार : वाहनिक, पर्वतीय, चक्रवातीय और तटीय—वर्षा को मापना और उसकी सामान्य विशेषताये—वर्षा के परिवर्तन : दैनिक और मौसमी । ९६—१०८
- ९ जलवायु—जलवायु और मनुष्य; जलवायु और प्राकृतिक बनावट; जलवायु और ऋतुप्रहार; जलवायु और अनावृत्तीकरण; जलवायु और वनस्पति—जलवायु नियन्त्रण के प्रमुख तत्व—अक्षांस, ऊँचाई, जल-थल का वितरण, प्रचलित हवायें, सामुद्रिक धाराये, भूमि का आवरण, ज्वालामुखी विस्फोट, स्थायी सूर्यताप और सूर्य के धब्बे,

सूर्य से दूरी—संसार के जलवायु सम्बन्धी प्रदेश—कोइपन के अनुसार इन प्रदेशों का वर्गीकरण—प्रत्येक का तापक्रम, वर्षा मौसम, मिट्टी, प्राकृतिक वनस्पति और जीव-जन्तु, लोग और औद्योगिक विकास—
(अ) उष्णकटिबंधीय वर्षािमय जलवायु : विषुवत रेखीय वनप्रदेशीय, सबाना तुल्य, मानसूनी जलवायु । (ब) शुष्क जलवायु : गर्म रेगिस्तान—पठारी रेगिस्तान और तलहटी रेगिस्तान, गर्म स्टेपी प्रदेश—शीतोष्ण रेगिस्तान, मध्य अक्षांसीय स्टेपी । (स) आर्द्र या तर समताप जलवायु—शुष्क गर्मी की ऋतु वाली उपोष्णीय या भूमध्य सागरीय जलवायु, आर्द्र उपोष्णीय या चीन तुल्य जलवायु, पश्चिमी तटीय या यूरोप तुल्य जलवायु (द) आर्द्र निम्नताप जलवायु : तर महाद्वीपीय जलवायु—गर्मी की छोटी ऋतु वाली, गर्मी की लम्बी ऋतु वाली तथा परिवर्तित या न्यू इंग्लैण्ड तुल्य; अर्द्धध्रुवीय या टेंगा तुल्य (इ) ध्रुवीय जलवायु—टुन्ड्रा और हिमआवरण । १०६—१६२

१० भूपृष्ठ—चट्टाने—आग्नेय चट्टाने; बाह्य तथा आन्तरिक चट्टाने, पातालीय चट्टाने—डाइक चट्टाने; अमल और पैठिक चट्टाने—परतदार चट्टाने—प्राणिज और अप्राणिज चट्टाने—बलुही (Arcenaceous) तथा चीका मिट्टी प्रधान (Argillaceous) चट्टाने—चूना और कारबन तत्व प्रधान चट्टाने—परिवर्तित चट्टाने—प्रादेशिक तथा स्पर्शण परिवर्तन । १६३—१७३

११ स्थलरूप और उनके परिवर्तन—भौगर्भिक (Endogenetic) तथा बाह्य (Exogenetic) शक्तियाँ—भूकम्प और ज्वालामुखी—स्थलरूप के प्रकार : प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, तृतीय श्रेणी—निर्मित, निक्षिप्त, विध्वंसित—विकास चक्र (Evolutionary cycle) । १७४—१७६

१२ प्रमुख स्थलरूप : पर्वत—पर्वत निर्माण के सिद्धान्त—पर्वत निर्माण की विभिन्न स्थितियाँ—पर्वत निर्माणकारी हलचले—पर्वतों का वर्गीकरण—संचयन से बने हुए पर्वत, अनावृतीकरण से बने हुए पर्वत, अवशिष्ट पर्वत—मोड़दार पर्वत, भूभागनिर्मित पर्वत, गुम्बदाकार पर्वत—पर्वत श्रेणियों की व्यवस्था—पर्वत प्रदेश (Cordillera), पर्वत प्रणाली (System), पर्वत माला (Chain), पर्वत समुदाय (Group)—पर्वत का विकास चक्र—पर्वत और मनुष्य । १८०—१८७

१३ प्रमुख स्थलरूप : पठार—प्रकार और उनकी विशेषताये—पर्वत प्रान्तीय पठार, अन्तरापर्वतीय पठार, महाद्वीपीय पठार—पहाड़ी प्रदेश और उनके प्रकार । १८८—१९२

१४ प्रमुख स्थलरूप : मैदान—उनकी उत्पत्ति और प्रकार—तटीय मैदान, पेनीप्लेन या आवरणक्षय का मैदान, साइयुस्टाकार मैदान, कार्स्ट मैदान, हिमप्रवाह निर्मित मैदान, मरूस्थलीय मैदान, नदी जल निर्मित मैदान, ड्रिफ्ट मैदान, लोएस मैदान, झील मैदान—मनुष्य और मैदान । १९३—२०१

- १५ भूपटल की शक्तियाँ—(१) भूकम्प और ज्वालामुखी—भूकम्प सम्बन्धी लोच के कारण दुबारा चलने का सिद्धान्त (Elastic Rebound-Theory)—भूकम्प लहरें—भूकम्प केन्द्र—भूकम्प विज्ञान तथा भूचालों का अध्ययन—भूकम्प पेटियाँ—भूकम्प द्वारा उत्पन्न परिवर्तन—ज्वालामुखी—उनके द्वारा फेंका हुआ पदार्थ—ज्वालामुखी के प्रकार—लावाका गुम्बद, राख शंकु, मिश्रित शंकु—शंकु निर्माण के सिद्धान्त—ज्वालामुखी विस्फोट—दरार उद्गार, शान्त उद्गार, विस्फोटक उद्गार—चैतन्य, समुप्त तथा शान्त ज्वालामुखी—ज्वालामुखी और भूदृश्य—ज्वालामुखी पर्वतों का वितरण। २०२—२१३
- १६ भूपटल की शक्तियाँ—(२) पर्वत निर्माणकारी और महाद्वीप निर्माणकारी हलचलें—उत्क्षेप निर्माणकारी (Epeirogenetic) और पर्वत निर्माणकारी (Orogenetic) हलचलें—घरेरे पड़ना (Folding) घरेरों के प्रकार—प्रतिनति और संनति—दरार पड़ना (Faulting) स्थानीय तथा प्रादेशिक—दरारखंड—दरार घाटी और अवरोधी पिण्ड (Horst)—भूभाग निमित्त पर्वत—जोड़ पड़ना (Jointing)—प्रमुख जोड़ (Master joints), झुकाव जोड़ (Dip-joints) और स्ट्राइक जोड़ (Strike joints)—इसका महत्व—जोड़ मिलन (Lamination) । २१४—२२२
- १७ अनावृत्तीकरण—ऋतुप्रहार या मौसमीक्षति—आवरणक्षय—घर्षणीय और रासायनिक ऋतुप्रहार—विखंडन और विलयन—ऋतुप्रहार के साधन—सूर्यताप, पाला, पेड़ पौधे, हवाये और गैस—ओषजीकरण (Oxidation), कारबनीकरण (Carbonation), जलीकरण (Hydration), घुलाना (Solution)—विभिन्न मौसमी क्षति—आवरणक्षय सम्बन्धी अंग—उठाना, अपनयन और काट-छांट—आवरणक्षय के यंत्र—आवरणक्षय चक्र । २२३—२२८
- १८ अनावृत्तीकरण के साधन—(१) नदियाँ या बहता हुआ जल—नदियों द्वारा आवरण क्षय—नदी का भार—आवरणक्षय पर नियंत्रण रखने वाले तत्व—नदी घाटी निर्माण—नदी घाटी के अंग—ऊपरी घाटी, मध्य घाटी, निम्न घाटी—जल द्वारा आवरणक्षय की दिशा—उद्गम की ओर आवरणक्षय—अन्तरस्थल (Base level or grade)—नदी घाटी चक्र—नदी में नवजीवन (Rejuvenation)—नदी निक्षेप—मृत्तिका पंख, बाढ़ के मैदान, डेल्टा—प्रवाह प्रणाली और इस का विकास—विभिन्न स्थितियाँ—उत्क्षेप अनुरूप (Consequent) और उत्पेक्ष से असम्बन्धित जल प्रवाह—वृक्ष सम (Dendritic) प्रवाह, ट्रेलिस (Trellis) जलप्रवाह Annular जल प्रणाली, गुम्बदाकार जल प्रणाली—उत्क्षेप अनुरूप नदी (Consequent), उत्क्षेप प्रतिकूल नदी (Subs-

equent)—डाल के विपरीत (Obsequent) उपधारा, स्वयं आरोपित (Resequent)—नदी स्रोत हरण या नदी का हड़पना—पूर्व आरोपित जलप्रवाह (Superimposed Drainage)—यथा पूर्व जलप्रवाह (Antecedent Drainage) । २२६—२४६

१६

अनावृत्तीकरण के साधन (२) भूगर्भवती जल—जलीय चट्टानें—जलरेखा : स्थानीय, प्रादेशिक और स्थायी—भूगर्भवती जल का धरातल पर रूप—झरने और उनके प्रकार—गर्म जलस्रोत—गेसर—खनिज जल स्रोत—कुयें—पतालफोड़ कुयें—भूगर्भवतीजल का कार्य : घुलाना, निक्षेप और पावणीकरण—आवरणक्षय : जल सोखने वाले गर्त (Swallowhole), डोलाइन (Doline), कन्दरा (Cavern), स्वाभाविक पुल (Natural Bridges)—निक्षेप: स्टैलक्टाइट, स्टैलग्माइट—कास्ट प्रदेशीय प्राकृतिक बनावट—विकास चक्र । २५०—२६०

२०

अनावृत्तीकरण के साधन—(३) चलता हुआ हिम—हिमरेखा और हिम क्षेत्र—नेवे (Neve)—उन का रूप व विस्तार—चलते हुए हिम की विशेषतायें—चलते हुए हिम का भार—हिम नदियों का कार्य—रक्षक व भक्षक विचार धारायें—हिमनदियों द्वारा आवरणक्षय तथा इसके विविध रूप : हिमागार (Cirque), विभाजक पात्र (Col), शृंग (Horn), शृंगीय श्रेणी (Combridge), U—आकार की घाटी, अधिक गहरी की हुई V—आकार की घाटी, लटकती हुई घाटी, चट्टानी सीढ़ी (Rock Bastion), मेष शिलाये (Roche Montonnes), मोरेन—निक्षेप कार्य: मोरेन की श्रेणियाँ, टिल, केम, ड्रमलिन, एस्कर—हिम नदी द्वारा जल प्रवाह परिवर्तन—हिम नदी द्वारा बनाई गई झीले—हिमनदी चक्र—हिम प्रवाहित प्रदेशों की विशेषतायें—हिमयुग के महाद्वीपीय हिमानी और यूरोप तथा अमरीका पर उनका प्रभाव । २६१—२८६

२१

अनावृत्तीकरण के साधन—(४) हवा—शुष्क प्रदेश और हवा द्वारा आवरणक्षय—हवा द्वारा आवरणक्षय के विविध रूप—जोगन (Zeugen), मशरूम चट्टान, यारदांग (Yardang), भूखंभ—हवा द्वारा निक्षेप कार्य—लोएस और बालुका स्तूप के प्रकार—बालुका तूफानों का स्थानान्तरण । २८०—२८७

२२

अनावृत्तीकरण के साधन—(५) लहरे और तटरेखा—लहरों और बिखरी हुई लहर (Breaker)—लहरों का भार—लहरों द्वारा आवरणक्षय: पीछे का कटाव (Retrogradation)—लहरों द्वारा आवरणक्षय के रूप : स्कैरिज (Skarries), उगलने वाले छेद (Spouting Horns), समुद्री गुफाएं (Seacaves), तटीय दरार (Chasms), अनुतटीय पीठिकायें (Offshore Ben-

ches)—लहरों द्वारा निक्षेप कार्य: आगे का बढ़ाव (Progradation)—सूक्ष्म तटीय श्रेणी (Pocket Beaches), चन्द्राकार तटीयश्रेणी (Crescent Beaches), अनुतटीय बाधक श्रेणी (Off shore Bar), भित्तिमय तटश्रेणी (Barrier Beaches), कस्पेट फोरलैंड (Cuspate Foreland)—तट और तट रेखा—पर्वतीय तट रेखा (Dalmation Coast-line), हाफ (Haff) तटरेखा, फियार्ड तट रेखा (Fiord Coastline), निमग्न घाटी तटरेखा (Ria Coastline)—उत्क्षेप और निमज्जन की तट रेखाये—सामान्य तथा संयुक्ततट रेखाये । २६८—३१०

२३ जलमंडल—इस का महत्व तथा विशेषताएं—इसके प्रदेश : महाद्वीपीय सागर, महाद्वीपीय ढाल, महासागरीय गर्त । अगाध सागर तल—महासागर का खारापन—महासागर के जल का तापक्रम—महासागरीय निक्षेप—ऊँज और प्राबल रचना : अनुतटीय श्रेणी (Fringing Reef), परातटीय श्रेणी (Barrier Reef) चन्द्राकार श्रेणी (Atoll) तथा प्रबाल द्वीप—प्रबाल रचना के सिद्धान्त—डारविन का सिद्धान्त, मरे का सिद्धान्त, डैली का सिद्धान्त—महासागर की गतियाँ : लहरे, धाराये, ज्वारभाटा, डिप्ट और क्रीप—आन्ध्र, प्रशान्त और हिन्द महासागर की धारायें—दीर्घ और लघु ज्वार—ज्वार भाटे के सिद्धान्त: प्रगतिशील लहर सिद्धान्त (Progressive Wave Theory) तथा स्थायी लहर सिद्धान्त (Stationary Wave Theory)—ज्वारीय लहर—जलभित्त (Bore)—ज्वारभाटे का महत्व । ३११—३३०

२४ झील और दलदल—पंकभूमि—दलदल—क्षार भूमि क्षेत्र—झीलों के प्रकार, उनकी उत्पत्ति तथा विशेषतायें—मानव व प्रकृति के आर्थिकजीवन में झीलोंका महत्व—झीलोंका अस्थायित्व—झीलोंका विलीन होना । ३३१—३४३

२५ मिट्टी और वनस्पति—मिट्टी का महत्व—रचना तथा प्रकार—मिट्टी की उत्पत्ति—संरचना और बनावट—मिट्टी का नष्ट होना और उसके साधन : जल, हिम, वायु, असावधान कृषि, असावधान सिंचाई—मिट्टी के उपजाऊपन को पूरा करना—संसार की मिट्टी : पेडालफर (Pedalfars) और पेडोकाल (Pedocols)—लैटराइट मिट्टी, लाल मिट्टी, कपास की काली मिट्टी, पाडसाल (Podsol), प्रेरी मिट्टी, चेस्टनट मिट्टी—भूमि पर वनस्पति का आवरण—वन, घास के मैदान और रेगिस्तानी झाड़ियों—विभिन्न प्रकार की वनस्पति और उसका वितरण—जीव जन्तु और उनका वितरण । ३४४—३५५

शब्दावली—भौतिक भूगोल में प्रयुक्त सामान्य शब्दों की ब्रिटिश ऐसोशिएशन ग्लोसरी कमेटो द्वारा दी गई व्याख्या ३५६—३५६

विषय-प्रवेश

वर्तमान समय में कुछ ही वर्ष पहले तक भूगोल का अध्ययन केवल नामों की सूची मात्र था। भूगोल के विद्यार्थी महाद्वीपों तथा समुद्रों के नाम, खाड़ियों और समुद्रों की गहराई तथा नदियों की लम्बाई और पर्वतों की ऊँचाई इत्यादि यथार्थ बातों को याद करके अपने को पूर्ण सन्तुष्ट समझते थे। उनकी तरफ से इस बात को समझने का कभी भी प्रयत्न नहीं था कि इन यथार्थ बातों ने क्यों और कैसे यह रूप धारण किया। भूगोल का विस्तार केवल संसार तथा उसके निवासियों के वर्णन तक ही समझा जाता था। कुछ अंश तक भूगोल का अर्थ भूमंडल के विभागों के वर्णन से सम्बन्धित था। प्राचीन समय के भूगोल शास्त्री पृथ्वी के धरातल को प्राकृतिक रूप से, संस्कृति तथा सभ्यता के उन्नति अनुसार अथवा इन दोनों तरीकों से कई भागों में विभाजित कर अपने हृदय को पूर्ण तृप्त समझते थे। इसका पूर्ण अर्थ था इन विभागों का अलग-अलग वर्णन तथा व्याख्या करना।

परन्तु वर्तमान समय में भूगोल का अर्थ केवल भूमंडल के विभागों का वर्णन तथा व्याख्या करना ही नहीं है। इसका अर्थ है अन्वेषण, कारणों का अध्ययन करना तथा इस बात की खोज करना कि मनुष्य-जीवन पर प्रभाव डालने वाली यथार्थ बातें इस नक्षत्र पर क्यों और कैसे होती हैं। वर्तमान भूगोल भूमंडल को मनुष्य का निवासस्थान समझकर उसका अध्ययन करता है। यह सर्वदा मनुष्य तथा उसके वातावरण के बीच के सम्बन्ध को खोज निकालने का प्रयत्न करता है। भूगोल उन सारी भौगोलिक दशाओं का वर्णन करता है जिनके बीच मनुष्य रहता है तथा कार्य करता है। इससे भी बढ़कर यह है कि उनसे सम्बन्धित कारणों की भौगोलिक दशाओं को यह खोज निकालता है। दूसरे शब्दों में यह उन सारी परिस्थितियों का अध्ययन करता है जिनके बीच मनुष्य अनुकूल रूप से रहता तथा कार्य करता है।

इस भूमंडल पर मनुष्य की परिस्थिति बनाने वाले तत्त्व तथा तथ्य बहुत से हैं। बहुत-सी चीजें प्राकृतिक रूप से इस भूमंडल पर उपस्थित हैं जैसे स्थलरूप जलवायु, वनस्पति तथा पशु-पक्षी। भूमंडल के कुछ प्रदेशों में जलवायु की कठोरता, पृथ्वी की कठोर बनावट तथा साधारण आकृति ऐसी है कि जीवन को साधारण रूप से बिताना असंभव है। इसी कारण आर्थिक उन्नति के क्षेत्र में रेगिस्तान, हिमाच्छादित प्रदेश तथा पर्वतीय प्रदेश पिछड़े हुए रहे हैं। यह प्रदेश कम बसे हुए हैं और मनुष्य भी इन पिछड़ी हुई जगहों की तरफ अधिक आकर्षित नहीं होते। किसी भी तरह से यदि इस प्रकार के प्रदेशों में खनिज-पदार्थ या मनुष्य के आर्थिक कार्य में आने वाली मूल्यवान् धातुएं होती हैं तो मनुष्य इनकी ओर अपना रुख करता है और उन प्रदेशों को रहने

योग्य बनाने का प्रयत्न करता है। आस्ट्रेलिया के पश्चिमी रेगिस्तान तथा उत्तरी अमेरिका के बिल्कुल उत्तरी किनारे वाले एलास्का के प्रदेश में उन्नति तथा आबादी केवल इस कारण हुई है कि वहाँ पर सोना मिलता है। मनुष्य में स्वर्ण तथा धन की तीव्र लालसा ने उसको उन प्रदेशों के कठोर जीवन को भी ठीक तथा अनुकूल करने पर उतारू कर दिया।

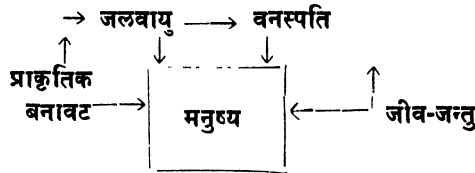
इस प्रकार यह सत्य है कि मनुष्य के वातावरण का पूर्ण विश्लेषण करने पर हम को केवल प्राकृतिक तत्त्व ही ध्यान में नहीं रखने चाहिए, बल्कि मनुष्य सम्बन्धी बातें या सभ्यता सम्बन्धी तत्त्व जिसमें आबादी का रूप तथा पृथ्वी का उपभोग, घरनिर्माण सम्बन्धी सामान की किस्में, तथा सब से अधिक महत्त्वपूर्ण आवागमन के साधन भी शामिल हैं, इनको भी ध्यान में रखना चाहिए। सभ्यता व संस्कृति सम्बन्धी ये तत्त्व स्वयं इसलिए प्रधान हैं क्योंकि ये एक प्रदेश के प्राकृतिक वातावरण में परिवर्तन कर सकते हैं। परन्तु यह परिवर्तन केवल मनुष्य द्वारा ऐसे प्रदेशों के अधिकार पर ही निर्भर नहीं है। यह बात पूर्ण रूप से प्राकृतिक वातावरण, जलवायु वनस्पति तथा भूमंडल के उन प्रदेशों के जीव-जन्तुओं से सम्बन्धित है। यह नितान्त सत्य है कि मनुष्य तथा उसके कार्य अपने वातावरण के प्राकृतिक तत्त्वों को सुधार सकते हैं परन्तु अन्त में एक सीमा वह आती है जहाँ प्राकृतिक शक्तियों के आगे मनुष्य नहीं बढ़ सकता तथा वहाँ उसके प्रयत्नों का अन्त हो जाता है।

वातावरण के प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक तत्त्व आपस में सम्बन्धित हैं, तथा इन दोनों को बिना ध्यान में रखते हुए हम संसार के बहुत से प्रदेशों में होने वाले बड़े-बड़े परिवर्तनों की वास्तविकता को न तो समझ सकते और न उसके बारे में समझा ही सकते। वास्तव में इन दोनों तत्त्वों की रचना से ही विभिन्न सांसारिक प्रदेशों में मनुष्य का जीवन और उसके कार्य बनते हैं। इन दोनों में से कोई एक अलग रूप से संसार के विभिन्न प्रदेशों में होने वाले मूल परिवर्तनों का कारण नहीं हो सकता।

संसार के भूगोल शास्त्री एक या दूसरे प्रकार के तत्त्व पर अधिक जोर देते हैं। उसी के आधार पर हम भूगोल के अध्ययन को दो शाखाओं में विभाजित कर सकते हैं : (१) वह शाखा जो मनुष्य सम्बन्धी तत्वों का—पृथ्वी पर मनुष्य द्वारा बनाये हुए वातावरण का अध्ययन करती है। इसको हम मानव भूगोल (Human Geography) कहते हैं, और हालांकि विद्यार्थियों का ध्यान अधिकतर मनुष्य और उसके कार्य तथा मनुष्य द्वारा बनाए हुए वातावरण तथा वातावरण के शिष्टता सम्बन्धी तत्व पर ही रहता है। परन्तु फिर भी प्राकृतिक तत्वों को हम नहीं छोड़ सकते। हाँ, केवल उनका महत्त्व कम हो जाता है और प्राकृतिक बनावट केवल इस बात को समझाने के काम आती है कि मनुष्य वर्तमान रहन-सहन के दर्जे पर किस प्रकार आया। (२) दूसरी शाखा वह है जिसमें मनुष्य का जीवन तथा उसके कार्य गौण रूप धारण करते हैं तथा जिसमें भूगोल शास्त्री का प्रथम कर्तव्य प्राकृतिक तत्वों अथवा हमारे वातावरण के तथ्यों के विभिन्न रूपों के बारे में समझाना है। इस प्रकार स्वयं प्राकृतिक वातावरण के अध्ययन को हम 'प्राकृतिक भूगोल' (Physical Geography) कहते हैं तथा इसमें हम स्थलरूप (Landform), प्रवाह प्रणाली

(Drainage forms), जलाशय और तटरेखा (Water bodies and Sh-relines), खनिज पदार्थ, मिट्टी, जलवायु, प्राकृतिक वनस्पति तथा जीव-जन्तुओं का अध्ययन करते हैं। इन सबसे वह प्राकृतिक आधार तैयार होता है जिस पर मनुष्य रहता है तथा कार्य करता है। साथ-साथ ये वह तत्व हैं जो मनुष्य का विभिन्न क्षेत्रों में निवास निश्चित करते हैं और उसके कार्यों तथा सांस्कृतिक क्रियाकलाप को सीमित करते हैं।

भूमंडल पर मनुष्य के कार्यों पर प्रभाव डालने वाले, कारण बनने वाले, तथा उनको निश्चित करने वाले खास तथ्यों का अध्ययन हम इन चार वर्गों में कर सकते हैं—(१) प्राकृतिक बनावट, (२) जलवायु (३) वनस्पति (४) जीव-जन्तु। यह सारे तथ्य आपस में सम्बन्धित हैं तथा एक से दूसरे को जाया जा सकता है। आधार भूत तत्वों को तथा उन तत्वों को जो उन पर निर्भर हैं हम निम्न चित्र से स्पष्ट कर सकते हैं।



इन खास तथ्यों तथा कारणों में से, प्राकृतिक बनावट तथा जलवायु अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं तथा इनका प्रभाव व्यवसाय तथा इस संसार के विभिन्न क्षेत्रों में मनुष्य के रहन-सहन पर होता है। किसी भी प्रदेश की वनस्पति के प्रकारों पर वहाँ की प्राकृतिक आकृति तथा जलवायु का अत्यधिक प्रभाव होता है। इसके साथ वनस्पति के प्रकारों पर जीव-जन्तुओं का प्रादेशिक वितरण निर्भर है; हालांकि जीव-जन्तु के जीवन का अध्ययन करने में हम जलवायु तथा प्राकृतिक आकृति का प्रभाव भी कम नहीं कह सकते। प्राकृतिक आकार, जलवायु, वनस्पति तथा जीव-जन्तु यह सब मिल कर संसार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के मनुष्यों का जीवन तथा उनके कार्य निश्चित करते हैं।

प्राकृतिक बनावट (Physical Features) के क्षेत्र में भूमि की आकृति इसके तरह-तरह के रूप, प्रवाह प्रणाली, चट्टानों की खनिज सम्पत्ति तथा इसके परिणामस्वरूप बनी हुई मिट्टी शामिल है। किसी खास क्षेत्र के प्राकृतिक आकार का सीधा प्रभाव मनुष्य की आदतों, व्यवसाय, उसके रहन-सहन के ढंग तथा उसकी कार्य शक्ति पर पड़ता है। पृथ्वी की शकल भिन्न-भिन्न है : इसके आकार में पर्वत, पठार तथा मैदान आते हैं। पर्वत सर्वथा संसार के विभिन्न देशों के बीच कुदरती सीमा बनाते हैं। पुरातन समय में एक तरफ यदि पर्वत आवागमन के साधनों में रोड़ा बनकर रहे हैं तो दूसरी ओर रक्षा के साधनों में अत्यधिक सफल रहे हैं। जिस प्रदेश में पर्वत होते हैं, उस प्रदेश की जलवायु पर उनका पूर्ण प्रभाव होता है। पर्वत मूल्यवान खनिज सम्पत्ति तथा जल शक्ति के भी साधन हैं। चूँकि पर्वतीय क्षेत्र जोतने में बहुत कठोर होते हैं, वहाँ के मनुष्यों का खास व्यवसाय पशुचारण (Pastoral farming), खनिज सम्पत्ति निकालना या लकड़ी काटना (Forestry) हैं। नावों के लोग

केवल समुद्र में चट्टानों के घिरे-हुए मार्ग तथा सुरक्षित खाड़ियों के कारण ही अच्छे मत्लाह हो गये हैं। प्रत्यक्ष रूप से जोतने के अयोग्य होने से उनमें सर्वदा कम आबादी रहती है तथा संसार के दूसरे भागों से अलग कटे हुए से रहते हैं। वहाँ के जीवन की कठोरताएँ मनुष्यों को बलवान तथा मेहनती बना देती है। संसार के पठार तथा ऊँचे धरातल वाले प्रदेश अधिकतर समान प्रकृति के होते हैं तथा वे सब प्रदेश मनुष्य की आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति के लिए अमुविधाजनक सिद्ध होते हैं।

परन्तु संसार के मैदान तथा खासतौर से संसार की नदियों की घाटियाँ सर्वदा सम्यता के उद्गम स्थान रहे हैं। वह मैदानी क्षेत्र, जो अनुकूल जलवायु प्रदेशों में हैं, सर्वदा संसार के धान्यागार रहे हैं, आवागमन साधन के केन्द्र तथा आर्थिक कार्यों के केन्द्र रहे हैं। केवल मैदानों में ही मनुष्य उन्नति कर सका है तथा नदियाँ जो उन मैदानों से गुजरती हैं आवागमन के सस्ते साधन प्रदान करती हैं, सस्ती जल-शक्ति देती हैं तथा नहरों की सहूलियत देकर राष्ट्रीय धनोपार्जन में सहायक होती हैं।

जहाँ तक किसी क्षेत्र में मनुष्य के निवास से सम्बन्ध है जलवायु अत्यधिक शक्तिशाली तथा सहायक साधन है। तापक्रम, वर्षा तथा हवाएँ इत्यादि, जो किसी क्षेत्र की जलवायु में सम्मिलित हैं, मनुष्य की कार्य शक्ति तथा उसकी धनोपार्जन शक्ति को निश्चित करती हैं। जलवायु की अनुकूलता मनुष्य के कार्यक्रम में सहायक है, तथा उसे निश्चित करती है। संसार में बहुत से क्षेत्र ऐसे हैं जो या तो इतने शुष्क हैं या इतने ठंडे कि वहाँ जीवन व्यतीत करना असंभव है। और बहुत से प्रदेशों में सम तापक्रम तथा वर्षा के सम वितरण के कारण उनका जलवायु शीतोष्ण रहता है तथा वहाँ सारे वर्ष उत्साहपूर्ण कार्य किया जा सकता है। दूसरी ओर संसार के नम तथा गर्म क्षेत्र पिछड़े हुए हैं क्योंकि वहाँ की जलवायु आलस्यपूर्ण आदतें तथा तन्दुरुस्ती के विपरीत वातावरण उत्पन्न कर देती हैं जिसमें कोई भी उन्नति नहीं हो सकती।

इसका सम्यता पर भी प्रभाव होता है। यदि शीतोष्ण जलवायु वाले क्षेत्र से इसका मुकाबला करे तो यहाँ पर मनुष्य जल्दी ही पराकाष्ठा प्राप्तकर लेता है। यही कारण है कि संसार की सम्यता का प्रथम विकास संसार के गर्म क्षेत्रों में हुआ तथा ठंडी जलवायु में यह मानसिक उन्नति बहुत बाद में हुई। मिश्र तथा अरब वाले ज्योतिष तथा गणित में केवल इस कारण विशेष योग्यता प्राप्त कर सके क्योंकि उन्होंने अपना जीवन रेगिस्तानी क्षेत्रों में बिताया जहाँ साफ आकाश तथा सितारों ने गणित अध्ययन करने में सहायता दी तथा उत्साह प्रदान किया।

वनस्पति प्राकृतिक बनावट तथा जलवायु दोनों पर निर्भर है। पौधों तथा पेड़ों की उन्नति का माप मिट्टी की बनावट, तापक्रम तथा नमी प्रदान करने की शक्ति से होता है। यही कारण है कि अधिक गर्म तथा अधिक ठंडे प्रदेशों में अधिक वनस्पति नहीं होती। पर्वतीय प्रदेशों में जैसे-जैसे ऊँचाई बढ़ती जाती है वनस्पति कम होती जाती है। इसी प्रकार एक ही पर्वत के वायु-विमुख (Leeward) ढाल तथा वायुअभिमुख (Windward) ढाल पर भिन्न जलवायु मिलती है।

जैसे जैसे हम गर्म और तर विषुवत्रेखीय प्रदेशों से उत्तर और दक्षिण की ओर चलते हैं, हमको हरी भरी वनस्पति मिलेगी और घने जंगलों की तरह हमको घास

के मैदान मिलेंगे । धीरे-धीरे आगे आकर झाड़ियां मिलेंगी और अन्त में जैसेही हम उष्णकटिबंध की पश्चिमी सीमाओं पर पहुँचेंगे हमको मरुस्थल मिलेंगे । शीतोष्ण प्रदेशों में हमको तरतीब बिल्कुल ही उल्टी मिलेगी और जैसे ही हम या तो पूर्व से पश्चिम की या उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर की या दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण की चलेंगे तो इन शीतोष्ण घास के मैदानों के बाद पहले पतझड़वाले वन और तब नुकीली पत्ती वाले सदाबहार जंगल मिलेंगे, यहाँ तक कि जब हम पूर्ण उत्तर या दक्षिण में पहुँच जायेंगे, वहाँ हमको यह दिखाई देगा कि वहाँ पेड़ों का उगना असम्भव है तथा उस प्रदेश में सारे साल बर्फ जमी हुई दिखाई देगी ।

इस प्रकार भूमंडल के भिन्न-भिन्न अक्षांशों में वनस्पति की उन्नति तथा अवनति की तरतीब के अनुसार केवल जमीन की बनावट तथा प्राकृतिक आकृति के कारण ही फसलों में भिन्नता है । संसार के गर्म तथा तर प्रदेशों में, पर्वतों की ऊँचाइयों पर उस प्रकार की वनस्पति मिलती है जो शीतोष्ण प्रदेशों के उच्च अक्षांशों में उग सकती है ।

जीव-जन्तुओं का जीवन पूर्णरूप से वनस्पति पर निर्भर है परन्तु प्राथमिक प्रभाव जलवायु तथा प्राकृतिक आकृति का होता है, यद्यपि यह प्रभाव प्रत्यक्ष नहीं होता । जलवायु के अनुसार ऊँट रेगिस्तानों में पाया जाता है जहाँ पर यह कई दिनों तक बिना पानी के चलकर अपनी शक्ति का पूर्ण उपयोग कर सकता है । इसी प्रकार भेड़ अधिकतर उन भागों में पाई जाती हैं जो शुष्क तथा पर्वतीय हैं चूँकि यह अधिक गर्मी और अधिक नमी में नहीं रह सकतीं । साथ-साथ पर्वत के ढालों पर जो छोटी-छोटी घास होती है उसको यह आसानी से खा सकती है । संसार के अधिकतम ठंडे प्रदेशों में तथा पठारी प्रदेशों में जो जानवर पाये जाते हैं वे एशिया में याक हैं तथा दक्षिणी अमेरिका में अल्पाका और लामा हैं । साधारणतया संसार के गर्म और तर प्रदेशों में हाथी पाया जाता है जोकि विशाल तथा अधिक कार्य-शक्ति वाला है ।

ये सब तथ्य मिलकर मनुष्य की दशा, रहन-सहन के स्तर तथा उसके आर्थिक कार्यों को निश्चित करते हैं । कुछ क्षेत्रों में प्राकृतिक तत्व अधिक सहायक हुए हैं जिसके फलस्वरूप जनक मनुष्य ने आश्चर्य-उन्नति की है । यूरोप और अमेरिका के शीतोष्ण मैदान वाले क्षेत्र इसके उदाहरण हैं । और दूसरी ओर गर्म रेगिस्तान, टुंड्रा तथा गर्म तर विषुवत्रेखीय प्रदेश की प्राकृतिक दशाये किसी भी प्रकार की उन्नति के पूर्णतया विपरीत हैं जिसके फलस्वरूप यह क्षेत्र आर्थिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए कम आबाद हैं । ऐसे पर्वतीय क्षेत्र, जहाँ पर मनुष्य आसानी से पहुँच सकता है और जहाँ खनिज पदार्थ पाये जाते हैं, औद्योगिक उन्नति के केन्द्र बन गये हैं ।

यही प्राकृतिक भूगोल के अध्ययन का महत्व है । यह मनुष्य के अध्ययन, उसके आर्थिक कार्यों के अध्ययन तथा उसकी सांस्कृतिक खोज का आधार है । इसके अन्तर्गत मनुष्य के निवास-स्थान रूप में आने से पहले, नक्षत्र रूप में पृथ्वी का अध्ययन सम्मिलित है । इसके अध्ययन क्षेत्र में पृथ्वी की बनावट, इसका आंतरिक भाग, जलमंडल तथा उसकी गति; वायुमंडल तथा इसके तत्व तथा अंत में इस भूमंडल पर वनस्पति तथा जीव-जन्तुओं का वितरण, जो किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है सभी कुछ सम्मिलित हैं । अपने वातावरण के प्राकृतिक तत्वों के अध्ययन द्वारा हम स्वभावतः भूगोल-विज्ञान

तक पहुँच जाते हैं ।

भूगोल के अध्ययन को विस्तृत तथा पूर्ण करने के लिए भूगोल-विज्ञान को दूसरे सामाजिक तथा भौतिक विज्ञान जैसे इतिहास, अर्थशास्त्र, जलवायु शास्त्र तथा भूगर्भशास्त्र से सम्बन्धित किया गया है । अन्य शास्त्रों से महत्वपूर्ण सम्बन्ध के अनुसार बहुत से विशेष क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ हम भूगोल विज्ञान का क्रम-बद्ध अध्ययन कर सकते हैं । उनमें से महत्वपूर्ण हैं आर्थिक भूगोल, ऐतिहासिक भूगोल, कृषि भूगोल, वनस्पति भूगोल (Plant Geography) अथवा प्राणि भूगोल (Biogeography) तथा भूप्रकृति भूगोल (Geomorphology) । परन्तु इन सब प्रकार के अध्ययन का प्राथमिक आधार केवल इस पृथ्वी के प्राकृतिक तत्वों का ज्ञान है और यही भूगोल का भौतिक आधार है ।

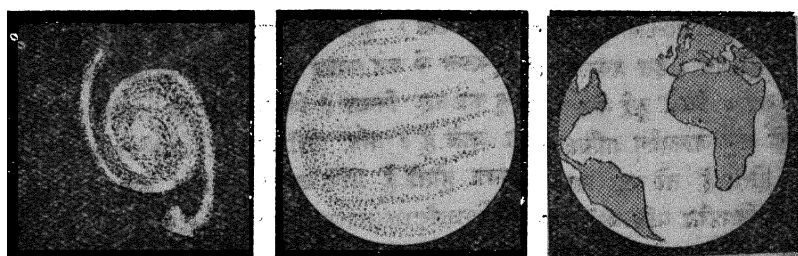
हमारी पृथ्वी

पृथ्वी की उत्पत्ति—ब्रह्माण्ड में विभिन्न तारा मंडल हैं। उनमें से एक नक्षत्र पृथ्वी भी है। पृथ्वी सौर मंडल (Solar System) का एक अंग है। दूसरे नक्षत्रों की तुलना में पृथ्वी का आकार बहुत सूक्ष्म है। पृथ्वी की आयु लगभग १ खरब (१०,००० करोड़) वर्ष है। इस दीर्घ काल से पूर्व इस ब्रह्माण्ड में गैस सम्बन्धी पदार्थ भरे हुए थे। इस वायु रूप में एक हलचल पैदा हुई जिसके परिणाम स्वरूप घनीभवन (Condensation) प्रारम्भ हो गया। कुछ हल्के पदार्थ घने हो गये तथा कुछ हल्के हो गये। इस प्रकार सारे भूमंडल में घने पदार्थ के बाद शून्य पदार्थों की तरतीब बन गई। घिरी हुई गैस या वायु का यह नियम है कि यह नष्ट हो जाती है और इसके अणु आकर्षण शक्ति में आ जाते हैं। यदि घनीभवन (Condensation) कम होता है तो यह नष्ट ज्यादा होती है और आकर्षण शक्ति कम होती है। इसके विपरीत यदि घनीभवन (Condensation) अधिक होता है तो आकर्षण शक्ति अधिक होती है और यह नष्ट कम होता है। इस प्रकार अधिक घनीभवन (Condensation) के फलस्वरूप विस्तीर्ण तारा मण्डल (Supergalaxies) या (Andre Nebulae) बन गये और कम घनीभवन (Condensation) नष्ट हो गया। यह नष्ट हुआ गैस पदार्थ विस्तीर्ण तारामण्डल (Super galaxies) से आकर टकराता है और इस सिले की टक्कर के फलस्वरूप नीहारिकायें (Nebulae) चलने शुरू हो जाते हैं।

जबकि एक गैस पदार्थ घूमना शुरू करता है तो इसकी चाल बढ़ती चलती है यहाँ तक कि इसके बीच में से वायव्य पदार्थ की एक पट्टी बाहर निकल कर अलग हो जाती है। इनमें छोटे-छोटे रूप गाढ़ा होना शुरू हो जाते हैं और तारों का रूप धारण कर लेते हैं। घने होने के फलस्वरूप आंतरिक गर्मी निकलती है और तापक्रम 500° से 5000° हो जाता है। ब्रह्माण्ड की यह हलचल तथा यह घनीभवन (Condensation) बहुत बाढ़-बिबाद तथा तर्क का विषय रही है। इस प्रकार चक्कर खाती हुई नीहारिका (Spiral Nebulae) की बनावट, गति तथा घनीभवन (Condensation) के बारे में बहुत से सिद्धान्त बने हैं। बहुत से इस बात का विश्वास करते हैं कि नीहारिका (Nebulae) ठोस पदार्थ से बना है परन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता चूँकि सब उच्चकोटि के शास्त्री एक स्थान पर आकर इस बात को मानते हैं कि चक्कर खाता हुआ नीहारिका (Spiral Nebulae) एक गैस पदार्थ था।

लाप्लेस का नीहारिका सिद्धान्त (Nebular Theory of Laplace)

—सन् १७८६ में फ्रांस के एक वैज्ञानिक ने इस बात को सिद्ध किया कि गैस का पिंड चक्कर काट रहा था। यह अत्यधिक गैस पदार्थ था तथा ब्रह्माण्ड के अधिकतम भाग को घेरे हुए था। हम इसको सूर्य कह सकते हैं। यह गैस पदार्थ तीव्र गति से घूम रहा था जिसके फलस्वरूप विकिरण (radiation) द्वारा इसका बाहरी भाग ठंडा होना शुरू हो गया। इस विकिरण (radiation) के कारण ठंडे होने के फलस्वरूप यह सिकुड़ना प्रारम्भ हो गया और इसकी कोणिक गति में कमी आ गयी। आवर्तन (Rotation) अधिक तीव्र हो गया। बाहरी भाग घने होने के कारण बीच के भाग की तीव्र चाल के साथ घूम न सका। अतः गोल चक्र बाहर फिकने शुरू हो गये। ये गोल चक्र भी अपने-अपने स्थान पर ही प्रधान नौहारिका (Nebulae) के चारों तरफ घूमने शुरू हो गये। थोड़े समय में ही यह चक्र घने होकर नक्षत्र बन गये जबकि शेषांश सूर्य के रूप में आज भी मौजूद है।



चित्र १—नौहारिका (Nebulae) तथा पृथ्वी का ठंडा पड़ना।

उत्पत्ति के समय पृथ्वी गैस रूप में थी और इसका विस्तार सूर्य के समान था। इसने भी एक ऐसा चक्र बाहर फेंका जो घना होकर चन्द्रमा बन गया। इसी प्रकार दूसरे नक्षत्रों ने भी अपने उपग्रहों को जन्म दिया।

लाप्लेस (Laplace) के सिद्धान्त की आलोचना—(१) चक्र कभी भी घने होकर नक्षत्र रूप धारण नहीं कर सकते। गैस पदार्थ घना होकर चक्र के चारों तरफ बहुत से छोटे-छोटे अणुओं में परिवर्तित हो जायेगा है जैसा कि शनि (Saturn) के चक्र से दिखाई देता है।

(२) “जितना भी भारी पदार्थ होगा, उतनी ही अधिक कोणिक गति होगी” —लाप्लेस ने यह निश्चित किया है। परन्तु यह सब आकार, घुमाव तथा वजन पर निर्भर रहता है। जितना भी अधिक आकार होगा उतनी ही अधिक कोणिक गति होगी—६८% नक्षत्रों में और केवल २% सूर्य में। परन्तु लाप्लेस के सिद्धान्त के अनुसार सूर्य में अधिक कोणिक गति है। वास्तविकता यह है कि चक्कर तथा भ्रमण के कारण नक्षत्रों में सूर्य की अपेक्षा अधिक गति है।

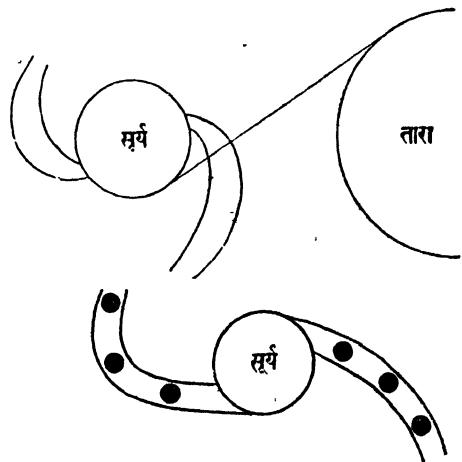
(३) जेम्स जीन्स ने यह निश्चित किया है कि एक ही प्रकार का द्रव्य पदार्थ या गैस पदार्थ चक्कर काटता है। घूमने की अनिश्चरता के कारण, यदि आवर्तन बढ़ जाता है तो बाहर फेंका हुआ पदार्थ टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। यदि गैस के अन्दर

कुछ भी घना पदार्थ है और एक-सा नहीं है, तो यह घूमने के फलस्वरूप घूमती हुई पट्टियाँ (Spirals) बाहर फेंकेगा। इस प्रकार अधिक विश्लेषण करने पर भी चक्करी का बाहर फेंकना असंभव पाया गया है।

जीन्स तथा जेफरीज का ज्वारीय सिद्धान्त (Tidal Hypothesis)—इस सिद्धान्त के अनुसार सूर्य नक्षत्रों के कुटुम्ब के बिना था। यह एक बड़ा विस्तृत गैस का पिंड था जो ब्रह्माण्ड में घूमता था। ब्रह्माण्ड में यात्रा करते समय एक दूसरा तारा सूर्य के अत्यधिक निकट आ गया (सितारे 10^{10} वर्ष में टकरा सकते हैं)। इस सितारे की आकर्षण शक्ति के कारण, सूर्य की सतह पर ज्वार उत्पन्न हुआ। जैसे-जैसे यह बड़ा सितारा पास आता चला गया, इस ज्वार की ऊँचाई तथा आकार बढ़ता चला गया। कुछ ही समय में पदार्थ का शोथ (Protuberance) पास आने वाले सितारे की तरफ आगे बढ़ता चला गया। दूसरी ओर भी इसी प्रकार का शोथ बढ़ता रहा।

दो सितारे पास आए, टकराए तथा नजदीक आने वाला सितारा दूर हट गया। इस प्रकार ज्वारीय शोथ जो सूर्य से बाहर आ रहे थे पीछे रह गए। जब कि दूसरा तारा बहुत दूर चला गया, तो सूर्य की आकर्षण शक्ति इन शोथों पर शुरू हो गई और यह सूर्य के चारों ओर घूमने लगे। यह घूमते हुए हाथ (Spiral arms) धीरे-२ घने होकर कई रूपों में परिवर्तित हो गए जो नक्षत्र बन गए। बाद में सूर्य की आकर्षण शक्ति के कारण इन नक्षत्रों में ज्वारीय कार्य प्रारंभ हुआ तथा साथ-२ उपग्रह भी बन गए।

बहुत से कारणों से वर्तमान समय में यह सिद्धान्त विस्तृत रूप से माना जाता है।



चित्र २

(१) सूरज से निकले ज्वारीय शोथ की शकल सिगार की तरह होगी, बीच में मोटी तथा दोनों ओर पतली। सौर मंडल (Solar System) में नक्षत्रों की व्यवस्था भी सिगार की तरह है। सूर्य के सबसे नजदीक का नक्षत्र बुध (Mercury) है जो आकार में सब से छोटा है। इसके बाद नक्षत्र आकार में बढ़ते चले गए हैं और सबसे बड़ा नक्षत्र बृहस्पति (Jupiter) बीच में है। बृहस्पति के बाद नक्षत्र पुनः छोटे हो जाते हैं यहाँ तक कि दूसरे कोने पर कुबेर (Pluto) है जो सबसे छोटा है, सबसे बाद में मालुम हुआ है, और सूर्य से सबसे दूर है।

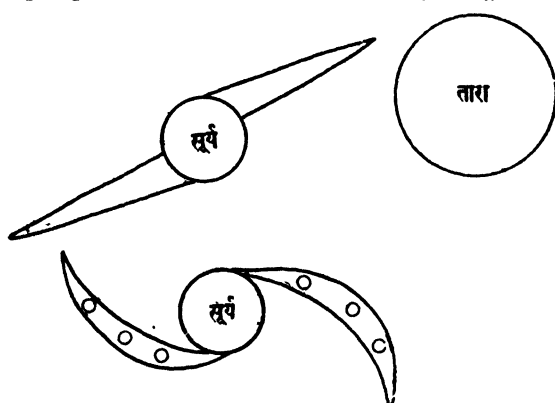
(२) अलग-२ नक्षत्रों के उपग्रहों की तरतीब भी ऐसी ही है जो इस सिद्धान्त

की सत्यता की निश्चित करती है। बृहस्पति (Jupiter) तथा शनि (Saturn) के नौ-नौ उपग्रह हैं, और यह देखा गया है कि सबसे बड़ा उपग्रह बीच में रहता है।

(३) यह सिद्धान्त बताता है कि बड़े नक्षत्र अधिक समय तक गैस अवस्था में रहे। इसी कारण उनके अधिक उपग्रह बने, हालांकि इन उपग्रहों का आकार बहुत छोटा रहा। दूसरी ओर छोटे नक्षत्रों के कम परन्तु बड़े आकार के उपग्रह हैं। दोनों किनारों पर जो दो सबसे छोटे नक्षत्र हैं अपने छोटे आकार के कारण शीघ्र ठंडे हो गए, इस कारण उनके कोई भी उपग्रह नहीं हैं।

यह 'हिट तथा रन का सिद्धान्त' अथवा 'टक्कर का सिद्धान्त' (Catastrophic Theory) या 'ज्वारीय सिद्धान्त' (Tidal Action Theory) के नाम से भी प्रसिद्ध है।

चेम्बरलेन तथा माउल्टन का सिद्धान्त—जीम्स तथा जेफरीज के सिद्धान्त से कुछ कुछ भिन्न है। इस सिद्धान्त के अनुसार सूरज नियत समय पर कुछ कहर-प्र-



चित्र ३

वश फूट पड़ता था। एक सितारा इसके समीप आया और प्रथम ज्वार भाग के ऊपर और अधिक आकर्षण उत्पन्न कर बिछा। इस प्रकार विस्फोटक भाग (Eruption arm) लम्बा हो गया। जब यह पीछे हटा तो ये भाग (arms) झुक गए और बहुत कुछ घूमते हुए नीहारिका से (spiral nebulae)

बन गये। फटने के समय ठोस कण भी बन गए। बड़े विस्फोट ने नक्षत्र उत्पन्न करे तथा छोटों ने उपग्रह उत्पन्न किए।

यह जेम्स-जीम्स तथा जेफरीज के सिद्धान्त से दो प्रकार से भिन्न है :

(१) यह सितारे के आने से प्रथम विस्फोट को मानते हैं।

(२) यह शुरू से ही ठोस पदार्थ मानते हैं, हालांकि जीम्स के अनुसार यह गैस पदार्थ से द्रव्य पदार्थ बना और तत्पश्चात् इसने ठोस रूप धारण किया।

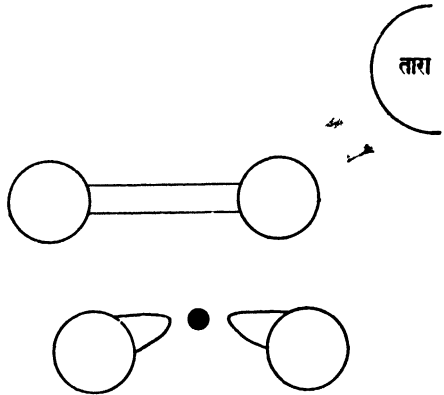
इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह कोणिक गति के बारे में नहीं समझा पाता। नक्षत्रों के बनने के सम्बन्ध तथा उसी चौरस स्थान पर चक्कर काटने के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त अच्छी तरह समझाता है। परन्तु यह सूर्य और नक्षत्रों के बीच कोणिक गति के वितरण को समझाने में असमर्थ है।

लिटलटन का द्विग्रह सिद्धान्त (Binary Star Theory of Lyttleton)—यह आकर्षण सिद्धान्त (Enticement theory) के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह इस बात को निश्चित मानता है कि सूर्य अकेला नहीं था परन्तु इसका एक

साथी था। साथी सितारे के अत्यधिक समीप एक तीसरा तारा आ गया। फलस्वरूप ज्वार भाग बाहर की आने लगे और यह इतने समीप थे कि दोनों बड़ाव आपस में मिल गए। इस प्रकार एक पट्टी या सूत्र बन गया।

सूर्य से आकर्षित होकर, जब तीसरा तारा दूर हट गया, तो साथी तारा भी दूर चला गया। उस पट्टी के बीच के भाग पर सूर्य का अधिकार हो गया, बाकी भाग उसी के साथ चला गया। यह भाग सूर्य के चारों ओर चक्कर काटने लगा और इससे ही नक्षत्रों की उत्पत्ति हुई।

इस सिद्धान्त के अन्तर्गत आवर्त्तन गति को तभी समझा जा सकता है जब हम इस बात का अनुमान करते हैं कि तीसरा तारा सूर्य से २० गुना भारी है तथा उसकी तुलनात्मक गति १०० मील प्रति सेकेंड है, अन्यथा सूर्यकी गति वर्तमान गति की $\frac{1}{10}$ ही रह जाती है। लिटन और डाक्टर शान्तिस्वरूप भटनागर ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है। (१) लिटन इस बात को मानता है कि तीसरा तारा भी सूर्य का कुछ भाग काट ले जायेगा। इस प्रकार यह एक तेहरा सितारा था परन्तु लिटलटन के सिद्धान्त (Lyttleton's theory) के अनुसार ऐसा नहीं है। (२) डाक्टर भटनागर के अनुसार जब वह अधिक समीप आ जाते हैं तो वह आपस में टकरायेंगे। इस प्रकार उनकी सीधी टक्कर होगी। अतः नक्षत्रों के बनने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।



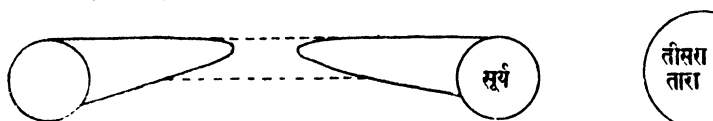
चित्र ४—रासजन का सिद्धान्त

इस प्रकार यह सिद्धान्त जीन्स के सिद्धान्त से किसी प्रकार अच्छा नहीं है। उसने इस सिद्धान्त को अधिक पेचीदा बना दिया है चूँकि दृक् सितारे तथा दूसरे तारे के बीच टक्कर, अकेले सितारों के बीच टक्कर की अपेक्षा अधिक कठिन है।

रासजन का आवर्त्तन और ज्वारीय सिद्धान्त (Rossgunn's Rotational and Tidal Theory)—यह सिद्धान्त लाम्प्लेस तथा जेम्स जीन्स के सिद्धान्तों के आधारभूत नियमों के बीच समन्वय उपस्थित करता है। यह इस बात को मानता है कि अधिक तीव्र गति से घूमने वाला सितारा करीब-करीब विस्फोटक अवस्था पर पहुँच जाता है। इस अवस्था पर दूसरा सितारा आया। ज्वारमयी क्रिया से दोनों विकृत हो गए। तब वह अलग-अलग हो गए और ज्वारीय भाग पीछे रह गया। यह पदार्थ फिर घना होता गया और इसी से नक्षत्र बन गये।

इस सिद्धान्त द्वारा रासजन (Rossgunn) ने प्राथमिक सितारे (सूर्य) में परिमाणिक आवर्त्तन मानकर गति को समझाने का प्रयत्न किया है। परन्तु ऐसी दशा में दूसरे तारे का आना असंभव है। प्रोफेसर ए० सी० बनर्जी के अनुसार यह गति को समझाने का बड़ा ही टेढ़ा रास्ता है।

प्रोफेसर ए० सी० बनर्जी का सीफीड सिद्धान्त (Cepheid theory)—सीफीड (Cepheid) तारासमूह में इसी नाम का एक तारा है। इसकी चमक लगतार बदलती रहती है जिससे उच्चतम तथा न्यूनतम प्रकाश एक के बाद आपस में बदलते रहते हैं। यह व्यवस्थित परिवर्तन जो लगभग निश्चित है, सिकुड़न तथा



चित्र ५

फंलाव के कारण होता है। यदि इसकी हलचल मामूली नहीं हैं, तो सितारा अस्थिर हो जाएगा और इसका आकार बराबर बड़ा होता जायगा। अणु शक्ति का स्रोत पदार्थ को बाहर फेकेगा। यही दशाएं संसार के बनते समय हुई थीं।

उस हलचलमय अवस्था में दूसरा सितारा कुछ ही दूरी पर आया और वह पदार्थ कुछ दूर पर जाकर गिरा। जब यह घना होना शुरू हुआ, तो सूर्य और सीफीड (Cepheid) अलग-अलग हो गए—सूर्य एक तरफ चला गया और सीफीड दूसरी ओर। सूर्य ने उस तारे सीफीड (Cepheid) से $2/5$ शक्ति ग्रहण कर ली। यह गणित द्वारा भी सिद्ध होता है कि सूर्य में नक्षत्रों की अपेक्षा बीस गुनी अधिक शक्ति है।

सौर मण्डल को समझाने के बजाय यह सिद्धान्त नक्षत्र व्यवस्था को अधिक समझाता है। देखने से भी इस बात का पता चलता है कि दो सूर्य-रहित नक्षत्र मण्डल भी हैं।

सौर मंडल (Solar System)

प्रत्येक सितारे के चारों तरफ कुछ नक्षत्र घूमते हैं और केन्द्र का सितारा, घूमने वाले सितारों के साथ, एक समूह या व्यवस्था बनाता है। यह सारे तारा समूह एक अपरिचित केन्द्र अथवा धुरी के चारों ओर घूमते हैं। सूर्य और इसके चारों ओर घूमने वाले नक्षत्रों से सूर्य मण्डल (Solar System) बनता है। सूर्य मंडल में नक्षत्रों की व्यवस्था सर्वदा एक संदिग्ध विषय रहा है। ईसामसीह की मृत्यु से करीब १३० से १५० वर्ष बाद प्टोलमी (Ptolemy) ने एक नियम निकाला था जिसके अनुसार पृथ्वी को इस संसार का केन्द्र माना जाता था। इसके चारों ओर सारे नक्षत्र, चन्द्रमा, सूर्य तथा सितारे चक्कर काटते हैं। यह सिद्धान्त इतना प्रभावशाली था कि लगभग १५०० वर्ष तक सत्य माना गया।

१६वीं शताब्दी के प्रथम चरण में कोपरनिकस (Copernicus) नामक एक ज्योतिषी ने इस विश्वास को कि पृथ्वी संसार का केन्द्र है, झूठ सिद्ध किया और इस सिद्धान्त को विकसित करके सिद्ध किया कि सूर्य, सूर्य मण्डल का केन्द्र है जिसके चारों ओर नक्षत्र चक्कर काटते हैं, और पृथ्वी अपनी अलग धुरी पर घूम रही है। इस सिद्धान्त की पुष्टि गेलीलियो तथा केपलर के निरीक्षणों द्वारा हुई। इस पर अब भी विश्वास किया जाता है।

सूरज, नक्षत्र तथा कुछ पुच्छलतारे मिलकर सूर्यमण्डल बनाते हैं। सूर्य मण्डल में प्रकाश तथा गर्मी का प्रधान स्रोत सूर्य है। यह सूर्यमण्डल की उत्पत्ति करने वाला है और गैस पदार्थ का एक बहुत बड़ा गोला है। यह अपनी धुरी पर लगभग २५ दिन में एक बार घूमता है। यह पृथ्वी से ६३,१००,००० मील दूर है, और इसका व्यास ८६६,३०० मील है। यह पृथ्वी से ३३४,००० गुना भारी है। सूर्य का व्यास पृथ्वी के व्यास से १०६ गुना अधिक है, और इसकी आकर्षण शक्ति पृथ्वी से २८ गुना अधिक है। यह केवल आकर्षण शक्ति के कारण ही है कि भिन्न-भिन्न नक्षत्र अपने ग्रहपथ में ही रहते हैं। सूर्य का तापक्रम लगभग १०,०००° फारन हाइट है और इसका पता नहीं लगाया जा सकता है कि सूर्य का केन्द्र कितना अधिक गरम होगा।

सूर्य के चारों ओर नौ नक्षत्र घूमते हैं। इनमें से पांच के चारों ओर उपग्रह घूमते हैं। प्रत्येक नक्षत्र अपनी अलग धुरी पर घूमता है, अपना अलग ग्रहपथ रखता है और प्रत्येक की अलग अलग घूमने की गति है। निम्नलिखित तालिका द्वारा हम भिन्न-भिन्न नक्षत्रों के बारे में विस्तारपूर्वक समझ सकते हैं—

नक्षत्र	सूर्य से औसत दूरी (मीलों में)	मध्यमान व्यास मीलों में	समय वर्षों में	उपग्रहों की संख्या
बुध (Mercury)	३६,०००,०००	३,०३०	०.२२	०
शुक्र (Venus)	६७,२००,०००	७,७००	०.६२	०
पृथ्वी (Earth)	६२,६००,०००	७,६१८	१.००	१
मंगल (Mars)	१४१,५००,०००	४,२३०	१.८८	२
बृहस्पति (Jupiter)	४८३,२००,०००	८६,५००	११.८६	६
शनि (Saturn)	८८५,६००,०००	७३,०००	२९.४६	६
अरुण (Uranus)	१,७८२,२००,०००	३१,६००	८४.०२	४
वरुण (Neptune)	२,७९१,६००,०००	३४,८००	१६४.७८	१
कुबेर (Pluto)	३,७००,०००,०००	३,६०५	२५०.००	अज्ञात

पृथ्वी का चित्र, मनुष्य के निवास स्थान का इस ब्रह्माण्ड में अपने स्थान पर छोटी गोली के समान चक्कर काटना यह सब नाटकीय प्रतीत होते हैं। पृथ्वी का स्थान तथा स्थिति, साथ में अपने स्थान पर घूमने में इसकी सुरक्षा पूर्णतया दो सिद्धान्तों पर निर्भर है—गुरुत्वाकर्षण (Law of Gravity) और भ्रमण शक्ति (The law of inertia) तथा केन्द्रप्रसारी बल (Centrifugal force)। आकर्षण शक्ति वह शक्ति है जो पृथ्वी को सूर्य की ओर खेंचे रखती है तथा भ्रमण शक्ति (inertia) किसी घूमने वाले पदार्थ में वह प्रवृत्ति है जो उसे एक सीधी रेखा में चालू रखती है और सम गति पर उसे घूमने देती है।

यदि आकर्षण शक्ति का खिंचाव समाप्त हो जाये तो पृथ्वी टकराकर तीव्र ध्वनि उत्पन्न करेगी और अनिश्चित स्थान में लुढ़की-लुढ़की फिरेगी। दूसरी ओर

यदि भ्रमण शक्ति (Law of inertia) तथा केन्द्रप्रसारी बल (Centrifugal force) असफल हो जाता है तो पृथ्वी धूर्ण से टकरायेगी और जलकर नष्ट हो जाएगी। परन्तु यह दोनों शक्तियाँ लगातार तुलनात्मक रूप से कार्य कर रही हैं, और इनका कार्य इतना सही है कि हम पृथ्वी की दैनिक तथा वार्षिक गति को बश-मलब स्थान तक मालूम कर सकते हैं।

यही शक्तियाँ सारे सूर्यमण्डल को ठीक रूप में रखती हैं। और इन दोनों नियमों की शक्ति द्वारा नियमित होकर, यह सारा सूर्यमण्डल उसी अत्यन्त तीव्रगति से भ्रमण कर रहा है जिस पर उसे एक अपरिचित समय पर एक अपरिचित शक्ति द्वारा चालू किया गया था। सूर्यमण्डल की वर्तमान रचना इस प्रकार है कि उपग्रह, नक्षत्रों के चारों तरफ चक्कर लगाते हैं और नक्षत्र सूर्य के चारों ओर घूमते हैं।

पृथ्वी का एक उपग्रह है—चन्द्रमा—जो इसके चारों ओर अण्डाकार पथ में पश्चिम से पूरब की ओर चक्कर लगाता है। यह अपनी यात्रा एक मास से कम समय—२७ दिन ७ घंटे में पूर्ण कर लेता है। सूर्य के चारों तरफ की वार्षिक यात्रा में यह पृथ्वी के साथ चलता है। परन्तु चूँकि पृथ्वी भी अपनी धुरी पर घूम रही है, इसलिये जब तक कि चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर का एक चक्कर पूरा कर पाता है, पृथ्वी कुछ आगे बढ़ चुकी होती है। इसलिए उसी बिन्दु पर पुनः पहुँचने के लिए चन्द्रमा करीब २९ दिन तथा १२ घंटे लेता है।

चन्द्रमा का व्यास लगभग २,१६० मील है जो पृथ्वी के व्यास का लगभग चौथाई है। इसकी पृथ्वी से दूरी २३८,८४० मील है। पृथ्वी का चक्कर लगाते समय चन्द्रमा बराबर घूमता रहता है। इसलिए वही भाग सर्वदा पृथ्वी की ओर रहता है और दूसरा आधा भाग हमेशा अदृष्ट रहता है।

चन्द्रमा में, पृथ्वी के धरातल की तरह, अपनी गर्मी या प्रकाश नहीं होता। यह प्रकाश व गर्मी सूर्य से ग्रहण करता है। इसमें सर्वदा सूर्य से प्रकाश होता है, और इसका केवल आधा प्रकाशमय भाग ही पृथ्वी से दिखाई देता है।

पृथ्वी की आकृति—बहुत अधिक समय से पृथ्वी की आकृति का विषय, पृथ्वी की उत्पत्ति के विषय के अनुसार, संदिग्ध रहा है। यहूदी (Hebrews) तथा बंबी-लोनियन लोग (Babylonians) पृथ्वी को वृत्ताकार समझते थे और यह समझते थे कि इसको गोलाकार रूप में ओकियानास (Okeanos) नदी घेरे हुए है। वे आसमान तथा ऊपरी क्षेत्र (Firmament) को गुम्बज रूपी बक्स समझते थे जिसकी खिड़कियों में से वर्षा होती है, ऐसा उनका विचार था।

परन्तु ग्रीक दार्शनिकों ने शीघ्र ही इस बात को प्रत्यक्ष किया कि पृथ्वी एक गोल मण्डल है। थेल्स (Thales) ने इस विचार को सर्वप्रथम ६४० ईसवी पूर्व में प्रत्यक्ष किया। उसने इस मण्डल को पानी पर तैरता हुआ बताया। परन्तु उसके शिष्य तथा साथी जिनमें से एक एनेक्सीमेन्डर भी है उससे इस समस्या पर भिन्न विचार रखते थे। एनेक्सीमेन्डर का विदवास था कि पृथ्वी मण्डल नहीं है बल्कि एक बेलनाकार वृत्त (Cylinder) है जो अपनी धुरी पर घूम रहा है।

सर्वप्रथम अरिस्टोटिल तथा उसके पश्चात् कॉपरनिकस ने इस बात को घोषित

किया कि पृथ्वी गेंद की तरह गोल है। तत्पश्चात् सर इसाक न्यूटन ने यह प्रमाणित किया कि पृथ्वी पूर्णतः गेंद की तरह नहीं है वरन ध्रुवों पर चिपटा हुआ गोलाकार पिंड है। उसी समय से मनुष्य पृथ्वी की आकृति के बारे में तुलना देते हैं। कुछ वैज्ञानिकों ने इसे नारंगी की शकल का बताया है तथा कुछ ने इसकी तुलना नाशपाती से की है। कुछ ने इसे चतुष्फलक (Tetrahedron) के समान बताया है। परन्तु इसके पूर्ण विश्लेषण के पश्चात् इस बात का पता चला है कि पृथ्वी केवल पृथ्वी की ही आकृति की है और इसीलिए इसको “जीऑइड” (Geoid) कहते हैं।

पृथ्वी एक गोलाकार पिंड है जिसका ध्रुवीय व्यास, विषुवतरेखीय व्यास से कुछ छोटा है। यह एक ऐसा गोलाकार पिंड है जो दोनों सिरों—उत्तरी ध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुव—पर कुछ चिपटा है तथा विषुवत् रेखा पर पूर्व पश्चिम की ओर कुछ उभड़ा हुआ है। पिछली हुई अवस्था से ठंडी होकर पृथ्वी वर्तमान दशा में आई है। जिस प्रकार कि एक पानी की बूंद, जबकि वह हवा के साथ गिरती है, एक गेंद की शकल धारण कर लेती है उसी प्रकार हमारी पृथ्वी ने, जो पहले गर्म द्रव्य पदार्थ के रूप में थी एक गेंद का रूप धारण कर लिया। इसने प्रथम अवस्था में ही गोलाकार पिंड का रूप धारण कर लिया था परन्तु उन लगातार हलचलों के कारण जो उसी समय हुए यह गोलाकार पृथ्वी ध्रुवों पर चिपटी हो गई। इस प्रकार पृथ्वी ने अपनी यह विशेष आकृति पाई।

पृथ्वी की आकृति के प्रमाण—पृथ्वी गोलाकार है यह बात कई प्राकृतिक तथ्यों पर आधारित है।

(१) जब अरिस्टोटिल ने इस बात को घोषित किया कि पृथ्वी एक गेंद के समान है उस समय इस विश्वास का आधार चन्द्रग्रहण था तथा वास्तविकता यह है कि वह परछाईं जो पृथ्वी द्वारा चन्द्रमा पर फेंकी जाती है सदैव गोलाकार होती है। ऐसी परछाईं केवल एक घूमते हुए गोलाकार पिंड द्वारा ही फेंकी या डाली जा सकती है।

(२) इसके अतिरिक्त सूर्य-मण्डल के और दूसरे सदस्यों की आकृति का अध्ययन करने से भी इस विश्वास की पूर्ति होती है। जबकि और सब नक्षत्र गोलाकार हैं तो इस बात का विश्वास करना ही पड़ेगा कि पृथ्वी भी इस व्यापक नियम के अनुसार गोलाकार है।

(३) भिन्न-भिन्न स्थानों पर सूर्योदय का समय भिन्न-भिन्न है। यदि पृथ्वी चिपटी होती तो सूर्य की रोशनी सब स्थानों पर एक साथ पहुँचती परन्तु यह यथार्थता कि पश्चिम के स्थानों की अपेक्षा पूर्व के स्थानों पर सूर्य की रोशनी पहले पहुँचती है इस बात को सिद्ध करती है कि पृथ्वी चपटी नहीं है वरन एक घूमने वाली गेंद के समान है।

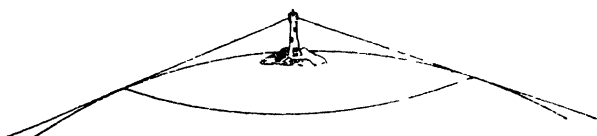
(४) संसार का जहाज द्वारा पर्यटन तभी संभव हो सकता है जबकि पृथ्वी गोलाकार हो। अगर एक आदमी समुद्र यात्रा के लिए पूरब की ओर सूर्योदय के समय चले तथा एक ही सीध में चलता चला जाय तो वह संसार का एक चक्कर पूरा लगा सकता है और वह फिर उसी बिन्दु पर आ जायगा जहाँ से वह पहले चला था।

(५) सूर्य और सितारों को एक ही समय में यदि पृथ्वी के धरातल के भिन्न

स्थानों से देखा जाय तो वे भिन्न-भिन्न ऊँचाइयों पर नजर आयेंगे। पृथ्वी के धरातल से अधिक दूरी होने के कारण उनकी किरणें समानान्तर होती हैं परन्तु यह ऊँचाई का दृष्टिगत अंतर केवल पृथ्वी के घुमाव के कारण है।

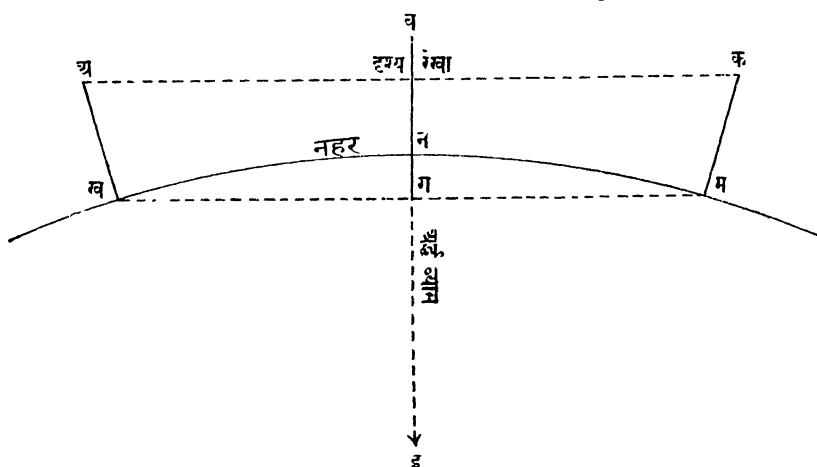
(६) एक पानी के जहाज को जो कि किनारे की ओर आ रहा है, अगर हम किनारे से देखे तो सारा एक साथ नहीं दिखाई देगा। देखने वाले को सर्वप्रथम मस्तूल दिखाई देगा और बाद में पोत का आकार। इसी प्रकार एक किनारे से जाते हुये जहाज को देखने से सर्वप्रथम पोत का आकार अदृश्य होगा तत्पश्चात् मस्तूल धीरे-धीरे दृष्टि से विलीन होगा। यदि पृथ्वी चपटी होती तो सारा जहाज एक साथ दिखाई देता परन्तु पृथ्वी के वृत्ताकार होने के कारण यह संभव नहीं है।

(७) यदि हम क्षितिज को समुद्र के किनारे या समतल मैदान से देखे तो यह हमको प्रत्यक्ष रूप से गोलाकार दिखाई देगा। यह ऐसा तभी दिखाई दे सकता है जब पृथ्वी गोलाकार हो।



चित्र ६

(८) डाक्टर वॉलेस द्वारा किया गया बेडफोर्ड लेवल प्रयोग (Bedford Level Experiment) पृथ्वी की आकृति को प्रमाणित करने के लिए सबसे अधिक माननीय है। डाक्टर ए. आर. वॉलेस ने नहर के विस्तृत फैलाव में तीन खंभे



चित्र ७

एक-एक मील दूरी पर एक पॉन्ट में इस प्रकार गाड़े कि वह नहर की सतह से समान ऊँचाई पर थे। परन्तु दूरबीन से देखने पर इस बात का पता चला कि बीच का खंभा

और दूसरे खंभों से आठ इंच अधिक ऊँचा है। इस प्रयोग को और दूसरी दिशाओं से भी करके देखा गया परन्तु नतीजे सब के एक से थे। इसका कारण केवल पृथ्वी का मोड़ था, जो सब दिशाओं में एक-सा था जिससे सिद्ध हुआ कि पृथ्वी एक गोलाकार पिंड है। किसी नहर को बनाने में यंत्रकार प्रत्येक मील के बाद आठ इंच की छूट देते हैं। यह केवल पृथ्वी के मोड़ के कारण है।

इस गोलाकार पिंड का ध्रुवों पर चपटा होना इस बात से सिद्ध होता है कि विषुवत् रेखा पर लिये गये किसी भी वस्तु के वजन तथा ध्रुवों पर लिये गये वजनों में अंतर होता है। यदि हम किसी भी चीज का वजन तराजू से तोले तो यह विषुवत् रेखा पर कम होगा और जैसे जैसे हम ध्रुव की ओर बढ़ते जायेंगे यह वजन बढ़ता जायगा, यहाँ तक कि ध्रुवों पर जाकर वजन सबसे अधिक होगा। वजन पृथ्वी के केन्द्र से निकली हुई आकर्षण शक्ति के कारण है। इससे यह सिद्ध होता है कि ध्रुवों पर जिस चीज को हम तोलते हैं वह भूमध्य रेखा की अपेक्षा पृथ्वी के केन्द्र से अधिक समीप है। यह तभी संभव हो सकता है जब पृथ्वी की शकल फले हुए गोले के समान हो, विषुवत् रेखा पर फूली हुई हो तथा ध्रुवों पर दबी हुई या चपटी है।

पृथ्वी का विस्तार—उन नौ बड़े-बड़े नक्षत्रों में से जो सूर्य के चारों ओर घूम रहे हैं और सूर्यमण्डल बनाते हैं, पृथ्वी पाँचवाँ बड़ा नक्षत्र है। इसका विषुवत् रेखा पर व्यास ७,९२७ मील है, जो कि ध्रुवीय व्यास ७,९०० मील से २७ मील ज्यादा है। विषुवत् रेखा पर इसकी परिधि २४,६०२ मील है।

एक ग्रीक नक्षत्रशास्त्री, एरोटेसयेन्स ने पृथ्वी की परिधि निश्चित की थी। इसने अपनी घोषणा २०० ईस्वी पूर्व में की थी। उसने इस बात को देखा कि एक खास दिन सूरज मिश्र के एक शहर आँस्वान में ठीक सिर पर था। उसे यह भी बात याद थी कि एक वर्ष पहले उसी दिन सूर्य ७° के कोण पर था, जब उसने इसे एलेक्जेंडरिया से दोपहर के समय देखा था। एलेक्जेंडरिया, आँस्वान से ४८० मील दूर है। इस बात के आधार पर कि पृथ्वी एक गोला है और इसके केन्द्र में बना कोण ३६०° का होगा, उसने पृथ्वी की परिधि मालूम की। यदि ७° में ४८० मील का फासला पूरा होता है तो ३६०° से २४,००० मील का फासला पूरा होगा। अन्त में और भी अधिक व्योरेवार तथा पूर्ण गणना के पश्चात् इस बात का पता चला कि पृथ्वी की पूरी परिधि केवल २४,६०२ मील है। घूमने के कारण इसकी परिधि विषुवत् रेखा के समीप २४,६०२ मील है तथा ध्रुवों के समीप २४,८६० मील है।

पृथ्वी के घुमाव तथा आकृति के कारण ध्रुवीय व्यास तथा परिधि विषुवत् रेखीय व्यास तथा परिधि से क्रमशः २७ तथा ४२ मील छोटे हैं। पृथ्वी के धरातल का क्षेत्रफल १९६,६५०,००० वर्ग मील है। इसका विस्तार इस अन्दाज से प्रत्यक्ष हो सकता है कि ६५ संयुक्त राष्ट्र अमरीका (United States), ५३ चीन और १७ ब्रिटिश साम्राज्य (British Empires) इस क्षेत्रफल में आसानी से आ सकते हैं। जल द्वारा घिरा हुआ भाग शुष्क स्थल भाग का लगभग चौगुना है। पृथ्वी के धरातल के ७१% भाग को जल घेरे हुए है तथा केवल २९% भाग सूखी जमीन है।

पृथ्वी के सौर सम्बन्ध

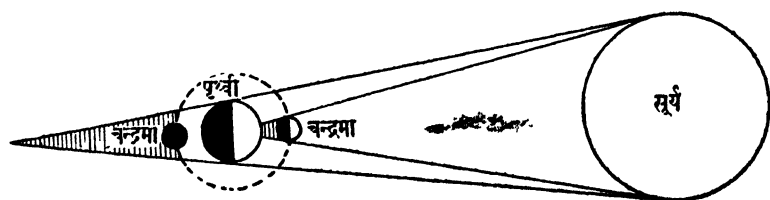
(The Planetary Relations of the Earth)

पृथ्वी का सम्बन्ध प्रधानतः सूर्य तथा चन्द्रमा से है। यह सूर्य के चारों ओर घूमती है तथा चन्द्रमा इसके चारों ओर घूमता है। इसके अलावा पृथ्वी लट्टू की तरह अपनी कीली पर भी चक्कर काट रही है। इस हिलने डुलने तथा इस आपसी सम्बन्ध के कारण पृथ्वी पर, जो मनुष्य का निवास स्थान है, बहुत से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होते रहते हैं। पृथ्वी सौर सम्बन्ध के परिणामस्वरूप ही दिन-रात होते हैं, भिन्न-भिन्न प्रकाश अवधि तथा ताप वाले मौसम होते हैं तथा ज्वारभाटे आते हैं और ग्रहण पड़ते हैं।

ग्रहण (Eclipse)—जब चन्द्रमा या सूर्य का कोई भाग एक परछाई से ढक जाता है तो इसे ग्रहण कहते हैं। जब चन्द्रमा पर अंधियारा छाता है तो उसे चन्द्रग्रहण कहते हैं, तथा जब सूर्य पर अंधियारा छाता है तो उसे सूर्य ग्रहण कहते हैं।

चन्द्र ग्रहण उस समय पड़ता है जबकि पृथ्वी सूर्य तथा चन्द्रमा के सीधे बीचों बीच आजाती है, जिससे सूर्य पृथ्वी की परछाई फेंकने लगता है। यह परछाई चन्द्रमा को पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से ढक लेती है। यह पूर्णमासी के दिन होता है। इस दिन पृथ्वी सूर्य तथा चन्द्रमा के बीच में आ जाती है। पृथ्वी द्वारा फेंकी हुई परछाई चन्द्रमा को ढक लेती है और चन्द्रमा हमें प्रकाशहीन प्रतीत होता है। परन्तु ज्योंही चन्द्रमा, जो अपने ग्रहपथ पर घूम रहा है, इस परछाई को पार कर लेता है, चन्द्र ग्रहण समाप्त हो जाता है।

जबकि परछाई द्वारा सारा चन्द्रमा ढक जाता तो इसे पूर्ण ग्रहण कहते हैं। दूसरी ओर जब केवल चन्द्रमा का कोई भाग ही ढकता है हम इसे आंशिक ग्रहण कहते हैं। चन्द्र ग्रहण केवल पूर्णमासी के दिन ही पड़ता है, जबकि पृथ्वी तथा चन्द्रमा के गृहपथ एक ही तल पर होते हैं। साधारणतः पृथ्वी तथा चन्द्रमा के गृहपथों में अन्तर होता है। जब यह अन्तर नष्ट हो जाता है और तीनों एक ही तल पर आ जाते हैं, तो चन्द्र ग्रहण पड़ता है। परन्तु यह बात नहीं समझनी चाहिये कि अन्य पूर्णमासी पर कोई परछाई नहीं पड़ती। पृथ्वी परछाई फेंकती है परन्तु चन्द्रमा के ग्रहपथ में अन्तर होने के कारण चन्द्रमा इससे बच कर निकल जाता है।



चित्र ८—चन्द्र तथा सूर्य ग्रहण

सूर्य ग्रहण—उस समय होता है जब चन्द्रमा की परछाई सूर्य के कुछ भाग को ढक लेती है, जिससे पृथ्वी के मनुष्य को सूर्य अंधकारमय प्रतीत होने

लगता है। यह दूज के दिन ही होता है। उस समय चन्द्रमा पृथ्वी और सूर्य के बीच में होता है। परिणामस्वरूप चन्द्रमा पृथ्वी पर नहीं दिखाई देता, चूँकि सूर्य केवल चन्द्रमा के उस भाग को रोशनी देता है, जो पृथ्वी की ओर वाले भाग के पीछे है। इस अवस्था में चन्द्रमा एक परछाई फँकता है, जिससे सूर्य की किरणें ठक जाती हैं। परन्तु प्रत्येक दूज के दिन यह सम्भव नहीं होता चूँकि चन्द्रमा का ग्रहपथ पृथ्वी के ग्रहपथ पर 5° कोण पर झुका हुआ है इसलिए यह उस समय होता है, जब तीनों एक ही तल पर हों।

पृथ्वी के उन स्थानों पर जो चन्द्रमा की छाया (Umbra) में आते हैं पूर्ण सूर्य ग्रहण पड़ता है, परन्तु यह कुछ ही मिनट रहता है, और यह केवल कुछ ही प्रदेशों में दिखाई दे सकता है। दूसरी ओर पृथ्वी के उन स्थानों पर जो चन्द्रमा की प्रति छाया (Penumbra) के आधीन है आंशिक सूर्य ग्रहण पड़ता है जो बहुत विस्तृत क्षेत्र में दिखाई देता है। जब चन्द्रमा की परछाई पृथ्वी पर भी नहीं पहुँचती, केवल प्रकाश का गोला चन्द्रमा के चारों ओर दिखाई देता है। इसे सूक्ष्म ग्रहण (Annular Eclipse) कहते हैं।

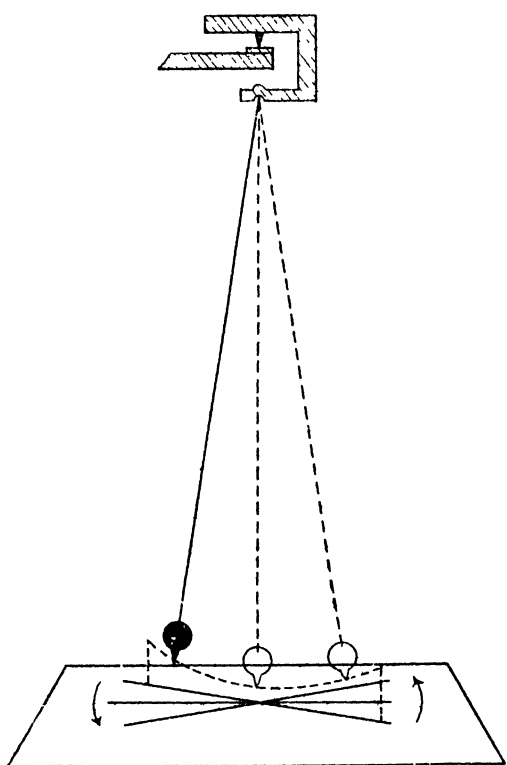
पृथ्वी की दो गति हैं—प्रथम पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना तथा द्वितीय पृथ्वी का सूर्य के चारों ओर अपने गृहपथ पर चक्कर लगाना। प्रथम को पृथ्वी का आवर्तन (Rotation of the earth) तथा द्वितीय को पृथ्वी का परिभ्रमण (Revolution of the earth) कहते हैं।

पृथ्वी का आवर्तन (Rotation of the Earth)—पृथ्वी एक काल्पनिक धुरी पर पश्चिम से पूरब की ओर घूमती है। यह घूमना पूर्णतः लट्टू के घूमने के समान है। एक पूर्ण चक्कर के वास्ते २३ घंटे, ५६ मिनट तथा ४.०६ सेकंड का एक घूरा दिन चाहिए। इसलिए इसको कभी-कभी पृथ्वी की दैनिक गति भी कह देते हैं।

पृथ्वी की धुरी एक काल्पनिक रेखा है जिसके चारों ओर पृथ्वी घूमती है और यह कहा जाता है कि यह अपनी धुरी पर टिकी हुई है। इस धुरी के दो सिरे ध्रुव कहलाते हैं। घूमने के फलस्वरूप पृथ्वी अपने दो ध्रुवों पर चपटी हो गई है, तथा विषुवत् रेखा पर उभड़ी हो गई है। ध्रुवों पर से आगे बढ़ने पर इसके घूमने की गति बढ़ जाती है। ध्रुवों पर घूमने की गति शून्य है, जब कि विषुवत् रेखा पर यह १०३८ मील प्रति घंटे की गति से घूमती है।

पृथ्वी की धुरी इसका वह व्यास है, जिसपर यह घूमती है। यह धुरी विषुवत् रेखा पर समकोण बनाती है। परन्तु यह पृथ्वी के ग्रह पथ से कुछ झुकी हुई है। यह पृथ्वी के ग्रह पथ पर $66\frac{1}{2}^\circ$ के कोण पर झुकी हुई है जिसको झुकाव का कोण (Angle of Inclination) कहते हैं। इस धुरी का उत्तरी सिरा—उत्तरी ध्रुव—सर्वदा आसमान के ध्रुव तारे को लक्ष्य करता है। धुरी अपनी दशा नियमित समय पर बदलती है। यह नियमित समय पर परिवर्तन या हिलना डुलना लगभग $0.3''$ है। पृथ्वी की धुरी के इस झुकाव के कारण ही मौसम, दिन तथा रात की अवधि में हेर फेर तथा तापक्रम के कटिबंध बनते हैं।

बहुत पूर्व सन् १८५१ में ही प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया था कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। उस वर्ष फोकल्ट (Foucault) ने एक भारी गेद की



चित्र ६—फोकल्ट का प्रमाण

सहायता से प्रयोग किया। उन्होंने भारी गेद को एक लम्बे पतले तार में लटका दिया, जिससे यह एक लंगर— (Pendulum) बन गया। इस लंगर प्रयोग (Foucault's Pendulum Experiment) में गुम्बद की चोटी पर, जहाँ से तार नीचे गिरता है, तार इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि यह आसानी से इधर उधर हिल सकता है। अब लंगर चला दिया जाता है, और यह लगातार एक ही रुख में इस प्रकार हिलता है ताकि नीचे एक मेज पर बिछी हुई रेत को छूता रहे। देखने पर यह पता चलता है कि मेज पर बिछी रेत पर बहुत सी रेखाएँ भिन्न-भिन्न दिशाओं में बन गई हैं। यह प्रत्यक्ष है कि जब लंगर एक निश्चित दिशा में घूम रहा था,

मेज भी, पृथ्वी की पश्चिम से पूरब घूमने की गति के कारण घूम रही थी।

मनुष्य जीवन पर पृथ्वी के घूमने का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है :

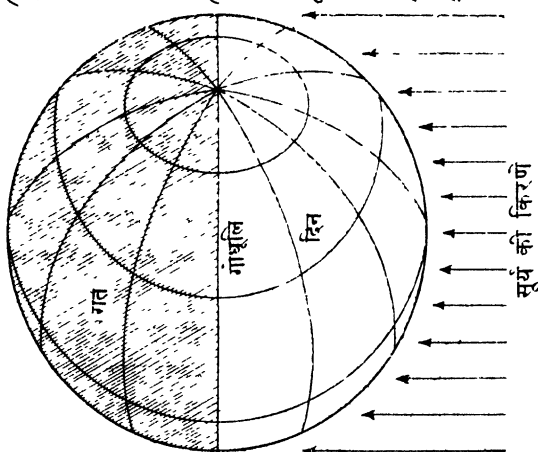
(१) दिन और रात पृथ्वी की दैनिक गति से बनते हैं। पृथ्वी एक प्रकाशहीन पिण्ड है और इसे प्रकाश के लिए सूर्य पर निर्भर रहना होता है। यदि पृथ्वी अपनी धुरी पर नहीं घूमती तो पृथ्वी का अर्द्ध भाग सर्वदा प्रकाश में रहता तथा दूसरा अर्द्ध-भाग सर्वदा प्रकाशहीन ही रहता और वहाँ पर सर्वदा रात्रि रहती। सूर्य एक समय में केवल पृथ्वी के अर्द्ध भाग पर प्रकाश डाल सकता है। घूमने की क्रिया से पृथ्वी लगातार एक न एक नया भाग सूर्य के सम्मुख पेश करती रहती है। इस प्रकार जब एक गोला अर्द्ध में दिन होता है तो दूसरे गोला अर्द्ध में रात्रि होती है और जब दूसरे में दिन होता है तो पहिले में रात्रि।

(२) सूर्य तथा अन्य सितारों का पृथ्वी के चारों ओर प्रत्यक्ष रूप से पूरब से पश्चिम को चलते हुए प्रतीत होना भी पृथ्वी के घूमने के कारण है। प्रतिदिन सूर्य प्रातः निकलता हुआ तथा रात्रि के आने के समय पश्चिम में डूबते हुए दिखाई देता है।

पृथ्वी के घूमने से सूर्य का प्रकट होने का तथा विलीन होने का अशुद्ध नाम ही सूर्योदय तथा सूर्यास्त है।

(३) पृथ्वी के घूमने के आधार पर ही हम समय का अनुमान लगा सकते हैं। जब किसी विशेष स्थान पर सूर्योदय होता है तो उसे सुबह, सूरज ऊपर सर पर आ जमता है तो दोपहर, तथा जब वह पश्चिम में अस्त होता है उसे शाम, कहते हैं।

(४) चार दिशाएँ—पश्चिम, उत्तर, दक्षिण—केवल पृथ्वी के घूमने के



चित्र १०—रात और दिन

आधार पर ही निश्चित की जाती है। चूँकि पृथ्वी पश्चिम से पूरब को घूमती है, सूरज पूरब से निकलता हुआ दिखाई देता है। या वह दिशा जिधर से रोजाना सुबह सूर्योदय होता है, पूरब कहलाता है। एक बार जब हम पूरब को निश्चित कर लेते हैं तो और दिशाएँ भी उसी आधार पर आसानी से मालूम हो सकती हैं।

(५) पृथ्वी के घूमने के आधार पर ही देशान्तर रेखाएँ (Longitudes) बनी हैं। पृथ्वी एक गोलाकार पिण्ड है तथा उसमें ३६० अंश सम्मिलित हैं। यह भी प्रत्यक्ष है कि यह २४ घंटे में सारे ३६० अंशों को पार कर लेती है, अथवा यह एक अंश को पार करने में चार मिनट लेती है। इस आधार पर विषुवत रेखा में ३६० बिंदु हैं, जिन पर पूरब से पश्चिम की ओर सूर्योदय प्रत्येक ४ मिनट के बाद होता है। वह रेखाएँ जो इन बिंदुओं से गुजरती हैं तथा दोनों ध्रुवों को मिलाती हैं, देशान्तर रेखाएँ (Longitudes) कहलाती हैं।

(६) पृथ्वी का पश्चिम से पूरब की ओर घूमना हवाओं तथा लहरों के साधारण रुख में भी परिवर्तन उत्पन्न कर देता है। उत्तरी गोलार्द्ध में हवाएँ और लहरें अपने सीधे ओर मुड़ जाती हैं और दक्षिण गोलार्द्ध में बाई ओर।

(७) पृथ्वी के घूमने के फलस्वरूप पृथ्वी ध्रुवों पर चपटी हो गई है तथा विषुवत रेखा पर उभड़ गई है। यह ध्रुवों पर चपटापन केवल पृथ्वी के घूमने के कारण ही है।

(८) पृथ्वी एक बड़े चुम्बक के समान कार्य करती है। ध्रुव घड़ी की सूई का एक छोर सर्वदा उत्तरी चुम्बकीय ध्रुव को लक्ष्य करता है। अप्रत्यक्ष रूप से पृथ्वी की चुम्बकीय दशा केवल इसके घूमने के कारण ही है।

(९) यह देखा जाता है कि एक दिन में समुद्र का जल दो दफा उठता है तथा दो दफा गिरता है। इस प्रकार दो ऊँचे ज्वार तथा दो भाटे आते हैं। इन दो उठाव तथा गिराव के बीच का समय बहुत नियमित होता है। दो ज्वार तथा

दो भाटों का समय लगभग साढ़े बारह घंटा है जबकि एक ऊँचे तथा नीचे ज्वार के बीच का समय केवल सवा छः घंटे है। यह सिद्धांत केवल पृथ्वी के घूमने के कारण है जो विश्व जल के लिए मयानी का कार्य करती है।

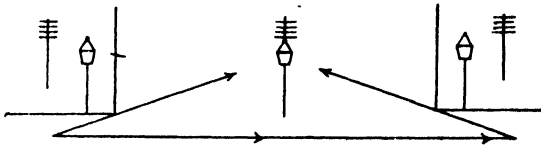
पृथ्वी का परिभ्रमण (Revolution of the Earth)—अपनी धुरी पर घूमने के अतिरिक्त, पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर काटती है। अपनी धुरी पर घूमने के साथ-साथ यह सूर्य के चारों ओर भी घूमती रहती है। यह सूर्य के चारों ओर एक निश्चित रास्ते पर घूमती है जिसे पृथ्वी का ग्रह पथ कहते हैं। पृथ्वी का ग्रह पथ कुछ कुछ अण्डाकार है। यह करीब करीब एक वृत्त बनाता है। पृथ्वी के ग्रह पथ को अण्डाकार पथ कहते हैं तथा इसकी आकृति अण्डे के समान है। यह एक फंलाया हुआ वृत्त है। अण्डाकार होने के कारण इसके दो केन्द्र होते हैं। इस अण्डवृत्त के एक केन्द्र अथवा मध्य बिन्दु पर सूर्य है। इसके फलस्वरूप, सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते समय, पृथ्वी एक समय ऐसी स्थिति में पहुँचती है जहाँ यह सूर्य से सबसे अधिक दूर पर होती है। ऐसी परिस्थिति को उत्तरायण (Aphelion) कहते हैं और इस दशा में सूर्य तथा पृथ्वी के बीच का अन्तर ६४५ लाख मील होता है। पृथ्वी उत्तरायण (Aphelion) स्थिति में एक सौ सत्तासी दिन तक रहती है। इस अवधि में उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है।

कालान्तर में अन्य समय पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हुए सूर्य के अत्यधिक निकट आ जाती है, और इस स्थिति को दक्षिणायन (Perihelion) कहते हैं। इस स्थिति में पृथ्वी तथा सूर्य के बीच का अन्तर ६१५ लाख मील होता है। इस दक्षिणायन (Perihelion) स्थिति में पृथ्वी एक सौ अठत्तर दिन तक रहती है। इस अवधि में उत्तरी गोलार्द्ध में शीत ऋतु होती है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है।

औसत से, पृथ्वी सूर्य के चारों ओर करीब-करीब १,००० मील प्रति मिनट की गति से चक्कर लगाती है। परन्तु पृथ्वी तथा सूर्य के बीच की दूरियों में अन्तर होने के कारण, परिभ्रमण गति भी बढ़ जाती है। जब पृथ्वी, सूर्य से सबसे अधिक दूरी पर होती है, सूर्य का प्रत्यक्ष रूप से चलना बहुत धीमा दिखाई देता है। पृथ्वी के परिभ्रमण की दिशा घड़ी की सुइयों के रुख से पूर्णतः उल्टी है, अर्थात् यह दायें से बाएँ को है। पृथ्वी अपने ग्रह-पथ पर सूर्य के गुरुत्वाकर्षण (Pull of gravity) तथा केन्द्र प्रसारि बल (centrifugal force) की संयुक्त शक्ति द्वारा स्थिर रहती है। पहला इसे सूर्य की ओर आकर्षित करता है, तथा दूसरा इसे भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर खेंचता है। इस प्रकार दोनों मिलकर संतुलन उत्पन्न करते हैं। इस तरह से पृथ्वी अपने ग्रह पथ पर बिना इधर उधर हटे भ्रमण करती रहती है।

पृथ्वी एक चक्कर ३६५ दिन, ५ घंटे तथा ४८ मिनट या मोटे तौर पर एक वर्ष में पूरा करती है। इसी कारण पृथ्वी के परिभ्रमण को वार्षिक गति भी कहते हैं। परन्तु एक वर्ष में केवल ३६५ दिन होते हैं। इसलिए वास्तविक लगे हुए समय में तथा वर्ष की अवधि में सामंजस्य स्थापित करने के लिए, प्रत्येक चौथा वर्ष ३६६ दिन का होता है, जिसे लीप का साल (Leap year) कहते हैं।

सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते समय, पृथ्वी की धुरी सर्वदा एक ही दिशा में झुकी रहती है और ग्रह-पथ की ओर $66\frac{1}{2}^{\circ}$ का कोण बनाये रहती है। परिभ्रमण



चित्र न० ११—समानान्तर स्थिति

तथा धुरी के विशेष झुकाव के कारण ही मौसम होते हैं तथा दिन रात की अवधि में अन्तर पड़ता है।

पृथ्वी के परिभ्रमण का प्रमाण—रेल यात्रा में यह प्रतीत होता है कि बहुत दूर वाले स्थिर पदार्थ तो कुछ समय तक दिखाई देते हैं परन्तु पास के पदार्थ अपनी स्थिति बहुत तीव्र गति से बदल लेते हैं। ऐसा परिवर्तन जो कि देखने वाले की परिस्थिति में परिवर्तन होने के कारण है समानान्तर स्थिति (parallax) कहलाती है। ध्यानपूर्वक देखने पर यह देखा जाता है कि कुछ निश्चित स्थिर सितारों की, जो ज्यादा दूर नहीं हैं, समानान्तर स्थिति (parallax) भी प्रतिदिन बदलती रहती और वर्ष के अन्त में वे एक प्रकार के अण्डाकार पथ सा बना लेते हैं। इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक अण्डाकार रास्ते पर भ्रमण करती है।

पृथ्वी के परिभ्रमण के प्रभाव—(१) दिन और रात की असमानता केवल पृथ्वी की धुरी के ग्रहपथ की ओर $66\frac{1}{2}^{\circ}$ कोण पर झुके हुए होने के कारण है। यदि धुरी ग्रह पथ पर लम्बाकार होती, तो पृथ्वी का प्रत्येक अक्षांस आधा प्रकाशमय तथा आधा प्रकाशहीन होता है। रात और दिन सब जगह बराबर होते परन्तु चूँकि ऐसा नहीं है, इसलिए वर्ष के विभिन्न समयों में सूर्य के प्रति पृथ्वी की अवस्थानुसार दिन तथा रात की अवधि अलग-अलग रहती है।

(२) ऋतुएँ तथा एक ऋतु से दूसरी ऋतु में परिवर्तन केवल पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण है। संसार की प्रधान ऋतुएँ, शरद, बसन्त, ग्रीष्म, तथा पतझड़ हैं। यह सूर्य के प्रति पृथ्वी की विशेष परिस्थितियाँ हैं, तथा एक के बाद दूसरे में मौसम का आना केवल पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर घूमने के कारण है।

(३) पृथ्वी के परिभ्रमण के फलस्वरूप ही अक्षांश रेखाएँ (Latitudes) तथा कटिबंध पाए जाते हैं। वर्ष के भिन्न-भिन्न समयों में सूर्य की किरणें पृथ्वी के भिन्न-भिन्न बिन्दुओं पर पड़ती हैं। इन्हीं बिन्दुओं की सहायता से भूगोल शास्त्रियों ने विषुवत्, कर्क रेखा, मकर रेखा तथा आर्कटिक-अर्न्टार्किक वृत्तों की स्थिति का ज्ञान किया है। इन रेखाओं को निश्चित करने से स्वभावतः पृथ्वी कटिबन्धों में बंट जाती है। जहाँ पर सूर्य की किरणें सीधे रूप से २१ मार्च तथा २३ सितम्बर को पड़ती हैं, वहाँ से हम विषुवत् रेखा की स्थिति ज्ञात कर सकते हैं। २१ जून को सूर्य की किरणें, विषुवत् रेखा के $23\frac{1}{2}^{\circ}$ उत्तर पर सीधी पड़ती हैं, इससे हमें कर्क रेखा का ज्ञान होता है। वह विस्तार अथवा बिन्दु, जहाँ तक सूर्य की किरणें उत्तरी ध्रुव को पार करके

पहुँच सकती है हमें एक काल्पनिक वृत्त का ज्ञान कराता है, जिसे आर्कटिक वृत्त (Arctic circle) या $66\frac{1}{2}^{\circ}$ उत्तरी अक्षांश रेखा कहते हैं। इसी प्रकार 22° दक्षिण को सूर्य की किरणें विषुवतरेखा से $23\frac{1}{2}^{\circ}$ दक्षिण पर सीधी पड़ती हैं। इससे हमें मकर रेखा का ज्ञान होता है तथा $66\frac{1}{2}^{\circ}$ दक्षिणी अक्षांश रेखा (Antarctic Circle) का ज्ञान होता है।

जब हम एक दफा अक्षांश रेखाओं को निश्चित कर लेते हैं, तो हमें यह मालूम करने में सावधानी होती है कि पृथ्वी का वह भाग जो कर्क तथा मकर रेखा के मध्य में है उष्ण कटिबन्ध (Torrid Zone) कहलाता है। अयनरेखाओं (Tropics) तथा आर्कटिक और अन्टार्कटिक वृत्तों के बीच में शीतोष्ण कटिबन्ध (Temperate Zone) है। उत्तरी गोलार्द्ध में आर्कटिक वृत्त (Arctic circle) के अन्तर्गत तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में अन्टार्कटिक वृत्त (Antarctic circle) के अन्तर्गत शीत कटिबन्ध (Frigid Zones) हैं।

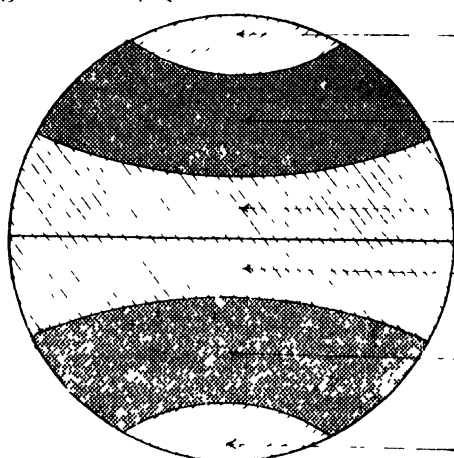
आर्कटिक वृत्त

कर्क रेखा

भूमध्य रेखा

मकर रेखा

अन्टार्कटिक वृत्त



उत्तरी शीत
कटिबन्ध

उत्तरी शीतोष्ण
कटिबन्ध

उष्ण कटिबन्ध

दक्षिणी शीतोष्ण
कटिबन्ध

दक्षिणी शीत
कटिबन्ध

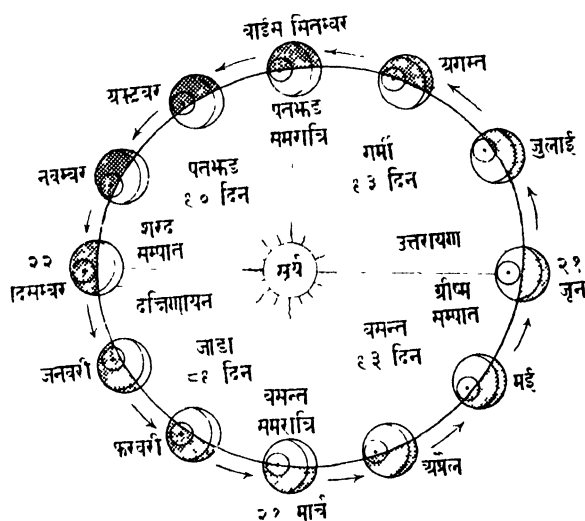
चित्र नं० १०—तापक्रम सम्बन्धी कटिबन्ध

इससे परिणाम निकला है कि कर्क तथा मकर रेखा के बीच वाले स्थानों पर सूर्य की सीधी तथा तेज किरणें सारे वर्ष पड़ती हैं। अतः वहाँ पर शरद ऋतु नहीं होती। इसलिए इसे उष्ण कटिबन्ध (Torrid Zone) कहते हैं। कर्क रेखा के उत्तर की ओर तथा मकर रेखा के दक्षिण की ओर सूर्य की सीधी किरणें कहीं पर भी लम्बरूप से नहीं पड़ती, इसीलिए इसे शीतोष्ण कटिबन्ध (Temperate Zone) कहते हैं। आर्कटिक और अन्टार्कटिक वृत्तों (Arctic and Antarctic circles) के अन्तर्गत सूर्य की किरणें इतनी तिरछी पड़ती हैं कि वहाँ पर ग्रीष्म ऋतु ही नहीं होती। सारे वर्ष वहाँ पर कठोर सर्दी पड़ती है, इसी कारण इसे शीत कटिबन्ध (Frigid Zone) कहते हैं।

ऋतुएं (Seasons)

नीचे दिए हुए चित्र के अनुसार, पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते

समय भिन्न-भिन्न स्थितियों में होती है। यदि पृथ्वी की धुरी ग्रहपथ पर लम्बवत होती तो सूर्य की किरणें विषुवतरेखा पर हमेशा सीधी पड़तीं। इससे ऋतु होने की संभावना ही नहीं रहती। परन्तु पृथ्वी की धुरी निश्चित रूप से $66\frac{1}{2}^{\circ}$ के कोण पर झुकी हुई है। यह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते समय भी सर्वदा इसी प्रकार झुकी रहती है। परिणाम स्वरूप वर्ष के भिन्न-भिन्न समयों पर सूर्य की किरणें भिन्न-भिन्न स्थानों पर सीधी पड़ती हैं। जबकि पृथ्वी की धुरी का उत्तरी सिरा सूर्य की तरफ अधिक झुक जाता है, उस समय सूर्य की सीधी किरणें लम्बरूप से कुकुर रेखा



चित्र न० १३—उत्तरी गोलार्द्ध के मौसम

अथवा २३^१ उत्तर पर पड़ती है और उस समय आर्कटिक वृत्त (Arctic circle) के सभी स्थान पूरे २४ घंटे सूर्य प्रकाश प्राप्त करते हैं। यह २१ जून को होता है जबकि उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है। इस समय दक्षिणी गोलार्द्ध में शरद ऋतु होती है, और इस समय अंटार्कटिक वृत्त के सभी स्थान पूरे २४ घंटे के लिए पूर्ण अन्धकार में रहते हैं। चूँकि पृथ्वी अपनी यात्रा पर हमेशा अग्रसर रहती है ऐसा २१ जून तक होता है और इसके पश्चात् सूर्य अधिकाधिक दक्षिण की ओर चमकता जाता है यहाँ तक कि २२ सितम्बर को सूर्य की किरणें विषुवत् रेखा पर लम्बवत् पड़ती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्म ऋतु का समय २१ जून से २२ सितम्बर तक होता है और इस समय दक्षिणी गोलार्द्ध में शरद ऋतु होती है।

जबकि पृथ्वी की धुरी का दक्षिणी सिरा या दक्षिणी ध्रुव सूर्य की ओर अधिक झुका हुआ होता है, उस समय की अवस्था बिल्कुल विपरीत होती है। उस समय सूर्य की किरणें मकर रेखा या २३½° दक्षिणी अक्षांश पर लंबवत् रहती हैं और अन्टार्क्टिक वृत्त (Antarctic Circle) के सभी स्थान पूरे २४ घंटे सूर्य का प्रकाश पाते हैं। यह स्थिति २२ दिसम्बर को होती है जब पृथ्वी, सूर्य के चारों तरफ की

अपनी आधी यात्रा पूरी कर लेती है। इस समय उत्तरी गोलार्द्ध में शरद ऋतु तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है। इस प्रकार यदि २१ जून सूर्य की उत्तरी सीमा को प्रदर्शित करता है तो २२ दिसम्बर इसकी दक्षिणी सीमा को प्रदर्शित करता है। प्रतिदिन ऐसा होता रहता है और २२ दिसम्बर के बाद सूर्य उत्तर की ओर चढ़ता हुआ दिखाई देता है यहाँ तक कि २१ मार्च को विषुवत् रेखा पर सूर्य की लंबवत् किरणें पड़ती हैं। २२ दिसम्बर और २१ मार्च के बीच का समय उत्तरी गोलार्द्ध में शरद ऋतु का होता है और इसी समय दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है।

२१ मार्च से २१ जून तक पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ अपने रास्ते में इस प्रकार घूमती है कि सूर्य विषुवत् रेखा से धीरे-धीरे उत्तर की ओर जाता दिखाई देता है। इस काल में उत्तरी गोलार्द्ध में वसंत ऋतु होती है और दक्षिणी गोलार्द्ध में पतझड़ (Autumn Season) होती है।

दूसरी ओर २२ सितम्बर से २२ दिसम्बर तक पृथ्वी अपनी स्थिति को इस प्रकार बदलती है कि इस समय सूर्य विषुवत् रेखा से दक्षिण की ओर चलता हुआ दिखाई देता है। यह प्रतिदिन आकाश को चीर कर दक्षिण की ओर जाता हुआ दिखाई देता है। इस काल में उत्तरी गोलार्द्ध में पतझड़ (Autumn Season) तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में वसन्त ऋतु होती है।

कुछ तारीखों में सूर्य विषुवत् रेखा के उत्तर व दक्षिण में अपने प्रतिदिन के प्रत्यक्ष नियम में रुक जाता है। २१ जून को सूर्य कर्क रेखा पर लम्बवत् चमकता है और २२ दिसम्बर को मकर रेखा पर लम्बवत् चमकता है, ये स्थितियाँ संपात (Solstices) कहलाती हैं। इस स्थिति पर उत्तरी गोलार्द्ध में क्रमशः गर्मी और सर्दी के महीने होते हैं। २१ जून की स्थिति को ग्रीष्म संपात (Summer Solstice) तथा २२ दिसम्बर की स्थिति को शरद संपात (Winter Solstice) कहते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में २१ जून को सबसे बड़ा दिन तथा २२ दिसम्बर को सबसे छोटा दिन होता है।

मार्च व सितम्बर के बीच की स्थिति को जो क्रमशः वसन्त तथा पतझड़ (Autumn) की अन्तरिम ऋतुएं होती हैं, सम रात्रियाँ कहते हैं। संपातों (Solstices) के बीच पृथ्वी अपनी समरात्रि (Equinoctical) स्थिति में इस प्रकार होती है कि सूर्य विषुवत् रेखा पर लम्बवत् पड़ता है। २१ मार्च व २२ सितम्बर को दिन व रात बराबर होते हैं। इन तारीखों में भूमंडल के प्रत्येक स्थान पर १२ घंटे का दिन तथा १२ घंटे की रात्रि होती है। उत्तरी गोलार्द्ध के लिए २१ मार्च वसन्त समरात्रि (Spring Equinox) तथा २२ सितम्बर पतझड़ समरात्रि (Autumnal Equinox) है। [समरात्रि (Equinox) का अर्थ है बराबर की रातें]।

विषुवत् रेखा पर दिन और रातें हमेशा बारह-बारह घंटे की होती हैं और इस प्रकार सारे वर्ष दिन रात की बराबर अवधि रहती है। परन्तु जैसे-जैसे हम विषुवत् रेखा से उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव की ओर बढ़ते जाते हैं दिन व रात की

असमानता भी बढ़ती जाती है। ग्रीष्म ऋतु में दिन रात से बड़े होते हैं परन्तु शरद ऋतु में दिन छोटे हो जाते हैं और रातें बड़ी होती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में २१ जून सबसे बड़ा दिन होता है और २२ दिसम्बर को सबसे लम्बी रात व सबसे छोटा दिन होता है।—आर्कटिक तथा अन्टार्क्टिक वृत्तों (Arctic and Antarctic Circles) या $66\frac{1}{2}^{\circ}$ उत्तरी दक्षिणी अक्षांश पर दिन व रात की लम्बाई में इतना अन्तर होता है कि वर्ष में एक बार दिन २४ घंटे का होता है और ऐसे ही वर्ष में एक बार रात भी २४ घंटे की ही होती है। २४ घंटे का दिन दिसम्बर के माह में व २४ घंटे की रात जून के माह में होती है। परन्तु ऐसा उत्तरी गोलार्द्ध में होता है। दक्षिणी गोलार्द्ध में बिल्कुल इसके विपरीत होता है। ध्रुवों पर ६ महीने की रात और ६ महीने के दिन कम से होते हैं।

२१ मार्च व २२ सितम्बर के बीच उत्तरी ध्रुव पर ६ महीने का दिन होता है। उत्तरी ध्रुव तथा आर्कटिक वृत्त (Arctic Circle) के बीच के क्षेत्र में, ध्रुव से दूरी के अनुसार दिन व रात की लंबाई घटती बढ़ती है। दूसरे ६ महीनों में उत्तरी ध्रुव पर रात होती है और उसी समय दक्षिणी ध्रुव पर ६ महीने का दिन होता है।

उत्तरी गोलार्द्ध में २१ जून को दिन के प्रकाश की सबसे बड़ी अवधि होती है और अंधकार की सबसे बड़ी अवधि २२ दिसम्बर को होती है जबकि रात सब से लम्बी होती है। इन सीमाओं के बीच रात व दिन की अवधि उत्तरी गोलार्द्ध में क्रमशः बढ़ती व घटती रहती है जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में २१ जून व २२ दिसम्बर के बीच दिन बढ़ते हैं और रातें घटती हैं।

अक्षांश तथा देशान्तर रेखायें

(Latitudes and Longitudes)

पृथ्वी के भिन्न भिन्न स्थान तथा उनकी सही स्थिति को समझने के लिए किसी एक निश्चित बिन्दु से उनकी दूरी तथा सही सही रुख भी समझना चाहिए। उनकी स्थिति, दूरी तथा उत्तर या दक्षिण की ओर अथवा पूरब या पश्चिम की ओर के रुख को समझने के लिए काल्पनिक रेखाओं का एक जाल बनाया गया है। यह समझा गया है कि पृथ्वी के धरातल पर पूरब से पश्चिम की ओर तथा उत्तर से दक्षिण की ओर वक्र रेखाएँ गुजरती हैं। इनको अक्षांश तथा देशान्तर रेखाये कहते हैं।

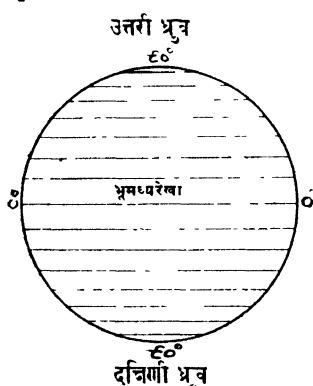
अक्षांश रेखाये वह छोटे वृत्त हैं जो इस गोलाकार भूमंडल को दो असमान भागों में विभक्त करते हैं। विषुवत् रेखा, पृथ्वी के गोलाकार पिंड को दो अर्धभागों उत्तरी गोलार्द्ध व दक्षिणी गोलार्द्ध में विभक्त करती है। अक्षांश रेखाये उस के समानान्तर चलती हैं। इनको समानान्तर रेखायें (Parallels of latitude) कहते हैं। यह विषुवतरेखा से उत्तर और दक्षिण की ओर कोणिक दूरी को प्रगट करती हैं। इस प्रकार उत्तरी अक्षांश रेखाएं विषुवतरेखा से उत्तर में हैं, और दक्षिणी अक्षांश रेखाएं विषुवत रेखा से दक्षिण में हैं।

दूसरी ओर देशान्तर रेखाएँ वह बड़े वृत्त हैं जो गोलाकार पिण्ड को दो बराबर

भागों में विभक्त करते हैं। यह ध्रुव से होते हुए पृथ्वी के चारों ओर से गुजरती है। इसके पूर्ण वृत्तों को मध्यान्ह वृत्त (Meridian circles) कहते हैं, परन्तु वह अर्द्ध वृत्त जो ध्रुवों के मध्य में हैं उन्हें मध्यान्ह रेखाएँ (Meridians of longitude) कहते हैं।

अक्षांश रेखाओं के लिए विषुवतरेखा आरम्भ का बिन्दु है। परन्तु देशान्तर रेखाओं या मध्यान्ह रेखाओं (Meridians) को पाने के लिये हमें एक आरम्भ का बिन्दु बताना पड़ता है। वह मध्यान्ह रेखा (Meridian) जो ग्रीनविच, इंग्लैंड से गुजरती है, साधारणतः आरम्भ का बिन्दु मानी जाती है। इसे प्रधान मध्यान्ह रेखा (Prime Meridian) कहते हैं। पूर्वी देशान्तर रेखाओं का अर्थ है प्रधान मध्यान्ह रेखा (Prime Meridian) से पूरब की ओर और पश्चिमी देशान्तर रेखाओं का अर्थ है प्रधान मध्यान्ह रेखा (Prime Meridian) से पश्चिम की ओर।

अक्षांश रेखा—अक्षांश रेखाओं का माप अंश द्वारा होता है। पृथ्वी एक वृत्त है, अतः इसमें 360° हैं। यदि हम विषुवतरेखा से एक सीधी लाइन में उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव की ओर चले तो हम उस वृत्त का चौथाई भाग अर्थात् 90° पार कर लेंगे। इसलिए उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों की अक्षांश रेखाएं क्रमशः 90° दक्षिण तथा 90° उत्तर हैं हम इनको और भी अंशों में विभक्त कर सकते हैं। वह रेखाएं जो इनसे विषुवत रेखा के समानान्तर खेची जाएंगी, समानान्तर रेखाएं (Parallels of latitude) कहलाती हैं। प्रत्येक अक्षांश रेखा को सहूलियत के लिए 1° के फासले पर खींचा जाता है। प्रत्येक गोलार्द्ध में 90° अक्षांश रेखाएं होती हैं और पूर्ण पृथ्वी पर 180° अक्षांश रेखाएं होती हैं।



चित्र न० १४—समानान्तर रेखाएँ

पृथ्वी के सूर्य के चारों ओर घूमने तथा इसकी धुरी के झुकाव के कारण हमको $23\frac{1}{2}^\circ$ और $66\frac{1}{2}^\circ$ उत्तरी व दक्षिणी अक्षांश जैसी बहुत सी आदर्श रेखाएं मिल जाती हैं। इनको क्रमशः कर्क तथा मकर रेखाएं और आर्कटिक तथा अन्टार्कटिक वृत्त (Arctic and Antarctic Circles) कहते हैं। यदि हम उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों को मिलाने वाली रेखा के मध्य बिंदु से, एक सीधी रेखा विषुवत रेखा के समानान्तर खींचे तो हमको एक और आदर्श रेखा— 45° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांश मिल जायगी।

विषुवत रेखा 0° अक्षांश रेखा मानी जाती है।

पृथ्वी की परिधि लगभग २५ हजार मील होने के कारण इसका चौथाई 6250 मील होगा। अतः अक्षांश रेखाओं के 1° अंश 6250 मील की होती है। अतएव अक्षांश रेखा की एक डिग्री या अंश 69 मील के बराबर हुई।

अक्षांश रेखाएँ तथा सूर्य की ऊँचाई—किसी भी स्थान की अक्षांश रेखा को जानने के लिए सबसे आसान तरीका यह है कि हम क्षितिज से ध्रुव तारे की ऊँचाई नापें तथा देखें। यह कोणिक रूप में होगा और यही उस स्थान की अक्षांश रेखा होगी। परन्तु किसी भी स्थान की अक्षांश रेखा जानने के इस तरीके की दो कठिनाइयाँ हैं—प्रथम यह केवल रात्रि में प्रयोग हो सकता है और द्वितीय यह केवल उत्तरी गोलार्द्ध में ही कार्य कर सकता है।

अतः एक और तरीका अपनाया गया है। इस विधि के अनुसार जब सूर्य लम्बवत् चमक रहा होता है तो इसकी ऊँचाई क्षितिज से नापी जाती है। दोपहर के समय सूर्य व क्षितिज के बीच का कोण एक यंत्र से नाप सकते हैं जिसे “सेक्सटन्ट (Sextant)” कहते हैं। २१ मार्च व २२ सितम्बर को सूर्य विषुवत् रेखा पर लम्बवत् चमकता है। इन दिनों सूर्य का झुकाव विषुवत् रेखा के उत्तर व दक्षिण से देखे जाते हैं और हम उस स्थान की अक्षांश रेखा मालूम कर सकते हैं। दूसरे समयों पर हमें किसी भी स्थान की सही-सही अक्षांश रेखा का अंश मालूम करने के लिए कुछ गणित करना पड़ता है। उदाहरण के लिए २१ जून को सूर्य कर्क रेखा यानी २३½ उत्तरी अक्षांश रेखा पर लम्बवत् चमकता है। उत्तरी गोलार्द्ध से देखने वाले किसी भी दर्शक को सूर्य २१ मार्च की स्थिति से २३½ ऊँचा दिखाई देगा और दक्षिणी गोलार्द्ध के दर्शक को सूर्य इतने ही अंश नीचा दिखाई देगा। फलस्वरूप अक्षांश रेखा को तुरन्त जानने के लिए निम्नलिखित नियम बनाया गया है

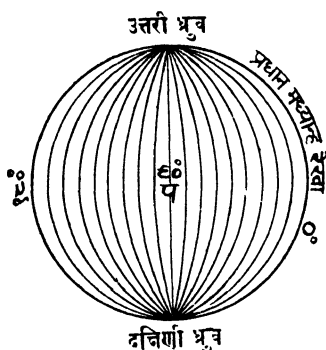
यदि दर्शक उसी गोलार्द्ध में है जिसमें सूर्य चमक रहा है तो देखने वाले स्थान से ली गई सूर्य की क्षितिज से दूरी में से उस अक्षांश रेखा के अंश को घटा देना चाहिये जिस पर सूर्य लम्बवत् चमक रहा है। उससे हमको सूर्य का झुकाव का ठीक-ठीक पता चल जायगा और यही उस स्थान की अक्षांश रेखा होगी। दूसरी ओर यदि सूर्य दर्शक के विपरीत वाले गोलार्द्ध में चमक रहा है तो सूर्य की क्षितिज से दूरी में उस अक्षांश रेखा के अंश को जोड़ देना चाहिए जिस पर सूर्य लम्बवत् चमक रहा है।

एक उदाहरण इसे और भी अधिक स्पष्ट कर देगा। यदि सूर्य २३½ उत्तरी अक्षांश रेखा पर चमक रहा है और दर्शक भी उत्तरी गोलार्द्ध में है तथा सूर्य की दूरी ६६½ है, तो उस स्थान के सही अक्षांश रेखा ६६½ — २३½ = ४३ उत्तरी अक्षांश रेखा होगी। दूसरी ओर यदि दर्शक दक्षिणी गोलार्द्ध में है तो दर्शक के स्थान की सही अक्षांश रेखा ६६½ + २३½ = ९० दक्षिणी अक्षांश रेखा होगी।

देशांतर रेखाएँ—देशांतर रेखाएँ वे रेखाएँ हैं जो कि ध्रुवों पर जाकर मिलती हैं और जिन्हें विषुवत् रेखा दो बराबर भागों में बाँटती है। इसी कारण से ध्रुवों पर केवल अक्षांश रेखाएँ होती हैं देशान्तर रेखाएँ नहीं। ठीक इसी प्रकार विषुवत् रेखा पर कोई अक्षांश रेखा नहीं होती।

पृथ्वी एक वृत्त है अतः इसमें ३६० होती हैं। इसलिए यदि हम प्रधान मध्यान्ह रेखा (Prime Meridian) या ०° देशान्तर रेखा से पूर्व व पश्चिम की ओर निशान लगायें तो हमको ज्ञात होगा कि १८०° देशांतर रेखाएँ पश्चिमी अर्द्ध भाग में हैं तथा दूसरी १८०° देशांतर रेखाएँ पूर्वी अर्द्ध भाग में हैं। पृथ्वी के गोल के बीच

में 120° पश्चिमी तथा 120° पूर्वी देशांतर रेखाएँ एक ही मध्यान्ह रेखा (Meridian) से नापी जाती हैं। ये रेखाएँ वे हैं जो एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव की ओर विषुवत् रेखा के 360° अंशों में से होकर गुजरती हैं। परन्तु आसानी के लिए देशांतर रेखाओं को 15° के फासले पर खींचा जाता है।



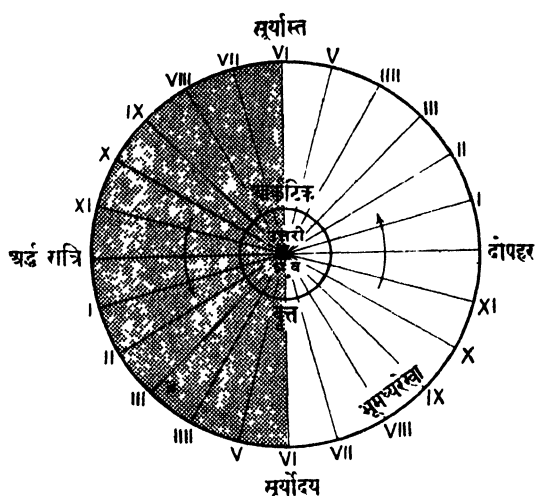
चित्र नं० १५—देशांतर रेखाएँ

किसी स्थान की स्थिति मालूम करने के लिए अक्षांश रेखाओं के अंशों को मध्यान्ह रेखा (Meridian) पर नापा जाता है और देशांतर रेखाओं के अंश समानान्तर अक्षांश रेखाओं पर (Parallels of Latitude) से नापे जाते हैं। अक्षांस रेखाओं (Parallels of Latitude) के विपरीत दो देशांतर का अन्तर प्रत्येक जगह एक सा नहीं रहता। जैसे जैसे हम विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ते जायेंगे यह फासला कम होता चला जायगा। विषुवत् रेखा पर 1° देशांतर रेखा $69-16$ मील के बराबर होती है। ध्रुवों की ओर यह कम होती चलती है यहां तक कि ध्रुवों पर ये शून्य हो जाती है। 20° अक्षांश रेखा पर 1° देशांतर रेखा 65 मील के बराबर होती है। परन्तु 40° , 60° और 80° अक्षांश रेखाओं पर यह क्रमशः 53 मील, $36-7$ मील तथा $18-4$ मील के बराबर होती है।

देशांतर रेखाएँ तथा समय—देशांतर रेखाओं तथा समय के मध्य एक निश्चित संबंध है। पृथ्वी अपनी धुरी पर घूम रही है और 24 घंटे में एक चक्कर पूरा करती है। अतः देशांतर रेखाओं की प्रत्येक रेखा प्रतिदिन एक बार सूर्य के सम्मुख आती है। दूसरे शब्दों में उन स्थानों पर जो एक ही देशांतर रेखा पर बसे हुए हैं सूर्य एक ही समय में लम्ब रूप से चमकेगा—अर्थात् दोपहर एक ही समय होगा। चूंकि पृथ्वी के घूमने के कारण देशांतर की 360° रेखाओं में 24 घंटे का अन्तर रहता है, इसलिए वह स्थान जो 15° देशांतर रेखाओं के फासले पर बसे हुए हैं उनके समयों में सूर्य के अनुसार क्रमशः एक घंटे का अन्तर रहेगा। गणित के अनुसार 15° देशांतर रेखाओं में 60 मिनट का अन्तर है, तो देशांतर रेखा के प्रत्येक अंश में 4 मिनट का अन्तर होगा।

चूंकि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रही है, उन स्थानों पर जो पूरब में बसे हुए हैं सूर्योदय जल्दी होगा और उन स्थानों पर जो पश्चिम में देर से। इसका अर्थ यह भी है कि 15° के अंतर पर सूर्योदय 1 घंटा पहले या बाद में होगा। सेंटल्यूई (संयुक्तराष्ट्र अमेरिका) 80° पश्चिमी देशांतर रेखा पर स्थित है जबकि डैनवर 105° पश्चिमी देशांतर पर स्थित है। फलस्वरूप डैनवर में सूर्योदय, सेंटल्यूई से 1 घंटे बाद होता है। फिलाडेल्फिया, सेंटल्यूई से 15° पूरब में है। वहाँ सूर्योदय 1 घंटे पहले होता है। इसी प्रकार लंदन तथा सेंटल्यूई 80° देशांतर के अंतर पर है। अतः सूर्योदय तथा सूर्यास्त में 6 घंटे का अंतर है। लंदन में सेंटल्यूई की अपेक्षा

६ घंटे पहले सूर्योदय तथा सूर्यास्त होता है। दूसरे शब्दों में लंदन के समय से या दूसरे शब्दों में ग्रीनविच समय से सेंटल्यूई का समय ६ घंटे पीछे है। इसी सिद्धांत के अनुसार ग्रीनविच समय उन स्थानों के समय से पीछे है जो इससे पूरब में बसे

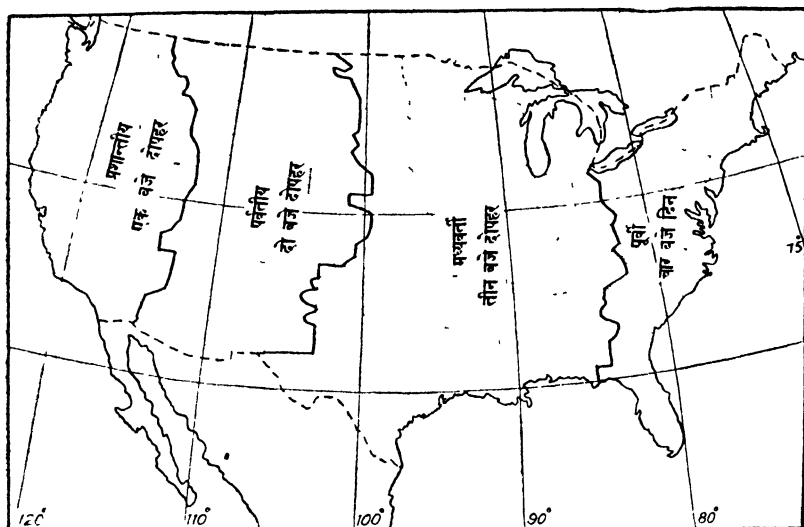


चित्र १६—देशान्तर रेखाएँ तथा समय

हुए हैं। और यह अन्तर ग्रीन विच से पूरब में बसे हुए स्थानों के देशान्तर के अंशों के अनुपात में होता है। दूसरे शब्दों में ग्रीन विच से पूरब में बसे हुए स्थानों पर समय ग्रीनविच समय से आगे होगा। कलकत्ता 86° पूर्वी देशान्तर पर बसा हुआ है। अतः सूर्य के अनुसार कलकत्ता का समय ग्रीन विच समय से ६ घंटे आगे है या हम कह सकते हैं कि कलकत्ते में सूर्य के अनुसार समय से लंदन का समय ६ घंटे पीछे है।

किसी स्थान के देशान्तर के अनुसार समय अथवा सूर्य के अनुसार समय को हम स्थानीय (Local time) कहते हैं हालांकि उन सारे स्थानों में जो एक ही मध्याह्न रेखा (Meridian) पर स्थित हैं, एक ही समय होता है। उन स्थानों में जो भिन्न-भिन्न मध्याह्न रेखाओं (Meridians) पर स्थित हैं समय भिन्न-भिन्न होता है। इसलिए यदि एक आदमी पूरब से पश्चिम को या पश्चिम से पूरब को यात्रा करता है तो उसे लगातार हर साढ़े सत्तरह मील बाद अपनी घड़ी में १ मिनट का अंतर करना होगा। यदि वह पूर्व से पश्चिम को यात्रा करता है तो उसे समय पीछे रखना पड़ेगा और यदि वह पश्चिम से पूर्व को यात्रा करता है तो उसे अपनी घड़ी उसी अनुपात में आगे करनी पड़ेगी। रेल व तार विभाग के कार्यों में तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय आवागमन के साधनों में इस समयान्तर से बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इसलिए प्रत्येक देश में एक देशान्तर रेखा को प्रामाणिक मध्याह्न रेखा (Standard Meridian) मान लिया जाता है, और उस मध्याह्न रेखा (Meridian) पर स्थित सारे स्थानों का स्थानीय समय सारे देश के लिए प्रामाणिक

समय (Standard time) माना जाता है। ग्रीनविच का स्थानीय समय ग्रेट ब्रिटेन के लिए प्रामाणिक समय (Standard time) है। ८२½° पूर्वी देशान्तर रेखा का स्थानीय समय भारत प्रायद्वीप के लिए प्रामाणिक समय (Standard time) है।



चित्र न० १३—समय कटिवध

संसार के बहुत से देशों में, जहाँ पर देशांतर रेखाओं का विस्तार इतना अधिक है कि देश के एक भाग के समय से दूसरे भाग के समय में चार-चार पाँच-पाँच घंटों का अंतर होता है, पृथ्वी के धरातल को समय कटिबंधों (Time Zones) में बाँट देते हैं। सारे भूमंडल को ऐसे २४ समय कटिबंधों (Time Zones) में बाँटा गया है ताकि एक दूसरे कटिबंध के समय में केवल एक घंटे का अंतर रहता है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका तथा कनाडा को भी इसी प्रकार के उत्तरी-दक्षिणी समय पेटियों (Time Belts) में बाँटा गया है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका में ऐसी चार समय पेटियाँ (Time Belts) हैं जबकि यूरोप में ऐसी तीन पट्टियाँ हैं। इन समय कटिबंधों (Time Zones) की सीमाएँ बिल्कुल अनियमित हैं चूँकि ये रेल समय तथा दूसरे राजनीतिक विचारों के आधार पर बनाई गयी हैं। समय कटिबंध (Time Zones) के सारे स्थान कटिबंध की केन्द्रीय मध्यःरेखा (Meridian) के स्थानीय समय को ही प्रामाणिक मानते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कटिबंध का एक प्रामाणिक समय (Standard time) होता है। और इस प्रकार के प्रामाणिक समय (Standard time) को प्रादेशिक या कटिबंधीय समय (Zone Time) कहते हैं।

किसी भी स्थान का स्थानीय समय वहाँ की दोपहरी से निकाला जाता है। इस प्रकार किसी भी स्थान की देशान्तर रेखाएँ तथा स्थानीय समय आपस में अत्यधिक सम्बन्धित हैं। यदि हम किसी स्थान की देशान्तर रेखा जानते हैं तो हम वहाँ का स्थानीय समय निकाल सकते हैं। दूसरी ओर अगर हम किसी स्थान का स्थानीय

समय जानते हैं तो हम वहाँ की देशान्तर रेखा को मालूम कर सकते हैं। यह ग्रीन-विच से गुजरने वाली प्रधान मध्यान्ह रेखा (Meridian) के पूरब या पश्चिम में होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय तिथि रेखा (Date line)—संसार के देशों में समय सम्बन्धी समस्या सर्व प्रथम प्रामाणिक समय (Standard Time) तथा बाद में प्रादेशिक समय (Zone Time) द्वारा हल हुई। परन्तु संसार की जहाज द्वारा परिक्रमा (Circumnavigation) ने एक नवीन समस्या उत्पन्न कर दी। संसार के चारों तरफ की यात्रा करते समय मनुष्यों को सही-सही तरीख तथा सप्ताह के दिन रखने में बहुत कठिनता प्रतीत होती है। पृथ्वी की जहाज द्वारा परिक्रमा (Circumnavigation) का अर्थ है देशान्तर रेखाओं के ३६० अंशों को पार करना जिसमें एक दिन का अन्तर स्वतः हो जाता है। संसार की पूरब से पश्चिम की यात्रा करते समय ऐसा प्रतीत होता है कि एक दिन कम हो गया तथा पश्चिम से पूरब की यात्रा करने में यह ज्ञात होता है कि हमें एक दिन अधिक मिल गया है।

इससे यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि पूरब में एक ऐसा बिन्दु स्थापित किया जाय जहाँ से नया दिन प्रारम्भ हो। सर्व सम्मति से १८०° मध्यान्ह रेखा (Meridian) को इस प्रकार की रेखा माना गया और संसार-भ्रमण कर्त्ता उस रेखा पर आकर समय में सारे ज़रूरी सुधार करता है। वास्तविकता यह है कि जब ग्रीनविच में सोमवार के दिन दोपहर होता है, १८०° पूर्वी मध्यान्ह रेखा (Meridian) पर उस समय सोमवार की अर्द्ध-रात्रि होती है, अर्थात् दूसरे दिन सुबह मंगल होगा। और पश्चिम की ओर १८०° पश्चिमी मध्यान्ह रेखा (Meridian) पर इतवार की अर्द्ध रात्रि होगी और दूसरे दिन सुबह सोमवार होगा। इस प्रकार १८०° मध्यान्ह रेखा (Meridian) के पश्चिम की ओर सोमवार की सुबह होगी और पूरब की ओर सोमवार की शाम होगी।

संयुक्त-राष्ट्र-अमरीका के प्रोफेसर डेविडसन के उत्साह पूर्ण विचार के अनुसार एक रेखा पाई गई जो कि १८०° मध्यान्ह रेखा (Meridian) से गुजरती है। इसको ऐसा बिन्दु समझा गया है जहाँ संसार भ्रमण-कर्त्ता को सारे सुधार करने चाहिए। यह रेखा १८०° मध्यान्ह रेखा (Meridian) से गुजरती हुई मानी जाती है परन्तु स्थल को छोड़ने के लिए इसमें कुछ छोटे-छोटे मोड़ भी हैं। इसी को अन्तर्राष्ट्रीय तिथि रेखा (Date line) कहते हैं। कोई जहाज, जो कि पश्चिम से पूरब को जा रहा है, जब इसे पार करता है तो उसे एक दिन दुबारा गिनना पड़ता है जब कि उस जहाज को जो पूरब से पश्चिम को जा रहा है इस रेखा को पार करते समय एक दिन छोड़ना पड़ता है। उदाहरणतः कोई पूरब की ओर जाने वाला जहाज जब इस रेखा पर मंगलवार के दिन सुबह ६ बजे पहुँचता है तो यह अपनी तारीख बदल कर सोमवार के सुबह ६ बजे कर लेता है। इसी प्रकार पश्चिम की ओर जाने वाला जहाज यदि इस रेखा पर मंगलवार को सुबह ६ बजे पहुँचता है तो वह अपना समय बदल कर बुधवार की सुबह ६ बजे कर लेता है। इस प्रकार एक ओर एक दिन छोड़ दिया जाता है और दूसरी ओर एक दिन अधिक गिना जाता

है। दूसरे शब्दों में पश्चिम की ओर जाने वाला जहाज एक दिन या २४ घंटे छोड़ देता है और दूसरे दिन पर आ जाता है। इसके विपरीत पूर्व की ओर जाने वाला जहाज दुबारा पहले दिन पर आ जाता है।

अतः पश्चिम की ओर जाने वाला जहाज यदि इस रेखा को ४ दिसम्बर सोमवार को पार करता है तो यह मंगलवार ५ दिसम्बर को छोड़ देगा और अपने रोजनामचे की पुस्तक में दूसरा दिन बुधवार ६ दिसम्बर लिखेगा। इस प्रकार पश्चिम की ओर जाने वाले जहाज के लिए सप्ताह केवल ६ दिन का होगा। इसके विपरीत यदि पूरब की ओर जाने वाला जहाज ४ दिसम्बर सोमवार को इस रेखा को पार करता है तो वह इस दिन को एक बार दुबारा गिनेगा और अपने रोजनामचे की पुस्तक में दो बार दर्ज करेगा—प्रथम सोमवार ४ दिसम्बर द्वितीय सोमवार ४ दिसम्बर। इस प्रकार पूरब की ओर जाने वाले जहाज के लिए सप्ताह आठ दिन का होगा।

संक्षेप में अन्तर्राष्ट्रीय तिथि रेखा (Date line) वह बिन्दु रेखा है जिसके पश्चिम की ओर एक जनवरी रविवार की दोपहर होगी तथा पूरब की ओर ३१ दिसम्बर शनिवार की दोपहर होगी जब कि ग्रीनविच में अर्द्ध-रात्रि होगी। ग्रीनविच समय के अनुसार इस समय को सही करने के लिए नियम है कि जब हम पश्चिम की ओर जाते हैं तो एक दिन आगे बढ़ जाते हैं और जब हम पूरब की तरफ जाते हैं तो एक दिन पीछे हट जाते हैं।

पृथ्वी का आन्तरिक भाग

मनुष्य के लिये अब भी यह रहस्य है कि पृथ्वी के आन्तरिक भाग में क्या है। मनुष्य के पास कोई ऐसा यन्त्र या सूक्ष्म किरण (X-rays) नहीं जिससे इस रहस्य का हल हो सके। साथ साथ यह मनुष्य के लिये सम्भव नहीं कि वह पृथ्वी में बहुत गहराई तक जा सके। पृथ्वी की एक निश्चित गहराई के बाद मनुष्य के लिये यह सम्भव नहीं कि वह आगे खान खोद सके या उसके आगे गहराई में सक्रिय अवस्था में रह सके। अतः पृथ्वी के आन्तरिक भाग के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमें एक अप्रत्यक्ष प्रमाण पर निर्भर रहना होगा। यदि हम पृथ्वी की सतह से नीचे की ओर चले तो हम यह देखेंगे कि एक बहुत घना, ऐंठा हुआ ग्रेनाइट नीस (Granite Gneiss) का पिण्ड तथा शिस्ट (Schist) है, जिसके नीचे बसाल्ट (Basalt) दबा हुआ है। परन्तु इससे नीचे जाना मनुष्य की शक्ति से बाहर है। अत्यधिक नीचे, पृथ्वी के केन्द्र के बारे में जानने के लिये हमें अप्रत्यक्ष प्रमाण का प्रयोग करना होगा। हमें भूकम्प की लहरों का अध्ययन करना होगा तथा, जब वह केन्द्रीय पिण्ड से वापस आती हैं, इस बात का ध्यान करना होगा कि वह किस किस प्रकार की परतों में से होकर गुजरती हैं।

भूकम्प लहरों का प्रमाण—इस बात का पता लगाने से कि भूकम्प लहरें भिन्न २ दूरी के स्थानों से गुजरने में कितना समय लेती हैं, हम इस बात का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं कि वह किन किन पदार्थों से होकर गुजरती हैं। हम यह कह सकेंगे कि कौनसा भाग ठोस है तथा कौन भाग पिघला हुआ है। भूकम्प से तीन प्रकार की लहर उत्पन्न होती हैं—(१) लम्बी लहरें, (२) आड़ी तिरछी लहरें, (३) धरातलीय लहरें। 'भूकम्प मापक यन्त्र' (Seismograph) द्वारा लहरों की चाल, गति तथा, उनके द्वारा लिये गये सन्नय का अध्ययन होता है। इस प्रयोग द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि माध्यम, जिससे होकर लहरें गुजरती हैं, जितना भी अधिक घना होगा, लहरों की गति उतनी ही अधिक होगी। भूकम्प लहरों के अध्ययन से यह प्रत्यक्ष हुआ है कि पृथ्वी के धरातल से १,८०० मील गहराई तक लहरों की गति लगातार बढ़ती ही जाती है। १,८०० मील की गहराई पर लहरों की गति एक अजीब तरीके से बदल जाती है। तिरछी लहरें इससे आगे बढ़ने में पूर्णतः असमर्थ होती हैं। साधारण सिद्धान्त यह है कि तिरछी लहरें तरल पदार्थ में नहीं प्रवेश कर सकती। इस आधार पर यह माना गया है कि पृथ्वी का मध्य भाग अथवा केन्द्रीय पिण्ड एक तरल अवस्था में है। प्रधान लहरें अथवा लम्बी लहरें केन्द्रीय पिण्ड में प्रवेश कर सकती हैं, परन्तु उनकी गति कम से कम हो जाती है। विशेषता यह है कि वह मध्य

पिण्ड में, जिसका व्यास ४,००० मील है, सीधी यात्रा नहीं कर सकतीं। फलस्वरूप ये प्रधान लहरे केन्द्रीय पिण्ड में कुछ दूर जाकर वापस लौट आती हैं।

इन निरीक्षणों से वैज्ञानिक इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि १,८०० मील की गहराई पर, तरल पदार्थ मिलता है। तरल केन्द्र तथा बाह्य ठोस पदार्थ के मध्य की सीमा अत्यधिक तीव्र है, और यह निरीक्षण करना सम्भव है कि भूकम्प लहरे इसके गूँज के फलस्वरूप वापस फेंक दी जाती हैं। पृथ्वी के केन्द्र में तरल पदार्थ लगभग ४,००० मील विस्तार में फैला है। यह पृथ्वी के आकार का आधा है अथवा मंगल (Mars) नक्षत्र के विस्तार के बराबर है। इस गहराई के नीचे जो तरल पदार्थ हैं वह चट्टानों से दुगुना या तिगुना भारी हैं। परन्तु बहुत सी ध्यान देने योग्य बातें ऐसी हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी का आन्तरिक भाग तरल रूप में नहीं हो सकता।

तरलरूप आन्तरिक भाग के विरुद्ध प्रमाण—(१) अगर पृथ्वी के आन्तरिक भाग में तरल पदार्थ होता और इसके ऊपर कठोर तह होती, तो यह तह कुछ ही समय में ठोस या घनी हो जाती। यदि भौगोलिक युगों में यह तह मोटी होती चली गई होती, तो ज्वालामुखी विस्फोटों में लगातार कमी होती चली जाती। परन्तु ऐसा नहीं है।

(२) सागर में ज्वार भाटा उत्पन्न करने के लिये यह आवश्यक है कि जल-मंडल (Hydrosphere) के नीचे एक ठोस गोलाकार पिण्ड होना चाहिये, और यह कम से कम २५० मील तक लगातार रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त यदि हम पृथ्वी के आन्तरिक भाग को तरल समझते हैं, तो सारी शक्तियाँ इसे कम-से-कम दिन में २ दफा टेढ़ा मेढ़ा कर देतीं और फलस्वरूप पृथ्वी की तह उसी अनुमान से दिन में दो दफा मुड़ जाती।

(३) नक्षत्रों की गति व परिवर्तन सम्बन्धी निरीक्षण तथा तथ्यों के सिद्धान्त के लिए शीशे के समान दृढ़ ठोस भूमंडल अति आवश्यक है।

(४) अंतिम महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि एक ठोस तह, एक तरल आन्तरिक भाग पर कभी स्थिर नहीं रह सकती। जैसे ही तह ठोस होगी, तह की चट्टान अधिक गुरुत्वाकर्षण या भार के कारण नीचे बैठ जाएगी।

इसके विपरीत कुछ वैज्ञानिकों ने प्रमाणित किया है कि पृथ्वी का आन्तरिक भाग ठोस है। परन्तु यह संभव नहीं प्रतीत होता, चूँकि पृथ्वी की गहराई में अत्यधिक गर्मी है। जैसे-जैसे हम पृथ्वी की तह से नीचे की ओर जाते हैं, तापक्रम प्रत्येक ५५ फीट नीचे जाने के बाद १० फारनहाइट के क्रम से बढ़ता जाता है। इस क्रम से ५० मील की गहराई पर ५,००० फा० तापक्रम बढ़ जाएगा। इस ऊँचे तापक्रम में कोई भी खनिज पदार्थ ठोस रूप में नहीं रह सकता। इसकी पुष्टि ज्वालामुखी के विस्फोट, आग्नेय चट्टानों (Igneous rocks) तथा गरम जलस्रोत से होती है।

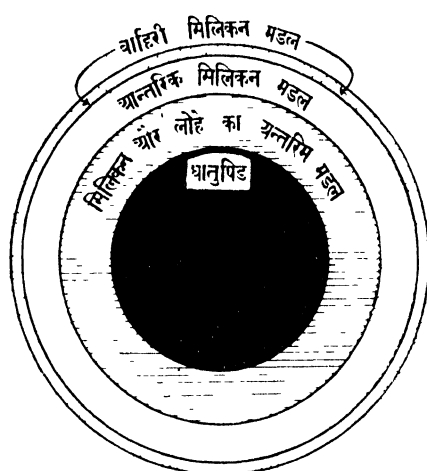
एक तीसरा मत इस बात को मानता है कि पृथ्वी का आन्तरिक भाग गैस से भरा हुआ है। परन्तु यह भ्रान्ति माननीय नहीं रही चूँकि प्रथम तो ज्वारभाटे के समय पृथ्वी का गोलाकार पिण्ड एक ठोस पिण्ड का कार्य करता है, द्वितीय

भूकम्प की लहरें बहुत गहरे तक पहुँच जाती हैं जैसा कि ठोस गोलाकार पिण्ड में ही हो सकता है।

भूकम्पकी भिन्न-भिन्न लहरों तथा प्रधानतः सतह की लहरोंके प्रमाणके आधार पर निरीक्षण करने से, यह ज्ञात हुआ है कि पृथ्वी की तह, जिस पर हम चलते फिरते तथा रहते हैं, सागरों की तल्लटी से बहुत हल्की है। दूसरे शब्दों में सागरों की तल्लटी उन पदार्थों की बनी हुई होती है जो महाद्वीपों की सतह के पदार्थों से कहीं भारी होते हैं। सतह की लहरें महाद्वीपों की सतह की अपेक्षा जब सागरों की तल्लटी में होती है तो अधिक वेग से चलती है।

पृथ्वी की परतों को बनावट—तिरछी, लम्बी तथा सतह वाली भूकम्प लहरों से, यह सिद्ध होता है कि भूमंडल या पृथ्वी चार तहों की बनी है। यदि हम पृथ्वी के केन्द्र से बाहर को जाएँ तो ये परतें एक के ऊपर एक स्थिति में मिलती जावेगी। दूसरी ओर यदि हम पृथ्वी की तह से नीचे की ओर जावे तो ये तहें एक के नीचे एक करके मिलेंगी।

पृथ्वी की सबसे ऊपर की तह, जो पृथ्वी की सतह बनाती है, सब तहों से हल्की होती है। इस तह को स्थल मंडल (Lithosphere) कहते हैं। इस पर भूकम्प की प्रधान लहरे ३½ मील प्रति सेकंड की साधारण गति से चलती हैं तथा तिरछी लहरों की गति इससे भी कम है— केवल २ मील प्रति सेकंड। इस तह का



चित्र न० १८—पृथ्वी का आन्तरिक भाग

घनत्व २.७ होता है। इसकी औसत या मध्यममान मोटाई लगभग २० किलोमीटर है। यह ग्रेनाइट (Granite) चट्टानों की बनी होती है और इसमें सिलिका (Silica) तथा एलुमिनियम तत्त्व अधिकता से पाये जाते हैं। इसलिए इसका संक्षिप्त नाम सियाल (Sial) है (सिलिका + एलुमिनियम)।

इससे दूसरी या सबसे ऊपर से नीचे वाली तह बसाल्ट (Basalt) चट्टानों का प्रदेश है और यह सबसे ऊपर वाली तह से भारी होती है। इसका घनत्व ३.५ है। इस परत में प्रधान लहरों की गति ४ से ४½ मील प्रति सेकंड होती है तथा तिरछा लहरें २ से २½ मील प्रति सेकंड की रफ्तार से चलती हैं। इस परत में सिलिका (Silica) तथा मैग्नीशियम (Magnesium) तत्त्व प्रधान हैं, इसलिए इसका नाम सिमा (Sima) है, (सिलिका Silica + मैग्नीशियम Magnesium)। इस दूसरी परत का ऊपरी भाग सियाल (Sial) तथा सिमा (Sima) का मिश्रण है। सिमा (Sima) परत से सागरों की तल्लटी बनती है और इसे मिश्रित मंडल (Pyrosphere) कहते हैं।

पृथ्वी का धरातल

पृथ्वी का धरातल जल तथा स्थल से बना हुआ है। इस धरातल के ७१.१ प्रतिशत भाग में विस्तृत जलखंड हैं जिन्हें सागर कहते हैं, तथा केवल २९% भाग सूखा स्थल है, जिसे महाद्वीप कहते हैं। दूसरे शब्दों में धरातल के १४१,०५०,००० वर्ग मील के क्षेत्रफल में जल है तथा धरातल के केवल ५५,५००,००० वर्ग मील क्षेत्रफल में स्थल है। जल तथा स्थल के इस वितरण के अतिरिक्त एक विशेषता यह है कि उत्तरी गोलार्द्ध में जल की अपेक्षा स्थल भाग अधिक है। इसके विपरीत दक्षिणी गोलार्द्ध जलीय है। दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल का विस्तार दुगुना है।

यदि हम एक ग्लोब पर दृष्टि डालें तथा जल और स्थल के वितरण की साधारण विशेषताओं का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करें तो स्वयं ही एक निश्चित व्यवस्था प्रत्यक्ष हो जावेगी। उत्तरी ध्रुव-आर्कटिक महासागर (Arctic ocean) से तथा दक्षिणी ध्रुव-अंटार्कटिक महासागर (Antarctic ocean) से घिरा हुआ है। जिस प्रकार अमरीका, यूरोप, अफ्रीका, एशिया तथा आस्ट्रेलिया स्थल खंड उत्तर में चौड़े हैं और दक्षिण की ओर संकरे हैं, उसी प्रकार भूमण्डल के प्रधान जल-खंड, आन्ध्र (Atlantic) महासागर, प्रशान्त (Pacific) महासागर तथा हिन्द-महासागर (Indian Ocean), उत्तर में संकरे हैं तथा दक्षिण में फैले हुए हैं। इससे यह पूर्णतः स्पष्ट होता है कि इस पृथ्वी पर जल तथा स्थल के पारस्परिक वितरण में अवश्य ही एक निश्चित सम्बन्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह रचना किसी सिद्धान्त पर आधारित है। परन्तु वह कौनसा सिद्धान्त है जिसने इन्हें इस क्रम में रक्खा है अब भी अप्रत्यक्ष है तथा अत्यधिक वाद-विवाद का विषय है।

जल तथा स्थल के वितरण में स्थायित्व—समुद्रों की तलहटी में परतदार (Sedimentary) चट्टानों का बनना तथा बाद में इनका मोड़दार (folded) पर्वत शिखरों के रूप में बदलना यह प्रकट करता है कि जल तथा स्थल का वितरण क्षणिक जीवी तथा परिवर्तनशील है। इससे यह कल्पना उत्पन्न होती है कि पर्वत शिखर, सागरों में परिवर्तित हो सकते हैं तथा सागरों से भिन्न २ स्थल समूह उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु जैसा परतदार (Sedimentary) चट्टानों के प्रमाण से प्रत्यक्ष होता है, यह परिवर्तन केवल उथले प्रदेशों में ही सम्भव है। सागरों की गहरी तलहटियाँ इस क्रिया से मुक्त प्रतीत होती हैं।

दूसरे शब्दों में प्रधान समस्या इस प्रकार है—जल तथा स्थल का वर्तमान वितरण स्थायी है या क्षणिक जीवी? भूतत्त्ववेत्ताओं (Geologists) ने अपने

विचारों के प्रमाण में भिन्न २ सबूत दिये हैं कि गहरे सागर की तलहटी स्थायी होती है ।

(१) अधिक गहराई पर, समुद्र की सतह लाल मिट्टी और ऊँज (ooze) से ढकी होती है । यदि सागर की तलहटी का कोई भाग शुष्क स्थल बन गया है, तो उस द्वीप की परतदार (Sedimentary) चट्टानों में ऊँज (ooze) तथा लाल मिट्टी की विशेषताये होनी चाहिये । चूँकि यह इस तरह नहीं होता, इससे यह प्रत्यक्ष है कि गहरे सागरों की तलहटी उस दशा में स्थायी रूप से रहती है ।

(२) महाद्वीपों पर साधारणतः जो परतदार (Sedimentary) चट्टानें पाई जाती हैं, वह उथले पानी में बनी प्रतीत होती हैं । अतः गहरे सागर की तलहटी इस दशा में संसार के आदि काल से ही है अन्यथा हम इस बात को मानना होगा कि जल की गहराई समय-समय पर तथा स्थान-स्थान पर बदलती रहती है । इस कल्पना से हम यह विश्वास कर सकते हैं कि पहले कभी गहरे सागरों की तलहटियाँ उथली थीं । यह कल्पना प्रकट करती है कि बिखरे हुए अधिक जल को लेने के लिए महा-द्वीपों में कोई दरार उत्पन्न हुई होगी । चूँकि महाद्वीप, सागर की तलहटियों की अपेक्षा हल्के पदार्थ के बने हैं, इस प्रकार की दरार का उत्पन्न होना वैज्ञानिक रूप से नहीं समझाया जा सकता ।

(३) महासागरीय द्वीपों पर साधारण प्रकार की परतदार (Sedimentary) चट्टानें नहीं पाई जाती । यह अधिकता से उन कटिबन्धों में पाई जाती है जो महाद्वीपों के निवट स्थित हैं या जिन पर इनका प्रभाव है ।

इन विचारों से वैज्ञानिकों को इस बात का विश्वास हुआ कि सागर की तलहटियाँ तथा महाद्वीपों की उनसे सम्बन्धित व्यवस्था आदि काल से ही वैसी थी जैसी कि अब है । नवयुग में खोज से पता चले जीव विज्ञान के विषय में कुछ नवीन बातों से जल-थल वितरण के स्थायित्व की बात और भी अविश्वसनीय हो गई है । स्थल के जीव जन्तुओं का वितरण हम तभी समझ सकते हैं जब हम अब अदृश्य बहुत से स्थल खंडों का, पारस्परिक स्थल संबंध समझ लें । स्थलीय पुलों का विचार, भूगर्भ विज्ञान अथवा प्राकृतिक अनुभवों द्वारा सिद्ध नहीं होता । दूसरी ओर इन स्थलीय पुलों का अदृश्य होना भी प्राकृतिक रूप से असंभव प्रतीत होता है ।

पृथ्वी पर प्रधान स्थल रूपों के बीच समतुलन सम्बन्धी आधारभूत सिद्धांतों के सहारे हम इस कठिन समस्या को भली प्रकार समझ सकते हैं ।

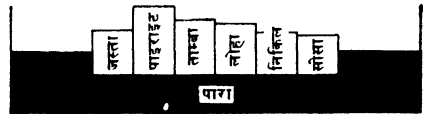
समतुलन (Isostasy)—समतुलन भूपटल की उन सभी शक्तियों का सामूहिक नाम है जो पृथ्वी के विभिन्न रूपों को एक समस्थिति में रखती है । यह नाम १८८६ में एक अमरीकी भूगर्भशास्त्री डट्टन (Dutton) द्वारा दिया गया था । उसका यह विचार था कि स्थल समूह पर ऊँचे पर्वत तभी स्थिर रह सकते हैं जब उनके नीचे की चट्टान उसी अनुपात में हल्का है ।

स्थिरता के लिये समतुलन अथवा प्रतिफल के विचार से यह विश्वास हो गया है कि हल्के महाद्वीप, अनुपात में भारी परतों पर तैर रहे हैं । दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सियाल (Sial) परत सिमा (Sima) पर तैर रहा है । प्रत्येक

महाद्वीप अपने नीचे से अपने वजन के बराबर बसाल्ट (basalt) तह को हटा देता है। महाद्वीपों की प्रत्यक्ष ऊँचाई के नीचे बहुत गहराई पर केवल हल्के पदार्थ पाए जाते हैं। इसके विपरीत सागरों की तलहटी भारी बसाल्ट (basalt) पर आधारित है। इस प्रकार सागरों की तलहटी में भारी पदार्थ बहुत ऊँचाई तक आ जाते हैं। इस यथार्थता से हम स्थलपिण्ड तथा जल खंड की बराबर की स्थिति तथा उत्पत्ति को समझ सकते हैं। इससे यह प्रत्यक्ष होता है कि महाद्वीपों तथा सागरों का पारस्परिक भार एक-सा है। परन्तु इसे मालूम करने के लिये हमें पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के बारे में समझना होगा तथा यह देखना होगा कि यह समस्थिति स्थानीय है अथवा प्रादेशिक।

पृथ्वी की आकर्षण शक्ति देशांतर रेखाओं, समुद्र से ऊँचाई तथा स्थल की स्थानीय बनावट पर निर्भर है। इन तत्वों से पृथ्वी की आकर्षण शक्ति घटती अथवा बढ़ती है। परन्तु वास्तविक निरीक्षणों से यह प्रत्यक्ष होता है कि आकर्षण शक्ति की गणित द्वारा प्राप्त विशेषता निरीक्षण की हुई विशेषता से भिन्न है।

इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिये हेफर्ड (Hayford) तथा बौवी (Bowie) नामक विद्वानों ने यह माना कि पृथ्वी के धरातल के नीचे एक ऐसा निश्चित तल है जिसके नीचे चारों ओर घनत्व एकसा है। इस तल को 'समतोलन तल' (Compensation level) कहते हैं। यह कल्पना की जाती है कि इस सतह के ऊपर घनत्व में अंतर होता है। इस अंतर को समझने के लिये यह माना जाता है कि यदि समान बनावट के समीपवर्ती स्तम्भ इस समतोलन तल पर खड़े किए जावे तो उनका घनत्व



चित्र न० १६—समतुलन

ऊँचाई के विपरीत अनुपात में रहेगा ताकि उनका नीचे की ओर बराबर दबाव पड़ता रहे।

इस प्रकार पर्वत श्रेणी, पठार, महाद्वीपों के मैदान तथा उनके समीपवर्ती सागरों की तलटी में समतोलन तल तक भिन्न-भिन्न घनत्व वाले पदार्थ रहते हैं।

इसका अर्थ यह है कि स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न घनत्व के भिन्न प्रदेश पूर्णरूप से अलग-अलग होते हैं। काट छाँट कर लाये हुए पदार्थों के जमा हो जाने के कारण जब कभी किसी खास प्रदेश पर दबाव इतना बढ़ जाता है कि समतुलन की स्थिति अस्त-व्यस्त हो जाती है, तो ऊँचे प्रदेश, जो काट दिये गए हैं, और भी अधिक ऊँचे हो जाते हैं, यहाँ तक कि निक्षेप वाला प्रदेश नीचे को खिसक जाता है क्योंकि जमाव वाले प्रदेशों में अत्यधिक दबाव के कारण, मैग्मा या पिघली हुई चट्टान (Magma) उच्च प्रदेशों की ओर बहना शुरू हो जाती है और पुनः वही समस्थिति आ जाती है।

परन्तु भिन्न-भिन्न घनत्व के प्रदेशों का अलग-अलग रहना असम्भव है। इस पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न घनत्व की परतों की आकृति समाकार है। इसलिए लम्ब-वत् दबाव के क्षेत्रों के समान कल्पित भाग, इससे अवश्य ही बिल्कुल विपरीत होते

है। अतः दोनों के बीच सामंजस्य उत्पन्न करने के लिए यह मानना जरूरी है कि घनत्व भिन्नता का प्रवेश समतोलन तल के ऊपर एक दस मील मोटी परत है। इस परत में भिन्न-भिन्न घनत्व के पदार्थ समतुलन उत्पन्न कर देते हैं। इस परत के ऊपर एक दूसरी परत है जो २७ मील मोटी है और इसमें घनत्व एक सा होता है। अतः प्रवाह या तरंग के विचार को समझाने का यह दूसरा तरीका है।

समतुलन (Isostasy) एक ऐसा सिद्धान्त तथा तथ्य है, जिस पर अब सभी विश्वास रखते हैं और यह विस्तृतरूप से पृथ्वी के धरातल पर जल तथा थल के वर्तमान वितरण को समझाता है।

महाद्वीप तथा महामागरी की उत्पत्ति—महाद्वीप तथा महासागर, पृथ्वी के धरातल के प्रधान अंग हैं। प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई? इस प्रश्न को तय करने के लिए या इस समस्या को हल करने के लिये दो प्रधान बातों को ध्यान में रखना होगा। पहली बात यह है कि गैस अवस्था से पृथ्वी ठंडी हो गई है और इसका आन्तरिक भाग अब भी बहुत गर्म है। दूसरी बात यह है पृथ्वी की सतह पर जल तथा स्थल के वितरण की एक निश्चित व्यवस्था है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए समय-समय पर बहुत से सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं।

चतुष्फलक सिद्धान्त (Tetrahedral Theory)—१८७५ में लोदियान ग्रीन ने इस सिद्धान्त का श्रीगणेश किया और बाद में फेयरब्रेन ने इसकी पुष्टि की कि पृथ्वी की सतह पर जल तथा स्थल का वितरण चतुष्फलक व्यवस्था (Tetrahedral arrangement) के अनुरूप ही है। उन्होंने यह प्रयोग ढाली हुई लोहे की नालिकाओं को कुचल कर किया था। उनकी कल्पना का आधार यह था कि पृथ्वी धीरे-धीरे ठंडी हो रही है। अतः इसका आन्तरिक भाग, बाह्य तह की अपेक्षा तीव्र गति से सिकुड़ना चाहिए। आकर्षण शक्ति के अनुसार बाह्य परत का क्षय होता जाता है और गोलाकार पिण्ड की आकृति चतुष्फलक की तरह हो जाती है।

चतुष्फलक (Tetrahedron) वह ठोस आकृति है जो चार समत्रिबाहु त्रिभुजों से बनती है। एक समत्रिबाहु त्रिभुज की तीनों भुजाओं पर एक-एक त्रिभुज होता है जिनके शीर्ष एक साथ मिले रहते हैं। इस आकार को यदि उल्टा कर दिया जावे और यदि इसे शीर्ष पर खड़ा किया जावे, तो यह आकार बहुत कुछ पृथ्वी की आकृति से मिलता-जुलता होगा।

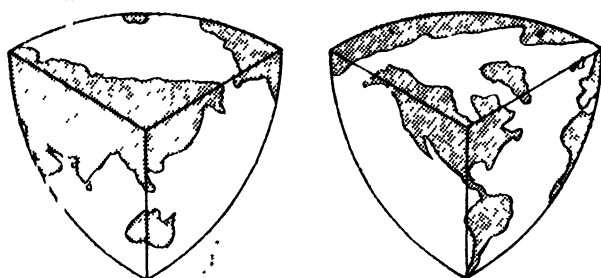
इस विचार को प्रमाणित करने के लिये बहुत सी प्रमुख समताएं हैं।

(१) उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल का आधिक्य है।

(२) पृथ्वी के बहुत से भौगोलिक खंड त्रिभुजाकार हैं। स्थल भाग दक्षिण की ओर पतले हैं तथा महासागरीय भाग उत्तर की ओर पतले हैं।

(३) स्थल खंड, जल खंड के बिल्कुल उल्टी तरफ स्थित हैं। यदि हम भूमंडल के केन्द्र से एक सीधी रेखा खींचें तो इसका एक सिरा स्थल समूह की छेगा तथा

दूसरा सिरा जल खंड को। अतः स्थल तथा समुद्र प्रति ध्रुव (antipodal) अवस्था में हैं। यूरोप और अफ्रीका प्रशान्त महासागर (Pacific ocean) के



चित्र न० २०—चतुष्फलक पृथ्वी

प्रतिध्रुव (antipodes) में स्थित हैं तथा उत्तरी अमरीका हिन्दमहासागर का प्रतिध्रुव (antipode) है। एशिया और आस्ट्रेलिया आन्ध्रमहासागर (Atlantic ocean) के दूसरी ओर स्थित हैं तथा आस्ट्रेलिया आर्कटिक महासागर (Arctic ocean) के दूसरी ओर स्थित है।

यह प्रमाणित किया गया है कि चतुष्फलक (Tetrahedron) के कोने पानी के ऊपर दिखाई देते रहते हैं। अतः इनसे महाद्वीप बनते हैं तथा इसका मुख्य सामने का भाग पानी से ढका रहता है। इसके सबसे ऊपर के भाग पर आर्कटिक महासागर (Arctic ocean) होगा तथा बाकी तीन भागों पर आन्ध्र (Atlantic), प्रशान्त (Pacific) तथा हिन्द महासागर होंगे। इसके उभड़े हुए कोनों पर अमरीका, यूरोप तथा अफ्रीका, एशिया तथा आस्ट्रेलिया हैं। इसके शीर्ष पर अन्टार्कटिका (Antarctica) होगा।

परन्तु इसके विरुद्ध सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि चतुष्फलक (Tetrahedral) पृथ्वी घूमते समय कभी भी स्थिर नहीं रह सकती।

स्वेस का सिद्धांत (Suess's Theory)—स्वेस ने यह कल्पना की थी कि महाद्वीपों के वर्तमान भाग, जो अधिक कठोर पदार्थों के बने हुए हैं, आदि के स्थल पिण्ड थे। वर्तमान मुलायम या कम कठोर भाग पहले सारे जल से भर पूर थे। बहुत सी भौगभिक हलचलों के बीच के समय में, पुराने स्थल पिण्ड डूब गए तथा जलभंडार का विस्तार बढ़ा दिया। कम कठोर भागों के क्षेत्र में महासागर की तल-टियां भर गई तथा स्थल रूप होगई। इस सिद्धांत का प्रमाण भूमध्य सागर है, जो आदिकाल के टीथीस के (Tethys) समुद्र का अवशेष है।

वेगनर का महाद्वीप प्रवाह (Continental Drift) सिद्धांत—१९१२ में जर्मनी के एक विद्वान, एल्फर्ड वेगनर ने यह विचार समुख रक्खा कि सियाल (Sial) का पिण्ड, जिससे महाद्वीप बने हैं, सिमा (Sima) के घने तत्त्व पर तैर रहा है उसने यह भी राय दी की कुछ समय के अन्दर यह महाद्वीप समतल प्रवाह के रूप में सिमा (Sima) से होकर गुजरे। उसके विचारानुसार संसार के सारे महाद्वीप आदि काल में एक साथ जुड़े हुए थे और यह मिश्रित पिण्ड 'पैन्जिया' (Pangca) कहलाता

था। इसके चारों तरफ एक गहरा महासागर था, और इस स्थल पिण्ड का कुछ भाग उथले जल से ढका हुआ था। कुछ समय पश्चात् कुछ अप्रत्यक्ष कारणों से इस स्थल पिण्ड का कुछ भाग पश्चिम तथा उत्तर की ओर खिसक गया। फलतः उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका बन गए। अमरीका तथा योरप-अफ्रीका के बीच आन्ध्र महासागर (Atlantic ocean) बन गया। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया उत्तर की ओर खिसक गया और अन्टार्टिका (Antarctica) से अलग हो गया।

वेगनर प्रधानतः ऋतु विज्ञान वेत्ता था। संसार के भिन्न-भिन्न स्थानों की जलवायु के अन्तर को समझने के लिए, उसने यह कल्पना की थी। इसमें उसने “आरे की दराते जैसी ध्यवस्था” (Jigsaw fit) को पाया, जिसके एक तरफ पश्चिमी यूरोप तथा पश्चिमी अफ्रीका की सीमान्त रेखाये थीं तथा दूसरी ओर उत्तरी और दक्षिणी अमरीका थे। कुछ खास स्थानों को छोड़कर, ब्राजील का उभड़ा हुआ भाग गिनी की खाड़ी में भली प्रकार सटाया जा सकता है तथा उत्तरी अमरीका की सीमान्त रेखा ठीक प्रकार से स्केन्डीनेविया तथा पश्चिमी यूरोप के किनारों के कटावदार भागों में सटाया जा सकता है। उसी प्रकार ईथोपिया तथा ईरीटेरिया का उभड़ा हुआ भाग, जो अफ्रीका के पूर्वी तट पर है, पश्चिमी भारत तथा पाकिस्तान की तट रेखा के टेढ़े भाग में उपयुक्त रूप से सटाया जा सकता है।

आन्ध्र महासागर (Atlantic ocean) के दूसरी ओर निरीक्षण किया गया भौगर्भिक समताओं के क्रम द्वारा इस विचार को और भी अधिक प्रमाणित किया जा सकता है। प्राणिज अवशेष (fossils), वनस्पति और जीवजन्तु का अध्ययन भी इसको प्रमाणित करता है। वेगनर ने इसी आधार पर यह निश्चित किया है कि “प्रारम्भिक कल्प” (Paleozoic era) में सारे महाद्वीप “पैन्जिया” (Pangea) के भाग थे परन्तु “परमो कार्बोनीफेरसयुग” (Permo-Carboniferous period) में यह स्थल समूह दो भागों में चटक गया—टेथिस समुद्र का उत्तरी तथा दक्षिणी भाग। टीथीस सागर उस जगह पर था जहाँ इसका अवशेष भूमध्यसागर अब भी मौजूद है। मध्य कल्प (Mesozoic) में उत्तरी तथा दक्षिणी भाग का पुनः वितरण पूर्वी तथा पश्चिमी भागों में हो गया। इस प्रकार उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका, एशिया तथा आस्ट्रेलिया अलग-अलग महाद्वीप हो गये जिनको संसार के भिन्न-भिन्न महासागरों ने अलग कर दिया है।

इस कल्पना को प्रमाणित करने के लिए निम्नलिखित तर्क हैं :—

(१) ग्रीनलैंड धीरे-धीरे उत्तरी अमरीका महाद्वीप की ओर खिसक रहा है। यह निरीक्षण १८२३, १८७० तथा १९१७ में गणित द्वारा ग्रीनलैंड तथा अमरीका के प्रधान स्थल खंड के बीच की दूरी मालूम करके किया गया था। इन निरीक्षणों द्वारा यह प्रत्यक्ष है कि ग्रीनलैंड २० मील प्रतिवर्ष के हिसाब से खिसक रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी स्थल समूह का प्रवाहित होना संभव है।

(२) यह देखा गया है कि स्कैन्डिनेविया के बहुत से जीवित जीव-जन्तु समुद्र में कूद जाते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि ये उस स्थल समूह से भिन्न हैं जो अब बहाव से खिसक गया है। इस असाधारण प्रवास (Migration) से यह प्रत्यक्ष है कि

किसी समय उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका, यूरोप और स्कैन्डिनेविया से मिले हुए थे।

(३) आन्ध्र (Atlantic) महासागर के दोनों किनारे की वनस्पति और जीव-जन्तु तथा उनके अवशेष (Fossils) एक से हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि ये दोनों किनारे किसी समय एक थे।

(४) आंध्र महासागर के दोनों ओर के स्थल समूह का भौगोलिक इतिहास तथा प्राकृतिक बनावट भी एक सी है।

(५) विशाल हिम-आवरण (The Great Ice Sheet) जो परमो कार्बोनीफेरस युग (Permo-Carboniferous) में हमारी पृथ्वी के एक बहुत बड़े भाग पर फैला हुआ था, दक्षिणी अमरीका, दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी भारत तथा आस्ट्रेलिया पर अपने चिन्ह छोड़ गया है। इससे यह प्रकट होता है कि ये सारे प्रदेश जो अब भिन्न-भिन्न महाद्वीप हैं, पहले एक एकत्रित पिंड के अंग थे।

परन्तु वर्तमान समय में इस सिद्धांत की बहुत आलोचना की गई है। मुख्यतः इसका कारण यह है कि वर्तमान समय के स्वीकृत भौगोलिक विश्वासों से यह बिल्कुल विपरीत है। इस सिद्धांत के विरुद्ध निम्न प्रधान आलोचनाएँ हैं :—

(१) इस सिद्धांत ने किसी ऐसी शक्ति का वर्णन नहीं किया जोकि महाद्वीपों के इधर-उधर हटने का कारण है। महाद्वीप केवल ऐसी ज्वारमयी शक्ति से इधर-उधर हट सकते हैं जो वर्तमान समय की शक्ति से एक हजार करोड़ गुनी हो। परन्तु ऐसी शक्ति असंभव प्रतीत होती है। चूंकि इस प्रकार की शक्ति तो एक वर्ष के अन्दर ही पृथ्वी के आवर्तन को समाप्त कर सकती है। इससे विद्युत क्रिया (Radio activity) उत्पन्न हो जायेगी तथा सिमा (Sima) में सर्वाहन (Convection) धाराएँ उत्पन्न हो जायेगी।

(२) इस सिद्धान्त के अनुसार सिमा (Sima) तरल रूप में है और—सिआल (Sial) को इसके ऊपर तैरता हुआ माना गया है। यह इस धारणा के पूर्णतया विपरीत है कि सिमा (Sima) ने इधर से उधर हटने वाले पिंडों के किनारों को मोड़ दिया है। यह अवस्थाएँ परस्पर विरुद्ध हैं, चूंकि प्रथम के अनुसार सिमा (Sima) को तरल माना गया है जबकि दूसरे के अनुसार यह पूर्ण रूप से ठोस पिंड है। परन्तु इस विषमता को इस प्रकार समझाया गया है—(१) यह सत्य है कि सिमा (Sima) तरल रूप में है परन्तु इसके अन्दर मोम की भाँति दृढ़ता होती है। (२) पर्वत श्रेणी के बनते समय अथवा झुड़ते समय केवल परतदार (Sedimentary) चट्टानें ही झुड़ाव खाती हैं, स्वयं सिआल (Sial) नहीं। (३) बहुत से आलोचकों ने इस सिद्धांत में “आरे की दरारें जैसी व्यवस्था” (Jig-Sawfit) के तत्त्व में भी दोष पाया है। वे कहते हैं कि भिन्न-भिन्न महाद्वीप एक दूसरे में केवल एक निश्चित हद तक ही सटाये जा सकते हैं। (४) बहुत से दूसरे आलोचक महाद्वीपीय प्रवाह के समय व दिशा के बारे में संदेह करते हैं।

अन्तिम दो आलोचनाएँ तो केवल बाल की खाल निकालती हैं परन्तु पहली दो आलोचनाओं ने इस सिद्धान्त को केवल एक कल्पना माना है। इसमें और अधिक अध्ययन की आवश्यकता है और कुछ संशोधन भी जरूरी है।

जौली का तापीय चक्र (Thermal Cycles) सिद्धान्त—बंगनर की तरह जौली भी यह प्रमाणित करते हैं कि महाद्वीप सिआल (Sial) पिंड की वह समतल तहें हैं जो घने सिमा (Sima) पर तैर रही हैं। इन दोनों को (Radio active) विद्युतमय समझा जाता है। अतः इस सिद्धान्त को विद्युतक्रिया (Radio activity) सिद्धान्त भी कहते हैं। यह इस बात को प्रत्यक्ष करता है कि सिमा (Sima) के घनत्व में भिन्नता होने के कारण स्थल समूहों में एक बहुत तीव्र लंबवत् हलचल होती है। जौली प्रमाणित करते हैं कि (१) महाद्वीप समतल रूप में इधर उधर नहीं हटते, इनमें लंबवत् हलचल होती है; (२) सिमा (Sima) के अन्दर विद्युत क्रिया (Radio activity) का निश्चित भाग मौजूद है। यह विद्युतमय (Radio active) तत्त्व जो उसके अन्दर मौजूद है, टुकड़ों में विभक्त हो जाने पर अत्यधिक गर्मी उत्पन्न कर देते हैं, (३) गर्मी की अत्यधिक शक्ति के कारण सिमा (Sima) पिघल जाता है और इसका घनत्व कम हो जाता है। फलतः सिआल (Sial) इसमें डूब जाता है, (४) जब सिआल (Sial) सिमा (Sima) में डूब जाता है, तो सिमा (Sima) या महासागर की तलहटी महाद्वीप के निचले भागों को अपने अन्दर मिला लेती है; (५) महाद्वीप के लगातार धंसते रहने के कारण यह एकत्रित की हुई गर्मी धीरे धीरे समाप्त होने लगती है तथा सिमा (Sima) दुबारा ठोस पड़ जाता है। अतः फलस्वरूप महाद्वीप दुबारा ऊपर को उठ आते हैं।

यद्यपि वर्तमान समय में यह सिद्धान्त विस्तृत रूप से माना जाता है, तिस पर भी इसकी दो आलोचनाएं हैं। प्रथम तो यह है कि जब सिमा (Sima) अथवा बसाल्ट (Basalt) तहें पिघल जाती हैं तो महासागरों की तलहटियाँ क्यों नहीं पिघल जाती? जौली ने इस बात को प्रमाणित किया है कि महासागर की तलहटियाँ ठोस रूप से रहती हैं परन्तु उसने इसका कोई कारण नहीं दिया। दूसरे प्रोफेसर होम्स के अनुसार विद्युत क्रिया (Radio activity) को समझाने के लिए जौली ने जो उपाय ग्रहण किये हैं वह अपूर्ण तथा असम्भव हैं।

प्रोफेसर होम्स की सवाहनधारा सिद्धान्त (Convection Current Theory)—प्रोफेसर होम्स ने पृथ्वी के ठंडे होने के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि ये सवाहन क्रिया (Convection) द्वारा ठंडी हो रही है। गर्म सिमा (Sima) लहरों के ऊपर से होकर जाता है जब कि ठंडे तत्त्वों की धारा नीचे को आती है। अधःस्तर (Substratum) कठोर भी है तथा मुलायम चिपचिपा भी है। परन्तु सवाहन धाराएँ (Convection Current) इस मुलायम प्रकृति द्वारा नहीं रुकतीं। दूसरी ओर महाद्वीप के वे भाग जो डूबे हुए हैं या सिमा (Sima) अथवा बसाल्ट (Basalt) तहों में बसे हुए हैं, इन धाराओं के चलने में रुकावट डालते हैं। फलस्वरूप ये धाराएँ इधर उधर धक्का देकर अपना रास्ता निकालती हैं और इस धक्के के कारण महाद्वीपों में इधर उधर हटने की क्रिया उत्पन्न हो जाती है।

परन्तु यह सिद्धान्त अब भी पूर्ण नहीं है और इसे पूर्ण रूप से प्रकट करने के लिए इस पर अब भी खोज चल रही है।

सिआल पिंड का टूटना—इस सारे विवाद तथा तथ्यों से यह प्रत्यक्ष होता

है कि महाद्वीप केवल सियाल (Sial) की परत है जो सीमा (Sima) से हल्की है। वे सियाल (Sial) परतें घने सिमा (Sima) पर आधारित हैं जिनमें होकर महाद्वीप उभड़े हुए हैं और जो कि महासागरों की तलहटी में पड़े हुए हैं। परन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि सियाल (Sial) की परत ने किस प्रकार टूट कर महासागरों द्वारा अलग हुए महाद्वीपों की आकृति ले ली ?

इसके लिए सबसे आसान सुझाव यह है कि अतिरिक्त सियाल (Sial) से सर्व प्रथम चन्द्रमा बना और इस प्रकार के बने हुए खोलले स्थान पर प्रशान्त महासागर बन गया। परन्तु प्रयोगशालाओं में द्रवित सिलिकन (Silicates) पर किये हुए प्रयोग इस विचार की पुष्टि नहीं करते।

दूसरे वैज्ञानिकों का यह विचार है कि सियाल (Sial) धीरे-धीरे ठोस हो रहा है। सर्वाहन (Convection) के कारण जैसे-जैसे पृथ्वी ठंडी हो रही थी वैसे-वैसे सियाल (Sial) भी ठोस होता जाता था। इस ठोस पड़े पिंड को संवाहन (Convection) धाराओं की शक्ति ने एक तरफ से हटाकर दूसरी ओर जमा कर दिया। इस प्रकार वर्तमान समय के महाद्वीप बने। परन्तु इस कल्पना को स्वीकार करने में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि रवेदार सियाल (Granular Sial) ग्रेनाइट (granite) के पिंड सिमा (Sima) में स्थित पाये गये हैं। यह इस कल्पना के अनुसार सुलभ नहीं दिखाई देते।

अंतिम परन्तु सबसे अधिक स्वीकृत विचार यह है कि आदि काल में सम्पूर्ण पृथ्वी सियाल (Sial) की एक विस्तृत परत थी। परन्तु प्राचीनतम (Pre-Cambrian) कल्प में लाखों वर्ष पहले, इस पृथ्वी पर बहुत सी पर्वत निर्माणकारी हलचलें हुईं। प्रत्येक हलचल ने (Sial) पर दबाव तथा तनाव उत्पन्न कर दिया। सियाल (Sial) के बहुत से भाग दब गये तथा सिकुड़ गये और कुछ भाग टूट गये। ये टूटे हुए भाग आधार में विलीन हो गये। इन हलचलों के कारण वर्तमान महाद्वीप बने। इस विचार की पुष्टि करने के लिए यह कहा जाता है कि यदि तमाम सिकुड़नों तथा मुड़ावों को फेंका दिया जाय तो उनका विस्तार इतना हो जायगा कि खुले हुए महासागरों को ढक सके। यह सिद्धान्त और भी अधिक स्पष्ट हो जायेगा यदि हम आदि काल से पृथ्वी के धरातल के विकास का अध्ययन करें।

पृथ्वी के धरातल का इतिहास—पृथ्वी का धरातल लाखों वर्षों में धीरे-धीरे बना है। धरातल का बहुत बड़ा भाग परतदार (Sedimentary) चट्टानों से ढका हुआ है। इन चट्टानों में परते होती हैं और इन परतों के बीच जीवविशेष पाये जाते हैं। ये अवशेष आदि से वर्तमान समय तक उन सारे कालों को प्रत्यक्ष करते हैं जिनमें से होकर पृथ्वी गुजरी है।

पृथ्वी की आयु लगभग एक हजार करोड़ वर्ष है। इसको हम कई कल्पों में विभाजित कर सकते हैं।

- (१) प्राचीनतम कल्प (Eozoic or Precambrian)।
- (२) प्रारम्भिक कल्प (Paleozoic or Pirmary Era)।
- (३) मध्य कल्प (Mesozoic or Secondary Era)।

(४) नवकल्प (Neozoic or Tertiary Era) ।

(५) प्रातिनूतन कल्प (Quaternary Era) ।

प्राचीनतम कल्प (Eozoic or Pre-Cambrian Era)—यह पृथ्वी के इतिहास में सबसे पुराना ज्ञात कल्प है । इस कल्प की चट्टानें सब से पुरानी मानी जाती हैं । ये चट्टानें पृथ्वी के आधार रूप हैं । ये चट्टानें आसानी से दिखाई नहीं देतीं चूंकि इसके बाद के काल की चट्टानें इसके ऊपर बिछी हुई हैं । इस काल की चट्टानों में जीवन के प्रमाण बहुत कम पाये जाते हैं । इस आधार पर यह कल्पना की जाती है कि सम्भवतः उस कल्प में पृथ्वी की जलवायु इतनी भयानक थी तथा उस समय इतने ज्वालामुखी फटते थे और भूकम्प आते थे कि जीवों का रहना असम्भव था ।

इस काल की प्रधान चट्टानें नीस (Gneiss) तथा ग्रेनाइट (Granite) हैं । अधिकतर ये चट्टानें सोना तथा लोहे की मूल्यवान भंडार हैं ।

इस कल्प के अन्त में चार स्थलपिंड (Shields) उत्पन्न हुए—लारेन्शियन (Laurentian) स्थलपिंड, बाल्टिक (Baltic) स्थलपिंड, साइबेरियन (Siberian) स्थलपिंड और गोंडवाना (Gondwana) स्थलपिंड ।

प्रारम्भिक कल्प (Paleozoic or Primary Era)—इस काल में पृथ्वी पर वनस्पति का जन्म हुआ और इस काल में ही जीव-जन्तुओं के प्रथम चिन्ह दिखाई दिये । इस काल में बहुत से जीवजन्तु थे जिनकी रीढ़ की हड्डी नहीं थी । इस काल की प्रधान चट्टानें शैल (Shale), स्लेट (Slate), कठोर बलुआ पत्थर तथा कठोर चूने का पत्थर हैं । इस काल की चट्टानों में मूल्यवान खनिज पदार्थों का जमा हुआ ढेर मिलता है उत्तरी अमरीका में इस काल की चट्टानों में सोना, कच्चा लोहा, कोयला तथा तेल पाया जाता है । यूरोप में इन चट्टानों से तांबा तथा लोहा मिलता है ।

इस युग को हम पुनः निम्नलिखित विभागों में विभाजित कर सकते हैं --

- (१) कैम्ब्रियन युग (Cambrian Period)
- (२) ओर्डोविशियन युग (Ordovician Period)
- (३) सिल्यूरियन युग (Silurian Period)
- (४) डेवोनियन युग (Devonian Period)
- (५) कोयला युग (Carboniferous Period)
- (६) परमियन युग (Permian Period)

कैम्ब्रियन युग (Cambrian Period) में ही स्थल समूह पर समुद्र का प्रकोप हुआ था । इसी कारण इस युग की चट्टानें अत्यधिक विस्तृत हैं । इस काल की चट्टानों की तह में हल्का-हल्का चूने का पत्थर (Lime Stone) होता है, जिसके ऊपर बलुआ पत्थर (Sand Stone) तथा शैल (Shale) की परतें जमी हुई हैं और सबसे ऊपर चूने के पत्थर (Lime Stone) की एक पतली परत दोबारा बिछी है । इन परतों में प्रथम जीवन के प्रमाण मिलते हैं ।

ओर्डोविशियन युग (Ordovician Period) में स्थल खंड का एक बहुत

बड़ा भाग पानी में डूब गया। सामुद्रिक प्रवाह व प्रकोप अनुपात में बढ़ गया तथा उत्तरी अमरीका का आधा भाग पानी में डूब गया। बहुत से ज्वालामुखी भी इस काल में फटे और संयुक्त राष्ट्र अमरीका के पूर्वी भाग पर ज्वालामुखी की राख तथा धूल जम गई। जीव-जन्तुओं का जीवन इस काल में और भी विकसित हुआ। इस काल में सामुद्रिक घास प्रधान वनस्पति थी। इस काल के अन्तिम भाग में एक पर्वत निर्माणकारी हलचल उत्पन्न हुई जिसने मैसाचूसेट्स (Masachusetts) के प्रान्त में पर्वत श्रेणी को जन्म दिया।

सिलूरियन युग (Silurian period) मछली तथा स्थल वनस्पति की उत्पत्ति के लिए प्रसिद्ध है। इस काल में वे जीवजन्तु अधिक हो गये जिनके रीढ़ की हड्डी नहीं थी तथा इस काल में वे जीव-जन्तु प्रथम बार उत्पन्न हुए जो श्वास ले सकते थे। लाल बलुआ पत्थर (Red sand-stone) भी इसी काल में बना।

डेवोनियन युग (Devonian period) के प्रारम्भिक भाग में सर्व प्रसिद्ध पर्वत निर्माणकारी कैलाडोनियन (Caladonian) हलचल हुई। इसके फलस्वरूप स्कैन्डिनेविया से लेकर ग्रीनलैंड तक के प्रदेश मुड़ने तथा सिकुड़ने शुरू हो गये। स्कैन्डिनेविया, उत्तरी इंग्लैंड तथा स्पिटजबर्जन की पर्वत श्रेणी भी इसी काल में बनी। इस युग की समस्त चट्टानों में मछलियों के अवशेष मौजूद हैं।

इस काल का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य यह था कि समुद्र स्थल की ओर बढ़ा, यद्यपि इस युग में चूने के पत्थर (Lime Stone) तथा बलुहे पत्थर (Sand Stone) भी बने परन्तु इस काल की सर्व प्रधान तथा माननीय चट्टान प्राचीन लाल बालू का पत्थर (Old red Sandstone) है। इस काल के मुख्य-मुख्य जीवजन्तु भी प्रधानतः जल में रहने वाले थे।

कोयला युग (Carboniferous period) भी बहुत महत्वपूर्ण है चूँकि इसी काल में ही पृथ्वी में कोयले की परतें बनी थी। इसीलिए इसको कोयला युग कहते हैं। पृथ्वी की जलवायु गरम तथा तर थी अतः सब जगह तथा प्रधानतः तर स्थानों पर पेड़ों की उत्पत्ति अधिक थी। सामुद्रिक काट-छांट के कारण ये जंगली क्षेत्र पानी में डूब गये। यह अवस्था बहुत दिन तक चलती रही और बीच के काल की उगी हुई सारी वनस्पति समाप्त हो गयी तथा इस नष्ट वनस्पति पर मिट्टी जमा होना शुरू हो गई। इस पर पेड़ उग आये। सामुद्रिक काट-छांट के प्रत्येक दौर के साथ यह कार्य बार-बार होता चला गया। अतः कुछ ही समय के अन्दर अत्यधिक गर्मी तथा दबाव के कारण सड़ती हुई वनस्पति की परतें विभिन्न मिट्टी की परतों में दब गई जिन्होंने कालान्तर में कोयले की सतहों का रूप धारण कर लिया। इस काल में इस प्रकार के जीवजन्तुओं की उत्पत्ति हुई जो कि जल तथा स्थल दोनों पर ही रह सकते थे। धीरे-धीरे उथले होने वाले जल खंड जिसमें बड़ी तीव्र गति से मिट्टी भर रही थी, के दृष्टिकोण से जीवजन्तुओं के लिये ऐसी आदत बड़ी जरूरी थी।

परमियन युग (Permian Period) — वह काल था जबकि पर्वत निर्माणकारी हर्सीनियन (Hercynian) हलचल हुई। इस हलचल ने अपने चिन्ह मध्य यूरोप, उत्तरी अमरीका तथा अन्य दूसरे स्थानों पर छोड़े। इस काल में स्थल

समुद्र समुद्र से बाहर निकल आया था और संभवतः सारा उत्तरी अमरीका इस काल में शुष्क हो गया था ।

इस काल में वे जीवजन्तु जो जल तथा स्थल दोनों में ही रह सकते थे और भी अधिक उत्पन्न हुए । रेगने वाले जीवजन्तुओं का भी श्रीगणेश इसी काल में हुआ । इस काल के अंतिम भाग में पृथ्वी की जलवायु शुष्क हो गयी तथा तापक्रम बढ़ना शुरू हो गया ।

मध्य कल्प (Mesozoic Era or the Secondary Era)—इसको रेगने वाले जीवजन्तुओं का युग भी कहते हैं । इसके तीन निम्नलिखित युग हैं ।

(१) त्रियासिक युग (Triassic period)

(२) जुरासिक युग (Jurassic period)

(३) क्रीटाशस युग (Cretaceous period)

त्रियासिक युग [Triassic period] इस काल में दक्षिणी तथा मध्य अफ्रीका, मेडागास्कर, दक्षिणी भारत तथा आस्ट्रेलिया ठोस स्थल खंड थे जिसको गोंडवाना प्रदेश (Gondwana land) कहते थे । इस काल की प्रधान हलचलों ने उन भिन्न स्थल खंडों पर, जो अब एक दूसरे से दूर-दूर स्थित हैं, इसी प्रकार के प्रमाण छोड़ दिये हैं । इस काल में उत्तरी गोलार्द्ध में शुष्क जलवायु थी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध बर्फ की तह से ढका हुआ था । इसके अतिरिक्त इसी काल में गोंडवाना प्रदेश जो दक्षिण के समीप था, उत्तर की ओर खिसकना शुरू हो गया और यह इधर-उधर को फटना शुरू हो गया । यूरोप में जिन स्थानों पर आज कल भूमध्य सागर तथा आल्प्स पर्वत हैं, टेथीस समुद्र बहा करता था । इस समुद्र के उत्तर में चारों ओर रेगिस्तान था जिसमें पुराना लाल बलुहा पत्थर जमा था ।

जुरासिक युग (Jurassic Period)—में रेगने वाले जीव-जन्तु अत्यधिक संख्या में हो गये । यह आकृति में अत्यधिक डरावने हो गये । वह कुरूप होते थे तथा उनका आकार भयंकर था । वे स्थल, जल तथा वायु सब में रह सकते थे । परन्तु गर्मी तथा खुश्की के बढ़ने के साथ-साथ वे धीरे-धीरे लुप्त भी हो रहे थे । सर्वप्रथम पक्षियों के अवशेष भी इसी काल में पाये जाते थे ।

क्रीटाशस युग (Cretaceous Period) में विस्तृत रूप से खड़िया मिट्टी (Chalk) का निक्षेप हुआ । यूरोप तथा उत्तरी अमरीका में खड़िया की परतें जम गईं । इस काल की दूसरी खास चट्टानें मुलायम बलुआ पत्थर (Soft sandstone), चोका मिट्टी (Clay) तथा चूने का पत्थर (Limestone) थीं । इस काल में ही पतझड़ वाले वृक्षों की उत्पत्ति हुई । इस काल के जीव जन्तुओं में रेगने वाले जीव जन्तु प्रधान थे, परन्तु पूर्ण विकसित मछली भी इस काल में पाई जाती थी । प्रथम पक्षी तथा स्तनपोषी जीव जन्तु भी इसी काल में उत्पन्न हुए ।

इस काल की प्रधान घटनाएँ निम्नलिखित हैं—(१) यूरोप महाद्वीप में आयरलैंड से दक्षिणी रूस तक सामुद्रिक प्रवाह प्रारम्भ हो गया जिसके फलस्वरूप ग्रेट ब्रिटेन, डेनमार्क तथा जर्मनी में खड़िया (Chalk) की तह बिछ गई ।

(२) इस काल में, एलास्का से मेक्सिको की खाड़ी तक का प्रदेश समुद्र के पानी के बहाव के वेग में आ गया। फलतः इस प्रदेश में विस्तृत सनंति निक्षेप (Glosyncline sediment) तथा लावा लगातार जमता चला गया।

(३) जुरासिक युग (Jurassic Period) के अंतिम भाग में पर्वतों के बनाने की २ हलचलें हुईं। नेवादा हलचल (Nevadian movement) से मीरिया नेवेदा श्रेणी की उत्पत्ति हुई तथा लारेमाइड हलचल (Laremid movement) ने कोरडिलेरा श्रेणी में और अधिक श्रेणियां जोड़ दीं।

फलतः दक्षिणी भारत में लावा का विस्तृत प्रवाह लगभग ढाई लाख मील के क्षेत्र में फैल गया।

नवीन कल्प (Neozoic or Tertiary Era)—इस काल की विशेषताये यह थीं कि इस युग में पृथ्वी पर बहुत सी हलचलें हुईं, बहुत से ज्वालामुखी फटे, चिड़ियों तथा स्तनपोषी जीवजन्तुओं का और विकास हुआ। इसी काल में वनस्पति की उन्नति हुई तथा आदि मनुष्य (ape man) ने जन्म लिया। इस काल की प्रधान घटनाएं निम्नलिखित हैं:—

(१) इस काल के प्राथमिक भाग में अत्यधिक गर्मी तथा जलन थी। परन्तु धीरे २ जलवायु ठंडी होनी शुरू हो गई तथा पृथ्वी के बहुत से भागों पर स्थानीय रूप से बरफ की तहें जम गईं। अत्यधिक सर्दी के कारण रेंगने वाले जीव जन्तु भी बहुत कम हो गए।

(२) इस काल के प्रारम्भ में दक्षिणी पूर्वी इंग्लैंड, उत्तरी फ्रांस, बेलजियम, डेनमार्क तथा उत्तरी जर्मनी पर उत्तर सागर बहा करता था तथा हरीशियन पर्वत श्रेणियों के दक्षिण की ओर टेथिस समुद्र बहा करता था। इनमें सनंति निक्षेप (Geosyncline sediment) शुरू हो गया तथा धीरे २ दक्षिणी जर्मनी तथा पोलैंड भी जल प्रवाह में आ गये।

(३) इस काल के मध्य भाग में अल्पाइन पर्वत निर्माणकारी हलचल ने सारे यूरोप को उसका वर्तमान रूप दिया। लन्दन, हेम्पशायर तथा पेरिस के प्रसिद्ध मैदान भी इसी काल में बने।

(४) उत्तरी अमेरिका महाद्वीप मध्य कल्प (Mesozoic) से ही वर्तमान रूप में है। इस काल में कुछ भौगोलिक हलचलों ने पहिले से ही बने हुए स्थल रूपों की रूप रेखा को और अधिक प्रखर कर दिया।

(५) टेथिस का समुद्र तथा विशाल भूसनंति (Geosyncline) पर एक पर्वत निर्माणकारी हलचल हुई। इससे जिब्राल्टर से लेकर हिमालय तक की मोड़दार (folded) पर्वत श्रेणी बन गईं। जिब्राल्टर के संकरे भाग से भूमध्य सागर के दोनों ओर दो समानान्तर मोड़दार पर्वत श्रेणियां फैली हुई हैं। भूमध्य सागर आदिकाल के टेथिस समुद्र का अवशेष है। यह समानान्तर श्रेणियां हिमालय पर जाकर मिलती हैं जहाँ से मोड़दार पर्वत श्रेणियों की व्यवस्था एक चिमटे का रूप धारण कर लेती हैं। इसका एक सिरा जापान की ओर जाता है तथा दूसरा सिरा बर्मा, मलाया तथा इन्डोनेशिया से गुजरता हुआ न्यूजीलैंड

पर जाकर समाप्त होता है।

(६) हिमालय पर्वतश्रेणी के बनने से सिंध तथा गंगा का मैदान बना। टेथिस समुद्र के विलीन होने से उत्तरी भारत में दो खाड़ियाँ बनीं। उनमें से एक उत्तरी-पश्चिमी खाड़ी तथा दूसरी आसाम की खाड़ी कहलाती थी। इन खाड़ियों में मिट्टी भरने से पश्चिमी पाकिस्तान तथा आसाम की उत्पत्ति हुई। इसी कारण से इन प्रदेशों में कोयला तथा लोहे के निक्षेप पाए जाते हैं।

(७) इस काल में अफ्रीका, गोंडवाना प्रदेश से हट कर अलग महाद्वीप बन गया, तथा और अधिक पृथ्वी नीचे धंसने के कारण भारतवर्ष के दक्षिणी पठार का पश्चिमी तट सपाट हो गया। दक्षिणी भारत का पठार गोंडवाना स्थल खंड का अवशेष है।

(८) इस काल में ज्वालामुखी पर्वत के विस्फोट हुए। दक्षिणी भारतवर्ष का लावा प्रदेश, कोलम्बिया पठार तथा पनामा का लावा प्रदेश सब इसी काल में बने।

प्रातिनूतन कल्प (Quaternary Era)—भूगर्भीय इतिहास में यह कल्प सबसे नवीन है। इस काल के प्रारंभ में वायुमंडल का तापक्रम इतना कम हो गया कि पृथ्वी के धरातल पर विस्तृत बर्फ की तह जम गयी। उत्तरी यूरोप की हिम नदियों (Glaciers) का केन्द्र स्कैंडिनेविया था। और यूरोप में लगभग ३०० लाख वर्ग मील भूमि बरफ से ढकी हुई थी। कनाडा तथा उत्तरी संयुक्तराष्ट्र अमरीका में बरफ की तह लगभग ६०० लाख वर्गमील में फैली थी। इसके अतिरिक्त हिमालय तथा आल्प्स पर भी हिम आवरण (Ice Caps) के छोटे-छोटे टुकड़े स्थित थे। इन्हीं कारणों से इस कल्प को हिम युग (Great Ice age) कहते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध के स्थल खंड बरफ के फैलाव से वंचित रहे।

इस बरफ के युग ने यूरोप तथा उत्तरी अमरीका में जहाँ बरफ की तहें विस्तृत रूप से फैली हुई थीं, बहुत से चिन्ह छोड़ दिये हैं। इन प्रदेशों की मिट्टी के उपजाऊ-पन पर इनका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। संसार के मृत्तिका निक्षेप भी इसी काल में बने।

इस काल की चट्टानों में हाथी, घोड़े, ऊँट तथा दूसरे सामुद्रिक स्तनपोषी जीव-जन्तुओं के अवशेष पाए जाते हैं। इसी काल में मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ तथा उसकी बुद्धि का विकास हुआ। पक्षी भी इसी युग में पूर्ण रूप से विकसित हुये।

वायुमण्डल

पृथ्वी का धरातल वायु के कम्बल से घिरा हुआ है। यह गैसमयी भाग जो कि पृथ्वी के धरातल को घेरे हुए है या जो पृथ्वी के धरातल पर लटका हुआ है, वायुमंडल कहलाता है एक तरह से हम यह भी कह सकते हैं कि हम वायु के समुद्र में रहते हैं। यह वायु का समुद्र—गैसमय ढकना—पृथ्वी के धरातल के जल तथा स्थल भागों को ही नहीं घेरता बल्कि उनके मिलन सीमा पर उनके साथ मिल जाता है। इसका विस्तार समुद्र तल के ऊपर हजारों मील तक है। इस वायु के ढकने की गहराई ३०० मील है।

मानव जाति के लिए वायुमण्डल का अत्यधिक महत्त्व है। बहुत सी गैस जो इसमें मिली होती है मनुष्य को जीवित रखने में सहायक होती है। नोबजन (Nitrogen) इस पृथ्वी पर समस्त वनस्पति के जीवन एवं उन्नति के लिए सहायक है। तापक्रम, दबाव, जो वायुमण्डल में सम्मिलित हैं, मनुष्य की प्राकृतिक परिस्थितियों पर अधिक प्रभाव डालती हैं। सूर्य की शक्ति, जो कि गर्मी तथा शक्ति का प्रधान स्रोत है, उसे भी इस कम्बल रूपी ढकने से गुजरना होता है तथा उसकी शक्ति और परिमाण पर वायुमंडल का प्रभाव पड़ता है।

वायुमण्डल हवा की बहुत-सी परतों से बना है। यह परतें भिन्न-भिन्न घनत्व की होती हैं। यद्यपि हमारे लिए यह संभव नहीं कि हम वायुमण्डल को भिन्न-भिन्न परतों में विभाजित कर सकें, परन्तु फिर भी इसके चार बड़े भाग सर्वमाननीय हैं।

(१) अधोमण्डल (Troposphere)—वायुमंडल का सबसे नीचे का भाग है। इसकी औसत ऊँचाई पृथ्वी की सतह के ऊपर ७.५ मील है परन्तु इस भाग की ऊँचाई ध्रुवों की अपेक्षा विषुवत रेखा पर अधिक है। विषुवत् रेखा पर यह भाग १० मील की ऊँचाई तक फैला हुआ है परन्तु ध्रुवों पर यह केवल ४ मील की ऊँचाई तक ही सीमित होता है। इन दोनों के मध्य ४५ अक्षांश रेखा पर इसकी ऊँचाई लगभग ६ मील है। इस प्रदेश के अन्दर जैसे-जैसे ऊँचाई बढ़ती जाती है तापक्रम गिरता जाता है। प्रत्येक १००० फीट की ऊँचाई पर ३.३ फा० तापक्रम गिरता है। अधोमण्डल (Troposphere) में लम्बवत् वायु की धाराएँ पायी जाती हैं और ये परतें संचालन, विकिरण तथा संवाहन (Conduction, radiation and Convection) द्वारा गरम और ठंडी होती हैं। इस भाग में संवाहन (Convection) का नियम अधिक प्रचलित है। इसी कारण इसको संवाहन प्रदेश (Convictional Zone) भी कहते हैं। इसी भाग में ही तापक्रम के दैनिक तथा मौसमी परिवर्तनों का अध्ययन किया गया है।

एक निश्चित ऊँचाई पर उठने वाली तथा ठंडी होने वाली वायु धाराएं एक ऐसे तापक्रम पर पहुंच जाती हैं जहां पर तापक्रम वही होता है जो ऊपर हवा में होता है। इस सतह को हम मध्य स्तल (Tropopause) अथवा अधोमण्डल की छत (The ceiling of the troposphere) कहते हैं। ये वह सीमान्त रेखाएं हैं जिसके ऊपर वायुमंडल का दूसरा भाग समताप मंडल (Stratosphere) स्थित है। आंधी बादलों का गर्जना तथा बिजली का चमकना तथा इसी प्रकार के दूसरे वायु विक्षोभ (Atmospherics) केवल अधोमंडल (Troposphere) तक ही सीमित हैं। जैसेही हम (Tropopause) को पार करते हैं, ये हलचल आगे नहीं दिखाई देती।

(२) समताप मण्डल (Stratosphere)—यह वायुमण्डल का वह संवाहन रहित (Non-Convective) कटिबंध है जो मध्य स्तल (Tropopause) के ऊपर स्थित है। यहां पर हर जगह लगभग एक-सा तापक्रम होता है। और इसी कारण इसको “सम ताप-मंडल” (Iso-thermal-Zone) कहते हैं। इस कटिबंध के अन्दर ग्रहण की हुई विकिरण (Radiation) निकाली हुई विकिरण (Radiation) के बराबर होती है। फलतः यहाँ पर तापक्रम एक-सा ही रहता है।

अक्षांश रेखाओं तथा ऋतुओं के साथ इसकी ऊँचाई बदलती रहती है। ग्रीष्म ऋतु में शीत ऋतु की अपेक्षा इसकी ऊँचाई अधिक होती है। विषुवत् रेखा पर इसकी नोचे की सतह १५ किलोमीटर की ऊँचाई पर होती है तथा ६० अक्षांश रेखा पर उसकी ऊँचाई लगभग १० किलोमीटर होती है। इसकी मुख्य विशेषताएं हैं—हल्की हवा न्यूनतम परन्तु सम तापक्रम तथा बादलों का अपेक्षाकृत अभाव।

इसकी ऊँचाई की तरह इसका तापक्रम भी ऋतु, तूफान की दशा तथा अक्षांश रेखाओं पर निर्भर रहता है। ग्रीष्म ऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध में ६०° अक्षांश रेखा पर इसका तापक्रम ४५ सेन्टीग्रेड रहता है। विषुवत् रेखा पर यह तापक्रम ७० सेन्टीग्रेड होता है। इसी प्रकार ही समताप मंडल (Stratosphere) की बनावट भी अक्षांश रेखाओं के साथ-साथ बदलती रहती है। अधिक ऊँचाई पर अधिक ओजोन (Ozone) होती है। पानी की भाप का परिमाण तथा वास्तविक आद्रता भी स्थानीय परिवर्तनों पर निर्भर है।

समताप मंडल में लम्बवत् वायु धाराएं, बादल, बरफ तथा तूफान नहीं हैं। इसकी औसत ऊँचाई २० मील है।

ओजोन मण्डल (Ozonosphere) को २५ मील ऊँचा बताया गया है। इसके अन्दर ओजोन (Ozone) की अधिकता होती है जो अत्यधिक गरम अल्ट्रा-वायलेट (Ultraviolet) सूर्य की गर्मी को ग्रहण कर लेती है।

आयन मंडल (Ionosphere) सबसे अधिक ऊँचा भाग है। परन्तु इसके बारे में बहुत कम ज्ञात हुआ है। रेडियो तथा बेतार की लहरों की सहायता द्वारा इसके बारे में यथार्थताएं मालूम हुई हैं। विद्युत चमक, उत्तरी ध्रुव प्रकाश,

आकाश का नीला रंग cosmic किरणें इत्यादि कुछ ऐसे मार्गदर्शक हैं जो इस प्रवेश के बारे में ज्ञान उत्पन्न करते हैं।

यद्यपि वायुमण्डल के समस्त भाग हमारे ऊपर प्रभाव डालते हैं परन्तु भूगोल शास्त्रियों का सम्बन्ध वायुमण्डल के केवल पहले दो भागों से है। ऊपरी परतों के अध्ययन को हम वायु विज्ञान (Aerology) कहते हैं तथा निचली तहों के अध्ययन को ऋतु विज्ञान (Meteorology) कहते हैं। यह दैनिक सूर्य शक्ति के वितरण के अध्ययन करने की कोशिश करता है। यद्यपि यह विस्तारपूर्वक अध्ययन करने की कोशिश करता है परन्तु ऊँचाई तथा अप्रवेशता के कारण इसका क्षेत्र संकुचित है। इसके क्षेत्र के संकुचित होने के अन्य कारण हैं निरीक्षकों के अन्दर सावधानी की कमी तथा इसके निरीक्षण में अधिक खर्च। अन्तिम पर महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि समस्त संसार के समय में भिन्नता है। ऋतु विज्ञान (Meteorology) के अध्ययन को युद्धकाल में अधिक प्रोत्साहन मिला। इसके निरीक्षण में कई प्रकार की विधि तथा युक्तियों से काम लिया जाता है। हवाई जहाज़, पतंग तथा गुब्बारे (Ballon sondes) इत्यादि कुछ ऐसी वर्तमान युक्तियाँ हैं जिनका प्रयोग संसार के भिन्न-भिन्न भागों में ऋतु विज्ञान (Meteorology) के अध्ययन के लिए हुआ है।

वायुमण्डल की रचना

(Composition of the Atmosphere)

वायुमण्डल तीन तत्वों से मिलकर बना हुआ है—(१) गैस—जो सर्वदा प्रत्येक परिस्थिति में गैस रूप रहती है। (२) जलवाष्प (Water Vapour) जो खास खास दशाओं में तरल तथा ठोस रूपों में परिवर्तित हो जाता है। (३) धूल के कण (Dust particles)।

वायुमण्डल का ६६% भाग केवल दो गैस—नाइट्रोजन तथा आक्सीजन से बना है। बाकी सारे पदार्थ केवल १% ही हैं। जलवायु की दशा के अनुसार जलवाष्प (Water-Vapour) तथा धूल के कण इत्यादि तत्व स्थान स्थान पर भिन्न भिन्न होते हैं।

वायुमण्डल में निम्न गैसें दिये गये अनुपात में मौजूद होती हैं :

नाइट्रोजन	७६.०३%
आक्सीजन	२२.६६%
आरगन (Argon)	६.४%
कार्बन डाइआक्साइड (Carbon Dioxide)	३%
हाइड्रोजन (Hydrogen)	०.१%

परिमाण के अनुसार निचली तहों में नाइट्रोजन अधिक रहता है। यह वायुमण्डल में आक्सीजन को पतला करने का काम करता है तथा यह वनस्पति के विध्वंस को रोकता है।

आक्सीजन, जो महत्व के अनुसार द्वितीय स्थान प्राप्त करता है, वह तत्व है जो सारे जीवन का स्रोत है। जिस प्रकार आक्सीजन जीव जन्तुओं के जीवन के लिए

आवश्यक है। कार्बन डाइ-आक्साइड दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है जो सारे वनस्पति जीवन के लिए आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यह उद्योग धंधों में सहायक है तथा गर्मों के लिए एक कम्बल का काम करता है।

इन सारी गैसों के अन्दर बहुत से धूल के कण होते हैं, जिनका आकार भिन्न-भिन्न होता है। इसमें से कुछ कण दिखाई देते हैं तथा कुछ ऐसे होते हैं जिनको मनुष्य की दृष्टि देखने में असमर्थ है। ये धूल के कण सूर्यास्त, गोधूलि (Twilight) तथा धुंधलापन (Haze) उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। इन्हीं केन्द्रों (Nuclei) पर घनीभवन (Condensation) क्रिया होती है। इसके अतिरिक्त यह सूर्य की किरणों की शक्ति को ग्रहण करने या फँलाने में बहुत प्रभावशाली होती है।

वायुमण्डल में जलवाष्प (Water Vapour) पृथ्वी के जलाशयों से आता है। गैस रूप में यह गर्मों के ऊपर एक कम्बल का काम करता है, तथा घनीभवन (Condensation) के बाद यह तुफान वर्षा तथा ओलों के रूप में गिर पड़ती है।

वायुमंडल की रचना में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं: (१) घनी गैसे अधिकतर निचली तहों में भरी रहती है तथा हल्की गैसे वायुमंडल की ऊपरी परतों में रहती हैं। घनत्व में यह भिन्नता केवल पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण है। १२ मील की ऊँचाई पर कार्बन डाइऑक्साइड (Carbon Dioxide) पूर्णतया लुप्त हो जाती है तथा ६८ व ८० मील की ऊँचाई पर क्रमशः ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन लुप्त हो जाते हैं। ८० मील के ऊपर वायुमंडल में केवल हाइड्रोजन ही रह जाती है।

(२) २० हजार फुट की ऊँचाई तक वायुमंडल की रचना हवाओं द्वारा गैसों के एक दूसरे से मिश्रण के कारण सम होती है।

(३) तापक्रम के अनुसार जलवाष्प (Water Vapour) तत्व का परिमाण भिन्न-भिन्न होता है। इसलिए वायुमंडल में इसका अनुपात विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर घटता जाता है।

(४) वायुमंडल की रचना में यह भिन्नता स्तम्भरूप (Columnal) अथवा लम्बवत् तथा समाकार अथवा समानान्तर दोनों ही प्रकार की है। जैसा कि पहले कहा गया है भारी गैसे अधिकतर वायुमंडल के निचले भाग में होती हैं तथा ऊपर की तहों में हल्की गैसे होती हैं। तापक्रम की भिन्नता के कारण विषुवत् रेखा पर भारी गैसे बहुत कम होती हैं जबकि ये भारी गैसे ध्रुवों पर अधिक पाई जाती हैं। अतः हम जैसे-जैसे विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ेंगे, वायुमंडल में भारी गैस तत्व बढ़ते चले जायेंगे।

(५) वायुमंडल की रचना दिन में अधिक बदलती है। दोपहर के समय जबकि तापक्रम सबसे अधिक होता है अक्सर हल्की गैसें निचली तहों में अधिक हो जाती हैं।

वायुमंडल का तापक्रम

गर्मों का प्रधान स्रोत सूर्य है। हालांकि सूर्य की किरणें, पृथ्वी पर आते समय वायुमंडल से गुजरती हैं, परन्तु यह महत्वपूर्ण सत्य है कि वायु पर सूर्य की किरणों

का प्रत्यक्ष प्रभाव बहुत कम होता है। जब सूर्य की किरणों द्वारा पृथ्वी का धरातल गर्म हो जाता है, तो सम्पर्क द्वारा वायुमंडल की परतें भी गरम हो जाती हैं।

सूर्यताप (Insolation)—सूर्य शक्ति तथा गर्मी का प्रधान स्रोत है। परन्तु इसकी शक्ति तथा गर्मी का अधिकांश भाग वायुमंडल से गुजरते समय नष्ट हो जाता है, और पृथ्वी पर इसका केवल कुछ ही अंश पहुँचने पाता है। सूर्य की ३७% शक्ति बादल तथा धूल के कणों द्वारा प्रतिबिम्बित होकर नष्ट हो जाती है; इसकी ६% शक्ति को वायुमंडल के ऊपरी भाग की गैसें सीधे रूप से ग्रहण कर लेती हैं। अतः सूर्य की किरणों की केवल ५७% शक्ति पृथ्वी तक पहुँच पाती है। यह अनुभव लगाया गया है कि पृथ्वी प्रत्येक मिनट में गर्मी की १.६४ केलोरीज़ प्रति वर्ग सेटीमीटर प्राप्त करती है। इस निश्चित परिमाण को स्थायी सूर्य ताप (Solar Constant) कहते हैं।

यह स्थायी सूर्यताप (Solar Constant) स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न होता है, और यह निम्नलिखित तथ्यों पर आश्रित रहता है :

- (१) सूर्य की ऊँचाई।
- (२) वायुमंडल का परिमाण जिसे पार करना है।
- (३) सूर्य-प्रकाश की अवधि।
- (४) सूर्य द्वारा उत्पन्न की हुई शक्ति।

सूर्य की किरणों का किसी स्थान पर झुकाव सूर्य से दूरी तथा ऊँचाई पर निर्भर रहता है। चूँकि सूर्य एक गोलाकार पिण्ड है, इसलिए पृथ्वी के केवल एक भाग पर ही एक समय में सूर्य की किरणें पड़ती हैं। जबकि एक जगह पर सूर्य की किरणें लम्बवत् होती हैं, तो दूसरे स्थान पर यह तिरछी होती हैं। दूरी जितनी भी अधिक होगी, सूर्य की किरणें उतनी ही तिरछी होंगी। सूर्य की किरणें जितनी अधिक तिरछी होंगी वायुमंडल की उतनी ही अधिक दूरी उनको पार करनी होगी, तथा उतने ही अधिक क्षेत्र में वे फैलेगी। दूसरी ओर लम्बवत् किरणों को वायुमंडल के थोड़े से भाग से गुजरना होगा, तथा पृथ्वी के धरातल पर वह थोड़े क्षेत्र में फैलेगी। अतः वह स्थान जिन पर सूर्य की लम्बवत् किरणें पड़ती हैं, दूसरे प्रदेशों से अधिक गर्म होते हैं। इसी कारण से विषुवतरेखीय प्रदेश सब प्रदेशों से गरम हैं तथा रोजाना दोपहर का समय, सुबह तथा शाम की अपेक्षा अधिक गरम होता है। उस स्थान पर तथा उस समय सूर्य की किरणें लम्बवत् होती हैं।

सूर्यशक्ति पर, वायुमण्डल की उन परतों का भी प्रभाव होता है जिनसे होकर सूर्य की किरणें गुजरती हैं। सूर्य की तिरछी किरणों को वायुमण्डल के अधिक भाग से गुजरना होगा, अतः उनकी अधिकांश शक्ति प्रतिबिम्ब तथा शोषण क्रिया द्वारा नष्ट हो जाती है। शोषण क्रिया गर्मी को कम कर देती है और जैसे-जैसे वायुमण्डल का यात्रा भाग बढ़ता जाता है यह गर्मी का घटाव भी अधिक होता जाता है। यह शोषण क्रिया, सूर्य किरणों के गिरने के ढंग पर निर्भर रहती है अर्थात् पथ की लम्बाई तथा वायुमण्डल की स्वच्छता पर निर्भर रहती है। संक्षेप में वायुमण्डल के मूल तत्त्व, जो सूर्य की किरणों के बीच रुकावट डालते हैं, पानी की बूँदें, धूल के कण, भाप,

नमक तथा धुआँ है। यह अधिकतर वायुमण्डल की निचली तहों में पाये जाते हैं। अतः सूर्यताप (Insolation) रेगिस्तानों में अधिक तीव्र होता है क्योंकि वहाँ पर वायुमण्डल अत्यधिक साफ होता है। यह सूर्यताप अधिक ऊँचाई पर भी तीव्र होता है क्योंकि वहाँ पर वायुमण्डल में रुकावट डालने वाले तत्त्व नहीं पाये जाते हैं।

सूर्यताप का सूर्य प्रकाश की अवधि से, अथवा उन घंटों से जिनमें सूर्य चमकता है, प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। दिन के प्रकाश की अवधि उस कोण पर निर्भर रहती है जिस पर प्रकाश का वृत्त अक्षांश रेखाओं (Parallels of latitude) को काटता है। चूँकि पृथ्वी की धुरी $66\frac{1}{2}^{\circ}$ के कोण पर झुकी हुई है और पृथ्वी का आकार अण्डाकार है, अतः आवर्तन तथा परिभ्रमण के कारण, प्रकाश वृत्त सर्वदा अपने स्थान से इधर-उधर हटता रहता है। फलतः अक्षांश रेखा तथा ऋतुओं के अनुसार सूर्य-प्रकाश की अवधि भी बदलती रहती है। इसी प्रकार ही सूर्यताप का वितरण भी एक अक्षांश रेखा से दूसरी अक्षांश रेखा पर तथा एक ऋतु से दूसरी ऋतु में बदलता रहता है। विषुवत् रेखा पर यह ऋतु सम्बन्धी परिवर्तन बहुत कम होता है तथा समरात्रियों (Equinoxes) पर सूर्यताप सबसे अधिक होता है।

विषुवत् रेखा से जितनी अधिक दूरी होगी, ग्रीष्मकालीन दिन उतने ही लम्बे होंगे। अक्षांश रेखाओं के अंश बढ़ने के साथ-साथ ग्रीष्म ऋतु के दिनों की लम्बाई भी बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि $66\frac{1}{2}^{\circ}$ अक्षांश रेखा आर्कटिक वृत्त (Arctic Circle) पर २१ जून के दिन २४ घंटे सूर्य प्रकाश रहता है। हम जैसे-जैसे ध्रुवों की ओर अग्रसर होते हैं, यह अवधि भी बढ़ती जाती है यहाँ तक कि ध्रुवों पर यह अवधि ६ माह होती है। इसी प्रकार की क्रिया दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्मकाल में होती है तथा जाड़े के दिनों में पूर्णतः इसका उल्टा होता है। अतः सारे भूमंडल में ध्रुवों पर सबसे अधिक सूर्यताप होता है और यदि अन्य बातें समान रहें तो सूर्यताप सूर्य-प्रकाश के घंटों की संख्या के ठीक अनुपात में होता है। परन्तु सूर्य की बराबर कम होती हुई ऊँचाई तथा इसकी किरणों का बढ़ता हुआ झुकाव, दोनों मिलकर अक्षांश-रेखाओं के साथ-साथ दिन की लम्बाई के बढ़ने को सम करते हैं।

इसके अतिरिक्त सूर्य से ताप विकिरण (Radiation) भी स्थायी सूर्यताप में भिन्नता का कारण है। सूर्यशक्ति के दैनिक उत्पादन में ५% से १०% तक का हेर-फेर रहता है तथा यह ५ से १० दिन के अनियमित काल में विस्तृत है। सूर्य में धब्बों (Sun spots) के बढ़ने या घटने के साथ-साथ स्थायी सूर्यताप २% तक घटता या बढ़ता है। परन्तु यह तत्त्व पूर्णतः नगण्य है।

वायुमण्डल का गरम होना—वायुमण्डल की तहें, पृथ्वी के धरातल के सम्पर्क के कारण गर्म होती हैं। पृथ्वी के धरातल को गर्मी सूर्य की किरणों से मिलती है। पृथ्वी के धरातल में जल तथा स्थल समूह हैं। पृथ्वी के धरातल के इन दो विभागों की भिन्न-भिन्न प्रकृति सूर्यताप में अन्तर का मूल कारण है। जल तथा स्थल पर सूर्य-ताप का प्रभाव अलग-अलग होता है। वायुमण्डल को गरम करने के लिए यह भिन्नता विशेष महत्त्व की है।

जल तरल पदार्थ है, अतः सूर्य की किरणों को प्रतिबिम्बित करता है

सूर्यशक्ति का अधिकांश भाग इस प्रकार नष्ट हो जाता है। दूसरे सूर्य की किरणें पानी में गहरे तक जा सकती हैं। फिर लहरें तथा जल धाराएँ, जल समूह पर एकत्रित की हुई गरमी को तितर-बितर कर देती हैं। तीसरे पानी के धरातल पर पानी का भाप बनकर उड़ने का कार्य सर्वदा होता है और इस कार्य प्रणाली के पश्चात् तापक्रम हमेशा कम हो जाता है। अतः इस लगातार वाष्पी भवन से, जल खंड कम गरम होते हैं। सारांश यह है कि पानी धीरे-धीरे गरम होता है। पानी को स्थल समूह के तापक्रम के बराबर गरम करने के लिए चौगुनी शक्ति चाहिए। दूसरे शब्दों में स्थल समूह जल समूह की अपेक्षा गर्मी को शीघ्र लेते हैं तथा शीघ्र छोड़ते हैं।

वायुमंडल (१) संवाहन (convection), (२) दबाव (Compression) तथा (३) विकिरण (radiation) द्वारा गरम होता है। जबकि पृथ्वी का धरातल दूसरों की अपेक्षा अधिक गरम हो जाता है, तो वायु-मण्डल की तहें, जो इसके बिल्कुल समीप हैं, गरम हो जाती हैं और गरम होकर ऊपर को उठ जाती हैं। इस रिक्त स्थान को भरने के लिए समीप के क्षेत्र की ठंडी वायु इधर आती है। इस प्रकार संवाहन (Convection) धाराएँ उत्पन्न हो जाती हैं तथा यह गर्मी को वायुमण्डल की भिन्न-भिन्न तहों तक ले जाती हैं। अतः वायुमण्डल को गरम करने के लिए संवाहन (Convection) ही प्रधान साधन है।

वायुमण्डल को गरम करने का दूसरा तरीका दबाव (Compression) है। जब वायु नीचे को उतरती है, तो सब से ऊपर की तहों का भार बढ़ता जाता है तथा यह प्रत्येक समय ऊपर की तहों से दबती रहती है। वायुमण्डल के नीचे के भाग की दबी हुई परतें, ऊपर के दबाव के कारण गर्मी प्राप्त करती हैं और इनका तापक्रम बढ़ जाता है।

वायुमण्डल को गरम करने का तीसरा ढंग विकिरण (radiation) है। वायुमण्डल की ऊपरी परतें सूर्य की किरणों की कुछ गर्मी को सोख लेती हैं, क्योंकि ये किरणें वायु की इन परतों से होकर गुजरती हैं। इसके साथ-साथ वायु की गरम धाराएँ अपनी कुछ गर्मी को उसी स्थान पर छोड़ देती हैं जिससे ऊपरी ठंडी तहें भी विकिरण (radiation) द्वारा गर्म हो जाती हैं।

वायुमण्डल को गरम करने का एक दूसरा स्थानीय तरीका उन हवाओं द्वारा है जो भिन्न-भिन्न तापक्रम के प्रदेशों से होकर गुजरती हैं। ठंडे प्रदेशों से आने वाली हवाएं ठंडी होती हैं तथा गर्म प्रदेशों से बहने वाली हवाएं गर्म होती हैं। जहां से होकर यह बहती है, उन स्थानों की हवा के तापक्रम को बदल देती है।

दूसरी ओर वायुमण्डल अपनी गर्मी को विकिरण (Radiation) तथा, फैलाव (Expansion) द्वारा त्यागता है। वायु अपनी कुछ गर्मी छोड़ देती है तथा इस गर्मी में से कुछ गर्मी पृथ्वी ले लेती है। गरम हवा जब ऊपर को उठती है तो एक साथ फैल जाती है तथा अपनी गर्मी छोड़ देती है।

वायु का तापक्रम निम्नलिखित तत्वों पर निर्भर है :—

(१) सूर्य की ऊँचाई तथा सूर्य चमकने के समय की अवधि—यही कारण है कि ग्रीष्म ऋतु में शीत ऋतु की अपेक्षा अधिक गर्मी पड़ती है।

(२) पृथ्वी के जल तथा स्थल क्षेत्र ।

(३) पृथ्वी के धरातल की समुद्रतल से ऊँचाई । साधारणतः यह देखा गया है कि प्रत्येक ३३० फीट की ऊँचाई पर १° फा० तापक्रम गिर जाता है । परन्तु यह सब जगह सम नहीं है । शरद ऋतु की स्वच्छ रात्रियों में ऊँचाई के साथ-साथ तापक्रम बढ़ता देखा गया है । इसको तापक्रम की विलोमता (Inversion of Temperature) कहते हैं । यह पृथ्वी से तीव्र ताप विकिरण (Radiation) के कारण और फिर घाटी के नीचे की ठंडी और भारी हवा के उतरने के कारण होती है ।

(४) पानी का भाप तथा धूल के कणों की वायुमण्डल में उपस्थिति । यह पृथ्वी के धरातल से प्राप्त गर्मी के लिए, एक कम्बल का काम करती है । जब सूर्य की किरणें वायुमण्डल से गुजरती हैं तो ये तत्त्व कुछ शक्ति को सोख लेते हैं और इस प्रकार सूर्यताप को प्रभावित करते हैं ।

तापक्रम का परिवर्तन—चौबीस घंटे तापक्रम एकसा नहीं रहता और ना ही सारे वर्ष तापक्रम सम रहता है । जितना तापक्रम दिन में बदलता है उसे तापक्रम का दैनिक परिवर्तन (Diurnal Change of Temperature) कहते हैं । एक ऋतु से दूसरी ऋतु में जो तापक्रम का परिवर्तन होता है और उसे तापक्रम का ऋतु परिवर्तन कहते हैं ।

पृथ्वी के घूमने के कारण, इसका प्रत्येक भाग एक समय सूर्य के सामने आता है तथा दूसरे समय यह सूर्य के विमुख रहता है । रात्रि के समय जब यह सूर्य के विमुख हो जाता है तब यह अवश्यमेव ठंडा हो जाता है । दिन के समय जब सूर्य चमक रहा होता है तापक्रम लगातार बढ़ता चला जाता है । दिन के समय में भी—सूर्योदय से सूर्यास्त तक—सूर्य की किरणें दोपहर के समय लम्बवत् पड़ती हैं तथा सुबह व शाम के समय तिरछी पड़ती हैं । अतः सुबह व शाम की अपेक्षा दोपहर की बेला अधिक गरम होती है । यद्यपि सूर्य ताप दोपहर के समय सबसे अधिक होता है परन्तु फिर भी वायुमंडल का सबसे अधिक तापक्रम तीसरे पहर के प्रथम भाग में करीब-२ बजे दिन को होता है । इसी कल्पना के आधार पर दिन का सबसे ठंडा समय अर्द्धरात्रि नहीं होता वरन् सूर्योदय से कुछ घंटे पहले लगभग ४ बजे सुबह को होता है । वास्तविकता यह है कि पृथ्वी की गर्मी वायुमंडल को गर्मी देने में कुछ समय लेती है । दूसरे जब तक सूर्य की किरणों से ली हुई गर्मी, पृथ्वी से विकिरण (Radiation) द्वारा वितरित की हुई गर्मी से अधिक रहती है, उस समय तक तापक्रम बढ़ता जाता है । और यह अवस्था केवल शाम के समय ही आती है ।

तापक्रम के दैनिक परिवर्तनों के इन मूल कारणों के अतिरिक्त बादल, हवा तथा इसी प्रकार की दूसरी स्थानीय विशेषताएँ भी अपना प्रभाव डालती हैं । परन्तु एक बात निश्चित है कि प्रत्येक २४ घंटे के समय में एक उच्चतम तथा एक न्यूनतम तापक्रम होता है । उच्चतम तथा न्यूनतम तापमान के बीच के अन्तर को दैनिक तापान्तर (Diurnal range of Temperature) कहते हैं । भूमंडल पर दैनिक तापान्तर की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

(१) हम विषुवत् रेखा से जैसे-जैसे ध्रुवों की ओर बढ़े वैसे-वैसे ही दैनिक तापांतर (Daily range of Temperature) लगातार घटता जाता है। विषुवत् रेखा पर यह उच्चतम होता है तथा ध्रुवों पर यह न्यूनतम होता है।

(२) स्थल समूह की रचनात्मक आकृति तथा समुद्र तल से ऊँचाई भी दैनिक तापान्तर (Diurnal range of Temperature) को प्रभावित करती है।

जैसे-जैसे हम ऊपर की ओर जाते हैं तापांतर घटता जाता है यहाँ तक कि ४,००० फीट की ऊँचाई पर यह कुछ नहीं रहता। परन्तु पर्वत श्रेणियों का प्रभाव बिल्कुल ही उल्टा होता है। अधिक ऊँचाई पर वायुमंडल हल्का व पतला होता है। अतः विकिरण (Radiation) द्वारा यह दिन में शीघ्र गरम हो जाती है और रात्रि को शीघ्र ही गर्मी नष्ट कर देती है। अतः पर्वत श्रेणियों के क्षेत्र में निचले मैदानों की अपेक्षा दैनिक तापांतर (Diurnal range) बहुधा अधिक होता है।

(३) समुद्र या जल समूह के निकट वाले भाग भी दैनिक तापांतर पर प्रभाव डालते हैं। दैनिक तापांतर महाद्वीपों के आंतरिक भाग में समुद्र तटों की अपेक्षा अधिक होता है।

(४) बादल तथा पानी की भाप एक कम्बल की तरह काम करते हैं और दैनिक तापांतर को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जिस प्रकार समुद्र असर डालता है। दैनिक तापांतर उन दिनों कम होता है जब आकाश में बादल होते हैं। जब आकाश साफ होता है तापांतर बढ़ जाता है।

(५) बरफ या बरफ का आवरण शीघ्र विकिरण (Radiation) उत्पन्न करता है। अतः जब पृथ्वी पर बरफ जमी रहती है उस समय दैनिक तापांतर अधिक होता है।

(६) स्वच्छ वायुमंडल तथा जल बाष्प के अभाव के कारण तापक्रम का—दैनिक अन्तर (Diurnal range) संसार के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा रेगिस्तानी क्षेत्रों में अधिक होता है।

तापक्रम का मौसमी परिवर्तन (Seasonal Change)—पृथ्वी सूर्य के चारों ओर साल भर में एक चक्कर लगाती है। परिभ्रमण की प्रत्येक स्थिति में इसकी धुरी एक ही दिशा में झुकी रहती है। अतः इसकी प्रत्येक स्थिति एक दूसरे के समानान्तर होती है। इन दो विशेषताओं के कारण प्रत्येक स्थान का तापक्रम ऋतुओं के अनुसार बदलता रहता है। प्रत्येक स्थान पर सबसे गरम व सबसे ठंडे महीने होते हैं।

तापक्रम के ऋतु परिवर्तन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्व पृथ्वी की धुरी का झुकाव है। इसके द्वारा हम उन घंटों की संख्या प्राप्त कर सकते हैं जितने समय एक खास स्थान पर सूर्य का प्रकाश पड़ेगा और हम यह भी ज्ञात कर सकते हैं कि सूर्य की किरणें कहाँ-कहाँ सीधी लम्बवत् पड़ती हैं तथा किस-किस स्थान पर तिरछी पड़ती हैं। इन्हीं पर सूर्यताप (Insolation) निर्भर है। इसके अतिरिक्त बहुत से स्थानीय तत्व जैसे समुद्र के समीप होना, सामुद्रिक धाराओं का होना बादलों का होना, आंधी चलना इत्यादि भी तापक्रम के ऋतु परिवर्तन पर प्रभाव डालते हैं।

तापक्रम के ऋतु परिवर्तन के बारे में साधारण विशेषताये निम्नलिखित हैं ।

(१) उष्ण कटिबंध (Tropics) के अन्दर प्रत्येक स्थान पर सूर्य वर्ष में दो बार लम्बवत् चमकता है । यद्यपि कर्क तथा मकर रेखा पर सूर्य वर्ष में केवल एक ही बार लम्बवत् चमकता है परन्तु फिर भी इस क्षेत्र में किरणों का झुकाव अधिक तिरछा नहीं होता । अतः इन अयनरेखाओं (Tropics) के अन्दर तापक्रम का ऋतु परिवर्तन नहीं होता । कर्क तथा मकर रेखा को छोड़ कर प्रत्येक स्थान पर दो अधिकतम तथा दो न्यूनतम तापक्रम होते हैं ।

(२) शीतोष्ण तथा शीत कटिबंध (Temperate and Frigid Zones) में तापक्रम का ऋतु परिवर्तन सबसे अधिक होता है । इस कटिबन्ध में उस समय जब सूर्य की किरणें लम्बवत् होती हैं सूर्य प्रकाश की अधिकतम अवधि होती है अथवा उस समय दिन सबसे अधिक लम्बा होता है । ग्रीष्म ऋतु में दिन लम्बे होते हैं और सूर्य भी क्षितिज (Horizon) के ऊपर सबसे अधिक ऊँचाई पर होता है । दूसरी ओर शरद ऋतु में दिन सबसे छोटे होते हैं और सूर्य क्षितिज (Horizon) से सबसे कम ऊँचाई पर होता है । अतः इस भाग में केवल एक उच्चतम तथा न्यूनतम तापक्रम होते हैं ।

(३) समुद्र भी तापक्रम के ऋतु परिवर्तन को प्रभावित करता है । पानी गरम होने में अधिक समय लेता है और ठंडा होने में भी अधिक समय लेता है । इसके अतिरिक्त बहुत सी गरम धाराएँ भी किनारे से गुजर सकती हैं । फलतः उन स्थानों पर जो समुद्र के किनारे बसे हुए हैं तापक्रम का ऋतु परिवर्तन बहुत कम होता है । इसकी अपेक्षा उन स्थानों में जो महाद्वीपों के आन्तरिक भाग में बसे हुए तापक्रम का ऋतु परिवर्तन अधिक होता है ।

महाद्वीपों के आन्तरिक भाग की अपेक्षा समुद्र के किनारे वाले भागों में सबसे अधिक ठंडे व सबसे अधिक गर्म महीने बाद में आते हैं । उत्तरी गोलार्द्ध में जब जुलाई और जनवरी क्रमशः सबसे अधिक गरम व सबसे अधिक ठंडे महीने हैं, तो तटीय प्रदेशों में अगस्त सबसे अधिक गर्म तथा फरवरी सबसे अधिक ठंडा माह होता है । दूसरे तटीय स्थानों पर सबसे गरम महीना साधारण गरम होता है और सबसे अधिक ठंडा महीना साधारण ठंडा होता है । फलतः मौसमी तापान्तर (Seasonal range of Temperature) सबसे कम होता है ।

(४) ऊँचाई के बढ़ने के साथ-साथ तापक्रम का ऋतु परिवर्तन घटता जाता है ।

ऊँचाई तथा तापक्रम परिवर्तन—साधारणतः जैसे-जैसे हम समुद्र की सतह से ऊँचाई की ओर जाते हैं तापक्रम घटता जाता है । इसके केवल दो कारण हैं:—

(१) वायुमंडल की निचली तहें गरम हो जाती हैं क्योंकि उनका पृथ्वी के धरातल से निकटतम संपर्क है । परन्तु जैसे-जैसे हवा ऊपर ऊँची उठती है यह फैल जाती है तथा इसका तापक्रम गिर जाता है । जब कि ऊपरी दबाव के कारण निचली तहें गरम होती हैं, ऊपरी तहें इसकी तुलना में अधिक विस्तृत व ठंडी होती हैं ।

(२) वायुमंडल की रचना का अध्ययन करते समय हम यह देखते हैं कि हम

जैसे-जैसे पृथ्वी से ऊपर की ओर चलते हैं जलवाष्प (Water vapour) तथा कार्बन डाक्साइड (Carbon Dioxide) तत्त्व घट जाते हैं तथा वायु पतली और हल्की हो जाती है। फलतः ऊपर जाकर तापक्रम गिर जाता है।

यह परिवर्तन वायुमंडल के निचले प्रदेश अधोमण्डल (Troposphere) तक ही सीमित है। १०,००० फीट तक चढ़ाव (Gradient) शुष्क हवा के सामान्य चढ़ाव की अपेक्षा कम होता है। १०,००० फीट से ७ मील की ऊँचाई तक अधोमण्डल (Troposphere) में यह शुष्क वायु के साधारण चढ़ाव के बराबर होता है। इसके पश्चात् समताप मण्डल (Stratosphere) में तापक्रम अत्यधिक कम होता है। केवल—६०° तथा—७०° फा. के बीच होता है। परन्तु यह लगभग सदैव ही समान बना रहता है। ७ मील की ऊँचाई पर यह तापक्रम परिवर्तन समाप्त हो जाता है यद्यपि यह ऊँचाई अक्षांश रेखा के अनुसार बदलती रहती है।

तापक्रम की विलोमता (Inversion)—यद्यपि साधारण घटाव का दर (Lapse rate) ३.३ प्रति १,००० फीट है परन्तु फिर भी कुछ खास कारणों से ऊँचाई बढ़ने के अनुसार तापक्रम भी बढ़ता जाता है। इस को तापक्रम की विलोमता (Inversion of Temperature) कहते हैं।

शरद ऋतु की स्वच्छ तथा शांत रात्रि में जब कि पृथ्वी पर बरफ जमी हुई होती है,—ताप विकिरण (Radiation) के कारण वह वायु जो पृथ्वी के अति-निकट होती है। ऊँची वायु के अपेक्षा ठंडी हो जाती है। अतः निचली घाटियों का तापक्रम ऊँचाई की अपेक्षा कम होता है। तापक्रम की विलोमता (Inversion) के लिये निम्नलिखित दशाये आदर्श हैं :—

(१) हवा का अभाव (२) स्वच्छ साफ आकाश (३) जाड़े की लम्बी रातें (४) शीतल शुष्क वायु (५) बरफ से ढकी हुई पृथ्वी।

जब हवा के अभाव अथवा वायुमंडल की शांति से हवाओं का किसी प्रकार का पारस्परिक मिश्रण नहीं होगा तो जाड़े की लंबी रातोंमें स्वच्छ आकाश पृथ्वी द्वारा ताप विकिरण (Terrestrial Radiation) से गर्मी को शीघ्र समाप्त करने में सहायक होगा तथा शीतल शुष्क वायु पृथ्वी से विकिरण (Radiation) को सोख नहीं पावेगी। अतः पृथ्वी के धरातल के संपर्क के कारण ठंडी हुई हवा निचली तहों की ओर उतर आयेगी।

यह विलोमता (Inversion) केवल पर्वत श्रेणियों के ऊपर होती है जहां ठंडी हवा घाटी की तलहटी की ओर खिसक जाती है और इसके रिक्त स्थान को भरने के लिए आसपास से गरम हवा आती है। फलतः निचली घाटियां ऊपरी चोटियों की अपेक्षा ठंडी होती है।

तापक्रम का समानान्तर (Horizontal) वितरण—पृथ्वी की सतह पर तापक्रम का वितरण सूर्य ताप (Insolation), जल तथा स्थल, ऋतु परिवर्तन, वायु, जल धाराओं तथा पृथ्वी की प्रकृति पर निर्भर होता है। सुविधा के लिए औसत तापक्रम ले लिया जाता है। एक निश्चित समय तक किये गये निरीक्षण का औसत निकाल कर इसे प्राप्त करते हैं। यह तापक्रम और भी कम कर लिया जाता है

मानो निरीक्षण समुद्र तल पर ही किया गया है।

इसके पश्चात् समान अथवा करीब-करीब समान तापक्रम की दशाओं वाले स्थानों को एक लाइन द्वारा मिला दिया जाता है। इन रेखाओं को समताप रेखायें (Isotherms) कहते हैं। यह समताप (Isothermal) रेखायें पृथ्वी के धरातल पर तापक्रम वितरण को स्पष्ट करती हैं और अक्षांश रेखाओं की तरह साधारणतया पूरब से पश्चिम की ओर खींची जाती हैं। इस पूरब से पश्चिम की ओर खींचे जाने वाले नियम का उलंघन केवल उन स्थानों पर होता है जहाँ स्थल समुद्र से मिलता है। पृथ्वी तथा समुद्र की मिलन रेखा पर उनकी समानान्तर स्थिति में अंतर होता है क्योंकि स्थल तथा समुद्र पर सूर्य ताप (Insolation) की भिन्न विशेषताओं से अनेक भेद उत्पन्न हो जाते हैं।

समताप (Isothermal) रेखाएं धरातल के तापक्रम वितरण को प्रदर्शित करती हैं। इनकी निम्नलिखित विशेषताएं हैं :—

(१) जो समताप रेखाएं (Isothermal) महाद्वीपों से समुद्र की ओर जाती हैं, वे गर्मी में विषुवत् रेखा की ओर मुड़ जाती हैं तथा सर्वा में ध्रुवों की ओर झुक जाती हैं। स्थानीय धाराएं इन झुकावों में और हेर-फेर कर देती हैं। आन्ध्र तथा प्रशान्त महासागरों के उत्तरी भागों में ये रेखाएं गल्फ स्ट्रीम तथा क्यूरोसीवो जल-धाराओं के कारण ध्रुवों की ओर झुक जाती हैं तथा लेब्रेडोर की ठंडी धारा इसे विषुवत् रेखा की ओर झुका देती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में समुद्रों की अधिकता के कारण पूरब से पश्चिम वाली प्रगति सम रहती है।

(२) स्थल खंड पर जहां पर कोई स्थल रूप नहीं है यह समताप (Isothermal) रेखाएं विषुवत् रेखा के समानान्तर जाती हैं।

(३) विषुवत् रेखीय क्षेत्र सबसे अधिक गरम प्रदेश है, तथा उत्तरी अमरीका तथा एशिया के आन्तरिक भाग सबसे अधिक ठंडे प्रदेश हैं। परन्तु दोनों में ही समताप रेखाएं ठीक केन्द्र में नहीं हैं वरन् थोड़े से उत्तर की ओर झुकी हुई हैं।

धरातल पर तापक्रम के वितरण के आधार पर पृथ्वी को तीन कटिबंधों में बांटा गया है—(१) उष्ण कटिबंध (२) समशीतोष्ण कटिबंध (३) शीत कटिबंध, उष्ण कटिबंध विषुवत् रेखा के दोनों तरफ कर्क और मकर रेखा के बीच में स्थित है। उत्तरी गोलार्द्ध में $23\frac{1}{2}^{\circ}$ उत्तर तथा $66\frac{1}{2}^{\circ}$ उत्तर अक्षांश अथवा कर्क रेखा और आर्कटिक वृत्त (Arctic Circle) के बीच तथा दक्षिणी गोलार्द्ध तथा मकर रेखा और अन्टार्कटिक वृत्त (Antarctic Circle) के बीच शीतोष्ण कटिबंध है। उत्तरी गोलार्द्ध में शीत कटिबंध की दक्षिणी सीमा आर्कटिक वृत्त (Arctic Circle) बनाता है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में शीत कटिबंध की उत्तरी सीमा अन्टार्कटिक वृत्त (Antarctic Circle) है। परन्तु अब यह माना गया है कि ये कटिबंध समताप रेखाओं द्वारा सीमित हैं। 60° फा० औसत वार्षिक समतापरेखा उष्ण कटिबंध को समशीतोष्ण कटिबंध से अलग करती है। तथा सबसे गरम महीने की 50° फा० समतापरेखा, समशीतोष्ण कटिबंध और शीत कटिबंध के बीच सीमा बनाती है।

अध्याय : : ५

वायु-मण्डल का भार

वायुमण्डल का दबाव तथा हवाएं

अन्य पदार्थों की तरह वायु में भी भार होता है, हालांकि हम इस सत्य को देख नहीं पाते। हम वायु भार का जब ही पता लगा पाते हैं, जब हवा चल रही होती है अथवा जब हम अपने सामान्य तल को छोड़ कर ऊँचाई पर पहुँच जाते हैं। वायु-मण्डल द्वारा किसी भी बिंदु पर डाला हुआ दबाव, सब दिशाओं में एक समान होता है। यह एक प्रकार का स्तम्भ (Column) है जो वायुमण्डल की उच्चतम सीमा तक पहुँचता है। इसका माप एक यंत्र द्वारा होता है जिसका नाम बैरोमीटर है। इसमें या तो पारा भरा हुआ होता है या वह स्वयं ही मशीन द्वारा चलता है। दूसरे प्रकार के यंत्र को एनीरायड (Aneroid) बैरोमीटर कहते हैं।

समान तापक्रम तथा जलवाष्प की समान दशा में एक ही ऊँचाई पर वायु का दबाव प्रत्येक बिंदु के लिए समान होता है। इस प्रकार के धरातल को वायुभार स्तर कहते हैं। यदि प्रत्येक स्थान पर ऐसा धरातल होता तो वायुमण्डल में समस्थिति उत्पन्न हो जाती परन्तु वायुमण्डल का दबाव स्थान स्थान तथा समय समय पर बदलता रहता है। वायुभार में परिवर्तन अथवा वायुमण्डल के दबाव में भिन्नता निम्न लिखित तीन तत्वों पर निर्भर है :—

(१) तापक्रम (२) ऊँचाई तथा (३) जलवाष्प (Water Vapour) की मात्रा।

वायु का दबाव तथा तापक्रम—वायु के दबाव तथा तापक्रम में घनिष्ठ संबंध है। गरम होने पर वायु फैल जाती है तथा अधिक विस्तृत स्थान को ग्रहण कर लेती है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि गरम हवा हल्की होती है। दूसरी ओर ठंडी हवा थोड़े स्थान को ही ग्रहण कर सकती है। अथवा हम यह कह सकते हैं कि ठंडी हवा भारी है। अतः साधारण नियम यह है कि जितना अधिक तापक्रम होगा उतना ही कम दबाव होगा तथा जितना कम तापक्रम होगा उतना ही अधिक दबाव होगा।

वायु का दबाव तथा ऊँचाई—दबाव के कारण वायुमण्डल की निचली तहें ऊपरी तहों की अपेक्षा, जो कि हल्की हैं तथा फैली हुई हैं, अधिक घनी तथा भारी हैं। समुद्र तल पर वायु का औसत दबाव $7\frac{1}{2}$ सेर अथवा १५ पौंड प्रति वर्ग इंच है। परन्तु जैसे जैसे हम ऊँचाई पर चढ़ते जाते हैं यह कम होता जाता है। प्रत्येक ९०० फीट की चढ़ाई पर वायु का दबाव एक इंच गिर जाता है। प्रत्येक ५००० फीट की ऊँचाई पर वायु का दबाव ३ पौंड कम हो जाता है। यह घटाव पृथ्वी के आवर्तन

तथा गुरुत्वाकर्षण की वजह से है।

वायु का दबाव तथा जल वाष्प की मात्रा—शुष्क वायु नम वायु की अपेक्षा भारी होती है। इसका कारण यह है कि पानी की भाप का भार वायुमण्डल की निचली तहों के भार से हल्का होता है।

तापक्रम, ऊँचाई, व पानी की भाप की भिन्नता के अनुसार दबाव भी बदलता रहता है और यह परिवर्तन कई प्रकार का होता है :

(१) दबाव का मौसमी परिवर्तन—जाड़े के महीनों में अधिक दबाव होता है तथा गर्मी के महीनों में कम, परन्तु ऐसा केवल स्थल मंडल पर ही होता है, समुद्रों पर नियम बिल्कुल विपरीत है—गर्मियों में दबाव अधिक होता है तथा जाड़ों में कम।

(२) दबाव का प्रादेशिक परिवर्तन—विषुवत् रेखा, अयनरेखाओं (Tropics) तथा आर्कटिक-अन्टार्कटिक वृत्तों (Arctic and Antarctic Circles) पर स्थित अर्द्धस्थायी भार पेटियों (Semipermanent Pressure belts) के इधर उधर हटने को यही नाम दिया गया है। चूँकि यह परिवर्तन वर्ष के किसी भी भाग में हो सकता है अतः इसको हम मौसमी परिवर्तन नहीं कह सकते।

(३) दबाव का तूफान द्वारा परिवर्तन (Storm pressure changes)—समशीतोष्ण कटिबन्ध में चक्रवात और विपरीत चक्रवात (Cyclones & Anti-cyclones) के क्रमिक रूप से चलने के कारण कुछ-कुछ घंटों बाद एक ही स्थान पर अधिक दबाव होता रहता है। यह परिवर्तन २४ से ३६ घंटों से अधिक नहीं रह पाता। कभी-कभी आंधियों के कारण वर्तमान दबाव में परिवर्तन हो जाता है परन्तु यह केवल कुछ ही मिनटों के लिए होता है।

(४) वायुभार परिवर्तन (Barometric Ripples)—शरद ऋतु में दबाव के छोटे-छोटे परिवर्तन कई घंटे अथवा कई दिन तक लगातार रहते हैं। यह छोटे-छोटे परिवर्तन १ मिलीमीटर से ३ मिलीमीटर के विस्तार में होते हैं, तथा यह ५ से १० मिनट तक रहते हैं। इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न घनत्व वाली परतें, एक के ऊपर एक पड़ी हुई हैं। सबसे नीचे धरातल की परत अपने से ऊपर वाली परत की अपेक्षा ठंडी होती है। उनमें से वायु धारा चलने के कारण दबाव का परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। इसे 'वायुभार परिवर्तन' (Barometric Ripple) कहते हैं।

(५) दबाव का दैनिक परिवर्तन (Diurnal Pressure change)—दबाव के परिवर्तन, तापक्रम के परिवर्तन से सम्बन्धित है। अतः २४ घंटे के काल में एक उच्चतम तथा एक न्यूनतम दबाव होता है। प्रत्येक दिन हर १२ घंटे के बाद दबाव बदल जाता है। उच्चतम दबाव १० बजे सुबह तथा १० बजे रात को होता है। साधारणतः यह देखा गया है कि प्रत्येक दिन ४ बजे सुबह से १० बजे सुबह तक, तथा प्रत्येक शाम को ४ बजे से १० बजे रात तक, वायु का दबाव बढ़ता हुआ दिखाई देता है। दूसरी ओर १० बजे रात से ४ बजे सुबह तक तथा १० बजे सुबह से ४ बजे शाम तक वायु का दबाव गिरता जाता है। ठीक-ठीक समय तथा अवधि ऋतु, ऊँचाई तथा दूसरी दशाओं पर निर्भर रहती है।

दबाव के दैनिक परिवर्तन को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) अधिक ऊँचाई पर सबसे अधिक गर्मी के घंटों में अधिकतम दबाव होता है तथा ठंड के घंटों में न्यूनतम दबाव होता है। दूसरे शब्दों में यह वायु के संकुचन तथा विस्तार के अनुसार होता है

(२) समुद्र तल पर इसका बिल्कुल विपरीत होता है। ठंड के घंटों में अधिकतम तथा गर्मी के घंटों में न्यूनतम दबाव होता है। इसका कारण यह है कि पानी को ठंडा या गरम होने में अधिक समय लगता है। अतः ठंड के घंटों में पानी धरातल की अपेक्षा अधिक गर्म होता है तथा गर्मी के घंटों में अपेक्षाकृत कम गर्म।

दबाव का दैनिक परिवर्तन निम्नलिखित दो कारणों से होता है :—

(१) जहाँ पर वायु अधिक फली हुई है, वहाँ से वायु उन स्थानों के लिए बहने लगती है जहाँ पर यह अधिक संकुचित होती है।

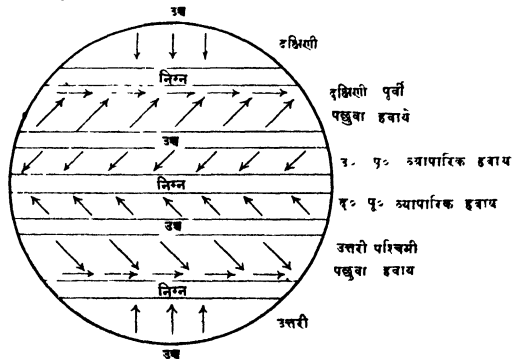
(२) लम्बवत् संवाहन धाराओं द्वारा स्कावट। संवाहन धारायें (Convection currents) उत्पन्न होकर वायु के समतल (Horizontal) बहाव में स्कावट डालती हैं। फलस्वरूप दबाव बढ़ जाता है।

इन दो तत्वों के कारण दोपहर से पहिले का उच्चतम भार ६ बजे होता है तथा शाम का न्यूनतम भार ४ बजे होता है। वायु प्रसार तथा लगातार बहते रहने के कारण न्यूनतम दबाव होता है। उच्चतम दबाव लम्बवत् संवाहन (Convection Currents) के कारण होता है जो वायु के समतल (Horizontal) प्रवाह में स्कावट डालती हैं।

धरातल पर दबाव का वितरण—पृथ्वी के धरातल पर, जहाँ अधिक तापक्रम होता है वहाँ अधिक दबाव होता है अतः पृथ्वी के धरातल पर जैसे-जैसे हम—

(१) गरम से ठंडे प्रदेशों की ओर अग्रसर होते हैं या (२) नीचे से ऊँचाई की ओर—बढ़ते हैं वायु का दबाव घटता जाता है :

विषुव रेखा भूमंडल का सबसे अधिक गर्म क्षेत्र है। अतः यह निम्न भार पेटी (Belt of low pressure) है। विषुव रेखा की गरम हवा उत्तर की ओर तथा दक्षिण की ओर ऊपर को उठती है, यहाँ तक कि 10° उत्तरी तथा 25° दक्षिणी अक्षांश रेखाओं पर यह उतरनी शुरू हो जाती है। इन



चित्र नं० २१—वायुभार पेटिया तथा हवाये

अक्षांश रेखाओं पर यह उतरने वाली हवायें एक शांति का कटिबंध स्थापित कर देती हैं जिससे उच्चभार पेटी (High pressure Belt) बन जाती है। इस विषुव रेखीय वायु का कुछ भाग आगे को बढ़कर हिम आवरण (Icecap) पर उतरता है,

उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीनलैंड तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में एंटार्क्टिका के हिमाच्छादित महाद्वीप पर ये उतरती हैं। अतः उच्चभार के दो और प्रदेश बन जाते हैं।

अर्द्ध ध्रुवीय निम्नभार पेटियाँ (Sup-polar belts of low pressure) अर्थात् आर्कटिक और अन्टार्कटिक वृत्त (Arctic and Antarctic circles) इन उच्चभार प्रदेशों को अलग करते हैं। इसके कारण यह है—(१) अयन रेखाओं (Sub-tropics) से ध्रुवों की ओर दबाव का शीघ्रता से कम होना (२) जल तथा स्थल के मध्य अन्तर, (३) पृथ्वी का आवर्तन जो ध्रुवों को इस प्रकार घुमा देता है कि ठंडी हवा किनारों पर कम होती है तथा इसका अधिक भाग केन्द्रों में, अर्थात् ध्रुवों पर जो उच्च भाग के क्षेत्र हैं, जमा हो जाता है।

अर्द्ध ध्रुवीय निम्नभार पेटियाँ (Subpolar belts of Low Pressure) ये समुद्र के ऊपर पाये जाते हैं। अर्थात् उत्तरी आंध्र महासागर में आइसलैंड (Iceland) के पास, उत्तरी प्रशांत महासागर में एल्यूशिचन द्वीप के पास तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में अन्टार्क्टिक (Antarctica) के किनारे के पास।

दबाव का यह वितरण—अर्थात् उच्चभार की दो पेटियाँ तथा दो प्रदेश निम्नभार की तीन पेटियों को अलग करते हैं—वास्तविक रूप की अपेक्षा काल्पनिक अधिक है। यह अक्षांश रेखाओं के अनुसार है तथा पृथ्वी के आवर्तन के कारण इन पर गति सम्बन्धी नियन्त्रण है। दबाव का वास्तविक वितरण स्तम्भ रूप में है। उच्च और न्यूनभार लम्बवत् टुकड़ों में पाये जाते हैं। दबाव का वास्तविक वितरण जल तथा स्थल पर सूर्य की गर्मी के प्रभाव के अनुसार होता है। यह वास्तविक वितरण क्रम से चक्रवात और विपरीत चक्रवात (Cyclones & Anticyclones) का रूप धारण कर लेता है।

समयान्तर भार पेटियाँ साधारणतया हमेशा एक ही स्थिति में नहीं रहतीं ऋतु परिवर्तन तथा जल स्थल के वितरण में भिन्नता होने के कारण इन पेटियों की रचना में हेर-फेर होता रहता है :—

(१) मौसमी परिवर्तन—संसार की वायुभार व्यवस्था उच्चतम सूर्य के अनुसार होती है। जबकि सूरज कर्क रेखा पर चमकता है यह पेटियाँ उत्तर की ओर खिसक जाती हैं तथा जब सूर्य मकर रेखा पर चमकता है यह पेटियाँ दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं। ग्रीष्म ऋतु में अधिक दबाव वाले भाग पर सूर्य की सीधी किरणें पड़ती हैं और व्यवहारिक रूप में यह उच्च भार लुप्त हो जाता है और कम दबाव का विस्तार बढ़ जाता है। उत्तरी तथा दक्षिणी सीमाओं पर कम दबाव इतना अधिक विस्तृत हो जाता है कि इसके बीच स्थित उच्चभार की संकरी पेटी शिथिल हो जाती है। [देखिए चित्र २२]

(२) जल तथा स्थल वितरण की विभिन्नता—उच्च भार की अयनरेखीय पेटियों (Sub-Tropical Belts) पर जल तथा स्थल वितरण का अत्यधिक-प्रभाव पड़ता है। पानी गर्मी को धारण करने तथा छोड़ने दोनों में ही समय लेता है। अतः शीतकाल में जब कि स्थल मंडल पर अधिक वायुभार होता है उस समय समुद्र पर कम वायु भार रहता है तथा जब स्थल खंड पर न्यून भार होता है तो

समुद्र पर अधिक वायुभार होता है। ग्रीष्म ऋतु में जब सूर्य मकर रेखा पर चमकता है, यूरेशिया का स्थल खंड इतना गरम हो जाता है कि वहाँ पर न्यून भार उत्पन्न हो जाता है तथा उच्चभार की साधारण पेट्टी इतनी कमजोर पड़ जाती है कि इसका लोप ही हो जाता है। शीत काल में इसका उल्टा होता है। स्थल मंडल पर अत्यधिक सर्दों के कारण १०° उत्तरी अक्षांश रेखा पर उच्च भार की पेट्टी अधिक तीव्र हो जाती है।

पृथ्वी के धरातल पर वायु भार का वितरण काल्पनिक रेखाओं द्वारा दिखाया जाता है। ये रेखाएँ उन स्थानों को मिलाती हैं जहाँ वायु भार एकसा होता है। इन रेखाओं को समभार रेखाएँ (Iso-bars) कहते हैं। ये उस दबाव को प्रदर्शित करती हैं जो इस प्रकार कम कर दिया जाता है जैसे कि वायुभार का निरीक्षण समुद्र-तल पर किया गया हो। समभार रेखाओं (Iso-bars) की मुख्य विशेषताये निम्न-लिखित हैं :—

- (१) ये पूरब-पश्चिम के रुख में चलती हैं।
- (२) अधिक ऊँचे स्थानों की अपेक्षा कम ऊँचाई पर वायुभार कम होता है।
- (३) ये समभार रेखाएँ (Iso-bars) समुद्र के ऊपर स्थल की अपेक्षा अधिक नियमित तथा सीधी होती हैं।
- (४) दक्षिणी गोलार्द्ध में पानी की अधिकता के कारण ये समभार रेखाएँ (Iso-bars) अधिक सीधी व नियमित होती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की प्राकृतिक बनावट के कारण इन रेखाओं की आकृति झुकी हुई तथा टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है।

हवायें

वायुमंडल में गर्मी तथा दबाव द्वारा गति उत्पन्न होती है। चूंकि वायु चंचल होती है, अतः थोड़ी सी बाधा से भी हवा चलनी शुरू हो जाती है। जबकि वायु की गति पृथ्वी के धरातल से दूर पर होती है तो उसे हम “वायु धारा” (Current of air) कहते हैं। वायुमंडल में ये वायु धाराएँ लम्बवत् भ्रमण करती हैं तथा कारणों के आधार पर हम इनको निम्न प्रकार का कह सकते हैं :

(१) घर्षण धारायें (Mechanical Currents) जो कि वायु अभिमुख ढाल (Windward) की तरफ को उठती तथा वायुविमुख ढाल (Leeward) की तरफ उतरती हैं।

(२) तापीय धारायें (Thermal Currents) जंसे कि नीचे की गर्मी के कारण से हवा नीचे से ऊपर को उठती है तथा ऊपर की सर्दी के कारण हवा नीचे को आती है।

जबकि वायुमंडल में इस प्रकार की हलचल सामान्तर रूप में होती है तो पृथ्वी के धरातल पर इसको “हवा” (Wind) कहते हैं। वायु के चलने को प्रत्यक्ष रूप से दबाव द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है। जिस दिशा में वायु मंडल का दबाव कम हो जाता है उसको “वायुभार दिशा” (Barometric Slope) कहते हैं तथा दबाव के परिवर्तन की गति को वायुभार का विस्तार (Isobaric gradient) कहते हैं। वायु के चलने से सम्बन्धित तत्व निम्नलिखित हैं !—

(१) वायुभार दिशा (Barometric Slope) के रख की ओर हवा बहती है। यह हमेशा ऊँचे दबाव के क्षेत्रों से नीचे दबाव के क्षेत्रों की ओर बहती है।

(२) वायुभार के विस्तार (Iso-baric gradient) की तीव्रता या क्रमिक प्रकृति द्वारा हम हवाओं के वेग तथा गति को निश्चित कर सकते हैं। यदि समभार रेखायें एक दूसरे से दूर पर हैं तो हवाएं तथा शांति होगी। दूसरी ओर यदि ये समभार रेखायें पास-पास हैं तो इन हवाओं की शक्ति एक तूफान की तरह होगी।

(३) पृथ्वी के पश्चिम से पूरब की ओर घूमने के कारण उत्तरी गोलार्द्ध में हवायें अपने दाहिनी ओर मुड़ जाती हैं तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में हवायें अपनी बायीं ओर घूम जाती हैं।

फैरल का नियम—यद्यपि हवायें ऊँचे वायुभार के प्रदेशों से नीचे वायुभार के भागों को जाती हैं फिर भी पृथ्वी के घूमने के कारण उनके रख में एक प्रकार का परिवर्तन आ जाता है। पृथ्वी पश्चिम से पूरब की ओर घूम रही है और इसका

प्रभाव यह है कि उत्तरी गोलार्द्ध में कोई भी चीज जो एक सीधी रेखा में चलती होती है वह अपने दाहिनी ओर मुड़ जाती है तथा इसकी दिशा घड़ी की सुइयों जैसी हो जाती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में हवाये बायीं ओर मुड़ती हैं तथा हवाये घड़ी की सुइयों के विपरीत जैसी बहने लगती हैं।

फैरल, एक अमेरिकन वैज्ञानिक ने इसका प्रयोग किया था। उसने गरम कोलतार को घूमते हुये ग्लोब पर ध्रुवों की ओर से प्रवाहित किया तथा उससे यह पता चला कि विषुवत् रेखा पर सबसे कम मुड़ाव (Deflection) है। जैसे-जैसे हम विषुवत रेखा से आगे बढ़ते हैं यह मुड़ाव बढ़ता जाता है। अक्षांश रेखा का अंश जितनी भी अधिक ऊँचाई पर होगा, यह मुड़ाव उतना ही अधिक होगा। चक्रवात और विरुद्ध चक्रवात (Cyclones and Anti-cyclones) भी केवल इस भिन्नता के फलस्वरूप ही बनते हैं।

हवा जिस रूख से बह रही होती है उसी के आधार पर इसका नाम पड़ जाता है। जो हवा पूरब की ओर से आती है उसको पूर्वी हवा कहते हैं तथा जो हवा पश्चिम की ओर से आती है उसे पछुंवा हवा कहते हैं।

वाइज वैल्ट का नियम — उन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए जो वायु के चलन तथा लगातार मुड़ाव में सहायक होती हैं एक सिद्धान्त घोषित किया गया था कि उत्तरी गोलार्द्ध में न्यून वायुभार क्षेत्र हवाओं के दख के बाईं ओर होता है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में यह दाईं ओर होता है।

हवा की गति (Velocity of wind)—जबकि ऊँची तथा नीची अक्षांश रेखाओं के मध्य तापक्रम का विरोध सबसे अधिक होता है, उस समय वायु की शक्ति सबसे अधिक होती है। अतः सबसे शक्तिशाली हवा जाड़ों में चला करती है।

समानान्तर वायुभार विस्तार (Horizontal pressure Gradient) वाले अक्षांशों में सबसे अधिक वेगशील हवा पायी जाती है। शक्तिशाली हवाओं के अक्षांश प्रत्येक ऋतु में बदलते रहते हैं। ग्रीष्म ऋतु के लिए यह 40° उत्तरी अक्षांश रेखा होती है। परन्तु गर्मी की ऋतु में यह कुछ ध्रुव की ओर खिसक जाती है तथा अधिक सर्शों पड़ने से यह कुछ विषुवत रेखा की ओर खिसक जाती है।

२४ घंटे के एक दिन में हवाओं का वेग सबसे अधिक १ बजे दोपहर से लेकर दो बजे तक होता है। परन्तु हवाओं के वेग में दैनिक परिवर्तन ऊँचाई के अनुसार होता रहता है। ऊँचाई के अनुसार हवा की गति भी बढ़ती जाती है। हवा की गति के परिवर्तन की दर का अध्ययन हम चार वर्गों में कर सकते हैं:—

(१) ३०० व ५०० मीटर के बीच यह गति बढ़ती जाती है तथा हवा पर धरातल की आकृति से पारस्परिक रगड़ का प्रभाव पड़ता है।

(२) ५०० से ७०० मीटर तक हवा की गति कम होती जाती है।

(३) इसके बाद १५०० मीटर तक हमको बहुत तेज तथा अनियमित हवाये मिलती हैं।

(४) १५०० से ५००० मीटर तक हवाओं की गति लगातार बढ़ती जाती है तथा अंत में यह समताप मण्डल (Iso-thermal Zone) या

(Stratosphere) पर पहुँच कर कम होना शुरू हो जाती है।

पर्वत शिखरों पर हवा की सबसे अधिक गति रात्रि के समय होती है तथा सबसे कम दिन के समय होती है। यह स्थल समूह के समतल मैदानों से बिल्कुल विपरीत है जहाँ पर वायु की गति रात्रि में सब से कम होती है तथा दिन में सबसे अधिक होती है। इसके तीन कारण हैं :—

(१) रात्रि के समय पर्वत शिखरों पर नीचे की हवा सिकुड़ने लगती है तथा ऊपर की तहों की तेज हवा आने लगती है।

(२) संवाहन विधि (Convection) के कारण दिन के समय एक उथल-पुथल पैदा हो जाती है परन्तु रात्रि में इस हलचल के लुप्त हो जाने के कारण हवा तीव्र गति से चलती है।

(३) रात्रि के समय हवा अधिक फैलाव वाले भागों से अधिक दबाव (Compression) वाले भागों की ओर चलती है। इस लिए इसकी गति अर्थात् हवा की शक्ति बढ़ जाती है।

वायुमण्डल की गति अथवा चलनशीलता में निम्नलिखित कारणों से रुकावट आ जाती है :—

(१) वायु मंडल की ग्लायम अथवा लचीली प्रकृति।

(२) पृथ्वी के धरातल पर दृक्ष व पर्वतों व इसी प्रकार की अन्य अर्थात् वस्तुओं द्वारा उपस्थित बाधा।

(३) पृथ्वी की रगड़ के प्रभाव को लंबवत् संवाहन धाराएँ और बढ़ा देती हैं। इस वायुमंडल की ऊपरी तथा निचली तहों के बीच इस नियमित आदान प्रदान के कारण वायुमंडल के निचले भाग में हवा की गति सामान्य हो जाती है।

अक्षांशों के अनुसार वायु की गति भी बदलती रहती है। विषुव रेखा से ऊँचे-ऊँचे हम ऊँचे अक्षांशों की ओर चलते जाते हैं हवा भी तीव्र गति से बढ़ती है। दूसरी ओर हम जैसे-जैसे ऊँचे अक्षांशों से विषुव रेखा की ओर बढ़ते हैं हवा की गति कम हो जाती है। दूसरे शब्दों में नीचे अक्षांशों से ऊँचे अक्षांशों को बहने वाली हवाएँ ऊँचे अक्षांशों से नीचे अक्षांशों को चलने वाली हवाओं से अधिक तेज होती हैं।

वायु में गति उत्पन्न करने वाले कारण विशेष के अनुसार हम हवाओं को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) स्थायी हवाएँ (Planetary winds)—जहाँ जहाँ जो पृथ्वीकी वायुभार पेटियों (Pressure belts) के कारण उत्पन्न होती हैं तथा जो अधिक दबाव वाली पेटियों से कम दबाव वाली पेटियों की ओर बहती हैं।

(२) मौसमी हवाएँ (Seasonal winds)—वे हवाएँ हैं जिनमें वायुभार विस्तार से उत्पन्न हवाएँ (Gradient winds) तथा मानसून शामिल हैं। ये स्थल समूह तथा समुद्र के धरातल पर विस्तृत गर्मी तथा सर्दी के कारण होती हैं।

(३) स्थानीय हवाएँ (Local winds)—इसमें स्थल तथा समुद्री पवन (Sea and Land breezes), घाटी तथा पर्वतीय पवन, झरने की हवाएँ

(Fall winds), हिमनदी पवन (Glacier winds), बवंडर (Whirlwinds) इत्यादि शामिल है। ये स्थानीय गर्मी तथा सर्दी के कारण होती हैं।

(४) तूफानी आंधिया (Thunderstorms)—ये हवाये साथ-साथ होने वाली गर्मी तथा सर्दी के कारण होती हैं।

(५) बाधित हवाये (Forced winds)—ये वह हवाये होती हैं जो दूसरी हवाओं द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। वायुभंवर (Eddies), फोएन (Foehns), चिनूक (Chinooks), टारनेडो (Tornadoes) इसी प्रकार की हवाये हैं।

(६) अस्थिर हवाये (Variable winds)—चक्रवात तथा विशुद्ध चक्रवात (Cyclones and Anti-cyclones)।

स्थायी हवाये (Planetary winds)

पृथ्वी की स्थायी हवाओं की पैटर्न दबाव की पैटर्न के साथ-साथ होती हैं तथा हम इनको निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) भूमध्यरेखीय हवा पट्टी (Equatorial wind belt)।

(२) शीतोष्ण हवा पट्टी (Temperate wind belt)।

(३) ध्रुवीय हवा पट्टी (Polar wind belt)।

[देखिये चित्र न० २१]

भूमध्यरेखीय शांत मण्डल (Equatorial calms and Doldrums) विषुवत रेखीय प्रदेश में यूरेन सदैव सम्भवतः चमकता है। अतः वहाँ पर अत्यधिक प्रभावशाली स्नून्भार क्षेत्र है। विषुवत् रेखा के ५° उत्तर तथा दक्षिण के बीच दबाव एक-सा है तथा वायुभार विस्तार (Pressure gradient) कुछ नहीं है। अतः हवाये अशक्त तथा अस्थिर होती हैं। इस क्षेत्र को शांत मण्डल (Doldrums) कहते हैं और यहाँ पर हवा की गति सदैव नौबे से ऊपर की ओर रहती है। हवा की धाराएँ धरातल पर से ऊपर की उठती हैं।

शांत मण्डल (Doldrums) की सीमा अनिश्चित तथा अस्थिर है। यह समय-समय तथा स्थान-स्थान पर भिन्न है। तापीय विशुद्ध रेखा (Thermal Equator) को ध्यान में रखते हुए यह गर्मी की ऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर की ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण की ओर खिसक जाती है। आंध्र तथा प्रशान्त महासागर पर यह अधिक विकसित है। इनके पश्चिमी भागों पर यह व्यापारिक हवाओं की पट्टी (Trade wind belt) से जाकर मिल जाती है।

शान्त मण्डल (Doldrum belts) की विशेषता यह है कि इसमें गरज उत्पन्न होती रहती है तथा प्रत्येक दिन शाम के समय मूसलाधार वाहनिक वर्षा होती है। इस प्रदेश में अत्यधिक वर्षा होती है तथा वहाँ पर अधिक आद्रता (Humidity) होती है। यहाँ का तापक्रम दुखदायी होता है।

व्यापारिक हवाये (Trade winds) भूमध्यरेखीय शान्त मण्डल [Doldrum belts] के दोनों ओर वे हवाये बहती हैं जो विषुवत् रेखा की तरफ

चलती है। ये हवायें जो अयन रेखीय उच्चभार प्रदेश (Sub-tropical High pressure belt) से विषुवत् रेखीय कम दबाव वाले क्षेत्र की ओर चलती हैं उन्हें व्यापारिक हवायें कहने हैं। ये हवायें विषुवत् रेखा से 6° से 35° उत्तर व दक्षिण अक्षांशों के बीच बहती हैं। इन हवाओं की स्थिरता तथा पाल से चलने वाले जहाजों के लिये सहायक होने के कारण इनको व्यापारिक हवायें कहा गया है। व्यापारिक हवाओं की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

(१) उत्तरी गोलार्द्ध में व्यापारिक हवाएँ उत्तर पूरब से चलती हैं तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में ये दक्षिण पूरब से चलती हैं।

(२) चूँकि ये हवायें अयन रेखाओं (Tropics) से विषुवत् रेखा की ओर चलती हैं ये लगातार आगे को गरम क्षेत्र की ओर चलती जाती हैं। फलतः ये गरम होती जाती हैं। उनके साथ नमी नहीं होती। इसलिए इनको शुष्क हवायें कहा गया है। जब कभी ये किसी पर्यंत श्रेणी के ढाल से टकराकर ऊपर उठती हैं तो उस समय ये वर्षा कर देती हैं।

(३) चूँकि ये अपेक्षाकृत अधिक ठंडे क्षेत्रों से आती हैं इन हवाओं के चलने पर एक सुहावना मौसम आ जाता है।

(४) व्यापारिक हवायें नियमित तथा स्थिर रूप से चलती हैं। अतः यह बहुत विश्वसनीय हवायें होती हैं। इनकी गति 10 से 15 मील तक होती है।

(५) यह समुद्रों पर अत्यधिक प्रकट हो जाती हैं।

(६) यह हवायें जाड़ों में बेगशील तथा गर्मियों में कमजोर हो जाती हैं। यह प्रशांत महासागर में आंध्रमहासागर की अपेक्षा कमजोर होती है। तथा हिन्द महासागर में और विषुवत् रेखा के उत्तर में यह मानसून का रूप धारण कर लेती हैं।

अयनरेखीय जान्त मण्डल (Subtropical Calms)—वह हवायें जो विषुवत् रेखा पर उठती हैं ऊँची तहों पर पहुँच कर ठंडी तथा भारी हो जाती हैं। इस प्रकार की हवायें व्यापारिक हवाओं से भिन्न दिशा में चलती हैं अतः इनको “विपरीत व्यापारिक हवायें (Anti-trades)” कहते हैं। 30° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांश रेखाओं के समीप यह विपरीत व्यापारिक हवायें उतरनी शुरू हो जाती हैं और वहाँ एकत्रित हो जाती हैं। फलतः वहाँ का दबाव बढ़ जाता है तथा विषुवत् रेखा के दोनों ओर अधिक दबाव वाली पेट्टी बन जाती है। इन पेट्टियों में हवा नीचे की ओर उतरती रहती है और चूँकि वायुभार विस्तार (Pressure Gradient) बहुत कम होता है यहाँ पर अत्यधिक शांति होती है। अथवा हम यह कह सकते हैं कि यहाँ पर हवायें हल्की व अस्थिर होती हैं। यहाँ का मौसम भूमध्यरेखीय शांतमण्डल (Equatorial Calms) से बिल्कुल विपरीत, शुष्क तथा सुन्दर होता है। यहाँ पर नीचे उतरने वाली हवा की लम्बे धाराएँ कहीं कमजोर होती हैं तथा कहीं शक्तिशाली। इनका रुख भी अनिश्चित होता है और सदैव बदलता रहता है। कभी कभी तूफानों के चलने से इस शांति में बिघ्न पड़ जाता है।

पुराने समय में सदा व्यापारियों को इन अक्षांशों में जहाज चलाने में बहुत कठिनाई होती थी। हवा की अनुपस्थिति में भारी नौकों को आगे बढ़ाना बहुत

कठिन होता था। अतः नावों को हल्का करने के लिए घोड़ों को नावों में से फेंक दिया जाता था। इसी कारण इस प्रदेश को 'घोड़ों का अक्षांस' (Horse Latitudes) भी कहते हैं।

पछुवा हवायें (Westerlies)—अयनरेखीय उच्चभार तथा अर्द्धध्रुवीय न्यून भार के बीच हवायें पश्चिम से बहती हैं। वह हवायें जो कि अयनरेखीय (Sub tropical) उच्चभार से अथवा विषुवत् रेखा के उत्तर व दक्षिण से 40° अक्षांशों से अर्द्धध्रुवीय कम दबाव वाले क्षेत्र की ओर बहती हैं, उनको हम पछुवा हवायें (Westerlies) कहते हैं।

(१) पछुवा हवायें 35° से 40° तक तथा 60° से 65° तक विषुवत रेखा के दोनों तरफ चलती हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में वे दक्षिण पश्चिम से उत्तर-पूरब की ओर चलती हैं तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में वे उत्तर पश्चिम से दक्षिण पूरब की ओर चलती हैं।

(२) चूँकि ये हवायें गर्म अक्षांशों से ठंडे अक्षांशों की ओर चलती हैं ये तमाम साल वर्षा करती हैं।

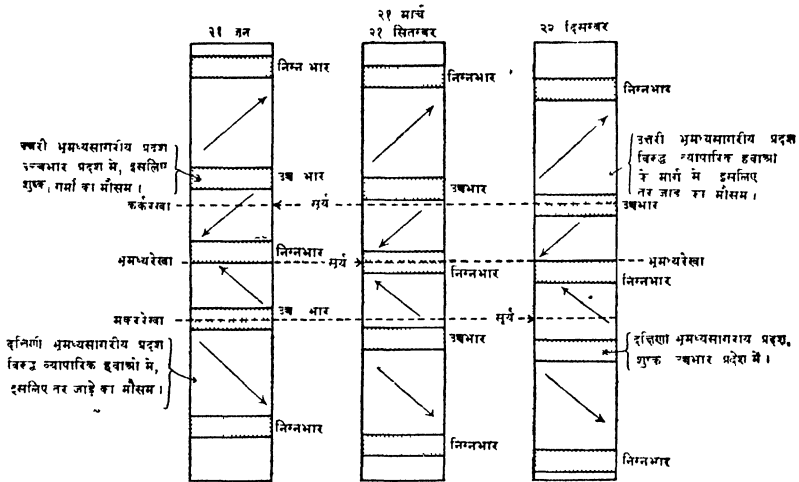
(३) इन हवाओं में बहुत अस्थिरता होती है। चक्रवात और विरुद्ध चक्रवात (Cyclones and Anti-cyclones) उनके नियमित रास्ते में बाधा डालते हैं। तूफान तथा आंधियाँ भी इनके बीच बाधा डालती हैं। अतः वे अनिश्चित मौसमी दशाये उत्पन्न करती हैं।

(४) ग्रीष्म ऋतु में पछुवा हवाओं की पेटियाँ जाड़े की अपेक्षा शांत होती हैं जाड़े के दिनों में कभी-कभी भयंकर तूफान उत्पन्न होते हैं और हवा किसी भी रुख से चलने लगती है।

(५) दक्षिणी गोलार्द्ध में समुद्रों की अधिकता होने के कारण पछुवा हवायें (Westerlies) अधिक नियमित तथा स्थिर हैं। यहाँ इनके बीच स्थल खंड से कोई बाधा नहीं पड़ती। अतः ये बड़ी तीव्र गति से चलती हैं। इसीलिए इनको "वीर पछुवा हवायें" (Brave West Winds) कहा गया है। 40° तथा 50° दक्षिणी अक्षांशों के बीच ये तूफानी वेग के साथ चलती हैं। अतः इस पेटि को "गरजते हुए चालीसा" (Roaring Forties) अथवा "खरोचने वाली साठी" (Screeching Sixties) कहते हैं।

अर्द्धध्रुवीय न्यूनभार प्रदेश (Sub-polar Lands)— 60° से 70° उत्तरी तथा दक्षिणी अक्षांशों पर कम दबाव वाली ऐसी पेटियाँ हैं जो आर्कटिक तथा अन्टार्कटिक वृत्तों (Arctic and Antarctic circles) के सहारे-सहारे हैं। इनके आगे उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवों पर दबाव हमेशा अधिक रहता है। अतः ठंडी हवा ध्रुवों से इन प्रदेशों की ओर चलने लगती है तथा उत्तरी गोलार्द्ध में ध्रुवीय पूर्वोत्तरी हवाओं (Polar North Easterlies) का रूप धारण कर लेती हैं और दक्षिणी गोलार्द्ध में (Polar South Easterlies) ध्रुवीय दक्षिणी पूर्वी हवाओं का रूप धारण कर लेती हैं। जब कभी ये ध्रुवों की हवायें पछुवा हवाओं (Westerlies)—जो कि अयन रेखाओं (Tropics) से अर्द्धध्रुवीय (Sub-polar) कम

दबाव वाले क्षेत्र की ओर बहती है—से मिलती है तो चक्रवात (Cyclones) उत्पन्न हो जाते हैं ।



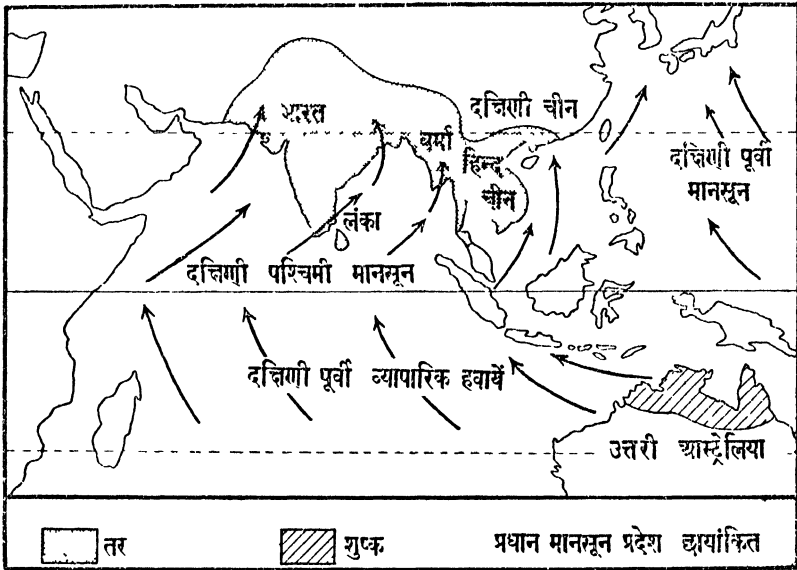
चित्र २२—हवा की पेटियों का खिसकना

हवा की पेटियों का खिसकना—जब सूर्य मकर रेखा पर चमकता है तो स्थायी वायु व्यवस्था (Planetary wind system) दक्षिण की ओर खिसक जाती है तथा जब सूर्य कर्क रेखा पर चमकता है यह उत्तर की ओर खिसक जाती है । इन हवाओं की पेटियों के खिसकने का फल यह होता है कि संसार के बहुत से क्षेत्र वर्ष में दो प्रकार की हवाओं के प्रभाव में आते हैं । शरद ऋतु में भूमध्यरेखीय शान्त-मंडल (Doldrums) व्यापारिक हवाओं के प्रभाव में आ जाता है । इसी प्रकार शरद ऋतु में ३०° से ४०° अक्षांशों के प्रदेश पछुवा हवाओं (Westerlies) के प्रभाव में आ जाते हैं ।

उत्तरी गोलार्द्ध में जहाँ स्थल समूह का आधिक्य है, इन हवाओं की पेटियों के इधर उधर खिसकने का महत्त्व अधिक है । उत्तरी गोलार्द्ध में जुलाई मास में कर्क रेखा पर सूर्य लम्बवत् चमकता है तथा समुद्रों को छोड़कर प्रत्येक स्थान से उच्च-भार प्रदेश पूर्णतः लुप्त हो जाता है । इसके अलावा विषुवत् रेखा से अर्द्धध्रुवीय पेटी (Sub-polar belt) तक कम दबाव हो जाता है । उत्तरी पूर्वी व्यापारिक हवाये पूर्णतः लुप्त हो जाती है । उनके स्थान पर दक्षिणी-पश्चिमी मानसून आ जाते हैं । परन्तु दक्षिणी गोलार्द्ध में किसी प्रकार का भी विलोभ उत्पन्न नहीं होता । दक्षिणी गोलार्द्ध में, जनवरी अथवा मध्य शरद ऋतु में मकर रेखा पर सूर्य की किरणें लंबवत् पड़ती हैं तथा अयनरेखीय (Sub-tropical) उच्च भार समाप्त हो जाता है । व्यापारिक हवाओं का चलन अधिक नहीं रहता तथा एक पेटी के स्थान पर केवल कुछ तितर-बितर क्षेत्र ऐसे रह जाते हैं जहाँ इनका प्रभुत्व तब भी बना रहता है ।

मौसमी हवायें—मानसून

मानसून वह हवाये हैं जो भिन्न-भिन्न ऋतुओं में अपना रुख बदलती रहती हैं। पृथ्वी का धरातल, जल तथा स्थल समूह से बना है। इस पर सूर्य ताप



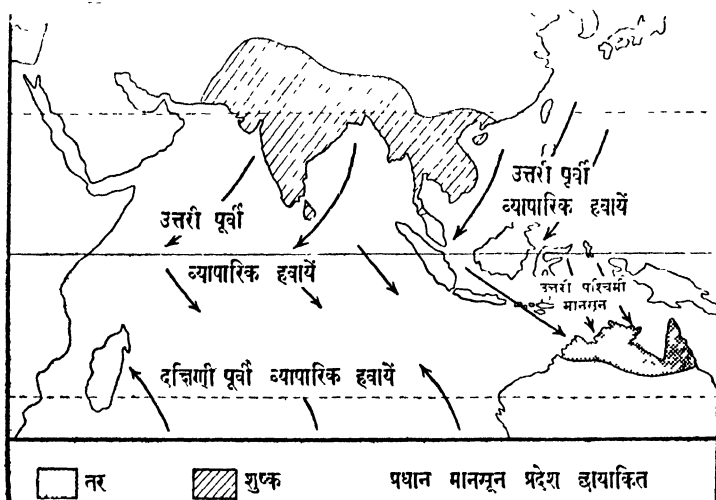
चित्र २६—गर्मी का मानसून

(Insolation) भिन्न-भिन्न रूप से प्रभाव डालता है और तदनुसार दबाव भी भिन्न-भिन्न होता है। जल तथा स्थल क्षेत्रों के असमान रूप से गर्मी ग्रहण करने से ही मानसून उत्पन्न होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में जब पृथ्वी पूर्णतया गरम हो जाती है, उस समय आसन्न सागरीय क्षेत्र अपेक्षाकृत ठंडे होते हैं। स्थल की हवाये ऊपर को संवाहन धाराओं (Convection Currents) के रूप में उठती हैं तथा इस रिक्त स्थान को भरने के लिए समुद्र की नम हवाये आती हैं। शरद ऋतु में दशा पूर्णतः विपरीत होती है। हवाये स्थल से जल की ओर चलने लगती हैं।

निचले अक्षांशों में तापक्रम सारे वर्ष बराबर से अधिक रहता है तथा ऊँचे अक्षांशों में स्थल का तापक्रम कभी भी इतना अधिक नहीं होता कि यह उपस्थित भार की दशा में बाधा डाल सके। अतः इस प्रकार की वायुगति केवल समुद्री तथा स्थल पवन का रूप धारण कर लेती है परन्तु मध्यवर्ती अक्षांशों में, अधिक तापान्तर के कारण ये समुद्री तथा स्थल पवन अर्द्ध स्थायी हो जाता है। इनको मानसून हवाये कहते हैं।

ये मानसून हवाये भारत तथा चीन के प्रदेशों में अधिक शक्तिशाली हैं। ग्रीष्म ऋतु में भारतवर्ष तथा एशिया का आन्तरिक भाग अत्यधिक

गरम हो जाता है तथा वहाँ पर शक्तिशाली निम्नभार उत्पन्न हो जाता है। हिन्द महासागर का जल अपेक्षाकृत ठंडा होता है तथा वायुभार विस्तार (Pressure Gradient) आंतरिक गरम स्थल खण्ड की ओर होता है। यह बात इतनी



चित्र २४—जाड़े का मानसून

महत्त्वपूर्ण है कि व्यापारिक हवाओं की जगह मानसून हवायें दक्षिण-पश्चिम से चलने लगती हैं। चूंकि ये हवायें जल से स्थल की ओर चलती हैं गर्मी के मानसून नम होते हैं तथा अपने साथ वर्षा लाते हैं।

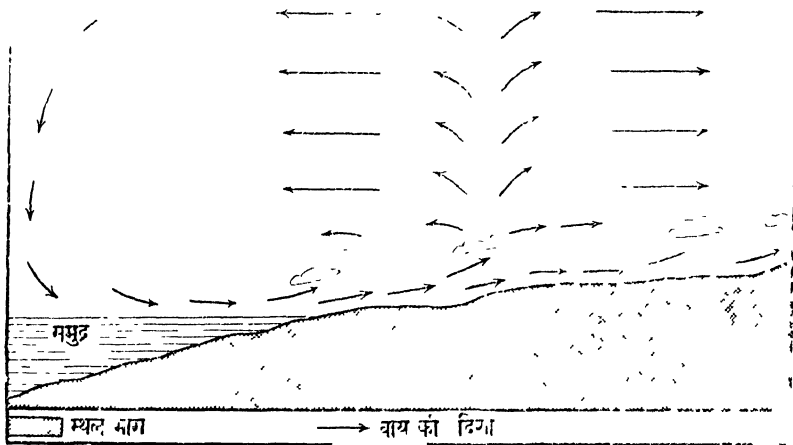
शरद ऋतु में भारतवर्ष तथा एशिया का आंतरिक भाग बहुत ठंडा हो जाता है तथा वहाँ पर उच्च भार उत्पन्न हो जाता है। इसकी तुलना में हिन्द महासागर का जल गरम होता है तथा वायुभार विस्तार (Pressure Gradient) समुद्र की ओर होता है। अतः हवायें महाद्वीपों के आंतरिक भाग से समुद्र की ओर चलने लगती हैं। इन हवाओं को उत्तरी पूर्वी मानसून कहते हैं। आंतरिक शुष्क प्रदेश से आने के कारण ये हवाएँ ठंडी तथा शुष्क होती हैं। इनके द्वारा वर्षा उस समय होती है जब ये किसी स्थान पर समुद्र को पार करके पहुँचती हैं।

चीन की मानसूनी हवाओं में चक्रवातीय तूफान (Cyclonic Storm) से बाधा उत्पन्न होती है। परन्तु इसकी तुलना में भारतवर्ष के मानसून अधिक स्थिर होते हैं। दक्षिणी पश्चिमी मानसून उत्तरी पूर्वी मानसून की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है तथा २७ से लेकर ३५ मील प्रति घंटे की रफ्तार से चलता है।

स्थानीय हवायें (Local winds)

स्थल, खंड की प्राकृतिक बनावट अथवा जल तथा स्थल के वितरण से, गर्मी

तथा सर्दों की दशाओं में जो स्थानीय परिवर्तन होता है उसके कारण कुछ हवाएँ उत्पन्न होती हैं। समुद्री पवन संसार की सामान्य हवा पेटियों में भी पायी जाती हैं।



चित्र २५—समुद्री पवन

स्थलीय तथा समुद्री पवन (Land & sea Breezes) ये हवाये जल तथा स्थल की असमान गर्मी के कारण उत्पन्न होती हैं। अतः इनका अनुभव केवल समुद्र के तटों पर ही होता है। जबकि हवाये समुद्र से स्थल की ओर बहती हैं, उनको समुद्री पवन (Sea Breezes) कहते हैं तथा जब वे स्थल से समुद्र की ओर बहती हैं उनको स्थली पवन (Land Breezes) कहते हैं।

स्थल जल की अपेक्षा तीव्र गति से गर्मी को धारण करता है। अतः पृथ्वी पर गरम हवा उठती है और इसके स्थान को लेने के लिए समुद्र की ओर से हवाये आती हैं। दूसरी ओर रात्रि के समय जबकि स्थल अपनी गर्मी को शीघ्र त्याग करके पूर्णतया ठंडा हो जाता है, समुद्र अपेक्षाकृत गरम होता है तथा स्थली पवन (Land Breeze) बहना शुरू हो जाता है।

परन्तु स्थल अथवा समुद्र क्षेत्र एक दूसरे की अपेक्षा अधिक गरम केवल कुछ ही घंटों तक रहते हैं। अतः स्थली और समुद्री पवन का चलन अधिक ऊँचाई पर बहुत कम पाया जाता है। यह केवल ५०० से ६०० फीट तक पाये जाते हैं। स्थल के आन्तरिक भाग में इनका विस्तार अथवा प्रवेश केवल २० या ३० मील होता है।

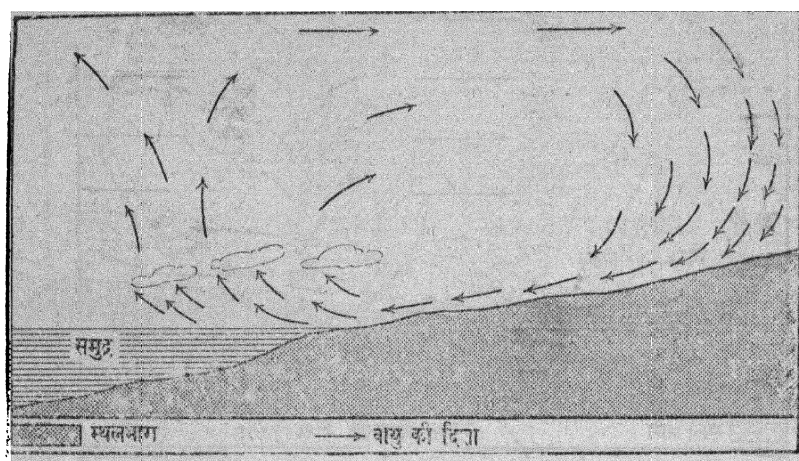
स्थलीय और समुद्री पवन शीतोष्ण कटिबन्ध की अपेक्षा ऊष्ण कटिबन्ध में अधिक होता है। तथा ये समताप रेखाओं के साथ समकोण बनाती हुई बहती हैं। प्रभावशाली स्थलीय तथा समुद्री पवन के लिए निम्नलिखित तीन दशाएँ आवर्श हैं।

(१) स्वच्छ मेघ रहित आकाश।

(२) उच्चतम दैनिक तापान्तर।

(३) दूसरी अधिक शक्तिशाली हवाओं की अनुपस्थिति ।

किनारे पर रहने वाले मछुपे इन स्थली और समुद्री पवन द्वारा लाभ



चित्र नं० २६—स्थली पवन

उठाते हैं। ये मछुपे प्रातः बहुत सवेरे स्थली पवन (Land Breeze) के साथ-साथ चले जाते हैं और शाम के समय जब समुद्री पवन (Sea Breeze) चल रही होती है लौट आते हैं।

इन दोनों में से समुद्री पवन (Sea Breeze) अधिक महत्त्वपूर्ण है। ये स्वच्छ नम वायु उत्पन्न करती हैं, उच्चतम तापक्रम में सुख देती हैं तथा वर्षा को बढ़ा देती हैं। गरम उष्ण कटिबंध में इनको अक्सर “डाक्टर” कहते हैं।

पर्वत तथा घाटियों का पवन:—ये भी सामान्य रूप से दैनिक ही हैं। पर्वतीय हवायें ढालों के नीचे की ओर रात्रि के समय चलती हैं तथा घाटियों का पवन दिन के समय ढालों पर ऊपर को चलती हैं।

सूर्योदय के समय सूर्य की किरणें, सर्वप्रथम पर्वत के शिखरों पर गिरती हैं और जब तक ये घाटियों की तलहटी तक पहुँचे कि पर्वत शिखरों पर गरम हवा सवाँहन धाराओं (Convection Currents) के रूप में ऊपर को उठ जाती है। इसकी जगह भरने के लिए घाटियों की तली से ठंडी हवायें आती हैं।

सूर्यास्त के समय सूर्य की किरणें धीरे-धीरे विलीन होती हैं तथा तीव्र विकिरण (Radiation) के कारण पर्वत के ढालों की हवा ठंडी पड़ जाती है। जैसे ही वायु भारी होती है यह नीचे तलहटियों की ओर अधिक शक्ति के साथ उतरनी शुरू हो जाती है तथा वहाँ की गरम हवा को तितर-बितर कर देती है। इस पर्वतीय हवा को कॅनयन हवा (Canyon wind) अथवा कैटाबैटिक हवा (Katabatic-wind) अथवा गुरुत्वाकर्षण पवन (Gravity wind) कहते हैं।

घाटियों की हवायें दो कारणों से उत्पन्न होती हैं:—

(१) गर्मी के कारण वायु के ऊपर उठने को चिमनी प्रभाव कहते हैं। एक समतल गरम मैदान के बीच में अलग-थलग पर्वत पर यह बहुधा होता है। पर्वतों तथा घाटियों में हवा का फैलाव एक बहुत हल्का वायुभार विस्तार (Pressure Gradient) उत्पन्न कर देता है अतः हवा की गति नगण्य हो जाती है।

(२) वायुभार विस्तार का प्रभाव (Pressure Gradient effect)—यदि पर्वतीय प्रदेश में ढाल ऐसे है जो चौड़े-चौड़े पठारों को भिन्न-भिन्न स्तर पर मिलाने हैं तो समभार तल दिन के सनय ऊपर को उठता है। जैसे २ हम पर्वत शिखर की ओर बढ़ते जाते हैं यह फैलाव कम होता जाता है। इस प्रकार उत्पन्न वायुभार विस्तार (Pressure Gradient) सर्वदा पर्वत की ओर होता है। अतः एक ढेगशील पवन उत्पन्न हो जाता है जिसकी शक्ति, पर्वत शिखर की ओर बढ़ने पर, बढ़ती जाती है।

हिमनदी पवन (Glacier winds) हिमनदी (Glacier) के निचले सिरे पर गुफा रूपी खुले भाग में उत्पन्न होती है। शीत ऋतु में ये हवायें बाहर की ओर चलती हैं तथा शरद् ऋतु में अंदर की ओर। ऐसी हवायें जब तेज हो जाती हैं, तब बहुत भयंकर रूप धारण कर लेती हैं।

ववंडर (Whirl winds)—ये वह हवायें हैं जो चक्करदार गोले में घूमती हैं तथा जो पूर्ण रूप से विध्वंसकारी होती हैं। चक्करदार वायु स्तम्भ (Whirling Column) की ऊँचाई, इसकी विध्वंसक शक्ति तथा इसकी अवधि निम्नलिखित पर निर्भर है—(१) स्थानीय गर्मी तथा (२) किस सीमा तक निम्न ताप विस्तार (Lower Temperature Gradient) बढ़ पाया है।

ववंडर (Whirl winds)—वायु की संवाहन धाराओं (Convection Currents) द्वारा बनती हैं जो चक्कर काटते हुये स्तम्भ के रूप में ऊपर उठने को तैयार होती हैं। उनके बारे में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) ववंडर सबसे अधिक शाम के समय चलते हैं तथा सबसे कम सुबह के समय।

(२) ववंडर गर्मी की ऋतु में अधिक चलते हैं तथा शरद् व बसन्त ऋतु में ये बहुत कम पाये जाते हैं।

(३) उष्ण तथा उपोष्ण प्रदेशों में ये विशेष विकसित रूप में पाये जाते हैं।

(४) ये बंजर धरातलों तथा रेगिस्तानी क्षेत्रों में अधिक शक्तिशाली तथा अधिक संख्या में होते हैं। जल तथा स्थल के उस भाग में जहाँ पर वनस्पति भली प्रकार से उत्पन्न होती है, ये ववंडर विकसित नहीं हो पाते।

(५) ये हवायें साधारणतः समतल प्रदेशों में अधिक विकसित होती हैं। जहाँ का धरातल टूटा फूटा अथवा उबड़ खाबड़ है वहाँ इनका प्रभाव अधिक नहीं हो पाता।

बर्ग, मिस्ट्रल और बोरा हवायें (Berg winds, Mistral & Bora)—चक्रवात (Cyclones) तथा विरुद्ध चक्रवात (Anti cyclone) के प्रभाव के कारण एक पठार की हवा इतनी खिंच जाती है कि यह नीचे को उतरने लगती है। नीचे

की ओर गरम शुष्क वायु के रूप में अथवा ठंडी शुष्क वायु के रूप में चलने लगती है।

जबकि पठार गरम हो जाता है इसकी हवा भी गरम हो जाती है और ये गरम शुष्क हवाओं के रूप में नीचे की ओर सरक जाती है, जिन्हें दक्षिणी अफ्रीका के तट पर बर्ग हवाये (Berg winds) कहते हैं।

जब कभी भी शरद ऋतु में विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclones) बरफ से ढके हुए क्षेत्र को घेर लेते हैं तो हवा का खिंचाव शुरू हो जाता है और यह ठंडी व घनी हो जाती है। यह ठंडी घनी हवा या तो एड्रियाटिक सागर (Adriatic-sea region) की तरफ नीचे उतरनी शुरू हो जाती है अथवा पर्वतों के बीच के दर्रे से होकर गुजरनी शुरू हो जाती है जैसा कि नोवोरिस्सिस्क (Navorossisk) प्रदेश में होता है। इस हवा को बोरा हवा (Bora wind) कहते हैं।

मिस्ट्रल (Mistral) एक ठंडी शुष्क वायु है जो फ्रांस के केन्द्रीय पठार से लीओन्स की खाड़ी की तरफ चलती है तथा रोहन की घाटी से गुजरती है। यह लीओन्स की खाड़ी के चक्रवात (Cyclone) तथा पूर्वो फ्रांस के बरफ से ढके हुए क्षेत्र के विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclone) द्वारा उत्पन्न होती है।

सिराको (Sirraco) वह हवाये हैं जो उस समय पैदा होती हैं जब कोई चक्रवात (Cyclone) भूमध्य सागर से गुजरता है और सहारा में अपेक्षाकृत अधिक वायुभार होता है अथवा वहाँ विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclone) स्थित होता है। ये हवाएँ गर्म शुष्क तथा धूल से भरी होती हैं और सहारा से भूमध्य सागर की ओर बहती हैं। इनको सहारा मरुस्थल में सिमून (Simoon) कहते हैं परन्तु समुद्र को पार करके वे तर हो जाती हैं। अतः ये जब इटली पहुँचती हैं जहाँ पर इनको (Sirroco) कहते हैं तो दुखदाई मौसम उत्पन्न करती हैं। मिश्र की खामसिन (Khamsins), हारमाटम (Harmattam) नामक गर्म शुष्क हवा जो गाइना के आंतरिक भाग से समुद्र की ओर बहती है तथा आस्ट्रेलिया की ब्रिक फील्डर (Brick fielders) आदि सब एक ही प्रकार की हवाये हैं।

तूफानी आंधियाँ (Thunder Storms)

वे आंधियाँ जिनमें गरज तथा चमक होती है तूफानी आंधियाँ (Thunder storms) कहलाती हैं। इनकी उत्पत्ति साधारणतः स्थानीय होती है तथा ये साथ-साथ गर्म व ठंडे होने के कारण उत्पन्न होती हैं। इनके विकसित होने के लिए निम्नलिखित दशायें आवश्यक हैं।

- (१) तीव्र संवाहन
- (२) अधिक आद्रता तथा
- (३) बढ़ता हुआ तापक्रम।

तूफानी आंधियों (Thunder Storm) की अवधि थोड़ी होती है। यह केवल आधा घंटे से कम में ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु इनकी विध्वंसक शक्ति बहुत अधिक होती है। इनकी विशेषता यह है कि जब ये चलते हैं तो क्यूमुलस मेघ (Cumulus Clouds) चारों तरफ गुम्बज की तरह फैल जाते हैं और इनके

सामने के भाग का आकार लोहार की निहाई की तरह हो जाता है। इसमें क्यूमूलो-निम्बस मेघ होते हैं।

तूफानी आंधियाँ (Thunder Storm) उस समय आती हैं जब कि चक्रवात (Cyclone) उत्पन्न होने को होता है। ये अधिकतर ग्रीष्म ऋतु के अधिक गर्म तथा तर दिनों में आते हैं। तूफानी आंधियों (Thunder Storm) की प्रधान विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

- (१) तूफानी आंधियाँ विशेषतया ग्रीष्म ऋतु में आती हैं।
- (२) यह केवल कुछ मिनटों या घंटों तक ही चलती है।
- (३) इनकी चौड़ाई केवल १०० मील तक होती है।
- (४) इनका रुख अनिश्चित होता है और ये किसी भी दिशा से आ सकती हैं।
- (५) ये अपने साथ भारी मूसलाधार वर्षा लाती हैं जो थोड़े समय तक ही रहती हैं।

दरिद्विहवायें (Forced Winds)

कुछ हवायें प्रचलित हवाओं से पैदा होती हैं। इस प्रकार की हवायें अधिकतर पर्वत श्रेणियों के वायु विमुख ढाल (Leeward Side) पर पाई जाती हैं।

जबकि हवायें एक तीव्र ढाल वाले पठार अथवा पर्वत के ऊपर से गुजरती हैं तो वायु विमुख ढाल पर वायु भंवर (Eddies) बन जाते हैं। इस प्रकार के भंवर (Eddies) में धरातल की हवायें साधारण हवाओं के विपरीत रुख से चलती हैं। इन दोनों के बीच हमेशा शांति रहती है।

चिनूक (Chinook) अथवा फोएन हवायें (Foehn Winds)—यह दोनों गरम तथा शुष्क हवायें हैं। चिनूक (Chinooks) अमेरिका में राकीज पर्वत के निचले भाग की ओर बहती हैं तथा फोएन हवायें यूरोप के ऊँचे आल्प्स पर्वत से निचले भाग की ओर चलती हैं।

जब कभी यूरोप के आल्प्स पर्वत ऊपर से अथवा अमरीका के राकीज पर्वत के ऊपर से कोई महत्वपूर्ण चक्रवात (Cyclone) गुजरता है तो यह वहाँ की हवा को खींच लेता है। यह हवा पर्वत की वायु अभिमुख ढाल (Windward Side) की ओर उठती है। यह हवा फैल जाती है तथा इससे वर्षा होती है अथवा बरफ गिरती है। परन्तु धनीभवन (Condensation) गुप्त ताप को छोड़ देता है तथा ठंड कम होती जाती है। अतः वायु विमुख ढाल (Leeward Side) पर वायु उतरनी शुरू हो जाती है। यह दबाव द्वारा गरम हो जाती है तथा शुष्क वायु बन जाती है। फोएन हवायें (Foehn winds) आल्प्स के उत्तरी भाग की ओर उतरती हैं तथा चिनूक (Chinook winds) राकीज के पूर्वी ढाल पर उतरती हैं।

जब चिनूक हवायें (Chinook winds) अमरीका के बड़े-बड़े मैदानों में उतरती हैं तो तापक्रम बहुधा २४ घंटे के अन्दर ५०° बढ़ जाता है। यह मैदानों के बरफ को पिघला देती हैं और इनकी शुष्कता के कारण वहाँ तीव्र वाष्पी भवन (Eva-

poration) शुरू हो जाता है। इस प्रकार से वहाँ पर बरफ का आवरण बिल्कुल गायब हो जाता है और इसी कारण इसका नाम "हिम हारिणी" (Snow eaters) रखा गया है। यह गेहूँ की अधिक उपज के लिए लाभदायक है और इनके सहारे से बर्फ पिघलने भी लगती है जिसकी अत्यधिक आवश्यकता होती है। इस प्रकार गेहूँ को नमी मिलती है। यदि यह हवाये नहीं होती तो उत्तरी ढालों पर कोई भी जाकर नहीं बसता तथा वहाँ के स्थानीय जीव-जन्तु जाड़े के दिनों में जीवित नहीं रहते।

इसी प्रकार की हवाये न्यूजीलैंड आल्प्स से निचले भाग की तरफ चलती है तथा कैंटरबरी मैदानों तक पहुँचती है। इन हवाओं की मुख्य विशेषताएँ निम्न लिखित हैं :—

(१) ये सब ऋतुओं में चलती हैं।

(२) यह अधिकतर उस समय चलती हैं जबकि वायु अभिमुख ढाल (Wind Ward Side) पर वर्षा के कारण ऊपरी हवा अधिक गरम हो जाती है, जबकि धरातल की हवा बेरोक विकिरण (Free Radiation) के द्वारा अधिक ठंडी हो जाती है तथा शरद ऋतु में जबकि तापक्रम का लम्बवत विस्तार बहुत कम हो जाता है।

टारनेडो (Tornadoes) सबसे अधिक विनाशकारी तूफान हैं जो चक्रवात (Cyclone) गुजरने पर उत्पन्न होते हैं। ये साधारणतः गर्मियों की ऋतु में बाधारहित स्थल पर चलते हैं। इसके चलने पर एक काला कुम्पी गुमा मेघ बन जाता है जिसका सेंकरा भाग पृथ्वी के धरातल की ओर होता है, ये २० से १०० मील से अधिक नहीं चलते परन्तु इस तूफान के अन्दर हवाये १०० से लेकर २५० मील प्रति घंटे की गति तक पहुँच सकती हैं। इसकी यह भयानक गति बहुत विध्वंसक होती है। हवा की इस भीषण गति से मार्ग में स्थित बहुत सी भारी इमारतें गिर जाती हैं तथा पेड़ जड़ सहित उखड़ जाते हैं।

शरद ऋतु में टारनेडो (Tornadoes) शिथिल हो जाते हैं। उस मौसम में ये अधिकतर शाम को ३ बजे से ५ बजे के बीच में चलते हैं। स्थानीय तथा घर्षणीय उत्पत्ति के होने के कारण ये टारनेडो चक्रवात के सीमान्त मिलन पर भी विकसित हो सकते हैं। टारनेडो (Tornadoes) पूर्वी संयुक्त राष्ट्र अमरीका में विशेष प्रभावशाली होते हैं।

अमरीका के टारनेडो (Tornadoes) पूर्वी बड़े मैदानों तक पहुँचने वाले शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवातों (Temperate Cyclone) के दक्षिणी पूर्वी भाग में उत्पन्न होते हैं। बनने के बाद वे पूरब की ओर तथा ध्रुवों की ओर मुड़ जाते हैं और कई सौ मील तक लगातार चलते रहते हैं। जब वे समुद्र अथवा झील के ऊपर से गुजरते हैं तो वे बहुत सा पानी अपनी तरफ एक शिखर या स्तम्भ के रूप में खींच लेते हैं। इसको जलखंभ (Water Spout) कहते हैं।

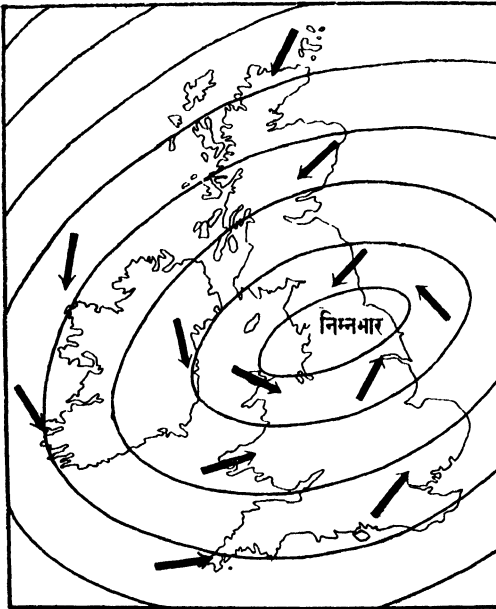
बसन्त ऋतु के शुरू के महीनों में बादलों के तल पर हवा की बहुत सी धाराएँ भिन्न-भिन्न स्तर तथा भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती हैं। वे प्रायः एक दूसरे से मिल जाती हैं और एक दूसरे के ऊपर होकर गुजर जाती हैं। पृथ्वी के धरातल के समीप

संवाहन विधि चलती रहती है तथा ऊपर उठती हुई वायु की अन्दर की ओर बहने वाली धारा ऊपर बादल के तल में प्रतिधाराओं को रोकने में सहायक होती है। फल-स्वरूप मेघ तल पर भयानक बवंडर उत्पन्न हो जाते हैं और कुप्पी नुमा बादल के रूप में टारनेडो उत्पन्न हो जाता है जो भयानक गरज तथा गड़गड़ाहट के साथ आगे बढ़ता है।

अध्याय : : ७ अस्थिर हवायें

(चक्रवात और विरुद्ध चक्रवात)

संसार की साधारण तथा नियमित हवाओं में कुछ स्थानीय बाधाएँ पड़ती हैं। स्थानीय दशाये वायुमंडल में अव्यवस्था उत्पन्न कर देती हैं जिसके कारण प्रचलित हवाओं में भिन्नता उत्पन्न हो जाती है। इनको अस्थिर हवायें (Variable winds) कहते हैं। यह साधारणतया अनियमित बवंडर (Whirl winds) होते हैं जो प्रायः भयानक तूफान का रूप धारण कर लेते हैं। इनका रख, आकृति, विस्तार तथा क्षेत्र अनियमित है। इनकी उत्पत्ति कुछ असाधारण कारणों से होती है और ये अचानक ही प्रकट हो जाती हैं। इन अस्थिर हवाओं को चक्रवात तथा विरुद्ध चक्रवात (Cyclones & Anti-cyclones) कहते हैं। यह चक्र रूप में या तो कम दबाव वाले केन्द्र की ओर चलती है और तब इन्हें चक्रवात (Cyclone) कहते हैं; अथवा अधिक दबाव वाले केन्द्र से बाहर की ओर चलती है और तब इन्हें विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclone) कहते हैं। एक्सनर (Exner) के अनुसार ये अस्थिर



चित्र २७—चक्रवात

हवायें साधारण वायुगति को बनाये रखती हैं। ये हवायें दबाव की असमानता को दबाये रखती हैं तथा पृथ्वी पर वायु के चलन को सम रूप में रखती हैं।

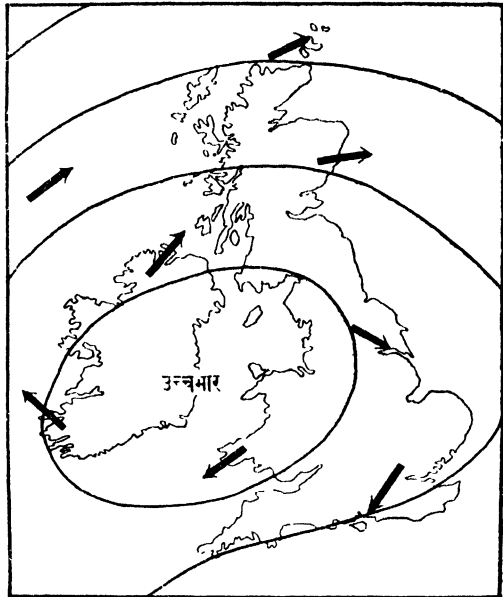
जब चक्राकृति में अन्दर की ओर हवा घूमती हुई किसी कम दबाव वाले केन्द्र की ओर जाती है, उस समय हम इसको चक्रवात (Cyclone) कहते हैं। एक चक्रवात में केन्द्र पर कम दबाव होता है तथा चारों तरफ की दिशाओं पर अधिक दबाव होता है। चक्रवात के अन्दर उत्तरी गोलार्द्ध में वायु की गति घड़ी की

सुइयों के विपरीत (Anti-clockwise) होती है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में इसकी गति घड़ी की सुइयों के अनुरूप (Clock-wise) होती है।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है—विरुद्ध चक्रवातों में चक्रवात से बिल्कुल विपरीत वायु द्यवरथा होती है। इसमें केंद्र पर अधिक दबाव होता है तथा उत्तरी गोलार्द्ध में हवा की चलन घड़ी की सुइयों के अनुरूप (Clock wise) होता है और दक्षिणी गोलार्द्ध में घड़ी की सुइयों से विपरीत (Anti-Clock wise)। हवा का बहाव चक्राकृति में बाहर की ओर होता है।

बहुधा यह देखा गया है कि दो चक्रवातों के बीच एक विरुद्ध चक्रवात होता है। तथा वे प्रचलित हवाओं के साथ उसी रुख में चलने लगते हैं। यह एक प्रकार से ऊँचे व नीचे वायुभार का क्रमिक विस्तार उत्पन्न करते हैं। ये उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबंध (Tropical and Temperate zone) में अधिकतर पाये जाते हैं परन्तु ये उष्णकटिबंध (Tropics) में गर्मियों में विशेष प्रभावशाली हो जाते हैं। शीतोष्ण कटिबंध (Temperate zone) में जाड़ों में इनकी बहुलता रहती है। प्रचलित हवाओं के रुखके अनुसार ये उष्ण कटिबंध (Tropics) में व्यापारिक हवाओं के साथ तथा शीतोष्ण कटिबंध में पछुदा हवाओं (Westerlies) के साथ चलते हैं। इस प्रकार ये उष्ण कटिबंध (Tropics) में पूरब से पश्चिम की ओर चलते हैं तथा शीतोष्ण कटिबंध (Temperate regions) में पश्चिमसे पूरब की ओर चलते हैं।

उष्ण कटिबंधीय चक्रवात (Tropical cyclone) की उत्पत्ति— उष्ण कटिबंध के चक्रवातों की उत्पत्ति तापीय (Thermal) है और यह स्थानीय सवाहन धाराओं (Convection Currents) के कारण विकसित होते हैं। ये धाराये पृथ्वी के घूमने के कारण चक्राकृति में घूमती हैं। उष्ण कटिबंध के अन्तर्गत समुद्र के ऊपर ये कुछ विशेष ऋतुओं में विकसित हो जाते हैं। निम्नलिखित दशाये इसकी उत्पत्ति तथा विकास के लिए अधिक साफिक हैं।



चित्र २८—विरुद्ध चक्रवात

(१) शान्त हवा (२) अधिक संतृप्त (Saturated) वायुमंडल (३) अधिक गर्मी।

ऐसी दशाये भूमध्यरेखिक शान्तमण्डल (Doldrums) में प्रधानतः समुद्रों के ऊपर पाई जाती हैं। व्यापारिक हवाओं के होने के कारण इस प्रकार के समुद्रों

क्षेत्रों के पश्चिमी किनारों के वायुमण्डल में जल वाष्प को ग्रहण करने की अधिक शक्ति होती है।

अतः चक्रवात भूमध्यरेखिक शांतमण्डल (Doldrums) में तथा साधारण-तया इन पेटियों के ध्रुवीय किनारों पर सामुद्रिक क्षेत्र के पश्चिमी किनारों पर उत्पन्न होते हैं। इनकी अधिक उत्पत्ति का समय वह है जबकि शांतमंडल विषुवत् रेखा से अधिक दूरी पर होता है। ये प्रधानतया पतझड़ समरात्रि के अन्तर्गत उत्पन्न होते हैं। पृथ्वी की इस स्थिति में दो लाभ हैं। समुद्र के ऊपर की हवा अधिक गरम हो जाती है तथा सूरज विषुवत् रेखा से अधिक दूरी पर होता है। विषुवत् रेखा पर पृथ्वी के घुमाव के कारण हवा का मुड़ाव नहीं होता तथा चक्करदार गति प्राप्त नहीं हो सकती।

उत्पन्न तथा विकसित होने के पश्चात् वे आगे बढ़ते जाते हैं यहां तक कि व्यापारिक हवाओं की पेटों में उन्हें जहाँ कहीं शिथिल बिन्दु मिलता है वहाँ वे पश्चिमी हवाओं के चक्रवातों के प्रदेश में जा निकलते हैं। उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात (Tropical cyclones) उत्तरी गोलार्द्ध में अधिकतर पाये जाते हैं तथा उनकी उत्पत्ति के दो स्थान दक्षिणी पूर्वी कैरेबियन (Carribean) सागर तथा पश्चिमी प्रशान्त के कैरोलिना (Carolina) द्वीप के पास का भाग है। जिन चक्रवातों का विकास प्रथम क्षेत्र में होता है उन्हें पश्चिमी द्वीपसमूह में हरीकेन (Hurricanes) कहते हैं। तथा जो दूसरे क्षेत्र में विकसित होते हैं उन्हें टाइफून (Typhoons) कहते हैं। ये अगस्त और सितम्बर के महीने में विशेष चलते हैं। दक्षिणी प्रशान्त तथा दक्षिणी आंध्र महासागरों में हरीकेन तूफानों का अनुभव नहीं किया जा सकता। मार्च तथा अप्रैल के माह में इसी प्रकार के तूफान मारीशस तथा मोजम्बिक (Mauritius and Mozambique) से गुजरते हैं।

आकार तथा विस्तार—उष्ण कटिबन्धीय चक्रवात (Tropical Cyclone) साधारणतः आकार तथा विस्तार में छोटा होता है परन्तु इसके व्यास की लम्बाई भिन्न होती है। अपने उत्पत्ति स्थान के समीप इनका व्यास केवल ८० किलोमीटर होता है। परन्तु अधिक विकसित चक्रवातों का व्यास ३०० से १५०० किलोमीटर तक होता है। बादलों से घिरा हुआ क्षेत्र भी अधिक विस्तृत होता है और अधिक नहीं तो ३०० किलोमीटर तो होता ही है।

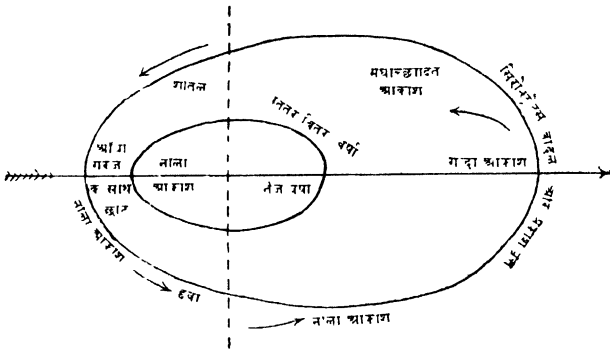
ये अधिकतर आकृति में गोल होते हैं, परन्तु वृत्त की अपेक्षा ये अंडाकार आकृति से अधिक मिलते जुलते हैं। अंडाकार आकृति की दोनों लम्बाई में २ : ३ का अनुपात होता है।

गति तथा तीव्रता—केन्द्र पर दबाव अधिकतर २५ इंच से कम होता है और उनकी गति भिन्न-भिन्न तूफानों में तथा प्रत्येक दिन अलग-अलग होती है तथा कभी-कभी एक ही तूफान के भिन्न-भिन्न भागों में यह गति भिन्न-भिन्न होती है। किसी-किसी तूफान में शून्य तक होती है तथा दूसरी दशाओं में ८०० मील प्रति घंटा तक भी हो जाती है। ये समुद्रों के ऊपर स्थल की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से

चलते हैं क्योंकि धरातल की प्राकृतिक रूपरेखा उनकी चाल में रुकावट पैदा करती है।

केन्द्र में हवा की तीव्रता बहुत कम होती है परन्तु जैसे-जैसे हम केन्द्र से ध्रुवों की ओर बढ़ते हैं यह शक्ति बढ़ती जाती है यहां तक कि गति ५० से ६० मीटर प्रति सैकण्ड हो जाती है। यह गति परिवर्तन स्थायी नहीं होता और यह शीघ्र ही ५० से ६० किलोमीटर प्रति घंटा तक पहुँच जाता है।

मार्ग तथा प्रवाह (Track & movement)—उष्ण-कटिबंधीय चक्रवात (Tropical cyclones) एक घुमावदार रास्ते से होकर गुजरते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में यह पहिले पश्चिम की ओर तथा फिर उत्तर-पश्चिम की ओर



चित्र २६—उष्ण कटिबंधीय चक्रवात

मुड़ जाते हैं। २०° तथा २५° अक्षांशों पर ये उत्तर की ओर मुड़ जाते हैं तथा उत्तर पूर्व की दिशा से होकर गुजरते हैं। शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवातों के प्रदेश में प्रवेश करते समय उष्णकटिबंधीय चक्रवात का मार्ग पैराबोला (Parabola) सा बन जाता है तथा इसकी धुरी विषुवत् रेखा के सामान्तर होती है और इसका नतोदर भाग (Concavity) पूर्व की ओर होता है। उष्णकटिबंधीय चक्रवात के पथ की विशेषताये निम्नलिखित हैं :—

(१) विषुवत् रेखा तथा १५° अक्षांश रेखा के बीच ये तूफान व्यापारिक हवाओं के साथ पश्चिम की ओर मुड़ जाते हैं।

(२) १५° और ३०° के बीच का पथ अनिश्चित होता है। लेकिन ये उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर की ओर चलते हैं तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण की ओर।

(३) जब ये ३०° अक्षांश को पार करते हैं तो यह पूर्व की ओर मुड़ जाते हैं और इनमें प्रायः शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवातों (Temperate cyclone) की विशेषतायें उत्पन्न हो जाती हैं। उनकी तीव्र शक्ति भी कम होना शुरू हो जाती है।

उष्ण कटिबंधीय चक्रवात (Tropical cyclone) के प्रभाव के प्रधान क्षेत्र निम्नलिखित हैं :—

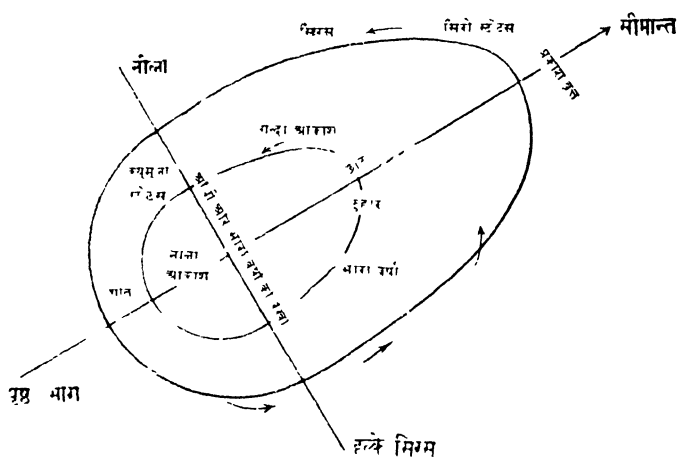
(१) पश्चिमी द्वीपसमूह (West Indies) तथा फ्लोरिडा का तट। इस प्रदेश में इनको हुरीकेन (Hurricanes) कहते हैं।

(२) फिलीपाइन द्वीप, चीन तथा जापान के तट। यहाँ पर इनको टाइफून (Typhoons) कहते हैं।

(३) बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर, जहाँ पर इनको चक्रवात कहते हैं।

(४) मंडागास्कर तथा पूर्वी अफ्रीका के तटीय प्रदेश।

(५) आस्ट्रेलिया के उत्तरी पूर्वी तथा उत्तरी पश्चिमी तटीय प्रदेश।



चित्र ३०—चक्रवात का मौसम

रचना तथा ऋतु—उष्ण कटिबंधीय चक्रवात में समभार रेखाओं की व्यवस्था लगभग गोल होती है तथा सबसे निम्न या ग्लून समभार रेखा सदा मध्य में होती है। इसके केन्द्र को चक्रवात का नेत्र (Eye of cyclone) कहते हैं। इस नेत्र के चारों ओर वायुमंडल ढाल होता है तथा यहाँ वायुमंडल विस्तार (Pressure gradient) भी तीव्र होता है।

चक्रवात के नेत्र (Eye of cyclone) की विशेषता यह है कि इसमें नीले आकाश का एक टुकड़ा रहता है। यहाँ पर हवा नीचे की ओर उतरती है तथा दबाव के कारण यह गर्म हो जाती है। अतः आकाश स्पष्ट रहता है और यहाँ पर शांत तथा शुष्क ऋतु बनी रहती है। केन्द्र के चारों ओर हवा ऊपर की ओर तीव्र गति से उठती है और इसके फलस्वरूप सिरस मेघ (Cirrus Clouds) आकाश में चारों ओर ऐसे फैल जाते हैं कि दूर से भेड़ सदृश प्रतीत होने हैं। केन्द्रीय क्षेत्र में घने बादल आकर घिर जाते हैं तथा तीव्र गरज के साथ मूसलाधार वर्षा होती है। चक्रवातों (Cyclones) का मौसम बड़ा ही विनाशकारी होता है जिसमें बिजली की चमक तथा हवा के तेज झोंके बराबर आते रहते हैं। अधिकतर सुस्ती तथा आलसपूर्ण गर्मी

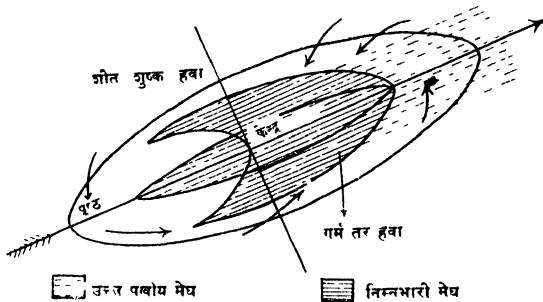
का अनुभव होता है। चक्रवात के अग्र भाग में पृष्ठ भाग की अपेक्षा वर्षा अधिक होती है।

जो स्थान चक्रवात के दाहिने हाथ के पृष्ठ भाग में बसे होते हैं वहाँ पर हवा के तीव्र झोंके चलते हैं और वहाँ पर भारी वर्षा होती है। इनके बीच जब हवा के रुख में शीघ्र परिवर्तन होता है, कुछ समय के लिये सुहावना समय आ जाता है। दूसरी ओर बायें हाथ पर पीछे की ओर वाले भाग में जैसे ही वायु का झोंका गुजरता है वर्षा रुक जाती है तथा धीरे-धीरे आकाश साफ हो जाता है।

उष्ण कटिबंधीय चक्रवात (Tropical cyclone) के मार्ग में पड़ने वाले स्थानों के मौसम की विशेषताये निम्नलिखित हैं :—

(१) चक्रवात के आने से पहिले उनके केन्द्र में सिरस बादल (Cirrus Clouds) दिखाई पड़ने लगते हैं।

(२) इसके बाद धीरे-धीरे काले बादल फिरने लगते हैं यहाँ तक कि निम्बस मेघ (Nimbus clouds) छा जाते हैं और सूर्य को पूर्णतया ढक लेते हैं।



चित्र ३१—चक्रवात की रचना

(३) इसके पश्चात् मूसलाधार वर्षा होती है और जैसे ही चक्रवात का अंतिम भाग गुजर जाता है वर्षा समाप्त हो जाती है।

(४) परन्तु चक्रवात के अंतिम भाग के पहुँचने पर पाला गिरता है तथा शांत पर साफ मौसम आ जाता है।

(५) परन्तु इससे पहिले कि चक्रवात का अंतिम भाग पूर्णतया पहुँच सके गरज तथा बिजली की चमक साथ-साथ शांत पर दुखदायी मौसम का सूत्रपात करती है।

शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात (Temperate Cyclones)—शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात (Extra-Tropical cyclone) अधिकतर उत्तरी आंध्र महासागर में और प्रधानतः जाड़े की ऋतु में पाये जाते हैं। इनका व्यास अधिक होता है परन्तु इनका वायुभार विस्तार (Pressure gradient) बहुत शिथिल होता है। समभार रेखाओं (Iso-bars) की आकृति तथा बनावट “V” रूप की होती है और इनके साथ-साथ विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclones) भी आते हैं। इनकी

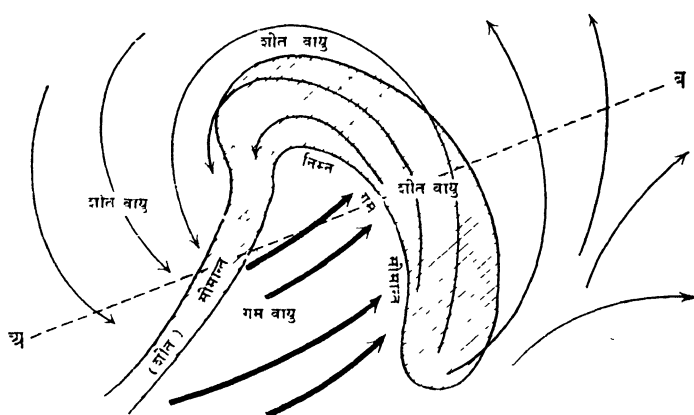
गति विभिन्न होती है तथा इनके अग्र व पृष्ठ भागों के तापक्रम तथा वर्षा में एक निश्चित अंतर होता है। ये पृथ्वी के घुमाव तथा संवाहन विधि (Convection) के कारण नहीं उत्पन्न होते।

उत्पत्ति तथा प्रकार—शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवातों (Temperate cyclones) की उत्पत्ति के संबंध में दो सिद्धांत हैं :

(१) लैम्पर्ट तथा शां का प्रगति सिद्धांत (Dynamic theory)।

(२) बी. बिजकिन्स का ध्रुवीय सीमांत सिद्धांत (Polar front Theory)

प्रगति सिद्धांत (Dynamic Theory)—उत्तरी आंध्र महासागर के वायु विक्षोभों के अध्ययन के आधार पर यह सिद्धांत बनाया गया था। इसके अनुसार हवा की भिन्न-भिन्न धाराओं के, अधिक भार वाली पेटियों के विरुद्ध एकत्रित हो जाने से चक्रवात उत्पन्न होते हैं। वायु के भिन्न-भिन्न समूहों के भिन्न-भिन्न तापक्रम के बीच अंतर से चक्रवातीय गति को शक्ति मिलती है। इसके अनुसार चक्रवात सिरस मेघ के प्रदेश के ठीक नीचे ७,५०० फीट की ऊँचाई पर उत्पन्न होते हैं। जबकि ठंडी वायु धाराये उठती हुई गरम हवा से मिलती हैं, एक प्रकार की भंवर बन जाती है जो नीचे को उतरने लगती है। अतः चक्रवात शंकु (cone) के आकार का होता है, जिसका संकीर्ण किनारा ऊपर को होता है।



चित्र ३२—चक्रवात की रचना में सीमान्त

ध्रुवीय सीमान्त सिद्धान्त (Polar Front Theory) के अनुसार गर्तचक्र (Depression) की रचना विषुव रेखा की हल्की गरम हवा के ध्रुव की भारी ठंडी हवाओं से मिलने से होती है। भारी ठंडी हवा गरम हवा के नीचे की ओर जाने की कोशिश करेगी और इसको ऊपर उठा देगी। इस सिद्धान्त के अनुसार हवा की दो धाराये होती हैं जिनकी गति तथा तापक्रम भिन्न-भिन्न होती है। ये साथ-साथ प्रवाहित होती हैं तथा वह तल जो इनको अलग-अलग करता है ध्रुवीय सीमान्त (Polar front) कहलाता है। यदि आदर्श दशायें हों तो इस प्रकार के अलग

अलग करने वाले तल कहीं भी पाये जा सकते हैं परन्तु निम्नलिखित तीन ऐसे सीमान्त मिलन स्तर (Discontinuity Surface) हैं जो इस पृथ्वी की सतह पर स्थायी रूप से पाये जाते हैं :

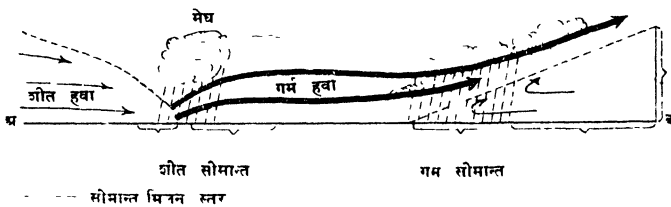
(१) मध्यस्तल (Tropopause) अथवा वायुमण्डल के संवाहन (Convective) कटिबन्ध का ऊपरी भाग ।

(२) उपोष्ण उच्चभार पेट्टी पर वह मिलनरेखा जहाँ पर विषुवत् रेखा की ओर बहने वाली ठंडी व्यापारिक हवाये तथा यहाँ से चलने वाली गरम पछुवा हवाये आपस में मिलती हैं ।

(३) वह सीमा जो ध्रुव की ठंडी हवा को (जो ध्रुव से बाहर की ओर बहती है) तथा गरम पछुवा हवाओं को (जो इसकी ओर बहती हैं) अलग अलग करती है ।

इन मिलन स्तर पर अथवा ध्रुवीय सीमान्त (Polar fronts) पर पृथ्वी के घूमने के कारण वायुमण्डल में विक्षोभ उत्पन्न हो जाते हैं । गरम हवा को पीछे से धकेलने वाली ठंडी वायु इन वायुविक्षोभों (Atmospheric Disturbances) को आगे बढ़ा देती है तथा इस गरम हवा से भीषण आंधी उत्पन्न हो जाती है और इस हवा के फैलने तथा ठंडे होने के पश्चात् वर्षा हो जाती है ।

जल तथा स्थल के वितरण तथा उनकी असमान गर्मियों के कारण यह सीमान्त मिलन स्तर हमेशा अनियमित अथवा लहरदार रहता है । इस अनियमित तथा परिवर्तनशील ध्रुवीय सीमान्त (Polar front) के ऊपर दो वृत्तांश हैं : गरम तथा ठंडे । गरम हवा ठंडी हवा को सामने की ओर धकेल देती है तथा स्वयं हल्की होने



चित्र ३३—चक्रवात का लम्बवत् खंड चित्र

के कारण ऊपर उठ जाती है । साथ साथ गरम वृत्तांश के पीछे वाली ठंडी हवा नीचे की ओर खिसक जाती है । फल यह होता है कि गरम हवा का क्षेत्र केवल विस्तार में घट ही नहीं जाता बल्कि ऊपर की ओर उठ जाता है । दबाव कम हो जायगा और धीरे धीरे कम भार वाला क्षेत्र बढ़ जायगा । फलतः हवाये वेग के साथ चलना शुरू कर देगी ।

कभी-कभी गतचक्र (Depression) के स्थानीय न्यूनभार क्षेत्र ठंडे सामने वाले भाग पर बढ़ जाता है और इसके चारों तरफ एक दूसरा कम शक्तिवाला चक्रवात (Cyclone) उत्पन्न हो जाता है । इसको गौण गतचक्र (Secondary Depression) कहते हैं । इसमें गरम वृत्तांश का शेष हिस्सा रहता है तथा ध्रुव की वे हवायें होती हैं जो अपने मूल स्थान से स्थानान्तरित कर दी गई होती हैं । इन गौण गतचक्रों (Secondary Depression) द्वारा आमतौर पर भारी

स्थानीय वर्षा होती है। यहां का मौसम तूफानी आंधी (Thunderstorm) जैसा होता है और यहां पर बहुत से विद्युत विक्षोभ उत्पन्न हो जाते हैं।

हमफ्रीज (Humphreys) ने इन शीतोष्ण चक्रवातों (Temperate cyclones) को तीन भिन्न वर्गों में विभाजित किया है :—

(१) तापीय चक्रवात (Thermal cyclones)—वह गर्तचक्र होते हैं जो तापक्रम तथा वायुभार की असमानता के कारण बनते हैं। आस-पास वाले क्षेत्रों से अधिक गरम क्षेत्र में अपेक्षाकृत कम वायुभार होता है। ये प्रायः गरम जल पर उत्पन्न होते हैं। तापीय चक्रवात (Thermal cyclones) के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र दक्षिणी पूर्वो ग्रीनलैंड तथा दक्षिणी पश्चिमी आइसलैंड (Iceland) हैं। नार्वेजियन सागर तथा ओकोटस्क का सागर भी इसके छोटे-छोटे क्षेत्र हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में रौस सागर तथा बेंडल सागर भी इसके क्षेत्र हैं। साधारणतः तापीय चक्रवात (Thermal cyclones) शरद ऋतु में अधिक गतिशील होते हैं।

(२) सूर्यतापिज चक्रवात (Insolational cyclones)—ये अपेक्षाकृत अधिक गरम स्थल पर उत्पन्न होते हैं। वह खाड़ियाँ तथा समुद्र जिनके चारों ओर ठंडा स्थल होता है तापीय चक्रवातों (Thermal cyclones) को पैदा करते हैं तथा प्रायद्वीपीय क्षेत्र जिसके तीन तरफ अपेक्षाकृत अधिक ठंडे जलखंड हैं सूर्यतापिज चक्रवातों (Insolational cyclones) की उत्पत्ति करते हैं। तीव्र सूर्यताप (Insolation) के कारण एक कम दबाव वाला क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है और समभार रेखाओं की आकृति अंडाकार हो जाती है। हवाये चक्करदार रूप में चलने लगती हैं, तथा चक्रवात विकसित हो जाता है। इस प्रकार के चक्रवातों के लिए आईबेरिया प्रायद्वीप (Iberian Peninsula), एलास्का, अमरीका के विस्तृत मैदान, तथा उत्तरी पश्चिमी आस्ट्रेलिया महत्त्वपूर्ण प्रदेश हैं। अवधि के दृष्टिकोण से ये अर्द्ध-स्थायी होते हैं।

(३) चलनशील चक्रवात (Migratory cyclones)—अवधि के दृष्टिकोण से बहुत अस्थायी होते हैं और ये तापीय संवाहन के कारण उत्पन्न होते हैं। ये थोड़े समय तक ही रहते हैं और अपने इस थोड़े जीवन में घनीभवन (Condensation) के समय पर उत्पन्न गुप्त ताप (Latent Heat) ही उन्हें कायम रखती है।

आकार तथा विस्तार—औसत आकार के चक्रवात का व्यास साधारणतः ३०० या ४०० मील होता है तथा इसकी ऊँचाई पाँच से सात मील तक होती है। ये साधारणतः 'V' आकृति के होते हैं और उल्टे हुए 'V' के समान दिखाई देते हैं। यह लगभग कई लाख वर्ग किलोमीटर के क्षेत्रफल को घेरे रहते हैं। उत्तरी अमरीका में इनका आकार २,५०० किलोमीटर है।

गति तथा तीव्रता—उष्ण कटिबंधीय चक्रवात की वायु व्यवस्था को हम शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात में प्रयोग नहीं कर सकते जब तक कि शीतोष्ण चक्रवात विध्वंसकारी प्रकृति के न हो या उनका व्यास छोटा न हो।

किसी भी स्थान पर चक्रवातीय क्षेत्र के अंतर्गत वायु सीधी केन्द्र की ओर नहीं चलती बल्कि इसके कुछ दाँयी ओर को हटती रहती है। आगे की जाने वाली हवा की

गति स्वयं तूफान से अधिक होती है फलतः पीछे रह जाती है। चक्रवात के अंदर उस के भिन्न २ भागों में हवा का वेग भिन्न रहता है। दक्षिणी तथा पूर्वी भाग में हवायें वेगशील रहती हैं। वहाँ पर उनका रूख चक्रवात के समान ही रहता है ५ से ६ किलोमीटर की ऊँचाई तक सारी हवायें समभार रेखाओं के समानान्तर ही बहती हैं।

जब चक्रवात आगे बढ़ता है तो साधारणतया हवा की गति बढ़ जाती है तथा जब यह गुजर जाता है तो यह गति घटनी शुरू हो जाती है।

इसके विषय में दूसरी विशेषता यह है कि चक्रवात का साधारण गति जितनी धीमी होती है हवायें उतनी ही अधिक स्थिर होती हैं और उतनी ही अधिक वर्षा होती है। परंतु शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात की गति अनिश्चित होती है। यह ऋतु तथा स्थिति पर निर्भर रहती है तथा प्रत्येक चक्रवात के साथ बदलती रहती है। यह शरद ऋतु में सबसे अधिक तेज होते हैं तथा ग्रीष्म ऋतु में बहुत धीमे होते हैं। यूरोप की अपेक्षा अमेरिका में ये अधिक तेज होते हैं।

मार्ग तथा प्रवाह (Track & movement)—साधारणतः ये चक्रवात प्रचलित पछुवा हवाओं (Westerlies) के साथ चलते हैं और इनका साधारण रूख पश्चिम से पूर्व की ओर रहता है परंतु उत्तरी गोलार्द्ध में यह महाद्वीपों के ऊपर दक्षिण की ओर मुड़ जाते हैं तथा समुद्रों के ऊपर उत्तर की ओर मुड़ जाते हैं।

ये गतंचक्र किसी भी रूख में जा सकते हैं परंतु यह सदा कुछ न कुछ पूर्व की ओर मुड़े हुये रहते हैं। निम्नलिखित ३ बातें ध्यान में रखने योग्य हैं :—

(१) यदि ध्रुवीय सीमान्त (Polar front) का रूख पश्चिम से पूर्व की ओर है तो दक्षिण की गर्म हवा पूर्व की ओर का वायुभार कम कर देगी तथा केन्द्र पूर्व की ओर खिसक जायेगा। ये महाद्वीपों में अधिक दूरी तक पहुंच सकते हैं।

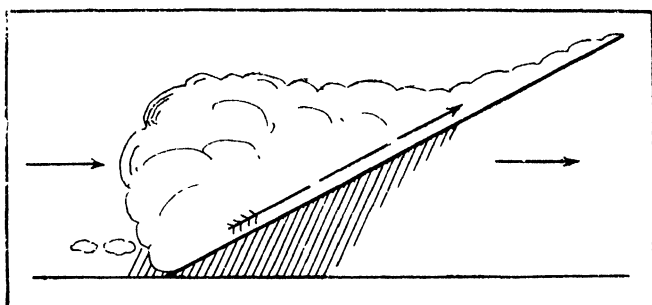
(२) यदि ध्रुवीय सीमान्त (Polar front) का रूख उत्तर की ओर होता है तो चक्रवात का केन्द्र अधिक दूरी तक नहीं जा सकता। अतः दो या तीन दिन के अंदर ही वायुभार में अन्तर समाप्त हो जाता है तथा चक्रवात विलीन हो जाता है।

(३) यदि ध्रुवीय सीमान्त (Polar front) का रूख दक्षिण की ओर होता है, बहुत कुछ स्थायी होते हैं तथा ये आगे की ओर घरातल पर अधिक दूरी तक बढ़ सकते हैं। भूमध्य सागरीय चक्रवात इनके उदाहरण हैं।

रचना और ऋतु—शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात रूप-रेखा में अनियमित होता है। यह भाले के अग्रभाग के समान बन जाता है और इसकी आकृति ऊपर मुड़ी हुई या उल्टी हुई V की तरह होती है। इस गतंचक्र के केन्द्र में कम दबाव रहता है। जबकि उत्तरी पश्चिमी भाग में ठंड रहती है, उत्तरी-पूर्वीय भाग में गर्मी होती है। ठंडे भाग में ठंडी हवायें रहती हैं और वह रेखा जिस तरफ ठंडी हवायें जाती हैं शीत सीमान्त (Cold) (front) कहलाती हैं। यह ठंडी हवा की अंतिम सीमा है। उत्तरी पूर्वी भाग में गर्म हवायें बहती हैं और वह रेखा जिसकी ओर ये हवायें चलती हैं, गर्म सीमान्त (Warm front) कहलाती हैं।

उत्तर पूर्वीय या गर्म वृत्तांश (Warm sector) में वाष्प से भरी हुई गर्म हवा ठंडी हवा से मिलती और उसके ऊपर से होकर गुजरती है। जैसे यह

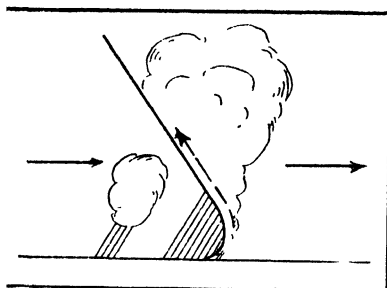
ऊपर उठती है बहुत घने निम्बस मेघ (Nimbus clouds) उत्पन्न हो जाते हैं और फलस्वरूप घनी वर्षा या बर्फ गिरने लगती है। जैसे ही हम गर्म भाग से उत्तर पूर्वीय भाग की ओर बढ़ते हैं तो गर्म वृत्तांश में वर्षा देने वाले निम्बस मेघ (Nimbus clouds) या निम्बो स्ट्रेटस मेघ (Nimbo-stratus clouds) मिलते हैं



चित्र ३४—गर्म सीमान्त पर ऊपर की ओर गर्म हवा का उठाव

इससे कुछ ऊँचाई पर बहुत अंधियारे आल्ट्रो स्ट्रेटस मेघ (Altro-stratus clouds) पाये जाते हैं तत्पश्चात् सिर्रो-स्ट्रेटस (Sirro-stratus) मेघ और अंत में तूफान के सामने सिरस मेघ (Cirrus clouds) हल्के पंख की तरह फैले होते हैं।

उत्तर पश्चिमी या ठंडे वृत्तांश में ठंडी हवा, गर्म हवा को नीचे की ओर से ढकेलती है और यद्यपि बादल बन जाते हैं लेकिन बादल और वर्षा बहुत सीमित होते हैं। क्यूमूलो-निम्बस मेघ (Cumulonimbus clouds) यहां पर छाये रहते हैं और घनी वर्षा करते हैं। गरज और बिजली की चमक के साथ-साथ तूफान भी आता है। ठंडी हवाओं के कारण तापक्रम लगातार घटता रहता है।



चित्र ३५—शीत सीमान्त पर गर्म हवा का ऊपर की ओर चलना

शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात (Temperate cyclone) के आगमन की सूचना निम्न बातोंसे मिलती है :—

(१) पंख जैसे सिरस मेघ आकाश पर पतले सफेद पदों के समान फैल जाते हैं और पश्चिम क्षितिज से ऊपर फैलते हुये नीले आकाश को दूध के रंग के समान कर देते हैं।

(२) सफेद बादलों के लम्बे पतले टुकड़े एक दूसरे के समानान्तर फैले रहते हैं और क्षितिज के किसी बिन्दु से अर्द्ध-

व्यास की तरह फैल जाते हैं।

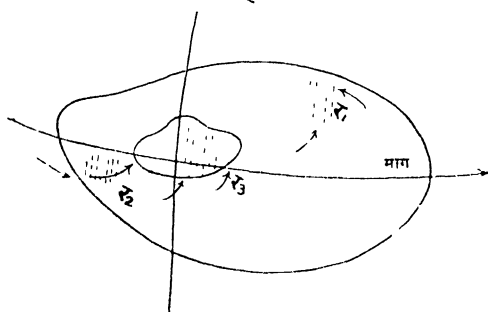
(३) बैरोमीटर में पारा उतरने लगता है।

(४) हवा की दिशा बदलने लगती है ।

(६) सूर्य या चन्द्रमा के चारों ओर प्रकाशवृत्त (Halo) बन जाता है । जैसे ही चक्रवात (Cyclone) पहुँचता है, हल्की जल फुहार होती है जो कि घनी वर्षा में परिणत हो जाती है । हवा की शक्ति और गति दोनों ही बढ़ जाते हैं । गर्म सीमान्त (Warm front) पर पहुँचते ही बैरोमीटर (Barometer) में पारे का गिरना बढ़ हो जाता है एवं वर्षा भी समाप्त हो जाती है । आकाश स्वच्छ और ऋतु सुहावनी होने लगती है । इससे यह प्रतीत होता है कि चक्रवात (Cyclone) आ पहुँचा है और मौसम भी तब तक स्वच्छ रहता है जब तक कि गर्म वृत्तांश नहीं गुजर जाता । तत्पश्चात् तुरन्त ही तापक्रम गिरने लगता है और आकाश में बादल बन कर वर्षा करने लगते हैं । इससे शीत सीमान्त (Cold front) की दशा का भान होता है । वर्षा के साथ ओले पड़ने के अतिरिक्त गर्जना होती है और बिजली चमकने लगती है लेकिन शीघ्र ही वर्षा बंद होकर आकाश स्वच्छ होने लगता है ।

ऋतु का अध्ययन करने के लिये, शीतोष्ण कटिबंधीय चक्रवात (Temperate cyclone) का तीन भागों में अध्ययन किया जा सकता है जो कि नीचे के चित्र में r_1 , r_2 , r_3 द्वारा अंकित किये

गये हैं । r_1 की दशा में गर्म हवा का पथ ठंडी हवा के ऊपर होता हुआ रुक रुक कर होने वाली वर्षा करता है । r_2 की दशा में पश्चिमी ठंडी हवायें दक्षिणी गर्म भाग के नीचे होकर गुजरती हैं और दक्षिणी पश्चिमी हवाओं का स्थान ले लेती हैं । फलतः घनी वर्षा होने लगती है ।



चित्र ३६—अधिक विकसित शीतोष्ण चक्रवात में मौसम

r_3 की दशा में जो कि सीधे

सामने के वृत्तांश से बाये निचले वृत्तांश तक विस्तृत है, वर्षा लगातार होती है क्योंकि यहां पर गर्म हवायें दक्षिण से चला करती हैं ।

सीमान्त मिलन (Occlusion) —सीमान्तीय (frontal) गर्तचक्र साधारणतया थोड़े समय तक रहते हैं क्योंकि ठंडी हवा जो पश्चिम से आती है प्रत्येक समय गर्म हवा को स्थानान्तर करती रहती है । इसके फलस्वरूप गर्म भाग का विस्तार लगातार कम होता जाता है । धीरे-धीरे एक वह समय आता है जबकि शीतल वायु गर्म वायु से मिल जाती है । उस समय चक्रवात विलीन हो जाता है । शीतल और गर्म वायु का यह सम्मिश्रण सीमान्त मिलन (Occlusion) के नाम से पुकारा जाता है । इससे तीसरे प्रकार के सीमान्त का जन्म हो जाता है जिसे मिलन सीमान्त (Occluded Front) कहते हैं ।

इस प्रकार के सीमान्त (Front) की २ विशेषतायें हैं :

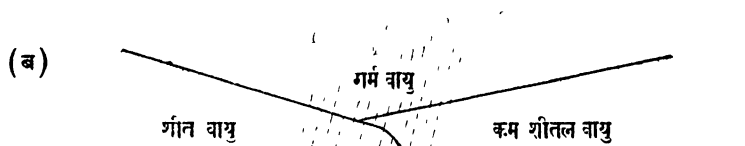
(१) शीतल और गर्म वायु के सम्मिश्रण के कारण मिलन सीमान्त (Occlu-

ded front) पर सामान्यतया वर्षा होने लगती है।

(२) मिलन सीमान्त (Occluded front) के दोनों ओर के तापक्रमों में सदा अंतर होता है।

(३) मिलन सीमांत (Occluded front) के विकास में ३ प्रकार की वायु-ठंडी, गर्म और अधिक ठंडी वायु स्थित रहती है। इन वायुसमूह की व्यवस्था के अनुसार मिलन सीमान्त (occluded front) या तो गर्म होता है या शीत।

शीतल प्रकार के सीमान्त मिलन (Occlusion) का जन्म उस समय होता जब घनी शीतल वायु समूह, गर्म वायु के भाग में चली जाती है। इस से दोनों ही प्रकार की वायुराशि गर्म तथा शीतल ऊपर को उठती हैं।



चित्र ३७—(अ) शीतल और गर्म सीमान्त

(ब) शीत सीमान्त मिलन (Occlusion)

(स) गर्म सीमान्त मिलन (Occlusion)

फलस्वरूप शीतल तथा गर्मवायुराशि आपस में मिल जाती हैं और दोनों के मध्य में गर्म हवा नांद की तरह उठ जाती है।

गर्म सीमान्त मिलन नितांत विरुद्ध अवस्थाओं में होता है। गर्म वायु के आगे शीतल वायुराशि होती है और कम ठंडी हवा इसके समीप आती होती है। कम घनी होने के कारण उष्ण हवा को ऊपर उठा देती है और शीत वायु के सीमान्त पर ले जा कर ठहरा देती है। इस प्रकार गर्म हवा फिर दुबारा शीतल और कम ठंडी वायु के बीच में पड़ जाती है। कम ठंडी हवा गर्म हवा को धक्का देती है और घनी शीतल वायु को पार कर जाती है।

विरुद्ध चक्रवात

जैसा कि नाम से प्रतीत होता है विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclones) चक्रवातों (Cyclones) के नितान्त विपरीत हैं। यह वह हवाये हैं जो कि अधिक दबाव के केन्द्र से बाहर की ओर बहती हैं। समभार रेखाओं (Isobars) की यह एक ऐसी अंडाकार व्यवस्था है जिसमें सबसे उच्चभार रेखा केन्द्र पर होती है। हवाये केन्द्र से बाहर की ओर चलती हैं और उनका चलन उत्तरी गोलार्द्ध में घड़ी की सुइयों के समान एवं दक्षिणी गोलार्द्ध में घड़ी की सुइयों के विपरीत होता है। परन्तु विरुद्ध चक्रवातों (Anti-cyclones) के विषय में ज्ञान अभी तक अपूर्ण है और ब्रूट (Brunt) के अनुसार हमारा अधिकतर ज्ञान केवल एक अनुमान मात्र है।

विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclone) की साधारण विशेषताये और उसकी रचना निम्नलिखित हैं :—

(१) विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclone) दो चक्रवातों (Cyclones) के मध्य स्थित रहता है जिसकी दिशा अनिश्चित होती है। इसका प्रवाह भी अनिश्चित रहता है। यह कभी आगे की ओर चलता है कभी पीछे हट जाता है अथवा कभी-कभी बहुत समय तक एक ही स्थान पर स्थिर रह जाता है।

(२) समभार रेखाये (Isobars) केन्द्र के समीप काफी दूर दूर होती है। तापक्रम में भी भिन्नता दिखाई देती है।

(३) हवाये हल्की और धीमी होती हैं। वे कभी भयकर नहीं होती और केन्द्र पर अस्थिर तथा शांत हवाये रहती हैं।

(४) साधारण हल्की हवाये होने के कारण, उन प्रदेशों में स्थानीय हवाओ यानी स्थल और समुद्री हवाओ का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(५) विरुद्ध चक्रवात के साथ-साथ अधिकतर शीतल और गर्म तापीय लहरों का भी अनुभव होता है।

(६) विरुद्ध चक्रवात के अंतर्गत स्थानीय वर्षा होती है।

(७) यह अधिक विस्तृत होता है और इसकी गति २० से ३० मील प्रति-घंटा तक होती है।

विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclone) में साधारण ऋतु—अधिकतर विरुद्ध चक्रवात का मौसम राफ और शुष्क होता है। इसके केन्द्र के समीप ऋतु की भिन्न-भिन्न दशाएँ मौसम पर निर्भर रहती हैं। इसके किनारों पर मौसम हवा के रुख व प्रदेश पर निर्भर रहता है।

विरुद्ध चक्रवात के मध्य अथवा केन्द्र में हवा और बादलों का अभाव होता है। बहुधा हवा ऊपर की ठंडी परतों से उसकी ओर बहा करती है। उत्तर में दबाव के कारण गर्म हो जाने से वे अधिक वाष्प लेते हैं लेकिन वर्षा के अयोग्य होती हैं। इस प्रकार आकाश साफ रहता है। जहाँ तहाँ क्षितिज पर धुंधलापन दृष्टिगोचर होता है। ग्रीष्म ऋतु में दिन गर्म होते हैं लेकिन शरद ऋतु में विकिरण द्वारा त्यागी हुई गर्मी से घना कुहरा बन जाता है, जो कि दूसरे दिन तक लगातार बना रहता है।

पतझड़ के शुरू में ये धुंध और ओस बहुत घंटों तक बनी रहती है—सूर्य के निकलने के बाद तक। परंतु ग्रीष्म ऋतु के मध्य में ये सूर्योदय के बाद शीघ्र ही लुप्त हो जाते हैं।

संक्षेप में, विरुद्ध चक्रवात का मौसम ग्रीष्म ऋतु में अच्छा और शांत तथा शरद ऋतु में कुहरे तथा पाले से भरा रहता है।

विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclone) के प्रकार—हांजलिक (Hanzlik) ने यूरोप में विरुद्ध चक्रवातों के अध्ययन के आधार पर दो भिन्न प्रकारों का निश्चय किया है।

(१) शीत विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclone) जो कि चक्रवात (cyclone) का पूरक भाग है, उन स्थानों पर उत्पन्न होता है जहाँ पर अधिक ठंड होती है। वहाँ पर शीत के कारण उच्च वायुमार्ग विकसित होता है। साइबेरिया और मध्य एशिया इस प्रकार के उदाहरण हैं जहाँ पर विरुद्ध चक्रवात (Anti-cyclones) विकसित होते हैं और स्थायी रूप से रहते हैं। ये चक्रवात (cyclone) के पृष्ठ भाग में शीत ध्रुवीय हवा के दक्षिण की ओर बहने के कारण उत्पन्न होते हैं।

(२) उष्ण विरुद्ध चक्रवात (Warm Anti-cyclone) उपोष्णीय उच्च भार प्रदेशों में विकसित होते हैं क्योंकि समतापमण्डल में बहुत ऊँचाई में नीचे की ओर आती हुई हवा उष्ण और सूखी हो जाती है। दबाव के कारण वायुभार भी बढ़ जाता है। लेकिन ये विरुद्ध चक्रवात अस्थायी होते हैं और उनके पश्चिमी वृत्तांश में ठंडी पृथ्वी के सम्पर्क से घना कुहरा बन जाता है। यह कुहरा बाद में बादल बन जाता है जो कि इतना नीचा होता है कि सदा अंधकार बना रहता है।

हमफ्रेज (Humphreys) उत्पत्ति के अनुसार विरुद्ध चक्रवातों को निम्न-लिखित ३ भागों में विभाजित करते हैं :

- (१) घर्षणीय (Mechanical) :
- (२) विकरणीय (Radiational) और
- (३) तापीय (Thermal)

घर्षणीय विरुद्ध चक्रवात (Mechanical Anti-cyclones)—केन्द्रीय दबाव के कारण पश्चिमी हवायें विषुवत रेखा पर पृथ्वी के उभड़े हुए भाग के ऊपर की ओर चढ़ने लगती और ध्रुव की ओर चलने लगती हैं। फलतः ३०° से ३५° अक्षांश के पास के कटिबंध पर घर्षणीय संकुचन (Mechanical Squeeze) उत्पन्न हो जाता है और उच्चभार क्षेत्र बन जाता है जो कि सागर पर अधिक प्रभावशाली होता है। ये विरुद्ध चक्रवात अस्थिर होते हैं।

विकरणीय विरुद्ध चक्रवात (Radiational Anti-cyclones)—अंटार्कटिका और ग्रीनलैंड में निम्न कारणों से सदैव उच्चभार बना रहता है—

- (१) अधिक ऊँचाई।
- (२) स्वतन्त्र विकिरण (Radiation)।

ये विरुद्ध चक्रवातों के केन्द्र बन जाते हैं, जो स्थायी होते हैं।

परन्तु शरद ऋतु में, ऊँचे तथा बरफ से ढके हुए प्रदेशों के कारण, विकिरण से उत्पन्न अस्थायी विरुद्ध चक्रवात उत्पन्न हो जाते हैं।

तापीय विरुद्ध चक्रवात (Thermal Anti cyclones)—यह अर्द्ध-स्थायी प्रकृति के होते हैं। सागरीय क्षेत्रों में समतापक्रम के कारण, अधिक दबाव उत्पन्न हो जाता है। सतह के पानी का तापक्रम ठंडी धाराओं द्वारा कम हो जाता है और वहाँ पर विरुद्ध चक्रवात के उच्चभार केन्द्र विकसित हो जाते हैं। बरम्यूडाज़ तथा न्यूजीलैंड को छोड़कर तापीय विरुद्ध चक्रवात (Thermal Anti-cyclones) और घर्षणीय विरुद्ध चक्रवात के प्रदेश एक ही हैं।

वायुमण्डल में नमी

वायु में सदैव जल-वाष्प होता है जो वायु के महत्त्वपूर्ण अंगों में से एक है। यह वायु के तापक्रम को सुधारता है तथा संसार के प्राणी जीवन पर प्रभाव डालता है। वायुमण्डल में नमी के प्रधान स्रोत सागर, वनस्पति तथा छोटी-छोटी झीलें हैं। इन पर लगातार वाष्पीभवन (Evaporation) होता रहता है तथा पानी जल-वाष्प के रूप में वायु में मिलता रहता है।

चूँकि वाष्प भारी होती है, यह वायुमण्डल के केवल निचले प्रदेशों तक ही सीमित रहता है अर्थात् केवल ६,००० फीट की ऊँचाई तक पहुँच पाता है, परन्तु जल वाष्प की मात्रा भिन्न-भिन्न स्थानों पर तथा भिन्न-भिन्न समयों पर बदलती रहती है। वायुमण्डल में नमी की मात्रा में भिन्नता निम्न पर निर्भर है : - (१) सागर अथवा जल-समूह से सनीपता (२) वायु का तापक्रम तथा (३) स्थल की प्राकृतिक बनावट। अन्तिम तत्त्व सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह महाद्वीपों के अन्दर तक नम हवा को पहुँचा देता है। वायु का तापक्रम भी अधिक महत्त्व का है। हवाये जितनी भी अधिक गरम होगी, उतनी ही अधिक इनमें जल-वाष्प को ग्रहण करने की शक्ति होगी। वारतविक रूप में तो वायु में जल-वाष्प तभी तरु होता है जब तक यह गरम होती है। जैसे ही गर्मी समाप्त हो जाती है, जल-वाष्प पानी का रूप ग्रहण कर लेता है। तापक्रम के बढ़ने से वायु अधिक नमी को ग्रहण कर सकती है। वह सतह अथवा बिन्दु जब वायु नमी को नहीं ग्रहण कर सकती सतृप्त-तल (Level of Saturation) अथवा ओस बिन्दु (Dew point) कहलाता है। यदि इस बिन्दु से कम तापक्रम हो जाता है तो जल-वाष्प, पानी के कणों में घनीभूत हो जाता है। जब वायु में नमी की पूर्ण मात्रा होती है इसको सतृप्त (Saturated) कहते हैं।

आद्रता (Humidity)—वायुमण्डल में जल वाष्प के वास्तविक परिमाण को वास्तविक आद्रता (Absolute Humidity) कहते हैं। इसकी माप औसतों में प्रति घन गज के अनुसार की जाती है। कभी-कभी इसका मापन ग्रेस में वायु के प्रतिघन फुट के अनुसार किया जाता है। जैसे ही हम विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ते हैं वास्तविक आद्रता (Absolute Humidity) कम होती जाती है। विषुवत् रेखा पर वास्तविक आद्रता २० मिलीमीटर होती है परन्तु ध्रुवों पर यह केवल एक मिलीमीटर होती है जबकि तापक्रम उच्च होता है तथा साथ में विस्तृत जल समूह होते हैं, तो वास्तविक आद्रता भी सबसे ज्यादा होती है। कुछ रेगिस्तानों में भी वास्तविक आद्रता अधिक होती है—सहारा रेगिस्तान में यह मिलीमीटर है।

वायुमण्डल में नमी की पूर्ण शक्ति की तुलना में वायुमंडल में उपस्थित नमी के प्रति-शतांश (Percentage) को सापेक्ष आर्द्रता (Relative Humidity) कहते हैं। वायुतापक्रम के परिवर्तन के साथ वायु की नमी को रखने की शक्ति भी बढ़ जाती है तथा सापेक्ष आर्द्रता भी इससे प्रभावित होती है। यह सागरों पर अधिक तथा महाद्वीपों पर कम होती है। यह रेगिस्तान क्षेत्रों पर भी बहुत कम होती है। सहारा रेगिस्तान पर यह केवल १०% है। इसी कारण से सहारा रेगिस्तान पर अधिक वास्तविक आर्द्रता होते हुए भी वर्षा नहीं होती। सच तो यह है कि वास्तविक आर्द्रता केवल जल वृष्टि (Precipitation) के परिमाण को निश्चित करती है तथा सापेक्ष आर्द्रता ही यह करती है कि किसी स्थान पर वृष्टि होगी या नहीं। यह ऋतु के प्रकार को भी निश्चित करती है। वाष्पीभवन (Evaporation) भी सापेक्ष आर्द्रता पर निर्भर है। यह वाष्पीभवन का परिमाण तथा दर निश्चित करती है।

वायुमंडल में जलवाष्प का परिमाण हमेशा बदलता रहता है। जलवाष्प की मात्रा से संबंधित दो तथ्य हैं—वाष्पीभवन (Evaporation) जो गर्मी ग्रहण करने के कारण होता है तथा घनीभवन (Condensation) जो गर्मी के हीन होने से होता है। पानी गरम होने पर गैस रूप धारण कर लेता है जबकि जलवाष्प ठंडे होने पर अपने प्रथम रूप अथवा पानी के रूप में परिणत हो जाता है।

वाष्पीभवन (Evaporation) गर्मी की प्राप्ति है। जबकि जल किसी विशेष तापक्रम पर गरम हो जाता है यह गैस रूप धारण कर लेता है तथा वायुमंडल में जल वाष्प बन कर मिल जाता है। इसमें गुप्त ताप (Latent heat) होता है, जो उस समय उत्पन्न होता है, जबकि घनीभवन (Condensation) क्रिया होने लगती है तथा जल वाष्प एक बार पुनः जल रूप में परिणत हो जाता है। इसी कारण से वायु का गुप्त ताप वाष्पीभवन के कारण बढ़ जाता है।

जल वाष्प का जल रूप में परिवर्तित हो जाना घनीभवन (Condensation) कहलाता है। घनीभवन (Condensation) गर्मी के हीन होने से उत्पन्न होता है। यह निम्न तीन विधियों में से किसी एक द्वारा होता है।

(१) वायु की परतें ठंडे धरातल के संपर्क में आती हैं तथा ठंडी हो जाती हैं।

(२) गरम हवा ऊपर को उठती है तथा अत्यधिक ऊपर उठने पर ये फैल जाती है। फैलने के कारण ये ठंडी हो जाती है। तापक्रम के गिरने की दर प्रत्येक एक हजार फीट पर 5.6° फा० है।

(३) वह हवा जो गरम प्रदेशों से आती है बहुधा ठंडे प्रदेशों की वायु धाराओं से मिल जाती है और इन हवाओं के भिन्न-भिन्न तापक्रम पर मिल जाने के कारण गरम हवा की जलवाष्प ग्रहण करने की शक्ति कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त यदि इनमें से कोई सी धारा भी संतृप्त हुई तो परस्पर मिश्रण व मिलन द्वारा वह अवस्था आ जाती है, जब उनमें जलवाष्प संतृप्ता से अधिक हो जाती है।

अतः घनीभवन (Condensation) द्वारा तापक्रम तथा वायु के विस्तार में सुधार हो जाता है। यानी तापक्रम घट जाता है तथा विस्तार सम रहता है अथवा तापक्रम सम रहता है और वायु का विस्तार घट जाता है। एक तीसरी अवस्था वह

भी हो सकती है जब तापक्रम तथा वायु विस्तार दोनों ही बदल जाते हैं और इस प्रकार दोनों मिलकर वायु की वाष्प ग्रहण शक्ति को कम कर देते हैं।

घनीभवन उस समय प्रारम्भ होता है जब संतृप्त (Saturated) वायु समूह ओस बिन्दु (Dew-point) पर पहुँच जाता है। यह अवस्था वायुमंडल की सापेक्ष आर्द्रता से अत्यधिक संबंधित है। यदि सापेक्ष आर्द्रता अधिक होती है तो गर्मी के कुछ ही कम होने के साथ वायु ओस बिन्दु पर पहुँच जायेगी। दूसरी ओर यदि सापेक्ष आर्द्रता कम हुई तो वायु के तापक्रम को अत्यधिक कम होना पड़ता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रभावशाली घनीभवन क्रिया निम्न बातों पर निर्भर है :—(१) वायुमंडल का ठंडा होना अथवा वायु तापक्रम का गिरना तथा (२) वायुमंडल की सापेक्ष आर्द्रता का परिमाण। इसी कारण से शुष्क क्षेत्रों में घनीभवन क्रिया के लिए अत्यधिक निम्न तापक्रम चाहिए।

इसके अतिरिक्त घनीभवन के लिए वायुमंडल अथवा पृथ्वी के धरातल पर ऐसे केन्द्र (Nuclei) की आवश्यकता होती है जहाँ कि पानी की बूँदें रह सकती हैं। जबकि हवा ओस बिन्दु पर पहुँच जाती है तो इन्हीं केन्द्रों पर जलकण लटक जाते हैं। वायु के अंदर बहुत से धूल के कण होते हैं और इनका घनीभवन में अधिक महत्त्व होता है। ये वह सूक्ष्म तल का कार्य करती हैं जिस पर नमी एकत्रित होती रहती है। इसको हम घनीभवन का केन्द्र कह सकते हैं और इस प्रकार के तत्त्व को हम हाइग्रोस्कोपिक वस्तु (Hygroscopic substance) कह सकते हैं। यदि हम एक ग्रंथियारे कमरे में सूर्य की किरणों को गुजरते हुए देखें तो ये धूल के कण हमें हवा में उपस्थित दिखाई दे सकते हैं। केवल एक ही किरण में लाखों धूल के कण दिखाई देते हैं। वर्तमान खोजों द्वारा यह ज्ञात हुआ कि घनीभवन सूक्ष्म अणुओं पर भी हो सकते हैं। यदि वायुमंडल में यह केन्द्र (Nuclei) उपस्थित नहीं होते तो घनीभवन के पश्चात् पानी परतों के रूप में नीचे गिर जाता है।

घनी भवन के पश्चात् जल वाष्प अथवा वायुमंडल में नमी निम्न में से कोई सा एक रूप धारण कर लेती है—वर्षा, तुषार, ओले, कोहरा, धुंध, ओस अथवा पाला। यदि ठंडी सतह के संपर्क के कारण यह शान्त हवा का तापक्रम ओस बिन्दु पर पहुँच गया है तो इसके फलस्वरूप इनका रूप ओस तथा जमी हुई ओस में (Hoar frost) में बदल जायगा। यदि नम हवा कम तापक्रम वाले भाग से हो कर गुजर रही है तो वहाँ पर घनीभवन शुरू हो जायगी तथा यह पाले अथवा कोहरे का रूप धारण कर लेगा। दूसरी ओर यदि हवा अधिक ऊँचाई पर फैलने के कारण ठंडी हो गई है तो इस प्रकार का घनीभवन वर्षा, ओले तथा बरफ का रूप धारण कर लेगा।

ओस तथा पाला—वायु के किसी ठंडे धरातल अथवा वस्तु पर घनीभूत होने से बनते हैं। यह एक सर्वमान्य सत्य है कि पृथ्वी दिन में गर्मी को ग्रहण करती है तथा रात्रि की गर्मी को शीघ्र विकिरण द्वारा त्याग करके ठंडी हो जाती है। अतः दिन में अधिक वाष्पीभवन (Evaporation) होता है परन्तु रात्रि के समय में वही धरातल जो अब ठंडा है, अपने सम्पर्क की हवाओं की तहों को ठंडा कर सकता है। इसका नतीजा यह होता है कि ठंडी हवा अपनी नमी को सतह पर जमा कर बेती

है, जिससे यह ओस का रूप ले लेती है। यदि वह धरातल अथवा पदार्थ जिसपर यह नमी जमा होती है इतना ठंडा होता है कि इसका तापक्रम 32° फा. से कम हो जाता है तो घनीभवन होने पर जल वाष्प जम जाता है और इस जमी हुई ओस को पाला (Hoar frost) कहते हैं।

ओस अथवा पाले के बनने के लिए निम्न दशायें आवश्यक हैं :—

(१) आकाश स्वच्छ होना चाहिए तथा वायु शुष्क होनी चाहिए ताकि विकिरण (Radiation) शीघ्र हो सके।

(२) वायु शांत होनी चाहिए अन्यथा वायुमंडल का कोई भी भाग धरातल के संपर्क में नहीं रहेगा। इस अत्यधिक लम्बे धरातल के संपर्क में रहने से ही घनीभवन होता है जो ओस का रूप धारण करता है।

ये दशायें ग्रीष्मऋतु की अपेक्षा शरद ऋतु में अधिक होती हैं। शरद ऋतु में राते दिन की अपेक्षा अधिक लम्बी होती है, अतः पृथ्वी के पदार्थों के लिए यह सम्भव होता है कि वह विकिरण द्वारा ठंडे हो सकें तथा वायु में भी ठंडे हो कर ओसबिन्दु पर पहुँचने की अधिक शक्ति होती है। ओस बंजर जमीनों की अपेक्षा घास के तिनकों तथा पेड़ों की पत्तियों पर अधिक होती है।

कोहरा तथा धुंध (Fog and Mist)—जबकि जलवाष्प से पूर्ण वायु राशि का तापक्रम एकाएक गिर जाता है तो घनीभवन वायुराशि के अन्दर ही धूल के सूक्ष्म कणों पर उत्पन्न होता है। ये पानी की बूँदें हवा में लटकी रहती हैं और अपेक्षाकृत कम ऊँचाई पर चलती रहती हैं। इसे कोहरा अथवा धुंध कहते हैं। कोहरे तथा धुंध दोनों में ही वायुमंडल धुँए से भरा दिखाई देता है। दोनों में केवल यह भिन्नता है कि कोहरे की अपेक्षा धुंध अधिक नम होता है। धुंध के अन्दर प्रत्येक धूल के कण पर नमी की घनी तह मौजूद होती है। पर्वतों पर उठती हुई गर्म हवा ठंडे धरातल से मिलती है अथवा वायु की गरम परतें ऊपर को जाकर ठंडी हो जाती हैं इसलिए वहाँ धुंध अधिक पाया जाता है। शाम के समय धुंध जलमूसहों पर बनता है क्योंकि पृथ्वी पानी की अपेक्षा अधिक ठंडी हो जाती है तथा ये पानी पर से उठने वाली वाष्प धारा को ठंडी कर देती है। यह प्रातःकाल ही लुप्त हो जाता है।

धुंध की अपेक्षा कोहरा शुष्क होता है। तथा यह उसी स्थान पर अधिक पड़ता है जहाँ पर हवा की गरम धारा ठंडी धाराओं से मिलती है। दूसरे शब्दों में कोहरा केवल वह छोटे बादल हैं जिनमें या तो धूल के कणों पर अथवा धुँए के कणों पर अथवा समुद्रों के ऊपर नमक के कणों पर घनीभवन होता है। बड़े-बड़े शहरों में पाला अधिक घना होता है चूँकि धुँआ तथा कालिख धूल के कणों को और भी अधिक घना बना देते हैं तथा आँखों में और गले में एक जलन पैदा करते हैं।

साधारणतया उत्पत्ति के अनुसार कोहरा दो तरह का होता है :—

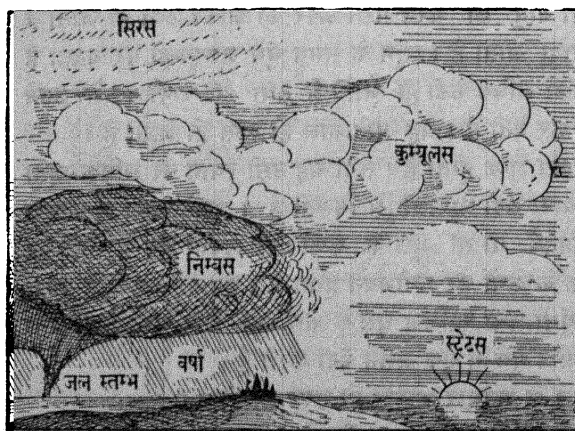
(१) विकिरण कोहरा (Radiation fog)—उस समय उत्पन्न होता है जब पृथ्वी गरम होती है परन्तु विकिरण के कारण वास्तविक धरातल ठंडा हो जाता है। अतः घनीभवन होने लगता है तथा पृथ्वी के अति समीप कोहरे बन जाते हैं। इसको स्थलीय कोहरा (Ground fog) भी कहते हैं तथा यह अधिकतर स्थल के

क्षांतरिक भाग में पाया जाता है ।

(२) स्पर्शण कोहरा (Advection fog)—उस समय उत्पन्न होता है जब ठंडी हवा उस प्रदेश में चलती है जो अपेक्षाकृत गरम होते हैं । साधारणतः इस प्रकार का कोहरा समुद्र के किनारों पर पाया जाता है पर वहाँ पर इनको हटाने के लिए कोई तेज हवायें नहीं होनी चाहिये । कनाडा के ग्रैंड बैंक्स (Grand Banks) तथा न्यूफाउंडलैंड के सहारे-सहारे इस प्रकार के कोहरे अधिक रूप से पाये जाते हैं और हिमखंड (Ice-bergs) के होने से ये और अधिक घने हो जाते हैं ।

मेघ (Clouds)—जब कि वायु का तापक्रम ओस बिन्दु से नीचे गिर जाता है यह जल-वाष्प धूल कणों पर घनीभूत हो जाता है और इस बड़े पैमाने पर घनीभवन के कारण बादल बन जाते हैं, जिनको अधिक ऊँचाई का कोहरा भी कह सकते हैं । चूँकि ये बादल पृथ्वी से कुछ ऊँचाई पर बनते हैं । ऊँचाई, फैलाव, घनत्व तथा पारदर्शता के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेते हैं । साधारणतया बादल निम्न-लिखित चार प्रकार के होते हैं ।—(१) सिरस (Cirrus) (२) क्यूमूलस (Cumulus) (३) निम्बस (Nimbus) तथा (४) स्ट्रेटस (Stratus) ।

सिरस मेघ (Cirrus)—आकाश में सबसे अधिक ऊँचाई पर होते हैं । ये पृथ्वी पर कभी-कभी ही वर्षा करते हैं । ये प्रायः ५ से ७ मील अथवा ८००० से १२००० मीटर की औसतन ऊँचाई पर होते हैं । दिन में वे सफेद परों के समान होते हैं परन्तु सूर्यास्त के बाद वे चमकदार रंग के बन जाते हैं । इनके रूप के अनुसार इनका नाम भी “घोड़े की पूंछ” (Mare's tails) रख दिया गया है । उनकी आकृति बहुत अनिश्चित होती है । चक्रवात (Cyclone) के सामने ये एक लगातार चादर के समान फैले रहते हैं जिससे आकाश दूधिया दिखाई देने लगता है । कभी-कभी ये समानांतर धारियाँ भी बना देते हैं तथा कभी-कभी ये घुंघराले बालों की तरह दिखाई



देते हैं । परन्तु ये हमेशा क्षितिज से बाहर की ओर फैले हुए दिखाई देते हैं । ये तूफानी मौसम के आगमन को सूचित करते हैं ।

ये बादल उस जल-वाष्प के घनीभूत होने से बनते हैं जो वायुमंडल की ऊपरी तहों में होता है । इसकी रचना में बरफ के छोटे-छोटे कण होते हैं । ये बादल

चित्र ३८—बादल

अधिक घने नहीं होते तथा पूर्णतया पारदर्शक होते हैं ।

क्यूमूलस मेघ (Cumulus)—की आकृति धुनी हुई रुई की तरह होती

है। यह २ से ३ मील तक की ऊँचाई पर होते हैं। इनका धरातल चपटा होता है तथा इनकी चोटी फूल के समान चौड़ी होती है और यह यहाँ-वहाँ टुकड़ों में फँसे होते हैं। क्यूमूलस (Cumulus) बादलों के दो टुकड़ों के मध्य आकाश साफ दिखाई देता है।

ये बादल उठती हुई संवाहन धाराओं (Convection Currents) द्वारा बनते हैं। गरम तथा नम दिन हवायें अधिक ऊँची उठ जाती हैं तथा ऊपर जाकर फँस जाती हैं और इनका तापक्रम गिर जाता है। अतः जलवाष्प क्यूमूलस (Cumulus) बादलों के रूप में घनीभूत हो जाता है। चूँकि हवायें ऊपरी तहों में अधिक शक्तिशाली होती हैं, इनका ऊपरी भाग उस ओर मुड़ जाता है जिधर की हवायें चल रही होती हैं।

विस्तार में ये बादल बहुत फँसे होते हैं। यदि उनकी तली एक या-दो मील की ऊँचाई पर होती है तो उनकी चोटी ३ या ४ मील की ऊँचाई पर होती है। अतः साधारणतया इन बादलों की चोटियों पर बरफ के कण जम जाते हैं तथा इनकी तली में से होकर गिरते हैं। कभी-कभी क्यूमूलस (Cumulus) बादलों से गरज वाली तूफानी दशा उत्पन्न हो जाती है।

निम्बस मेघ (Nimbus)—वर्षा करने वाले काले बादल होते हैं जो पृथ्वी के धरातल से मुश्किल से एक मील की ऊँचाई पर बनते हैं। ये अधिक घने होते हैं तथा सूर्य की किरणों के लिए अपारदर्शक (Opaque) होते हैं। कभी-कभी ये इतने नीचे होते हैं कि पृथ्वी को छूते हुए दिखाई देते हैं। ये उस घने जल-वाष्प के आकृति हीन पिंड होते हैं जिनके किनारे टेढ़-मेढ़े होते हैं।

स्ट्रेटस मेघ (Stratus)—साधारणतः काली भूरी चादर की आकृति के होते हैं जैसा कि इनके नाम से ही स्पष्ट है। इस प्रकार के बादल क्षितिज पर पाये जाते हैं तथा इनमें समानान्तर (Horizontal) तहें होती हैं।

विकिरण के कारण गर्मी के नष्ट होने तथा भिन्न-भिन्न तापक्रम पर वायु समूहों के मिश्रण से स्ट्रेटस (Stratus) बादल बनते हैं। अतः यह साधारणतः शरद ऋतु में शीतोष्ण कटिबंध (Temperate regions) में पाये जाते हैं। इन बादलों के दोनों ओर दो वायु धारायें एक दूसरे के सामानान्तर रूप में चलती हैं। जब कभी हवा का रख इनके आरपार हो जाता है तो यह छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाते हैं जिनके बीच नीला आकाश दिखाई पड़ता रहता है।

बहुधा ये बादल अन्य प्रकार के मेघ से मिश्रित हो जाते हैं और स्ट्रेटो क्यूमूलस (Strato-Cumulus) अथवा आल्टो-निम्बस (Alto-Nimbus) जैसे संयुक्त रूप धारण कर लेते हैं। इन बादलों से घनीभूत जल-वाष्प कण वर्षा की बूंदों के रूप में गिरने लगते हैं। जब कभी भी आकाश में बादल होते हैं एक प्रकार की वृष्टि हो जाती है परन्तु यह दूसरी बात है कि जब ये गरम शुष्क हवा में से नीचे की उतरती है हम उसे पृथ्वी पर अनुभव नहीं करते। इसका बहुत अधिक भाग दोबारा भाप बनकर ऊपर उड़ जाता है। यह हवा इसको दुबारा ऊपर ले जाती है। इस प्रकार वृष्टि (Precipitation) तथा मेघाच्छन्नता (Cloudiness)

आपस में संबंधित हैं ।

मेघाच्छिन्नता (Cloudiness) अक्षांशों के समानान्तर वितरित है तथा यह विषुवत् रेखा पर सबसे अधिक होती है । सबसे कम मेघाच्छिन्नता कर्क तथा मकर रेखा पर, तथा विशेष रूप से 15° तथा 35° अक्षांशों के मध्य होती है । 40° तथा 60° उत्तरीय दक्षिणी अक्षांशों के मध्य हमें एक दूसरा प्रदेश मिलता है जहाँ मेघाच्छिन्नता अधिक होती है । परन्तु ऊँचे अक्षांशों में मेघाच्छिन्नता पर जल तथा स्थल के वितरण, पर्वत तथा घाटियों की बनावट तथा चक्रवातों और विरुद्ध चक्रवातों का प्रभाव पड़ता है । जल की अपेक्षा स्थल पर मेघाच्छिन्नता अधिक होती है । यह पर्वतों की वायुविमुख ढाल (Leeside) की अपेक्षा वायु अभिमुख ढाल (Windward side) पर अधिक होती है । विरुद्ध चक्रवात की अपेक्षा चक्रवात में मेघाच्छिन्नता अधिक होती है ।

वृष्टि (Precipitation)—जल वाष्प के घनीभवन के पश्चात्, नमी के उत्पन्न होने को कहते हैं । साधारणतः वृष्टि (precipitation) तीन रूप धारण करती है—तुषार, ओले तथा वर्षा ।

तुषार (Snow) वृष्टि का वह रूप है जो न्यूनतम तापक्रम में घनीभवन के कारण बनता है । यदि वह तापक्रम जिसमें घनीभवन होता है, 32° फा० हिमांक से नीचा होता है तो घनी भवन के बाद की निकली हुई नमी स्फट कणों के रूप में जम जाती है । यह कण बहुधा आपस में मिल जाते हैं तथा बर्फ के परत बना देते हैं । बहुत से ऊँचे बादल इस प्रकार के कण तथा बरफ के परतों से बने होते हैं, परन्तु यह उसी समय गिरते हैं, जबकि पृथ्वी के धरातल का तापक्रम हिमांक से नीचे हो जाता है ।

कभी-कभी वर्षा की बूंदें, जो बादल से आती हैं, ठोस हो जाती हैं तथा छोटे गोल बरफ के ठोस टुकड़े का रूप धारण कर लेती हैं, तथा पृथ्वी पर इसी रूप में पहुँचती हैं । इनको ओले (Hail-stones) कहते हैं, जो ठंडी तहों से गुजरने वाले जलकणों के जमने से बनते हैं । अपने रास्ते में जल ओलों (Hail-stone) के रूप में जम जाता है ।

वर्षा (Rainfall) के लिए एक न एक तरीके से संतृप्त वायुराशि (Saturated air mass) को ठंडा होना चाहिये । इससे नमी को रखने की शक्ति नष्ट हो जाती है । हमफ्रीज के अनुसार वर्षा की व्यवस्था में चार क्रमिक अवस्थायें होती हैं ।

(१) घनीभवन (Condensation) होने के पश्चात् धूल के कणों के चारों ओर बादलों के कणों का बन जाना तथा लंबवत् संवाहन या ऊपर को उठना ।

(२) संतृप्त (Saturated) वायु ऊपर को उठती रहती है तथा इसके रास्ते में बादलों के कण अधिकाधिक छुटते रहते हैं ।

(३) ऊपर उठती हुई संतृप्त वायु में उपस्थित जल कणों पर घनीभवन होता रहता है और बहुत से जलकण आपस में मिलते चले जाते हैं ।

(४) विद्युत संचालन तथा आपस में मिलने के कारण जल कणों का विस्तार

बढ़ता जाता है तथा यह बादलों में से होकर नीचे पृथ्वी पर गिरते हैं ।

इन चार क्रमिक अवस्थाओं में पहली सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । सर्व प्रथम लम्बवत् संवाहन निम्न तीन तत्त्वों द्वारा उत्पन्न होता है :

(१) धरातल की गर्मी के कारण तापक्रम का विस्तार बन जाता है, जिससे लम्बवत् संवाहन (Convection) उत्पन्न होता है ।

(२) एक स्थान पर हवा के एकत्रीकरण के कारण भी लम्बवत् संवाहन पैदा होता है । ऐसा शीतोष्ण कटिबन्ध (Temperate regions) तथा विशेष रूप से चक्रवातों (Cyclones) के अग्रिम अर्द्ध भाग में होता है ।

(३) वायु की राशि के जबरदस्ती ऊपर उठ जाने के कारण लम्बवत् संवाहन पैदा होता है । यह या तो उस समय होता है जब (अ) हवा उच्च भूमि प्रदेशों या ठंडी हवा पर से बहने लगती है, अथवा जब (ब) ठंडी हवायें इसके नीचे से गुजरती हैं ।

वर्षा होने के लिए अत्यधिक वाष्पीभवन की आवश्यकता है तथा इसके साथ कोई ऐसा तरीका भी होना चाहिये जो कि जल-वाष्पमयी इस हवा को स्थान्तरित कर सके । दूसरे शब्दों में ऐसी हवायें होनी चाहियें जो संतृप्त वायुराशि को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जा सकें । अंत में महत्वपूर्ण बात यह भी है कि कोई साधन ऐसा होना चाहिये जो वायु के तापक्रम को कम कर सके । इस दशा को हम वायुराशि को ठंडा करना भी कह सकते हैं ।

साधारणतया वायुराशि निम्नलिखित में से किसी एक प्रकार से ठंडी होती है ।

(१) वह गरम हवा जो पृथ्वी से संवाहन धाराओं के रूप में ऊपर उठती है, अधिक ऊँचाई पर पहुँच कर फैल जाती है तथा फैलने के पश्चात् इसका तापक्रम कम हो जाता है ।

(२) गरम संतृप्त वायुराशि के रास्ते में कोई ऊँचाई आ सकती है, अतः इसको ऊँचाई पर अवश्यमेव चढ़ना पड़ता है जिससे इसका तापक्रम कम हो जाता है ।

(३) वायु ठंडे अक्षांशों की ओर बह सकती है, तथा इसका तापक्रम गिर जाता है ।

(४) गरम हवा ठंडी हवा से मिल सकती है तथा इसका तापक्रम कम हो सकता है । इस प्रकार केवल दो अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं । या तो गरम हवा जो ठंडी हवा पर इकट्ठी होती रहती है, अपेक्षाकृत ऊँची उठ जाती है तथा इसकी नमी घनीभूत हो जाती है अथवा ठंडी वायुधारा, गरम वायु की धाराओं के नीचे से होकर गुजरती है ।

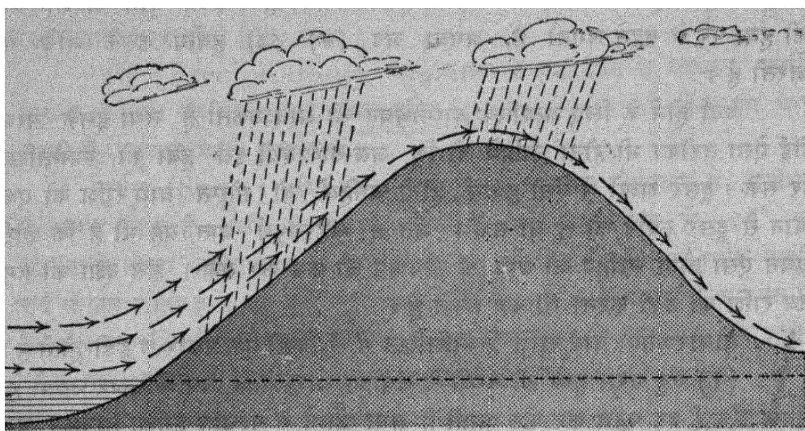
वर्षा के प्रकार—वायु के ठंडे होने की विधि के आधार पर वर्षा चार प्रकार की होती है—

(१) वाहनिक (Convectional), पर्वतीय (Orographical) अथवा बन्धुर (Relief), (३) चक्रवातीय (Cyclonic) तथा (४) तटीय (Border rain) ।

वाहनिक वर्षा (Convectional rain)—वायु गरम होने पर हल्कीहो

जाती हैं। तथा संवाहन धाराओं के रूप में वायु उठ जाती है। वायुमंडल के ऊपरी परत पर पहुँचने से यह फैल जाती है तथा इसका तापक्रम गिर जाता है और यह अपनी गरमी को छोड़ने लगती है। घनीभवन प्रारम्भ हो जाता है तथा क्यूमुलस (Cumulus) बादल बन जाते हैं। गरज तथा चमक के साथ भारी वर्षा होती है, परन्तु यह अधिक समय तक नहीं रहती। ग्रीष्म ऋतु तथा दिन के गरम भागों में वाहनिक वर्षा अधिक होती है। विषुवतरेखीय प्रदेशों में तो इस प्रकार की वर्षा एक प्रकार का नियम है। इस प्रकार की वर्षा, महाद्वीपों के आन्तरिक भाग तथा विशेष रूप से उत्तरी गोलार्द्ध में पाई जाती है।

पर्वतीय या बन्धुर वर्षा (Orographical or Relief Rain)—जब इस संतृप्त वायु राशि के सम्मुख या मार्ग में कोई पर्वत आता है, इसे जबरदस्ती ऊपर



चित्र नं० ३६—पर्वतीय वर्षा

को उठना होता है, और जैसे ही यह उठती है, यह फैल जाती है। तापक्रम गिर जाता है तथा नमी घनीभूत हो जाती है। इस प्रकार की वर्षा की खास विशेषतायें यह हैं कि इसमें केवल वायु अभिमुख ढालों (Windward Slope) को ही जल मिल पाता है। वायु अभिमुख ढाल (windward Slope) पर वर्षा करने के पश्चात्

जब ये हवाएँ दूसरे ढाल पर पहुँचती हैं तो उन्हें नीचे उतरना होता है तथा दबाव के कारण उनका तापक्रम बढ़ जाता है। उनमें नमी ग्रहण करने के शक्ति भी बढ़ जाती है तथा यह



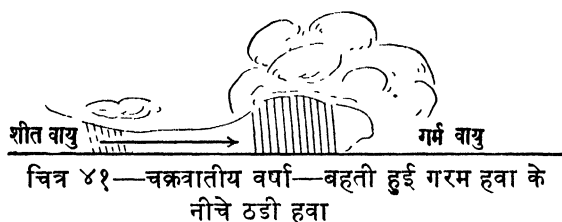
चित्र ४०—चक्रवातीय वर्षा—ठंडी हवा के ऊपर गर्म हवा का उठना

वायु विमुख (Leeward) ढाल वर्षाहीन तथा शृष्क रह जाते हैं। वायु विमुख ढाल पर बसे हुए सारे क्षेत्र को जिसमें वर्षा नहीं होती वृष्टि छाया प्रदेश (Rain

Shadow area) कहते हैं। यद्यपि इस प्रकार की वर्षा वायु के किसी भी भाग में हो सकती है, फिर भी यह प्रचलित हवाओं पर निर्भर रहती है। इस प्रकार की वर्षा ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक होती है। इसको मानसून वर्षा (Monsoon rain) भी कहते हैं।

चक्रवातीय (Cyclonic) वर्षा—एक गर्तचक्र (Depression,) के अथवा चक्रवात से सम्बन्ध रखती है। चक्रवात (Cyclone) में चारों ओर से हवाएं केन्द्र की ओर चलती होती हैं

अतः उनका तापक्रम तथा घनत्व भिन्न-भिन्न होता है। भिन्न-भिन्न तापक्रम की वायु राशि चक्रवात के केन्द्र में मिलती है तथा ठंडी हवाएँ गरम



हवाओं को ऊपर को ढकेल देती हैं, जो फँल कर ठंडी हो जाती हैं तथा नमी छोड़ देती हैं। चक्रवात के सामने तथा पीछे वाले क्षेत्र में वर्षा अधिक होती है।

पछुवा हवाओं (Westerlies) की पट्टी में इस प्रकार की वर्षा विशेषरूप से शरद ऋतु में बहुत होती है। इसकी प्रधान विशेषता यह है कि यह कभी भी मूसलाधार नहीं होती, तथा धीमी-धीमी बौछारों द्वारा होती है—पहले, उस समय जबकि चक्रवात का अग्रभाग गुजर रहा होता है, तथा दुबारा जब कि पीछे का भाग गुजर रहा होता है।

तटीय वर्षा (Border Rain)—शरद ऋतु में गर्म सागरीय वायु के ठंडे स्थल पर से गुजरने पर होती है। सम्पर्क के कारण वायु भी ठंडी हो जाती है तथा घनीभवन होना प्रारम्भ हो जाता है। यह वर्षा साधारणतः तटीय क्षेत्रों तक ही सीमित रहती है—केवल तटों से कुछ ही मील अन्दर तक। अतः इसको तटीय वर्षा (Coastal rain) भी कहते हैं। इस प्रकार की वर्षा अधिकतर आस्ट्रेलिया में पाई जाती है।

वर्षा की माप तथा इसकी सामान्य विशेषतायें—किसी भी विशेष स्थान की पूर्ण वर्षा का या तो इंचों में या मिलीमीटर में मापन होता है। वृष्टिमापक यन्त्र (Rain gauge) इसके लिए विशेष प्रयोग में लाया जाता है, जिससे किसी स्थान विशेष की पूर्ण वर्षा का अन्वाजा होता है। इस यन्त्र की सहायता से किसी स्थान की दैनिक वर्षा का मापन होता है, इसके पश्चात् इसका औसत निकाला जाता है। इससे हमको औसत मासिक वर्षा का ज्ञान होता है, और इससे हम वार्षिक औसत वर्षा (Mean annual rainfall) निकाल सकते हैं। इस औसत वार्षिक वर्षा को नक्शों पर समवृष्टि रेखाओं (Isohyets) द्वारा अंकित किया जाता है। सम-वृष्टि रेखाएँ (Isohyets) वह कल्पित रेखाएँ हैं जो उन स्थानों से गुजरती हैं जिनकी वार्षिक औसत वर्षा समान होती है।

संसार की वार्षिक औसत वर्षा के नक्शे का अध्ययन करने से हमको

निम्न ज्ञान प्राप्त होता है ।

(१) जैसे-जैसे हम विषुवत् रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ते हैं, वर्षा लगातार कम होती जाती है ।

(२) महाद्वीपों के आन्तरिक भागों की अपेक्षा संसार के तटीय क्षेत्रों में अधिक वर्षा होती है ।

(३) विषुवत् रेखा के उत्तर तथा दक्षिण की ओर ३५° तथा ४०° अक्षांशों के बीच वर्षा पूर्वी तटों पर अधिक होती है और जैसे-जैसे हम पश्चिम की ओर बढ़ते जाते हैं यह कम होती जाती है ।

(४) विषुवत् रेखा के उत्तर तथा दक्षिण ४५° और ६०° अक्षांशों के मध्य पछुवां हवाओं (Westerlies) से वर्षा होती है । अतः सर्वप्रथम वर्षा महाद्वीपों के पश्चिमी भाग में होती है और जैसे-जैसे हम पश्चिम से पूरब की ओर बढ़ते जाते हैं यह कम होती जाती है ।

(५) जहाँ-जहाँ पर पर्वत श्रेणियाँ तटों के समानांतर हैं, वर्षा तटीय मैदानों तथा वायु-अभिमुख (Windward) ढालों पर अधिक होती है और जैसे-जैसे हम वायुविमुख ढाल (Leeward side) की ओर बढ़ते हैं यह कम होती जाती है, तथा ये प्रदेश वृष्टिछाया (Rain Shadow) के क्षेत्र बन जाते हैं ।

(६) वाष्पीभवन (Evaporation) की अधिकता के कारण संसार के स्थल क्षेत्रों की अपेक्षा वर्षा सागरों पर अधिक होती है ।

संसार की वर्षा की दूसरी विशेषता यह है कि विषुवत् रेखीय प्रदेशों से, ऊष्णकटिबंध (Tropics) में तथा मानसूनी क्षेत्रों में वर्षा का प्रधान कारण संवाहन विधि (Convection) है जबकि शीतोष्ण प्रदेशों में चक्रवातों द्वारा वर्षा होती है । इन दोनों प्रकार के प्रदेशों में स्थल की बनावट का भी अपना स्थान होता है, परन्तु इसका दूसरे की अपेक्षा पहले प्रकार के क्षेत्र में अधिक महत्त्व है । विषुवत् रेखीय वर्षा पूर्णतः वाहनिक है तथा ऊष्णकटिबंधीय वर्षा वाहनिक तथा चक्रवातीय दोनों ही है । मानसूनी वर्षा में भी संवाहन का स्थान प्रधान होता है । स्थल के ऊपर गरम हवा संवाहन धाराओं के रूप में ऊपर उठ जाती है और इस रिक्त स्थान को भरने के लिए समुद्र से हवा आती है । परन्तु इन नम हवाओं द्वारा वर्षा केवल पृथ्वी की बनावट तथा पृथ्वी के प्राकृतिक रूपरेखा पर निर्भर रहती है ।

समशीतोष्ण कटिबंध में वर्षा के लिए संवाहन विधि का अधिक महत्त्व नहीं है । वहाँ पर वर्षा अधिकतर चक्रवातों तथा गतंचक्रों द्वारा होती है । महाद्वीपों के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में वर्षा की आंकने के लिए पृथ्वी की बनावट का भी ध्यान रखना होता है । इन शीतोष्ण प्रदेशों में वर्षा के वितरण पर प्रचलित हवाओं का महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है । वर्षा तथा इसका परिमाण हवाओं के दख (जिधर से वे चल रही होती हैं) पर निर्भर रहता है । यह देखना होता है कि वे समुद्र से आ रही हैं अथवा स्थल से; वे ठंडे अक्षांशों की ओर चल रही हैं या गर्म अक्षांशों की ओर; वे पश्चिमी तटों की तरफ जा रही हैं अथवा पूर्वी तटों की ओर ।

वर्षा का परिवर्तन (Variation of Rainfall)—किसी भी स्थान

पर प्रत्येक समय के लिए वर्षा निश्चित नहीं होती। ये ऋतु ऋतु में तथा एक ही दिन में प्रत्येक घंटे में अलग-अलग होती हैं। अतः वर्षा का परिवर्तन दो प्रकार का होता है :—

(१) दैनिक परिवर्तन (Diurnal Variation) तथा (२) मौसमी परिवर्तन (Seasonal Variation)।

उष्ण कटिबंधीय तथा विषुवत् रेखीय प्रदेशों में प्रत्येक दिन सबसे अधिक वर्षा शाम के समय होती है, जबकि तापक्रम सबसे अधिक होता है। यह इसलिए होता है क्योंकि वहाँ पर वर्षा प्रधानतः वाहनिक होती है। तापक्रम के परिवर्तन तथा जल स्थल के असमान गरम होने के कारण सागरीय क्षेत्रों में सबसे अधिक वर्षा रात्रि के समय होती है जब वे अपेक्षाकृत अधिक गरम होते हैं। शीतोष्ण प्रदेशों में वर्षा दिन के दूसरे भागों की अपेक्षा सुबह के समय अधिक होती है।

वर्षा के मौसमी परिवर्तन (Seasonal Variation)—(१) सूर्य के प्रत्यक्ष भ्रमण तथा (२) प्राकृतिक हवाओं की प्रकृति तथा रुख पर निर्भर रहता है।

उष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में विषुवत् रेखा के दोनों ओर कर्क रेखा व मकर रेखा के बीच—वर्षा अधिकतर वाहनिक (Convective) होती है, जबकि सूर्य पूर्णतः लम्बवत् चमकता है। इसी प्रकार से जबकि सूर्य सबसे नीचे होता है वर्षा सबसे कम होती है। साल भर में सूरज विषुवत् रेखा तथा मकर रेखा अथवा कर्क रेखा के बीच दो बार चक्कर लगा लेता है एक बार जब यह अयन रेखाओं (Tropics) की ओर चलता है, दूसरी बार जब वह उधर से वापिस होता है। अतः वहाँ पर वर्षा की दो ऋतुएँ होती हैं जो शुष्क ऋतुओं द्वारा पृथक्-पृथक् की जाती हैं। विषुवत् रेखा पर कोई भी शुष्क ऋतु नहीं होती जबकि अयन रेखाओं (Tropics) पर एक लंबी शुष्क ऋतु होती है तथा एक लंबी तर ऋतु होती है। अयन रेखाओं (Tropics) तथा विषुवत् रेखा के बीच दो शुष्क ऋतुएँ होती हैं—जिसमें से एक दूसरे की अपेक्षा लम्बी होती है। जबकि लंबी शुष्क ऋतु उत्तरी गोलार्द्ध में होती है तो दक्षिणी गोलार्द्ध में छोटी शुष्क ऋतु होती है तथा जब उत्तरी गोलार्द्ध में छोटी शुष्क ऋतु होती है तो दक्षिणी गोलार्द्ध में लम्बी शुष्क ऋतु रहती है।

शीतोष्ण प्रदेशों में वर्षा चक्रवातीय (Cyclonic) होती है और चूंकि चक्रवात (Cyclone) शरद् ऋतु में अधिक होते हैं, वर्षा भी ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा शरद् ऋतु में अधिक होती है। यद्यपि वर्षा गर्मियों में भी होती है परन्तु सबसे अधिक जाड़ों में होती है।

प्रचलित हवाओं का रुख तथा आने की दिशा भी मौसमी परिवर्तन (Seasonal Variation) पंदा कर देता है। मानसून प्रदेशों में ग्रीष्म ऋतु में जबकि हवायें समुद्र से स्थल की ओर चलती हैं, वर्षा सबसे अधिक होती है। उत्तरी गोलार्द्ध में शरद् ऋतु में हवायें शीतोष्ण प्रदेशों के पश्चिमी तट पर चलती हैं; तथा पूर्वी तट पर हवायें पूरबी होती हैं जो स्थल से समुद्र की ओर बहती हैं। अतः पश्चिमी तटों पर वर्षा हो जाती है तथा पूर्वी तट शुष्क और वर्षा रहित रहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में हवायें पछुआ होती हैं परन्तु ये ३०° उत्तरी अक्षांश से अधिक नहीं बढ़तीं। अतः

३०° तथा ४०° अक्षांशों के बीच पश्चिमी तटों पर हवायें उत्तर की ओर से चलती होती हैं, जिनसे वर्षा नहीं होती परन्तु पूर्वी तटों पर हवायें दक्षिण से आती हैं अतः वे अपने साथ में वर्षा लाती हैं।

सूर्य के भ्रमण तथा प्रचलित हवाओं के अनुसार धरातल पर वर्षा का वितरण ऋतु-ऋतु के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है।

अध्याय : : ६

जलवायु

वायुमंडल के वे प्रधान तत्व जो कि परिवर्तनशील हैं तथा जो इस पृथ्वी पर मानव-जीवन को प्रभावित करते हैं, हवा, तापक्रम, बादल, आर्द्रता (humidity) तथा वृष्टि (Precipitation) हैं। किसी भी क्षण पर इन तत्वों की दशा को ऋतु (Weather) कहते हैं। चूंकि ये अंग परिवर्तनशील हैं अतः ऋतु भी अस्थिर होती है। परन्तु ऋतु की भिन्न-भिन्न दशाओं का भिन्न-भिन्न समयों पर निरीक्षण करने से हम एक औसत निकाल सकते हैं। कई वर्षों की दशाओं के अनुभव का मध्यमान निकाल कर हम वायुमण्डल तथा ऋतुओं की औसत दशा ज्ञात कर सकते हैं। हवा, वर्षा, तापक्रम तथा आर्द्रता (humidity) की इस औसत दशा को जलवायु (Climate) कहते हैं।

आदि काल में यूनानी ज्योतिषियों ने जलवायु की परिभाषा इस प्रकार की थी—यह निश्चित समय पर तथा निश्चित वातावरण में वायुमंडल की दशाओं का अध्ययन है। वर्तमान युग के विद्यार्थी इसको वायु संबंधी भौतिक विज्ञान बतलाते हैं, तथा यह घोषित करते हैं कि इसके अन्तर्गत हम वायुमंडल की प्राकृतिक दशाओं का अध्ययन करते हैं। परन्तु वायु की प्राकृतिक दशाओं का अध्ययन न तो अधिक गूढ़ है और न विस्तृत ही। जलवायु का अध्ययन हमको उस ज्ञानके आन्तरिक प्रवेश तक नहीं पहुंचा सकता। यह वायुमण्डल के तत्वों का केवल वहाँ तक अध्ययन करता है जहाँ तक इसका मनुष्य मात्र से सम्बन्ध है या जहाँ तक यह मनुष्य को प्रभावित करता है।

जलवायु का अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है। जलवायु मनुष्य तथा उसकी कार्य-प्रणाली, स्थलकी बनावट तथा प्रधानस्थल रूपों (Topographical features) पर प्रभाव डालता है, तथा यह प्रभाव इतना अधिक व्यापक है कि संसार के किसी भी प्राकृतिक तथ्य का अध्ययन जलवायु के प्रारम्भिक ज्ञान के बिना संभव नहीं है। वनस्पति तथा जीव-जन्तु भी जलवायु पर ही निर्भर रहते हैं।

जलवायु तथा मनुष्य—मनुष्य के जीवन के प्रधान अंग—उसका भोजन, रहने का स्थान, आदतें, आर्थिक क्रियाएँ तथा उसका इधर-उधर आना जाना होता है।

संसार के कुछ भागों में मनुष्य शाकाहारी हैं तथा कुछ भागों में वे गोशत की खुराक पर निर्भर रहते हैं। वे साधारणतः पशुओं—भेड़ों, बकरियों, सूअरों तथा मछलियों का गोशत खाते हैं। ये सब जानवर वनस्पति पर निर्भर रहते हैं तथा वनस्पति पर जलवायु के अंग जैसे वर्षा, तापक्रम इत्यादि का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। यह देखा गया है कि जीव-जन्तुओं के मांस पर मनुष्य केवल उन स्थानों पर निर्भर रहता है

जहाँ पर वर्षा या तो इतनी अधिक होती है या इतनी कम है कि वहाँ पर किसी भी प्रकार की कृषि नहीं हो सकती, अथवा जहाँ तापक्रम इतना कम होता है कि किसी भी प्रकार की वनस्पति नहीं उग सकती।

मनुष्य के रहने के स्थान तथा वस्त्र की आवश्यकताएँ भी जलवायु के अंगों द्वारा ही प्रत्यक्ष रूप से निश्चित होती हैं। जबकि तापक्रम सारे वर्ष अधिक रहता है, वर्षा भी अधिक होती है, घने जंगलों की उत्पत्ति होती है। वहाँ मनुष्य, अमेजन व कांगो की घाटी में आधा नंगा रहता है तथा पेड़ों की शाखाओं में अपना घर बनाता है। टुंड्रा जैसे देशों में जहाँ पर अत्यधिक ठंड पड़ती है, वहाँ के निवासियों को कसे हुए जानवरों की खाल के वस्त्र पहनने पड़ते हैं तथा उनको उन मकानों में रहना पड़ता है जिनके रास्ते बहुत सँकरे होते हैं जिनमें से होकर ठंडी हवा अन्दर नहीं घुस सकती। रेगिस्तानी क्षेत्रों में जहाँ पर वर्षा बहुत कम होती है, मनुष्यों के मकानों की छतें समतल होती हैं। शीतोष्ण प्रदेशों में मकानों में कम खिड़कियाँ होती हैं तथा छतें खुली हुई नहीं होतीं जबकि उष्ण कटिबंध के गरम प्रदेशों में अथवा मानसून प्रदेशों में यह नियम है कि छतों का खुला होना आवश्यक है। भारतवासियों की ढीली लहराती हुई पोशाक तथा यूरोप वालों की कसी हुई पोशाक केवल जलवायु के अंगों के कारण ही हैं।

मनुष्य की साधारण आदतें जैसे उसका भोजन करने का तरीका, बाहर घूमने फिरने वाला जीवन पसंद करना अथवा क्लब का जीवन पसंद करना इत्यादि सब जलवायु के अंगों के फलस्वरूप ही होती हैं। ठंडे देशों में मनुष्य जलवायु के अनुसार पूरे कपड़े पहन कर भोजन करना पसंद करता है परन्तु गरम देशों के रहने वाले लोग कम से कम कपड़े पहन कर भोजन करना चाहते हैं। इसी प्रकार गरम देशों के लोगों के लिए यह आवश्यक है कि वह बाहर के कार्यों को पसंद करें तथा ठंडे देश के लोगों को बादल कोहरा तथा कम तापक्रम के कारण अधिक समय तक घर की चहारदीवारी के अन्दर रहना पड़ता है। फलतः वे क्लब जीवन पसंद करते हैं।

संसार के ठंडे देशों में मनुष्य के अन्दर कार्य करने की आंतरिक प्रेरणा तथा सक्रियता अधिक होती है। गरम व नम क्षेत्रों में यह प्रेरणा कम होती है, क्योंकि यहाँ पर मनुष्य सुस्त, आराम पसंद तथा आलसी हो जाते हैं। ठंडे देशों में जीवन व्यतीत करने के लिये प्रकृति के साथ टक्कर लेनी पड़ती है और इसलिए शीतोष्ण प्रदेश (Temperate regions) संसार में अधिक उन्नतिशील हो गये हैं तथा गरम प्रदेश सम्यक्ता तथा उन्नति के क्षेत्र में पिछड़ गये हैं।

वर्तमान समय औद्योगिक धंधे कच्चे माल का मिलना अथवा शक्ति के साधन पर निर्भर है। ये भी जलवायु के अंगों पर ही निर्भर रहते हैं। कृषि के कच्चे पदार्थ तो प्रत्यक्ष रूप से ही जलवायु के अंगों पर निर्भर रहते हैं। ऊन की किस्में तथा इसका मिलना भी जलवायु पर निर्भर है अर्थात् वर्षा तथा तापक्रम पर आधारित है। वह भेड़ जिसको ठंडी तथा शुष्क जलवायु में चराया गया है गरम तथा नम प्रदेश की भेड़ों की अपेक्षा उत्तम ऊन या बाल पैदा करेगी। संसार के भिन्न-भिन्न देशों में प्राप्त होने वाली धातुएँ तथा खनिज पदार्थ भी पुरानी जलवायु के कारण ही हैं।

खनिज पदार्थ अथवा धातुओं से पूर्ण किसी भी चट्टान पर आसानी से पहुँचा जा सकता है या नहीं यह भी ऋतु-प्रहार तथा अनावृत्तीकरण (Denudation) पर निर्भर रहता है। और अनावृत्तीकरण में वर्षा, ओस, सूर्य का प्रकाश, हवा इत्यादि प्रमुख हैं। संसार के हिमप्रवाहित (Glaciated) प्रदेशों में पानी की शक्ति की उन्नति की सुविधा है। इसका कारण केवल यह है कि पुराने समय में जलवायु के परिवर्तन से उन स्थानों की प्राकृतिक बनावट (Tropography) बदल गई है—(पुराने समयमें तापक्रम हिमांक से भी नीचे गिर जाया करता था।)

जनसंख्या का वितरण तथा मनुष्यों का आवागमन भी जलवायु के साधनों द्वारा ही निश्चित होता है। शीतोष्ण प्रदेशों के मैदान विषुवतरेखीय प्रदेश अथवा उष्णकटिबंधीय घास के मैदानों से भी अधिक घने बसे हुए हैं। मानसून प्रदेश तथा उनकी नदियों की घाटियों में अमेजन और कांगों की तलहटी अथवा संसार के रेगिस्तानी क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक जनसंख्या है। मातदिल या समजलवायु, जो न तो बहुत गरम होती है और न बहुत ठंडी; न अधिक नम होती है और न अधिक शुष्क, हमेशा आबादी के घनत्व में सहायक होती है। संसार की घाटियों में, घास के मैदानों में, रेगिस्तानों में, पर्वत श्रेणियों में, तथा जंगली क्षेत्रों में जनसंख्या का वर्तमान असमान वितरण केवल भूतकालीन जलवायु के द्वारा ही उत्पन्न हुआ है।

मनुष्यों का भूमंडल के एक भाग से दूसरे भाग की ओर जाना, जो एक महत्त्वपूर्ण सत्य है, केवल जलवायु के परिवर्तन के कारण ही सम्भव हुआ है, इसीसे बहुत सी जातियाँ तथा संस्कृतियाँ आपस में मिल सकी हैं। पुराने समय के चार हिम युगों (Ice ages) का मनुष्य के एक स्थान से दूसरे स्थान को हटने से प्रत्यक्ष संबंध है। प्रातिनूतन काल (Quaternary) के अंतिम हिमयुग (Iceage) में एशिया के मध्य भाग से आर्य जातियाँ इधर-उधर की गयीं तथा यूरोप में इन्होंने रोम राज्य का पतन प्रारंभ कर दिया। अतः संसार का सांस्कृतिक इतिहास भी पुराने समय के जलवायु के परिवर्तन से संबंधित है। सभ्यता के विकास तथा इतिहास को देखने से भी यह बात सत्य प्रतीत होती है। गरम जलवायु तथा गरम प्रदेशों में ठंडे देशों की अपेक्षा मनुष्य शीघ्र परिपक्व हो जाता है। इसी कारण से गरम जलवायु में सभ्यता का प्रथम विकास हुआ तथा ठंडे देशों का राष्ट्रीय विकास बहुत बाद में हुआ।

जातियों का रंग भी जलवायु पर निर्भर रहता है। गरम तथा नम जलवायु के प्रदेशों में जातियों का रंग भूरा लाल होता है परन्तु ठंडे नम प्रदेशों में मनुष्यों का रंग श्वेत-जैतून के सा होता है। इसके विपरीत गरम तथा शुष्क प्रदेशों के मनुष्य पीले रंग के होते हैं।

इसके अतिरिक्त जलवायु का प्रभाव व्यापार, वाणिज्य तथा यातायात पर भी होता है। वर्षा तथा तापक्रम से संसार के किसी भी भाग में प्राप्त होने वाली चीजों का ज्ञान होता है। चूंकि संसार के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं; मनुष्यों में पारस्परिक आदान प्रदान होना शुरू हो जाता है तथा वाणिज्य तथा व्यापार की उन्नति होती है। जल, स्थल तथा वायु यातायात के लिए सम तापक्रम तथा वर्षा की आवश्यकता होती है। इसी कारण से उन स्थानों पर जहाँ

इनमें से एक की भी अधिकता होती है यातायात तथा गमनागमन विकसित नहीं हो सका है। अधिक शुष्क तथा ठंडे रेगिस्तानों में अथवा गरम तर विषुवत् रेखीय प्रदेशों में जलवायु की कठोर प्रकृति ने सदैव यातायात तथा आवागमन के साधनों में रुकावट डाली है; इसके अतिरिक्त यातायात तथा आवागमन की उन्नति भी जलवायु के अनुसार ही होती है संसार के गरम तर क्षेत्र में अब भी मनुष्य तथा जानवरों द्वारा यातायात का काम लेते हैं जबकि शीतोष्ण प्रदेश इतने आगे बढ़ गये हैं कि वहाँ पर स्थल, जल तथा वायु यातायात में मशीनों का प्रयोग होता है।

जलवायु तथा प्राकृतिक बनावट (Topography)—ऋतु प्रहार तथा अनावृत्तीकरण (Weathering & Denudation) की संयुक्त प्रणाली द्वारा पृथ्वी के स्थलरूप बनते तथा बदलते हैं। अनावृत्तीकरण (Denudation) के प्रधान अंग-हवा, वर्षा का पानी तथा बरफ है जो कि जलवायु के ही अंग है। चट्टानों का टूटना या दोबारा बनना सूर्यताप (Insolation), हवा तथा पाले के कारण ही है। यह भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं जिनका अध्ययन हम जलवायु के साथ करते हैं। गरम प्रदेशों में शीत प्रदेशों की अपेक्षा वायुमंडल की रासायनिक क्रिया (Chemical action) चट्टानों के दुबारा बनने में सहायक होती है। तापक्रम के हर बार 10° का बढ़ने से रासायनिक विलियन (Chemical Decomposition) दूना हो जाता है। इसके अतिरिक्त जलवायु अप्रत्यक्ष रूप से पृथ्वी के धरातल की बनावट को वनस्पति द्वारा प्रभावित करती है।

जलवायु तथा ऋतुप्रहार (Weathering)—उष्ण कटिबंधीय प्रदेशों में चट्टानें अधिक गर्मी, अधिक नमी तथा वनस्पति के विनाश के कारण रासायनिक रूप से विलीन हो जाती हैं। पौधों की जड़ें अन्दर पहुँच कर बिखंडन में सहायता देती हैं। दूसरी ओर शुष्क प्रदेशों में चट्टानों का रासायनिक विलियन (Chemical Decomposition) नहीं होता क्योंकि वहाँ पर कम वर्षा तथा कम वनस्पति होती है। तापक्रम की अधिकता तथा पाले के कारण चट्टानों का बिखंडन (mechanical Disintegration) चलता रहता है। फलतः 'रेगिस्तानों' के उच्च प्रदेशों में नुकीले स्थल रूप बन जाते हैं तथा उनकी सतह पर अधिक संपात (Debris) इकट्ठा हो जाती है। यह विशेषता ध्रुवीय प्रदेशों के स्थल रूपों में भी पाई जाती है।

परन्तु ऊँचे अक्षांशों पर हिम नदियाँ (Glaciers) तथा नदियाँ बहुत सक्रिय होती हैं तथा ऋतुप्रहार के साधनों द्वारा काटे छांटे हुए पदार्थों को यह इधर से उधर ले जाती हैं तथा हिमाच्छादन (Glaciation) द्वारा यह बहुत दूर दूर तक फैला देती हैं।

जलवायु तथा अनावृत्तीकरण (Denudation)—अधिक वर्षा के कटिबन्धों में जल द्वारा आवरण अथ अधिक होता है। पहाड़ियों पर ढाल क्रमशः होता है तथा उन स्थानों की छोड़ कर जहाँ पाले का प्रभाव होता है, अधिक उबड़-खाबड़ बनावट प्रतीत नहीं होती। शुष्क कटिबन्धों में अनावृत्तीकरण (Denudation) का प्रधान साधन वायु होती है। ये हवाएं चट्टानों के टूटे हुए टुकड़ों को विस्तृत रेतीले मैदान में चारों तरफ बिखेर देती हैं।

जलवायु तथा वनस्पति—जलवायु अपने वर्षा तथा तापक्रम तत्त्वों से वनस्पति पर प्रभाव डालती है। हर प्रकार के पेड़ पौधे सूर्य की शक्ति तथा नमी के परिमाण पर निर्भर रहते हैं। इसी कारण से अधिक गर्मी तथा अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में वनस्पति की अत्यधिक उत्पत्ति होती है। इसमें अधिक तथा घनी ऊपरी वनस्पति तथा विनाशकारी घास-फूस दोनों ही होती है। परन्तु जैसे-जैसे हम इन क्षेत्रों से आगे को बढ़ते हैं और जैसे-जैसे वर्षा कम होती जाती है लम्बे पेड़ों की जगह पर विस्तृत घास के मैदान दिखाई देते हैं तथा इसके पश्चात् बंजर रेगिस्तान आते हैं जहाँ पर तापक्रम अत्यधिक होता है तथा वर्षा नहीं होती। यहाँ पर केवल कुछ काँटेदार झाड़ियाँ पैदा हो सकती हैं जिनकी जड़ें बहुत लम्बी होती हैं और जो पृथ्वी में बहुत नीचे से नमी खींचती हैं।

वर्षा के अनुसार हम पृथ्वी की वनस्पति को तीन रूपों में विभाजित कर सकते हैं। (१) सदाबहार (Perennial) वनस्पति वाला भाग अथवा जंगल, (२) वार्षिक वनस्पति (Annual Vegetation) वाला भाग अथवा घास के मैदान, तथा (३) नगण्य वनस्पति (Nominal Vegetation) वाला भाग अथवा रेगिस्तान।

जलवायु की वशाओं में स्थानीय अन्तर होने के कारण जंगल कठोर लकड़ी के सदाबहार (Evergreen hardwoods) अथवा नुकीले पत्तियों वाले सदाबहार (Evergreen Conifers) अथवा पतझड़ वाले (Deciduous) होते हैं। घास के मैदानों में लम्बे तथा गुच्छेदार घास के सवाना (Savannas) अथवा छोटी तथा अच्छी घास के प्रेरी (Prairies) अथवा शुष्क तथा भूरे स्टेपी प्रदेश (Steppes) आते हैं। रेगिस्तानों में केवल झाड़ियाँ तथा काँटेदार वनस्पति अथवा केवल काई और लिचन ही (Moss and Lichen) हो सकते हैं।

यह निम्नलिखित तालिका से प्रत्यक्ष हो जायगा :—

वर्षा की मात्रा	तापक्रम तथा इसका अत्यधिक गरम विस्तार		गर्म शीतोष्ण ठंडी शीतोष्ण	अत्यधिक ठंड
	४०" से अधिक	सदाबहार या मानसून वन	पतझड़ वाले वन	हिमाच्छादित मरुस्थल
	२०" से ४०"	उष्णकटिबंधीय घास के मैदान (सवाना)	काँटेदार झाड़ियाँ और घास के मैदान	शीत बंजर प्रदेश
	१०" से कम	शुष्क तथा उष्ण मरुस्थल	साधारण झाड़ियाँ	शीत मरुस्थल (वर्ष से ढके हुये टुन्ड्रा प्रदेश)

जलवायु पर नियन्त्रण रखने वाले प्रधान तत्व जिनपर किसी भी स्थान की जलवायु निर्भर रहती है उनमें से मुख्य ये हैं—

(१) अक्षांश स्थिति, जिन पर सूर्य की किरणों का ढाल निर्भर रहता है ।
(२) समुद्रतल से ऊँचाई, जिसमें पर्वतों की स्थिति तथा बिशा भी सम्मिलित होती है ।

(३) जल तथा स्थल का वितरण ।

(४) प्रचलित हवायें ।

(५) सामुद्रिक धारायें ।

(६) पृथ्वी के ऊपर की वनस्पति ।

(७) ज्वालामूखी विस्फोट (Vulcanism) जिस पर वायु मण्डल की रचना निर्भर रहती है ।

(८) स्थायी सूर्यताप और सूर्य के धब्बे (Solar Constant and Sun spots) ।

(९) सूर्य से दूरी ।

अक्षांश स्थिति—अक्षांश रेखाएं, सूर्य की किरणों के रूख तथा गिरने की दशा को निर्धारित करके जलवायु पर नियन्त्रण करती हैं । सूर्य की तिरछी किरणें धरातल के अधिक हिस्से पर गिरती हैं अतः उनको एक अधिक क्षेत्र को गरम करना पड़ता है । परन्तु सूर्य की लम्बवत् किरणें धरातल के थोड़े से भाग पर गिरती हैं और चूँकि इन किरणों को धरातलका एक छोटा-सा भाग ही ग्रहण करता है, यह बहुत तीव्र होती है । विषुवत् रेखा पर सूर्य की किरणें तमाम साल लम्बवत् पड़ती हैं । परन्तु हम जैसे-जैसे विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ते जाते हैं इनका झुकाव या तिरछापन बढ़ता जाता है । फलतः जितनी भी ऊँची अक्षांश स्थिति होगी सूर्य से प्राप्त गर्मी उतनी ही कम तीव्र होगी । अतः हम जैसे-जैसे विषुवत रेखा से ऊँचे अक्षांशों की ओर बढ़ते हैं, निम्नलिखित तथ्य दिखाई देते हैं ।

(१) जैसे-जैसे विषुवत रेखा से दूरी बढ़ती है तापक्रम घटता जाता है ।

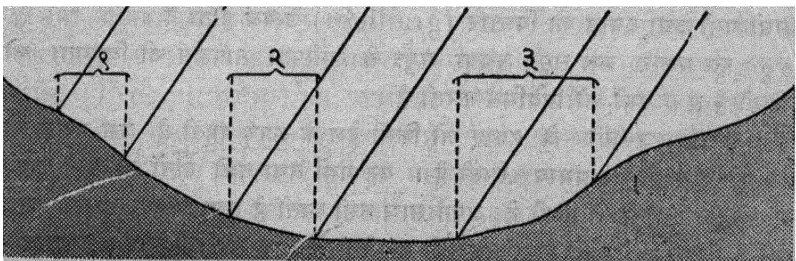
(२) जैसे-जैसे हम ऊँचे अक्षांशों की ओर जाते हैं तापान्तर या तापक्रम की भिन्नता अथवा सब से गरम और सब से ठंडे महीने के तापक्रम का अन्तर बढ़ता जाता है ।

समुद्रतल से ऊँचाई—ऊँचाई जलवायु पर भिन्न-भिन्न रूप से प्रभाव डालती है । इसका तापक्रम तथा वर्षा पर नियन्त्रण सर्व प्रधान है । यह एक माननीय सत्य है कि जैसे-जैसे ऊँचाई बढ़ती जाती है तापक्रम घटता जाता है तथा जैसे-जैसे पृथ्वी की ऊँचाई घटती जाती है तापक्रम बढ़ता जाता है । हवाओं के गरम होने तथा वायु-मण्डल के ऊपरी परतों के पतले तथा अधिक फैले हुए होने के कारण ही ऐसा होता है । इसी कारण से विषुवत् रेखीय प्रदेशों में हालाँकि पर्वत शिखर बरफ से ढके रहते हैं परन्तु इसकी तलहटी चारों ओर से गरम तथा नम जंगलों से घिरी हुई होती है ।

पर्वत श्रेणियाँ भी वर्षा के वितरण तथा वर्षा के परिमाण पर प्रभाव

डालती हैं। पर्वत माला यदि प्रचलित हवा की दिशा के साथ समकोण पर होती है तो यह नमी से भरी हुई हवाओं को ऊपर उठने के लिए बाध्य कर देती हैं तथा उनकी नमी वायुअभिमुख (Windward) ढालों पर घनीभूत हो जाती है। यह हवाएं जब वायुविमुख (Lee-ward side) पर पहुँचती हैं तो गरम तथा शुष्क हो जाती हैं और वर्षा रहित हो जाती है। इस प्रकार के क्षेत्र को वृष्टिछाया प्रदेश (Rainshadow area) कहते हैं। यह नीचे की तरफ उतरने वाली हवायें जो गरम तथा शुष्क होती हैं बहुधा बहुत लाभदायक होती हैं। चिन्नूक (Chinook) अथवा फोएन (Foehn) इत्यादि स्थानीय हवायें सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। पर्वत माला से बोरा और मिस्ट्रल (Bora & mistral) के समान ठंडी तथा शुष्क हवाएं भी उत्पन्न हो सकती हैं। पर्वत तथा घाटी पवन द्वारा भी पर्वत प्रदेश स्थानीय प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। पर्वत जलवायु की कठोर दशाओं के लिये एक प्रकार की दीवार का काम भी करते हैं तथा ये इन हवाओं को दूसरी ओर जाने से रोकते हैं। पर्वत श्रेणियों का रक्षक प्रभाव हम एशिया के हिमालय तथा यूरोप के आल्प्स द्वारा भली प्रकार समझ सकते हैं। हिमालय उत्तरी भारत के मैदानों की तथा आल्प्स भूमध्यसागरीय प्रदेश की रक्षा करता है। इन्हीं के कारण उत्तर की ठंडी हवा दक्षिण की ओर नहीं पहुँच पाती। चूँकि उत्तरी अमरीका में कोई ऐसी रक्षक दीवार नहीं है अतः इस सारे महाद्वीप को उत्तरी शीत हवाओं ब्लिजर्ड्स (Blizzards) की कठोर ठंड को सहना पड़ता है। आंतरिक भाग में स्थित जगहों को सामुद्रिक प्रभाव से वंचित रखने के लिये पर्वत दीवार का काम करते हैं। पर्वत-माला का यह प्रभाव महाद्वीप के आंतरिक भाग की अपेक्षा तट के समीप अधिक होता है।

पर्वतों के ढाल सूर्य की किरणों के प्रभाव को बवल देते हैं। पृथ्वी के दक्षिणी ढाल पर सूर्य की किरणें अधिक तिरछी होकर गिरती हैं। अतः ये ढाल ठंडे होते हैं। दूसरी ओर कम तिरछी होकर गिरती हैं, वे ढाल अपेक्षाकृत गर्म होते हैं।



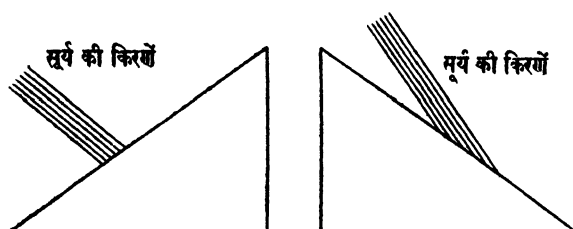
चित्र ४२—ढाल तथा जलवायु

चूँकि सूर्य की किरणें पृथ्वी के उत्तरी ढाल पर कम तिरछी होकर गिरती हैं, वे ढाल अपेक्षाकृत गर्म होते हैं।

वास्तविकता तो यह है कि सूर्य की किरणों के एकत्रीकरण का अंश तथा गर्मी प्राप्त करने वाले भूखंड का विस्तार पृथ्वी के ढाल के साथ साथ भिन्न भिन्न होता

है। किसी स्थान का तापक्रम उसके ढाल के सूर्य की ओर अथवा सूर्य से दूर होने के कारण घटता-बढ़ता है। उत्तरी गोलार्द्ध में कर्क रेखा के उत्तर की ओर वाले प्रदेशों के दक्षिणी ढाल हमेशा सूर्य के सामने रहते हैं चूँकि इनके लिये सूर्य हमेशा दक्षिण में रहता है। अतः इनके दक्षिणी ढाल गरम होते हैं तथा उत्तरी ढाल ठंडे होते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में इसका विपरीत होता है।

जल तथा स्थल का वितरण—जल स्थल की अपेक्षा धीरे धीरे गरम तथा ठंडा होता है। अतः जाड़े के दिनों में जब पृथ्वी ठंडी होती है, पानी गरम होता है तथा गर्मी



चित्र ४३—उत्तरी ढाल गरम होते हैं

के दिनोंमें ही जब पृथ्वी गरम होती है पानी ठंडा होता है। यह तापक्रम की असमानता ऋतुओं पर अधिक प्रभाव डालती है और इसी कारण से उन स्थानों में जो समुद्र के प्रभाव में हैं

महाद्वीप के आन्तरिक भाग की अपेक्षा अधिक सम तापक्रम होता है। द्वीपीय (Insular) जलवायु महाद्वीपीय (Continental) जलवायु की तुलना में हमेशा सम रहती है। महाद्वीपीय (Continental) जलवायु हमेशा अपेक्षाकृत विषम रहती है। समुद्र के पास वाले स्थानों की अपेक्षा धरातल के अन्दर बसे वाले स्थानों पर तापक्रम की भिन्नता अधिक होती है। वाष्पी भवन समुद्रों पर अधिक होता है। अतः चक्रवातीय (Cyclonic) दशाएं अधिक प्रबल हो जाती हैं तथा वायुभार विस्तार (Barometric gradient) बढ़ जाता है। दिन के समय का तापक्रम तथा दबाव की भिन्नता से समुद्री तथा स्थली पवन उत्पन्न हो जाता है। परन्तु मानसून द्वारा मौसमी गर्मी तथा दबाव का विस्तार (gradient) उत्पन्न होता है।

इस प्रकार जल समूह अथवा समुद्र से समीपता तापक्रम की विषमता को सुधारती है तथा नमी को नियमित करती है।

प्रचलित हवाएँ:—वे हवाएं जो किसी देश के ऊपर बहती हैं उस स्थान की जलवायु पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं। यह गर्मी तथा नमी दोनों को लाने वाली हैं। जो हवाएं समुद्र से आती हैं अपने साथ नमी लाती हैं तथा सम तापक्रम उत्पन्न करती हैं। दूसरी ओर जो हवाएं स्थल से बहती हैं वे शुष्क होती हैं और उस तापक्रम की जो उस स्थल पर होता है, यहाँ उत्पन्न करती हैं। इसी प्रकार जो हवाएं विषुवत रेखीय प्रदेश से बहती हैं गरम होती हैं तथा अपने साथ गर्मी लाती हैं। परन्तु वे हवाएं जो ध्रुवीय प्रदेशों (Polar regions) से बहती हैं, ठंडी होती हैं।

अतः हमें वायु की गति, उनके रुख तथा उनकी उत्पत्ति के स्थान का ध्यान रखना है। वायुमंडल का प्रवाह वाष्पीभवन (Evaporation) को बढ़ा देता है तथा मिट्टी को सुखा देता है। इसी कारण से जहाँ पर वायु का प्रवाह

अधिक होता है वहाँ स्वास्थ्यवर्धक जलवायु होती है तथा ये अपने साथ-साथ ठंडक लाती है ।

शीतोष्ण (Temperate) प्रदेशों में चक्रवात तथा विरुद्ध चक्रवात (Cyclones & anticyclones) जलवायु पर अधिक प्रभाव डालते हैं । पट्टवां हवाओं के प्रदेश में हवायें ठंडे अक्षांशों की ओर बहती हैं अतः वे अपने साथ नमी लाती हैं । परन्तु व्यापारिक हवायें गरम अक्षांशों की ओर बहती हैं अतः वे सुहावना मौसम तो लाती हैं परन्तु साधारणतः शुष्क होती हैं । यही बात वहाँ के लिए भी सत्य है जहाँ गरम शुष्क अथवा ठंडी शुष्क हवायें बहती हैं ।

सामुद्रिक धाराएं भी उन स्थलों पर जहाँ से होकर गुजरती हैं अधिक प्रभाव डालती हैं । साधारणतः यह देखा गया है कि माध्यमिक अक्षांशों में अथवा अधिक दबाव की पेटियों में, बड़े-बड़े सागरों में गर्म तथा ठंडी धाराओं की व्यवस्था होती है । महाद्वीपों के पश्चिमी तट पर गरम धाराओं का प्रवाह होता है जो ध्रुवों की ओर बहती है, तथा उन्हीं अक्षांशों में पूर्वीय तट पर ठंडी धाराओं का प्रवाह होता है जो विषुव रेखा की ओर बहती है ।

गरम तथा ठंडी धाराओं का प्रभाव समीपवर्ती स्थलों तक सीमित रहता है, तथा उन हवाओं पर निर्भर रहता है जो इन धाराओं के ऊपर से बहती हैं । बहुधा यह देखा गया है, कि उन क्षेत्रों में जहाँ से ठंडी धाराओं का प्रवाह होता है, हवाओं की व्यवस्था स्थल से समुद्र की ओर होती है । अतः ठंडी धाराएं अपना प्रवाह तभी दिखाती हैं, जबकि ऋतु की वशा अपेक्षाकृत स्थिर होती हैं । अप्रत्यक्ष रूप से यह अपना प्रभाव समुद्री तथा स्थलीय पवन अथवा चक्रवातों द्वारा भी दिखाती हैं । लेब्रेडर धारा का प्रभाव भी इसी प्रकार होता है तथा सेंट लॉरेंस नदी का मुहाना जम जाता है । फल यह होता है कि तापक्रम गिर जाता है तथा वृष्टि कम हो जाती है ।

दूसरी ओर गरम धाराएं, जल से थल की तरफ चलने वाली हवाओं की व्यवस्था की सहायता से जलवायु को अधिक सम बना देती हैं—जाड़े कुछ गर्म होते हैं तथा गर्मियां कुछ कम गरम होती हैं । इसके अतिरिक्त वह हवाएं जो इसके ऊपर समुद्र की ओर से आती हैं, वाष्प से भरी होती हैं, अतः समीपवर्ती स्थल पर वृष्टि (Precipitation) बढ़ जाती है । फलस्वरूप जिन समुद्रों से यह गुजरती है तथा जिन स्थलों से होकर यह गुजरती है वे सारे वर्ष व्यवस्थित रूप में रहते हैं, अतः वाणिज्य तथा व्यापार में सुविधा प्राप्त होती है । गल्फस्ट्रीम का भी इंग्लैंड तथा पश्चिमी योरोप पर इसी प्रकार का प्रभाव होता है । क्यूरो सिवो धारा का जापान तथा उत्तरी अमरीका के पश्चिमी तट पर यही प्रभाव होता है । लेब्रेडर तथा ब्रिटिशद्वीप समूह एक ही अक्षांशों में स्थित हैं, परन्तु शरद ऋतु में ठंडी धाराओं के कारण लेब्रेडर का औसत तापक्रम 30°F रहता है जबकि ब्रिटिश द्वीप समूह का औसत तापक्रम गल्फस्ट्रीम की गरम धारा के कारण 50°F रहता है ।

स्थल के ऊपर की वनस्पति (Surface Covering)—धरातल के ऊपर का आवरण गर्मों के लिये विकिरण पदार्थ तथा सोखने वाले पदार्थ दोनों का ही कार्य

करता है। भूमि का आवरण (Surface covering) तीन प्रकार का होता है—बंजर मिट्टी, पेड़ पौधे तथा बरफ। इनमें प्रत्येक की गर्मी को ग्रहण तथा विस्तीर्ण करने की अलग-अलग शक्ति होती है। अतः पृथ्वी के बंजर मिट्टी, वनस्पति अथवा बरफ से ढके होने के अनुसार, किसी भी स्थान के तापक्रम में परिवर्तन हो जाता है। बंजर मिट्टी के आवरण की तुलना में पृथ्वी में गरमी को सोखने की शक्ति उस समय अपेक्षाकृत कम होती है, जब पृथ्वी बरफ अथवा फलीफूली वनस्पति से ढकी होती है। इसी कारण से बरफ से ढके हुए अथवा वनस्पतिमय प्रदेश ठंडे होते हैं तथा बंजर मिट्टी वाले प्रदेश अधिक गरम होते हैं।

ज्वालामुखी विस्फोट (Vulcanism) से वायुमंडल को कार्बन डाइ आक्साइड (Carbon dioxide) गैस तथा ज्वालामुखी (volcanic) धूलके कण प्राप्त होते हैं। कार्बन डाइ आक्साइड (Carbon dioxide) का प्रभाव कम्बल के सदृश्य होता है क्योंकि यह स्थलमंडल तथा सूर्यमंडल, दोनों के ही विकिरण (radiation) को सोख लेती है। अतः यह किसी क्षेत्र के तापक्रम तथा दबाव पर प्रभाव डालती है।

ज्वालामुखी की राख तथा धूल के कण वायुमंडल में मिल जाते हैं तथा यह सूर्यमंडल की शक्ति और स्थलीय विकिरण दोनों के ही लिये एक प्रकार के पर्दे का काम करती है। यह पर्दा विकिरण द्वारा त्यागी हुई शक्तिको प्रतिबिम्बित करके तित्तर-बेत्तर कर देता है। फलतः तापक्रम गिर जाता है। बहुत से विशेषज्ञ इस बात पर विश्वास करते हैं कि बहुतसे बर्फ के युगों में हिमाच्छादन (glaciation) केवल इन्हीं धूल के बादलों के कारण हुआ। जब कभी वायुमंडल में यह धूलके कण अधिक हो जाते हैं, तो पृथ्वी के भिन्न-भिन्न कटिबन्धों के बीच तापक्रम विस्तार प्रखर या तीव्र हो जाता है तथा हवाएँ बेगशाल हो जाती हैं, अतः वृष्टि (precipitation) बढ़ जाती है।

स्थायी सूर्यताप और सूर्य के धब्बे (Solar constant and Sun spots) —समय २ पर सूर्य में धब्बों (Sun spots) की संख्या बदलती रहती है तथा उसी के अनुसार सूर्यमंडल का ताप विकिरण (radiation) भी बदलता है। साधारणतः यह देखा गया है कि सूर्यमंडल का ताप विकिरण क्रमिक रूप से घटता अथवा बढ़ता है। यह लम्बे लम्बे अरसे के बाद होता है और जब इस प्रकार के परिवर्तन होते हैं तो स्थायी सूर्यताप (Solar constant) भी बदल जाता है। हालाँकि इस परिवर्तन का प्रतिशतांश बहुत कम होता है, परन्तु फिर भी यह तापक्रम के अन्तर या विषमता पर प्रभाव डालता है तथा इसके प्रभाव से दबाव का विस्तार (gradient) कम तीव्र हो जाता है। नतीजायह होता है कि वायुचलन स्थिर हो जाता है तथा वर्षा अथवा वृष्टि घट जाती है।

सूर्य से दूरी—पृथ्वी तथा सूर्य के बीच की दूरी भिन्न २ होती है। चन्द्रमा तथा दूसरे नक्षत्रों के विक्षोभों के कारण, सूर्यमण्डल की दूरी प्रत्येक मास कुछ न कुछ बदल जाती है। परन्तु इस मासिक परिवर्तन का प्रभाव नहीं के बराबर होता है, केवल 0.01° सेन्टीग्रेड होती है।

सूर्यमण्डल की दूरी में दूसरे परिवर्तन पृथ्वी के ग्रहपथ पर स्थिति के कारण होते हैं। पृथ्वी का ग्रहपथ अंडाकार है। अतः एक समय यह सूर्य के निकट होती है। तथा दूसरे समय सूर्य से दूर। सूर्य के चारों ओर ग्रहपथ पर पृथ्वी की स्थिति प्रत्येक ऋतु में बदल जाती है, परन्तु परिवर्तन की दर इतनी है कि एक पूरा वृत्त या घेरा, २१००० वर्ष में बनता है। फलतः दक्षिणी गोलार्द्ध में एक समय शरद ऋतु उत्तरायण (Aphelion) में होती है तथा दूसरे समय दक्षिणायन (Perihelion) में। अतः एक समय शरद ऋतु लम्बी तथा ठंडी होती है जैसा कि अब है तथा दूसरे समय यह छोटी तथा कम ठंडी होती है।

संसार के जलवायु संबंधी प्रदेश (Climatic Regions of the world)

तापक्रम तथा सूर्यताप (Insolation) के आधार पर पृथ्वी को पांच कटिबन्धों में बांटा गया है—उष्ण कटिबन्ध, उत्तरी तथा दक्षिणी सम-शीतोष्ण कटिबन्ध, तथा आर्कटिक और अन्टार्क्टिक (Arctic & Antarctic) कटिबन्ध। दबाव तथा हवाओं के आधार पर पृथ्वी को पुनः कई दबाव की पेटियों में बांटा गया है—दो अधिक दबाव के क्षेत्र तथा दो अधिक दबाव की पेटियाँ, तीन कम दबाव की पेटियों द्वारा अलग किये जाते हैं। इनमें प्रत्येक के अन्दर भिन्न २ दबाव तथा हवा की दशाओं के कटिबन्ध, बराबर संख्या में होते हैं। परन्तु जल तथा स्थल वितरण के प्रभाव, समुद्र तल से ऊँचाई, तथा पृथ्वी पर वायुमण्डल के सामयिक परिवर्तन, इन समानान्तर कटिबन्धों में भिन्नता उत्पन्न करते हैं।

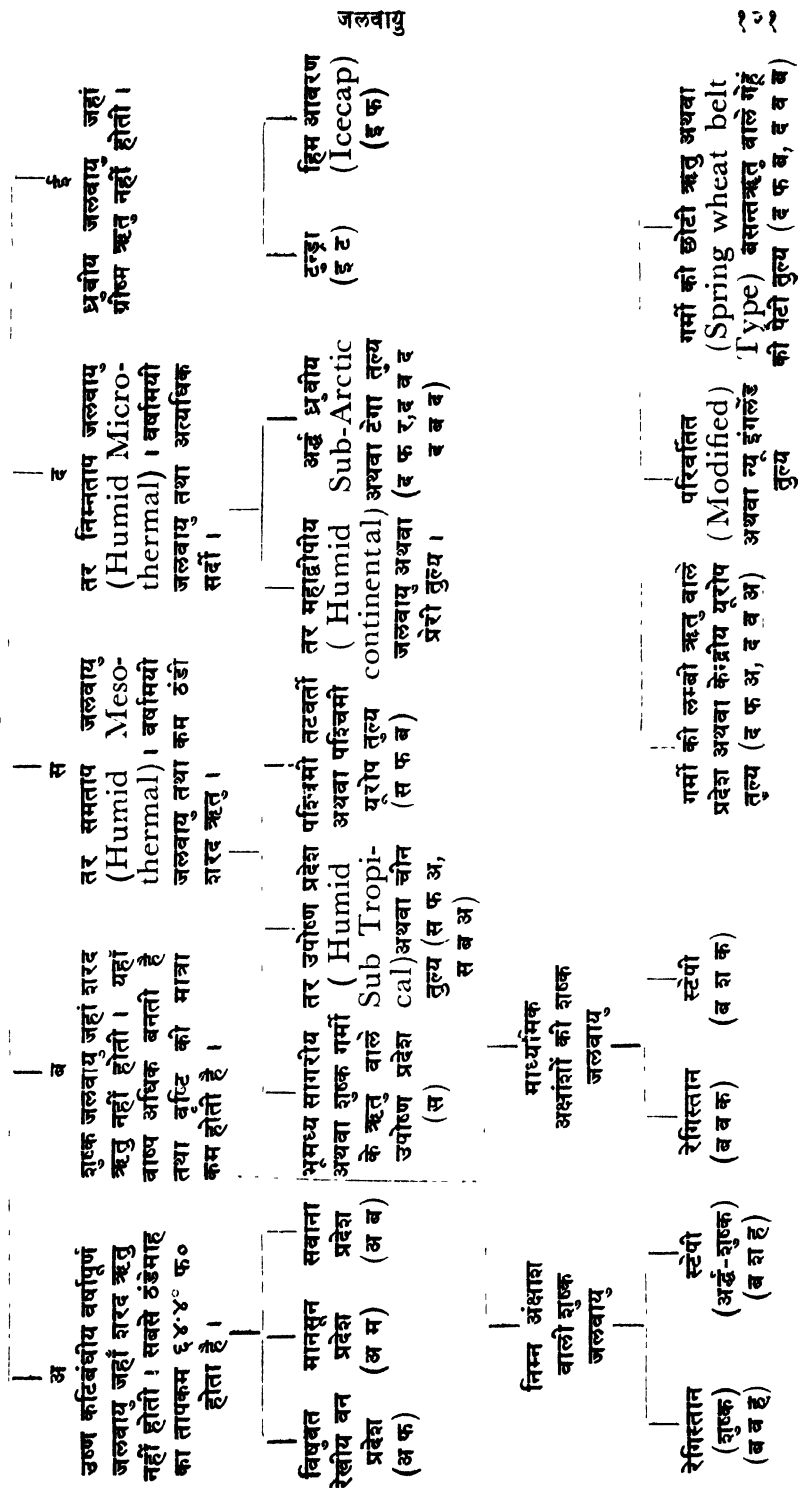
इसी प्रकार पृथ्वी को जलवायु सम्बन्धी प्रदेशों में बांटा गया है। प्रत्येक प्रदेश में लगभग समान तापक्रम, वायु तथा वर्षा की दशाएं होती हैं अतः इनमें समान रूप की ही वनस्पति उत्पन्न होती है तथा एक ही प्रकार के जीव-जन्तु निवास करते हैं। जलवायु सम्बन्धी विभिन्न प्रदेशों की पारस्परिक स्थिति को हम पृष्ठ १२० की तालिका द्वारा भली प्रकार समझ सकते हैं।

रौबर्ट डे सी वार्ड (Robert De C. ward) के शब्दों में, “जलवायु के नियमित अध्ययन के लिए पृथ्वी के धरातल को विस्तृत विभागों में बांटना अत्यधिक आवश्यक है।” परन्तु तापक्रम के कटिबंध तथा दबाव संबंधी विभाग दोनों ही वृष्टि को नगण्य स्थान देते हैं। यद्यपि वृष्टि जलवायु पर अत्यधिक प्रभाव डालती है।

डॉक्टर कुईपन (Dr. Koeppen) ने ऋतु संबंधी तत्त्वों के महत्व के आधार पर जलवायु संबंधी प्रदेशों का विस्तृत विभाजन किया है। उनका विभाजन तापक्रम तथा वृष्टि पर आधारित है। ये स्थिति को ध्यान में रखते हुए एक ओर तो पूर्वी तथा पश्चिमी तटों की भिन्नता को प्रदर्शित करता है तथा दूसरी ओर तटीय प्रदेशों और आंतरिक भाग की भिन्नताओं को स्पष्ट करता है। भिन्न-भिन्न प्रकार की जलवायु की परिभाषा संख्यात्मक अंकों द्वारा की गई है बड़े-बड़े विभागों को बड़े अक्षरों से प्रदर्शित किया गया है तथा उनके उप विभागों को छोटे अक्षरों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। ये छोटे अक्षर जलवायु की विशेषताओं को बताते हैं :—

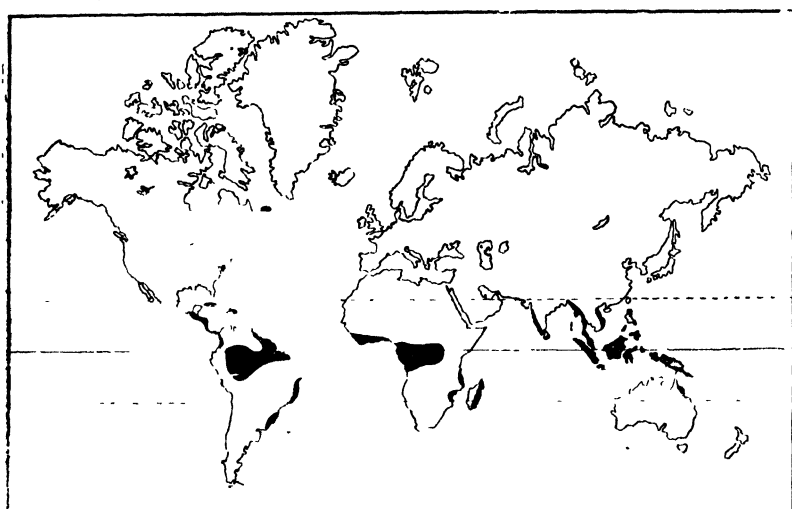
तापक्रम संबंधी कटिबन्ध	दबाव तथा हवा सम्बन्धी विभाग	जलवायु सम्बन्धी प्रदेश
आर्कटिक तथा अन्टार्कटिक कटिबन्ध	उत्तर तथा दक्षिणी ध्रुव की हवाओं की पेटियां	ठंडे प्रदेश { (अ) आर्कटिक निम्न प्रदेश अथवा टेगा तुल्य (ब) आर्कटिक उच्च प्रदेश (Upland) अथवा टुन्ड्रा-तुल्य
उत्तरी तथा दक्षिणी सम-शीतोष्ण कटिबन्ध	दक्षिणी पछुवां हवायें उत्तरी पछुवां हवायें भूमध्य सागरीय प्रदेश	(१) शीत-शीतोष्ण प्रदेश { (अ) पश्चिमी यूरोप-तुल्य (ब) पूर्वोत्तर अथवा सेंट लॉरेंस-तुल्य (स) आन्तरिक मैदान अथवा महाद्वीपीय या प्रेरी-तुल्य (Continental or prairie type) (द) शीतोष्ण उच्च भूमि (Temperate-upland) अथवा आन्तरिक पठार अथवा शीतोष्ण मरुस्थल-तुल्य (Temperate Desert type) (२) उष्ण शीतोष्ण प्रदेश (Warm temperate regions)
ऊष्ण कटिबन्ध	उत्तरी पूर्वी तथा दक्षिणी पश्चिमी ध्यापारिक हवा की पेटियां	अ.भूमध्य ब.पूर्वात्तर स.आन्तरिक द.आन्तरिक सागरीय अथवा मैदान अथवा पठार अथवा चीन तुल्य तूरान तुल्य ईरान तुल्य { (अ) गर्म रेगिस्तान अथवा सहारा तुल्य (ब) गर्मी में वर्षा पाने वाले प्रदेश अथवा मानसून तुल्य (स) उष्ण कटिबंधीय घास के मैदान अथवा सवाना या सूडान तुल्य (द) विषुवतरेखीय वर्षा के जंगल

कोपीन द्वारा जलवायु विभाजन



अ—उष्ण कटिबंधीय वर्षा पूर्ण (Topical rainy) जलवायु

विषुवत् रेखा के दोनों ओर 20° तथा 40° अक्षांशों के मध्य वह प्रदेश है जो सारे वर्ष लगातार गरम रहता है तथा जिसमें सर्दियां कम होती हैं। यहाँ पर वर्ष का कोई सा महीना भी ऐसा नहीं होता जब कि तापक्रम 64° फा से कम हो। यह जलवायु महाद्वीपों के पूर्वी किनारे पर ध्रुवों की ओर तक बहुत दूर-दूर तक फैली पाई जाती है, यद्यपि पर्वतों तथा पठारों द्वारा इसकी विशेषताओं में स्थानीय परिवर्तन उत्पन्न होता है। यहाँ वर्षा अत्यधिक होती है। कभी-कभी ही मात्रा $30''$ से कम होती है। वर्षा सूर्य की ऊँचाई के अनुसार होती है तथा वाहनिक (Convictional) होती है। इस प्रदेश में प्रतिबिंबित तथा प्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार का अपार प्रकाश होता है। यहाँ प्रकाश की दशाये इतनी तीव्र होती हैं कि आँखों पर जलते हुए शीशे की तरह चकाचौंध उत्पन्न हो जाती है।



चित्र ४४—वर्षामयी अथवा विषुवत रेखीय जलवायु

(१) उष्ण कटिबंधीय वर्षामय वन प्रदेश (Tropical rain forest) अथवा विषुवत् रेखीय जलवायु—जैसा कि नाम से प्रत्यक्ष है यह विषुवत् रेखा के दोनों ओर 5° उत्तर तथा 5° दक्षिण अक्षांशों के मध्य की पट्टी में स्थित है। चूंकि इसका सब से अधिक विस्तृत प्रदेश दक्षिणी अमरीका में अमेजन नदी की घाटी है अतः इस जलवायु को प्रायः “अमेजन तुल्य” जलवायु भी कहते हैं। महाद्वीपों के वायु अभिमुख किनारों पर इस प्रकार की जलवायु 10° से 25° अक्षांशों तक फैली रहती है। अमेजन की घाटी, कांगो की घाटी, गिनी का तट, पूर्वी द्वीप समूह, तथा एशिया के उष्ण कटिबंधीय प्रदेश का कुछ तटीय भाग इसी प्रकार की जलवायु के प्रदेश हैं।

तापक्रम—यह प्रदेश अत्यधिक सूर्यताप प्राप्त करता है और मेघाच्छादित वातावरण होने के कारण गर्मी बहुत कम नष्ट होती है। अतः यहाँ पर सारे वर्ष लगातार

अधिक तापक्रम रहता है तथा मौसमी तापान्तर नहीं के बराबर होता है। अमेजन घाटी में, मैनोआ (Manaos) पर तापक्रम का अंतर केवल 2° फा० है। वार्षिक औसत तापक्रम 27° से 28° फा० के बीच होता है। यहाँ पर सूर्य हमेशा लम्बवत् चमकता है, परन्तु दैनिक तापान्तर 10° से 25° फा० तक होता है। यहाँ की रात्रियाँ ठंडी होती हैं अतः इनको इस प्रदेश की शरद् ऋतु कहते हैं। रात्रि के शीघ्र ठंडे हो जाने से ओस तथा कोहरा उत्पन्न हो जाता है। इस प्रदेश की गर्मी नम तथा परेशान करने वाली होती है।

हवाये तथा वर्षा—प्रबल वायुभार विस्तार के अभाव में यहाँ पर वायु संचालन बहुत कम है तथा ऊँची वास्तविक और सापेक्ष आर्द्रता (Relative and Absolute humidity) के कारण सुस्त तथा दुखदायी मौसम रहता है। समुद्र के किनारे समुद्री तथा स्थली पवन आनन्द पूर्ण वातावरण उत्पन्न कर देती है, तथा ठंडी हारमाटम हवाओं को गिनी के तट पर इसी महत्त्व के कारण 'डाक्टर' कहते हैं।

प्रायः वर्षा अधिक होती है तथा समस्त वर्ष नियमित रूप से होती है। औसत वर्षा $100''$ के लगभग होती है। वर्षा महाद्वीपों की अपेक्षा सागरों पर अधिक होती है। तथा दिन के किसी और भाग की अपेक्षा शाम को अधिक होती है। वर्षा वाहनिक (Convictional) होती है। मेघाच्छिन्नता (Cloudiness) 50% से भी अधिक होती है। यहाँ पर बिजली की चमक तथा गरज बहुत होती है। वर्षा सूर्य के अनुसार होती है। अतः वर्ष में वर्षा के दो उच्चतम तथा दो न्यूनतम काल होते हैं।

इन प्रदेशों में समुद्र तल से अधिक ऊँचाई पर स्थित स्थानों में कम तापक्रम होता है, तापान्तर अधिक होता है तथा वर्षा कम होती है। विषुवत रेखीय जलवायु में इस प्रकार के भेद को इक्वेडर तुल्य जलवायु (Equador type) कहते हैं।

प्राकृतिक वनस्पति तथा मिट्टी—इस प्रदेश की मिट्टी साधारणतया अनुपजाऊ लैटराइट (Laterite) होती है। अत्यधिक वर्षा के कारण मिट्टी में जलस्राव पैदा हो जाता है परन्तु अधिक गर्मी के कारण चट्टानों के तत्व पूर्णरूप से नष्ट नहीं होने पाते। चूँकि यहाँ पर उपज काल की कोई सीमा नहीं है तथा मौसम हमेशा गरम व तर रहता है, अतः यहाँ पर वनस्पति अधिकतर पैदा होती है। वृक्षों तथा पौधों की घनी उत्पत्ति के कारण वायु तथा प्रकाश तक रुक जाता है। इस स्थान की वनस्पति की विशेषता यह होती है कि यहाँ पर वायु तथा प्रकाश के बीच प्रतिद्वंद्विता होती है।

विषुवत रेखीय जंगलों में लंबी तथा सख्त लकड़ी के पेड़ होते हैं जो सदैव हरे भरे रहते हैं। इनके तने गाँठदार तथा पत्ती रहित होते हैं। इनकी चोटी पर कुछ ही शाखाएँ होती हैं। जिनका मुड़ाव एक ताल की तरह होता है। इनके कारण सारा पेड़ छतरी की तरह प्रतीत होता है। इन जंगलों में भिन्न-भिन्न प्रकार के पेड़ मिलते हैं। यहाँ का सबसे महत्त्वपूर्ण पेड़ अमेजन घाटी में रबड़ का पेड़ है तथा कांगों घाटी में महोगनी का पेड़ है। यह पेड़ बहुत सी लताओं तथा फूलदार पौधों का पोषण करते हैं। बहुत-सी लताएँ इन पेड़ों के चारों ओर चिपटी रहती हैं। पृथ्वी पर हमको

जीवित पोषे नहीं मिलते परन्तु वनों के धरातल में बहुत घनी घासफूस पायी जाती है तथा यहाँ पर विनाशकारी वनस्पति की अधिकता है।

प्राकृतिक वनस्पति के अनुसार यहाँ के वनों के जीवजन्तु-बन्दर, जहरीले कीटाणु तथा चिड़ियाँ हैं। यहाँ के जीवजन्तु ऐसे होते हैं जो पेड़ों पर चढ़ सकें तथा उन पर रह सकें। कांगों घाटी की टीटीसी मक्खी बहुत प्रसिद्ध है।

लोग तथा औद्योगिक विकास—इस प्रदेश में तर भापबार गर्मी तथा घनी वनस्पति मानव विकास को रोकने वाले साधन हैं। जलवायु सुस्ती पैदा करती है, तथा समस्त वातावरण पीछे हटाने वाला है। अतः इन प्रदेशों में जनसंख्या बहुत कम है तथा यहाँ के मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुये हैं। इनका मुख्य व्यवसाय कांगो की घाटी में शिकार खेलना है। कांगो घाटी के बौने बहुत पिछड़ी हुई जातियों में से हैं। अमेजन घाटी के आदि निवासी रबड़ के पेड़ों की रक्षा करते हैं तथा रबड़ इकट्ठा करते हैं। पूर्वी द्वीप समूह, गिनी के तट तथा एशिया में जंगलों का साफ करना बहुत आसान होता है। अतः यहाँ पर अधिक जनसंख्या है। समुद्री किनारों पर जनसंख्या अधिक घनी है। मलाया, जावा तथा बोर्नियो के लोग सुस्त होते हुये भी बहुत मजबूत हैं। इन प्रदेशों में सबसे महत्त्वपूर्ण कस्बे वे हैं जोकि समुद्र के किनारे बसे हुए हैं और जहाँ पर इन क्षेत्रों की उपज को इकट्ठा किया जा सकता है। महत्त्व के अनुसार क्रम से सिंगापुर, कोलम्बो तथा पारा यह तीन प्रसिद्ध बन्दरगाह नगर हैं।

जहाँ कहीं पर जंगल साफ कर दिये गये हैं, वहाँ खेती की जाती है। इन प्रदेशों की मुख्य व्यापारिक उपज कोको, नारियल, खजूर, केला, चावल तथा कुछ भागों में ज्वार बाजरा (millet) हैं। पूर्वी द्वीप समूह, तथा मलाया में रबड़ तथा गन्ने की उपज यूरोप वासियों के प्रोत्साहन से होती है। परन्तु इस प्रदेश के कच्चे माल को तैयार करने के लिए हमको अब भी बहुत कुछ करना है।

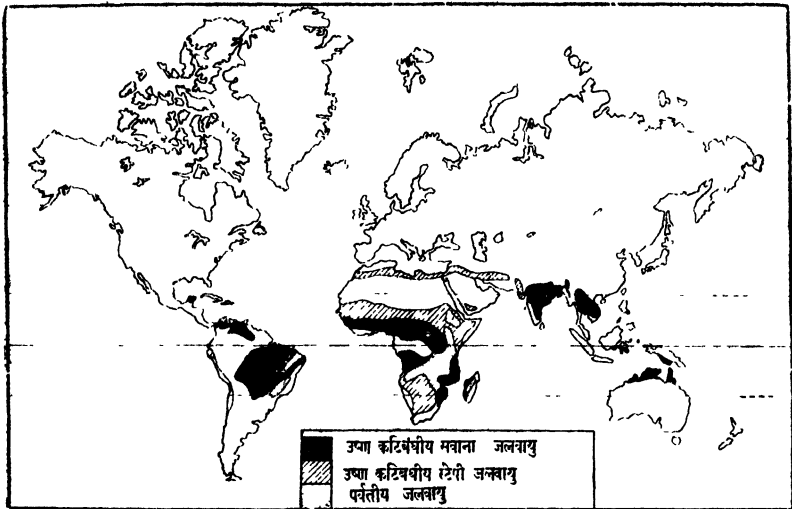
कांगो की घाटी में हाथी दाँत इकट्ठा करना तथा शिकार खेलना, अमेजन की घाटी में रबड़ इकट्ठा करना तथा पूर्वी द्वीप समूह तथा उष्ण कटिबंधीय एशिया में उद्यानों में खेती करना लोगों का खास व्यवसाय है। कुछ कठिनाइयों के कारण इन प्रदेशों का औद्योगीकरण संभव नहीं हो सका है। पहली खास कठिनाई तो यह है कि इन प्रदेशों तक पहुँचना बहुत कठिन है। दूसरे यहाँ की जलवायु स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। यहाँ पर खनिज पदार्थ भी नहीं पाये जाते। एशियाई विषुवतरेखीय पट्टी में केवल पेट्रोल तथा टिन दो खनिज पदार्थ पाये जाते हैं।

अतः इन प्रदेशों को अविकसित रहनसहन के प्रदेश भी कहते हैं।

(२) सवाना (Savanna) तुल्य जलवायु—इस प्रकार की जलवायु विषुवतरेखीय पट्टी के दोनों ओर पाई जाती है। इसको “सूडान तुल्य”, अथवा “उष्ण कटिबंधीय घास के मैदान” तुल्य भी कहते हैं। इसमें वृष्टि तो कम होती है तथा यहाँ पर शुष्क तथा नम ऋतु अलग २ होती हैं। अतः इन प्रदेशों में लम्बे तथा घने जंगलों के स्थान पर लम्बी घास पायी जाती है जिसके बीच २ में कुछ वृक्ष भी रहते हैं।

इस प्रकार की जलवायु के प्रदेश एक अन्तरिम पट्टी में स्थित है। एक ओर रेगिस्तानी जलवायु के प्रदेश हैं तथा दूसरी ओर विषुवतरेखीय जलवायु के जंगल

मोटे तौर पर यह विषुवतरेखीय पट्टी के चारों ओर 5° तथा 15° अक्षांशों के मध्य फैली हुई है। इस जलवायु के विशेष प्रदेश, वेनेजुला तथा कोलम्बिया में औरनिको



चित्र ४५—सवाना तथा उन्ना प्रकार की जलवायु

घाटी के लॅनोज (Llanos), ब्राजील के कॅम्पोज (Campos), अफ्रीका के सूडान तथा वेल्ड (the Sudan and Veldt) और उत्तरी आस्ट्रेलिया के उष्ण कटिबंधीय घास के मैदान हैं। स्थिति में मध्यवर्ती होने के कारण इन प्रदेशों में, हवा, तापक्रम, वर्षा तथा प्राकृतिक वनस्पति आदि सभी में अन्तरिम विशेषताये पाई जाती हैं।

तापक्रम तथा ऋतुये—इन प्रदेशों का भी तापक्रम अधिक होता है, हालांकि दक्षिणी तर पट्टी में तापक्रम कुछ कम है तथा उत्तरी शुष्क पट्टी में तापक्रम कुछ अधिक है। वार्षिक तापान्तर लगभग 15° फ० है।

इस प्रकार की जलवायु के प्रदेश में तीन भिन्न २ ऋतुयें होती हैं—(१) ठंडी शुष्क ऋतु जो उस समय होती है जब क्षितिज पर सूर्य नीचा होता है; (२) गर्म शुष्क ऋतु उस समय होती है जब क्षितिज पर सूर्य ऊंचा रहता है; तथा (३) गर्म तर ऋतु। ठंडी शुष्क ऋतु के समय तापक्रम बहुधा शाम के समय 60° फ० तक हो जाता है, परन्तु आर्द्रता (Humidity) कम होती है, अतः गर्मी बहुत अधिक रहती है। गर्म शुष्क ऋतु में सबसे अधिक तापक्रम 100° फ० के आस पास होता है। जलवायु विषुवतरेखीय प्रदेशों के समान ही होती है।

हवाये तथा वर्षा—यह प्रदेश व्यापारिक हवाओं की पेट्टी में स्थित है, अतः यहाँ पर वेगशील हवायें चलती हैं। वर्षा की वार्षिक मात्रा जंगलों की ओर $70"$ से $100"$ के बीच है तथा रेगिस्तानी भाग की ओर $10"$ से $15"$ तक है। अधिकतर वर्षा ग्रीष्म तथा बसन्त के महीनों में होती है तथा सरबी के महीने पूर्णतः शुष्क रहते हैं।

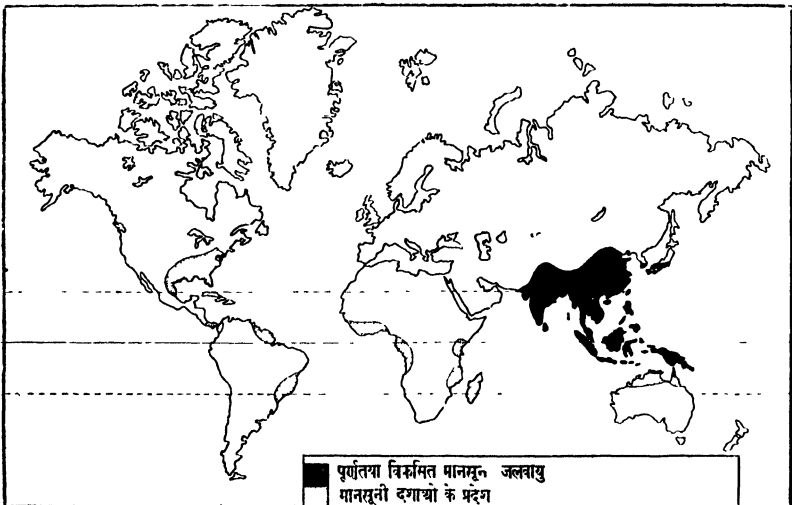
विषुवतरेखा की तरफ वाले किनारे पर वर्षा लगभग सारे वर्ष रहती है तथा

शुष्क ऋतु बहुत छोटी होती है। परन्तु हम जैसे-जैसे रेगिस्तानी भाग की ओर बढ़ते हैं, यह शुष्क ऋतु लम्बी होती जाती है।

प्राकृतिक वनस्पति तथा जीवजन्तु—सवाना तुल्य जलवायु की प्राकृतिक वनस्पति लम्बी घास तथा कुछ इधर-उधर उगे हुए वृक्ष हैं। बहुधा घास बस फीट तक ऊँची होती है। इसके रूखेपन तथा मोटाई के कारण, सारे क्षेत्र में अत्यधिक कठिनाई के साथ चला फिरा जा सकता है। घास के मोटे तथा मजबूत डंठल पृथ्वी पर चटाई की तरह फले रहते हैं। यहाँ वहाँ पर पेड़ भी होते हैं। पेड़ विषुवतरेखीय भाग की ओर अधिक होते हैं। यहाँ की तेज हवा के कारण, पेड़ों की आकृति छतरी के समान होती हैं ताकि उनमें से कम से कम वायु प्रसार हो सके। वर्षाभय बसन्त ऋतु में, इस प्रदेश की घास हरी होती है, परन्तु बाद के महीनों की गर्मी इन्हें झुलसा देती है जिससे सम्पूर्ण प्रदेश शुष्क तथा भूरा हो जाता है।

इस प्रदेश के जीवजन्तु दो प्रकार के होते हैं—(१) घास खाने वाले बाहरसिंघे (Antelopes) तथा जिराफ (Giraffe) जो बहुत तेजी से दौड़ते हैं, और (२) मांस खाने वाले चीते तथा तेदुंवे जो पहिले प्रकार के जीवों का शिकार करते हैं।

लोग तथा औद्योगिक विकास—यहाँ के लोगों का स्वाभाविक व्यवसाय पशुओं को चराना है परन्तु रेगिस्तानी भाग की तरफ में मनुष्य खानाबदोश जीवन व्यतीत करते हैं तथा विषुवतरेखीय वर्षाभय जंगल की तरफ अधिक वर्षा के कारण, मक्का, ज्वार बाजरा, रुई, गन्ना तथा उष्णकटिबंधीय फल उत्पन्न किये जाते हैं परन्तु वास्तव में ये प्रदेश अब भी पिछड़े हुए हैं।



चित्र ४६—मानसूनी जलवायु

(३) मानसूनी जलवायु—मानसूनी प्रदेश सवाना तुल्य जलवायु के अक्षांशों में ही पूर्वी किनारों पर स्थित है। इस प्रदेश की जलवायु प्रचलित हवाओं की दिशा परिवर्तन पर निर्भर रहती है। इस जलवायु की सबसे महत्त्वपूर्ण ऋतु वर्षा ऋतु है तथा

इस जलवायु की साधारण विशेषताएँ सबाना तुल्य जलवायु के ही समान हैं। अंतर केवल इतना ही है कि यहां पर वर्षा दूसरे कारणों से होती है। सबाना तुल्य जलवायु में वर्षा वाहनिक होती है परन्तु मानसूनी जलवायु में वर्षा चक्रवातीय तथा पर्वतीय होती है। जल से थल की ओर चलने वाली हवाओं के काल में गरम तर मौसम होता है तथा थल से जल की ओर चलने वाली हवाओं के काल में शुष्क मौसम होता है। इस प्रकार की हवायें संसार के स्थायी हवाओं की व्यवस्था के पूर्णतः उलट जाने के कारण उत्पन्न होती हैं। संसार के विशिष्ट मानसूनी प्रदेश भारत इण्डोचीन तथा चीन का दक्षिणी भाग है।

तापक्रम तथा ऋतुएँ—मानसूनी प्रदेशों की विशेषता यह है कि यहां पर अत्यधिक गरम गर्मियाँ तथा कुछ गरम सर्दियाँ होती हैं। परन्तु वर्षा तापक्रम के वितरण पर प्रभाव डालती है। शुष्क क्षेत्रों में नम क्षेत्रों अथवा समुद्र के पास के क्षेत्रों की अपेक्ष तापान्तर अधिक होता है। साधारणतः वर्षा भर लगातार तापक्रम अधिक रहता है तथा वर्षा ऋतु से कुछ पहले उच्चतम तापक्रम 55° से 80° तक पहुँच जाता है। यहां पर वार्षिक तथा दैनिक तापान्तर बहुत होता है।

मानसून प्रदेशों में तीन विभिन्न ऋतुएँ होती हैं—(१) शरद ऋतु जो शुष्क होती है तथा जिसका विस्तार अक्टूबर से जनवरी तक होता है; (२) गरम ऋतु जिसका विस्तार फरवरी से मई तक होता है तथा; (३) वर्षा ऋतु, जिसका विस्तार जून से सितम्बर तक होता है। यद्यपि गरम ऋतु के बाद वर्षा ऋतु का आगमन बहुत तेजी से होता है, परन्तु शरद ऋतु के बाद गरम ऋतु का तथा वर्षा ऋतु के बाद शरद ऋतु का आगमन क्रमशः। शरद ऋतु में पाला नहीं पड़ता।

ठंडी तथा गरम ऋतुओं में मौसम रेगिस्तान जैसा होता है। आर्द्रता (Humidity) इतनी कम होती है कि मनुष्य अपने आपको झुलसा हुआ सा समझने लगता है तथा उसकी खाल चटक जाती है। तत्पश्चात् वर्षा ऋतु आती है जिसके शुरू और अन्त में बड़े-बड़े गरजने वाले तूफान तथा विकट आंधियाँ आती हैं। परन्तु वर्षा कम प्रबल गर्तचक्र के कारण होती है जो बंगाल की खाड़ी पर बनता है।

वर्षा तथा हवायें—मानसूनी जलवायु में वर्षा निम्न बातों पर निर्भर रहती है। (१) जल से थल की ओर चलने वाली हवायें—मानसून की दशा तथा शक्ति (२) स्थल की बनावट क्योंकि सबसे अधिक वर्षा तटों पर तथा पर्वतों के ढालों पर होती है (३) जल से थल की ओर चलने वाली हवायें तट पर किस कोण पर पहुँचती हैं। चूंकि दक्षिणी पश्चिमी मानसून हवायें भारतवर्ष के पश्चिमी तट पर समकोण बनाती हुई आती हैं, यहाँ पर, कोरोमंडल तट की अपेक्षा जहाँ पर वह तट के किनारे समान्तर बहती हैं, अधिक वर्षा होती है।

मानसून प्रदेश की वर्षा अधिक वेगशील और मूसलाधार होती है। इसकी मुख्य विशेषता यह होती है कि समय तथा स्थान के लिहाज से यह अनियमित तथा अनिश्चित होती है। अतः इन स्थानों में अकाल तथा बाढ़ बहुत दुखदायी हुआ करते हैं।

केवल इसी प्रदेश में वार्षिक औसत वर्षा किसी किसी स्थान पर ४००" से अधिक होती है। परन्तु साधारणतः वर्षा का वितरण ऐसा है कि इसके अनुसार हम

इसे चार प्रकार की पेटियों में विभाजित कर सकते हैं :—(१) ८०" से ऊपर वर्षा पाने वाली पेटि, (२) वह पेटि जिनमें वर्षा ४०" से ८०" तक होती है (३) जिनमें वर्षा २०" से ४०" तक होती है तथा (४) जिनमें वार्षिक वर्षा २०" से कम होती है।

प्राकृतिक वनस्पति तथा जीव-जन्तु—इस प्रदेश की प्राकृतिक वनस्पति विषुवतरेखीय जंगलों की अपेक्षा अधिक खुले हुए वन हैं, जिनमें घास पतवार नहीं होती। ये जंगल अधिक घने नहीं हैं। साल तथा सागौन यहाँ के महत्त्वपूर्ण वृक्ष हैं। ये वृक्ष पतझड़ जाति के होते हैं जो अपनी पत्तियों को गर्म शुष्क काल में गिरा देते हैं।

वर्षा की मात्रा ही वनस्पति निश्चित करती है। उन क्षेत्रों में जहाँ ८०" से अधिक वार्षिक वर्षा होती है, घने सदाबहार जंगल पाये जाते हैं। जहाँ वार्षिक वर्षा ४०" से ८०" तक होती है वहाँ पर वास्तविक मानसूनी जंगल पाये जाते हैं। आगे जैसे जैसे वर्षा कम होती चली जाती है ये जंगल भी झाड़ियों में बदलते जाते हैं। इन झाड़ी प्रदेशों के बीच-बीच घास के मैदान पाये जाते हैं।

इस प्रदेश में बहुधा पाये जाने वाले जीव-जन्तु वनस्पति खाने वाले, गाय, बैल, भैंस तथा हाथी हैं। परन्तु घने जंगलों में मांस खाने वाले जंगली जानवर पाये जाते हैं।

लांग तथा औद्योगिक विकास—संसार के मानसूनी जलवायु वाले प्रदेश सबसे अधिक जन-संख्या का पोषण करते हैं। संसार की जनसंख्या का चौथाई हिस्सा इन प्रदेशों में पाया जाता है। यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है।

इस प्रदेश में नदी द्वारा लाई हुई उपजाऊ मिट्टी की अधिकता है जो प्रतिवर्ष बाढ़ों द्वारा बदल बी जाती है। यद्यपि मिट्टी में वनस्पति के सड़े-गले अंश की कमी है तथा कहीं कहीं पर रेहदार मिट्टी के क्षेत्र भी पाये जाते हैं, परन्तु फिर भी यह बहुत गहरी तथा उपजाऊ होती है। कुछ स्थानों पर ऐसी मिट्टी पायी जाती है जिसमें चूना तथा फास्फेट (Phosphates) की अधिकता होती है। मिट्टी का उपजाऊपन ही जनसंख्या के केन्द्रीयकरण को निश्चित करता है। यही कारण है कि आस्ट्रेलिया का उत्तरी प्रदेश इतना अधिक विकसित नहीं है जितना कि भारत, बर्मा तथा दक्षिणी चीन हैं। चूँकि इस प्रदेश में जीविका कमाने के लिए अपेक्षाकृत कम परिश्रम की आवश्यकता होती है, अतः इसको "विकास के प्रदेश (Regions of Increment)" कहते हैं।

इन प्रदेशों में जंगल व्यापारिक लकड़ी के महत्त्वपूर्ण साधन नहीं हैं। यहाँ के जंगलों के मुख्य वृक्ष भारतवर्ष में साल, शीशम तथा सागौन (Teak) हैं तथा दक्षिणी अमरीका में ग्रानचाको (Granchacho) हैं। तेल, गोंद, लाख जैसी गौण उपज अधिक महत्त्वपूर्ण है।

घास के मैदान स्थायी नहीं हैं और ना ही उनमें अच्छी प्रकार की घास उत्पन्न होती है। अतः पशुओं का चराना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

केवल कृषि ही मनुष्यों का प्रधान व्यवसाय रह जाता है, क्योंकि कृषि के लिये निम्नलिखित अनुकूल साधन यहाँ प्राप्त हैं :—(१) मिट्टी का उपजाऊपन, (२) सम्पूर्ण वर्ष अनुकूल तापक्रम, (३) सिंचाई के लिए सुविधायें तथा, (४) भूमि पर जनसंख्या का भार। अतः शीतोष्ण तथा उष्णकटिबन्धीय दोनों ही प्रकार की

फसलें उगाई जाती हैं। यहाँ की खास फसले, चावल, गेहूँ, रूई, गन्ना तथा तिलहन (oilseeds) हैं। चाय और पटसन (jute) पर इसका एकाधिकार है।

इन प्रदेशों में विस्तृत तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राकृतिक साधन हैं, परन्तु श्रमिकों की कमी, यातायात की कठिनाईयों, तथा व्यापारिक केन्द्र अथवा बाजार से अधिक दूरी पर पाये जाने के कारण, अधिक औद्योगीकरण संभव नहीं हुआ है।

ब—शुष्क जलवायु

इस प्रकार की जलवायु की विशेषता यह है कि यहाँ पर वर्षा की कमी होती है तथा वाष्पीभवन बराबर होता है। चूँकि वर्षा की कमी केवल वर्षा की पूर्ण मात्रा पर ही निर्भर नहीं है, परन्तु वाष्पीभवन पर भी आधारित है, अतः इस जलवायु के क्षेत्र की कोई भी निश्चितसीमा नहीं है।

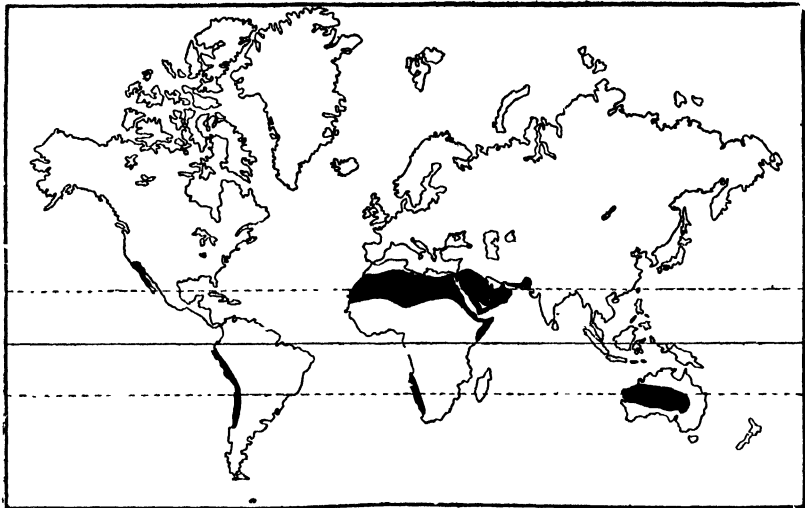
शुष्क जलवायु में दो प्रकार के प्रदेश सम्मिलित हैं :—(१) पूर्ण शुष्क अथवा मरुस्थल तुल्य तथा (२) अर्द्ध शुष्क अथवा स्टेपी तुल्य। इसके अतिरिक्त ये विभाग निचले तथा माध्यमिक दोनों ही अक्षांशों में पाये जाते हैं। अतः शुष्क अथवा उष्ण जलवायु में (१) गर्म अथवा निम्न अक्षांशों वाले रेगिस्तान, (२) गर्म अथवा निम्न-अक्षांशों के स्टेपी, (३) शीतोष्ण (Temperate) अथवा माध्यमिक अक्षांशों के रेगिस्तान, तथा (४) शीतोष्ण (Temperate) अथवा माध्यमिक अक्षांशों के स्टेपी सम्मिलित है। कोपीन के अनुसार आर्द्र और अर्द्ध शुष्क प्रदेशों के बीच सीमा निश्चय करने वाली वर्षा की मात्रा की आधी वर्षा अर्द्ध शुष्क तथा शुष्क प्रदेशों के मध्य सीमा बनाती है। अतः यदि आर्द्र और अर्द्ध शुष्क जलवायु के बीच की सीमा हम २०" जलवृष्टि से अंकित करें, तो अर्द्ध शुष्क तथा शुष्क प्रदेशों की सीमा १०" जलवृष्टि से अंकित की जावेगी।

तापक्रमिक दशाये—भिन्न-भिन्न अक्षांशों में शुष्क जलवायु की भिन्न-भिन्न विशेषताएँ होती हैं। तिस पर भी इसके तीन निश्चित लक्षण यह हैं :—(१) अत्यधिक मौसमी तापक्रम, (२) अधिक वार्षिक तथा दैनिक तापान्तर, (३) कम आर्द्रता (humidity) तथा कम वनस्पति के कारण सूर्यताप की अधिकता।

हवाये तथा वृष्टि—पृथ्वी के धरातल की अव्यवस्थाओं से किसी प्रकार की रूकावट न पड़ने के कारण, यहाँ पर हवा प्रबल होती है। हवा की प्रबलता विशेष-रूप से दिन के समय अधिक होती है। परन्तु वर्षा बहुत कम होती है तथा प्रत्येक वर्ष अत्यधिक बदलती रहने के कारण, इसकी मात्रा अनिश्चित है। यहाँ की वर्षा पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। यहाँ पर सापेक्ष आर्द्रता (Relative humidity) बहुत कम होती है परन्तु वास्तविक आर्द्रता (Absolute humidity) बहुत ज्यादा होती है। हवायें संतृप्त (Saturated) नहीं होने पातीं, अतः यहाँ पर सूर्य का प्रकाश अधिक होता है तथा मेघाच्छन्नता (Cloudiness) बहुत कम।

(१) गरम अथवा निचले अक्षांशों वाले रेगिस्तान (Hot or Low latitude Desert)—हम जैसे २ उष्णकटिबंधीय जलवायु के प्रदेशों से ध्रुवों की ओर बढ़ते हैं, हमें ऐसे स्थान मिलेंगे जो बहुत गरम तथा शुष्क होते हैं। यह क्षेत्र व्यापारिक

हवाओं की पेटी तथा उपोष्ण उच्च-भार प्रदेश में ही हैं। यहाँ ये पश्चिमी तटों अथवा महाद्वीपों के आन्तरिक भाग में पाये जाते हैं। सहारा, कालाहारी, फारस का रेगिस्तान, आस्ट्रेलिया का रेगिस्तान तथा दक्षिणी अमरीका और अरब के रेगिस्तान, संसार के विशेष गर्म रेगिस्तानी प्रदेश हैं।



चित्र ४७—गर्म रेगिस्तान

तापक्रम तथा ऋतु—इन प्रदेशों की जलवायु पर निम्न बातों का बहुत प्रभाव पड़ता है—(१) व्यापारिक हवायें महाद्वीपों के पूर्वी भाग में समुद्र से चलती हैं, अतः पश्चिमी वायुविमुख तट वर्षाहीन रहते हैं। (२) उच्चभार पेटी, जहाँ इधर-उधर की हवायें इकट्ठा होती हैं, अथवा जहाँ पर हवायें बाहर को चलती हैं तथा जहाँ विरुद्ध व्यापारिक हवायें नीचे को उतरती रहती हैं, (३) पर्वतीय अवरोध जो वर्षा-हीन बृष्टिछाया (rainshadow) क्षेत्रों को घेरे हुए हैं तथा जो समुद्री हवाओं को आन्तरिक क्षेत्र में जाने से रोकते हैं, (४) ठंडी धाराएं—जो पश्चिमी तटों से होकर बहती हैं तथा समुद्र से आने वाली हवाओं को शुष्क बना देती हैं। वेनेज्यूला धारा कालाहारी के पास से गुजरती है, तथा पेटेगोनिया रेगिस्तान के बगल से हम-बोल्ड धारा गुजरती है।

इन क्षेत्रों का विशेष तापक्रम दिन में अधिक हो जाता है, परन्तु स्वतंत्र तथा तीव्र विकिरण के कारण यह रात्रि में बहुत ठंडा हो जाता है। दैनिक तापान्तर 30° से 40° तक होता है। इसी प्रकार गर्म तथा ठंडे महीनों के तापक्रम में भी भिन्नता होती है। ग्रीष्म ऋतु में वायु का तापक्रम अधिक से अधिक 124° से 140° फ० तक हो जाता है। शरद ऋतु में दिन में अधिक से अधिक तापक्रम 70° से 60° फ० तक पहुंचता है। अतः तापक्रम का वार्षिक अन्तर 60° फ० के लगभग होता है। शरद ऋतु में रातें अत्यधिक ठंडी होती हैं, क्योंकि औसत तापक्रम 40° फ० से नीचा होता है।

वर्षा तथा आर्द्रता—वास्तविक आर्द्रता (Absolute humidity) बहुत ज्यादा होती है परन्तु सापेक्ष आर्द्रता (Relative humidity) बहुत कम होती है। अधिक तापक्रम के कारण, वाष्पीभवन (evaporation) अधिक होता है। बहुधा यह वृष्टि के बीस गुने से भी अधिक होता है। कुछ स्थानों पर वर्षा केवल १" ही होती है तथा वाष्पीभवन ५५" होता है। सहारा रेगिस्तान में सापेक्ष आर्द्रता (Relative humidity) बहुत कम, केवल २.१ है। यहाँ आकाश बहुत साफ होता है तथा मेघाच्छिन्नता (Cloudiness) बहुत कम होती है, जून में केवल १/१० तथा अक्टूबर में १/३०। वाष्पीभवन (evaporation) इतना अधिक होता है कि बहुधा वर्षा की उतरती हुई बूंदें, पृथ्वी पर पहुँचने से पहले ही जल वाष्प का रूप धारण कर लेती हैं। इसे लटकती हुई वर्षा (hanging rainfall) कहते हैं।

रात्रि के शीघ्र ठंडे हो जाने से ओस तथा कोहरा बन जाता है। कभी-कभी क्यूमूलो निम्बस (cumulonimbus) बादल बन जाते हैं और उनसे घनघोर वर्षा होती है जिसे मेघ का फटना (cloud bursts) कहते हैं—वर्षा प्रबल होती है तथा अधिकतर वाहनिक बौछारों में होती है। वार्षिक वर्षा का औसत ५" से १०" तक से अधिक नहीं होता परन्तु स्थानों की स्थिति के अनुसार यह मात्रा बदलती रहती है तथा वृष्टि का महीना भी बदलता रहता है। उष्ण कटिबंधीय घास के मैदानों की तरफ वर्षा गर्मियों के महीनों में होती है परन्तु उत्तरी किनारों पर जहाँ रेगिस्तान भूमध्य सागरीय प्रदेश से मिलते हैं, वर्षा शरद ऋतु में होती है तथा चक्रवातीय (cyclonic) होती है।

रेगिस्तानों की वर्षा मूसलाधार परन्तु अनिश्चित होती है। जब उष्णकटिबंधीय घास के मैदानों की भटकी हुई हवाएँ रेगिस्तानों के ऊपर आती हैं, वे वाष्पीभवन के कारण और भी अधिक ऊँचाई पर उठ जाती हैं। वहाँ वह बादलों का रूप धारण कर लेती हैं तथा वर्षा करती हैं। यह वर्षा इतनी होती है जितनी रेगिस्तानी क्षेत्रों के अतिरिक्त और क्षेत्रों में होती है। यह वर्षा थोड़े समय ही होती है, तथा इससे बहुत हानि होती है क्योंकि शुष्क वादियों (wadis) में बाढ़ आजाती है। मेघों का यह फटना (cloud bursts) रेगिस्तानों में इतना अधिक होता है कि आदिकाल में रेगिस्तानों के मनुष्य यह विश्वास करते थे कि आकाश चार खम्भों पर टिका है तथा वर्षा स्वर्ग की खिड़कियों में से होती है।

वर्षा का वितरण अनिश्चित है तथा अनावृष्टि का काल कई साल तक चलता है। ऐसा अनुमान है कि यदि मानसून क्षेत्रों में अनावृष्टि काल कई वर्ष तक बढ़ जावे, तो वह प्रदेश रेगिस्तान हो जावेगा। इस बात का प्रमाण भी है कि रेगिस्तान गंगा की घाटी की ओर बढ़ रहा है।

दोपहर के बाद तथा शाम के वक्त धूल उड़ाने वाली हवाये आती हैं।

पृथ्वी की बनावट तथा मिट्टी—गर्म रेगिस्तानों के अन्दर रेत का अयाह, अनन्त समुद्र है, जो रेत के टीलों की श्रेणी में व्यवस्थित है। यह रेत के टीले हवा के साथ-साथ चलते हैं और जहाँ भी यह बन्ते हैं वहाँ प्रलय मचा देते हैं। इन प्रदेशों की धरातल की आकृति वायु द्वारा आवरणक्षय का नमूना है।

आर्थिक दृष्टि-कोण से इन गरम रेगिस्तानों में पठारी रेगिस्तान (plateau deserts) अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यह उन पठारों के बने हुए हैं जिनमें कट-कट कर घाटी बन गई है और बाद में निचले प्रदेश बन गये हैं अतः पठारी रेगिस्तानों के दो भाग होते हैं। 'हामदा' (Hamda) अथवा पठार तथा 'अर्ग' (Erg) अथवा घाटी। इनमें बहुत सी वादियां (wadis) होती हैं जो एक प्रकार से तीव्र ढाल वाली दीवारों की घाटी हैं। इनकी तलहटी चपटी होती है तथा वहाँ पर शिला खंड बिछे रहते हैं। वर्षा के पश्चात् इन वादियों (wadis) में बाढ़ आजाती है, परन्तु साधारण रूप से यह कूओं तथा झरनों के केन्द्र होते हैं। अरब तथा सहारा के रेगिस्तान, दक्षिणी अमरीका के पेंटेगोनिया, आस्ट्रेलिया तथा अमरीका के रेगिस्तान सब पठारी हैं। सहारा और अरब के रेगिस्तान हामदा (Hamda) हैं तथा लीबिया और सिन्ध के रेगिस्तान अर्ग (Erg) हैं। इन प्रदेशों की वादियों में (wadis) बहुत से मरुद्यान (oasis) बन जाते हैं जहाँ पर मनुष्य स्थाई रूप से रहते हैं।

वादियों (wadis) के आस पास के क्षेत्र को छोड़ कर तथा उन प्रदेशों को छोड़कर, जहाँ नील नदी जैसा बाहरी जल होता है, जो सुन्दर मिट्टी बहाकर लाती है, सब जगह मिट्टी मोटी होती है। इस मिट्टी में नाइट्रोजन (nitrogen) बहुत कम होता है, हालांकि इनमें फास्फेट (phosphates) बहुत होता है।

प्राकृतिक वनस्पति तथा जीव-जन्तु—कुछ ही ऐसे रेगिस्तान होते हैं जहाँ कुछ भी नहीं उगता वहाँ पर पाई जाने वाली प्राकृतिक वनस्पति नमी पर निर्भर रहती है। चूंकि वर्षा बहुत कम होती है, यहाँ पर शुष्क तथा वर्षा की कमी को पसन्द करने वाली वनस्पति उत्पन्न होती है। वनस्पति के आधार पर गरम रेगिस्तानों के, विषुवत रेखीय किनारों पर छोटी घास के मैदान होते हैं तथा ध्रुवीय किनारों पर छोटी २ झाड़ियाँ पाई जाती हैं।

कम जल तथा अधिक प्रकाश के अनुसार अपने को विकसित करने के लिए, कुछ पौधों की जड़ें लम्बी होती हैं, कुछ के पत्ते तथा तने मोटे और गुदाले होते हैं तथा वृक्षों के ऊपर मोम की पपड़ी सी होती है। बहुत से पौधे ऐसे होते हैं जिनकी छाल मोटी होती है, अथवा जिनमें कम पत्ते होते हैं अथवा जिनमें अधिक कांटे तथा कटाव होते हैं। इस प्रकार प्रकृति इन वृक्षों की रक्षा करती है। ये अनावृष्टि का मुकाबला करते हैं तथा अपने जीवन के लिए नमी ढूँढ़ते हैं। जहाँ कहीं पर भी भूगर्भवती जल झरनों के रूप में प्रगट हो जाता है खजूर के पेड़ उग आते हैं।

वनस्पति के समान, जीव-जन्तु भी जलवायु के अनुसार ही होते हैं। ऊँट इन स्थानों का खास जानवर है। इसका पैर चौड़ा गद्देदार होता है जो रेत के अन्दर नहीं धंसता तथा इसके पेट में पीने के पानी की कमी के विरुद्ध एक थैली होती है जिसमें यह कई दिन का पानी इकट्ठा कर लेता है।

लोग तथा औद्योगिक विकास—जब कभी भी पानी की मांगपूर्ति की व्यवस्था ठीक हो जाती है, मनुष्य कृषि करते हैं, और जहाँ पर खनिज पदार्थ मिल जाते हैं, वहाँ खान खोदने वालों की आबादी बन जाती है। तिस पर भी गरम रेगिस्तानों की जन-संख्या अधिक घनी नहीं है। यहाँ के निवासियों को हम तीन वर्गों में बाँट सकते हैं:—

(१) घूमने वाले अथवा खाना-बदोश (nomadic) जातियाँ, जो अपने ऊँटों के साथ स्थान २ पर घूमते हैं। वे या तो एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान ले जाने का कार्य करते हैं, अथवा लुटेरों और डाकुओं का काम करते हैं।

(२) मरुछानों (oasis) की स्थायी आबादी—यह लोग पत्थर की दीवारों के मकानों में रहते हैं तथा इनका खास व्यवसाय अनाज उगाना अथवा पशु चराना अथवा दोनों ही हैं। इसी वर्ग में वह मनुष्य भी है जो बाहर से आने वाली नदियों के क्षेत्रों में रहते हैं जैसे नील तथा सिन्धु। इनका मुख्य व्यवसाय रूई जैसी व्यापारिक फसलें उगाना है—ईराक में खजूर अधिक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक फसल है। खाद्य फसलों में जौ तथा गेहूँ, महत्त्वपूर्ण हैं। जौ, गेहूँ की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(३) खान खोदने वालों की स्थायी जनसंख्या, जो आस्ट्रेलिया में सोने की खोज तथा दक्षिणी अमरीका में ग्वाको (guacho) तथा शोरे (nitrate) के भंडार से आकृषित होकर यहाँ बस गये हैं। खानों के केन्द्र के चारों ओर सरकार द्वारा बहुत सी सुविधायें उपस्थित कर दी गई हैं, अतः नियमित आबादी रहती है।

यह प्रदेश ओद्योगिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुये हैं, क्योंकि (१) लोहे तथा कोयले की कमी के साथ-साथ, (२) उपभोग करने वाली जनसंख्या की कमी है। यहां पर किसी भी प्रकार का शिल्प-उद्योग नहीं होता। विदेशी बाजारों में उनके कृषि तथा खनिज उपज के उपभोग तथा माँग पर ही उनकी आर्थिक व्यवस्था निर्भर है।

इन क्षेत्रों में मुख्य नगरों की स्थिति व्यापारिक मार्गों के मिलन बिन्दु अथवा बाहर से आई हुई नदियों के, द्वारा निश्चित की जाती है। काहिरा, कराँची, इक्वीक, बगदाद, रेगिस्तानी प्रदेशों के कुछ महत्त्वपूर्ण नगर हैं।

(२) निम्न अक्षांशों की या गर्म स्टेपी प्रदेश (Low Latitude or Hot Steppe)—यह उष्ण कटिबंधीय सवान्ना तथा गर्म रेगिस्तानों के मध्य स्थित है। पश्चिमी तटों को छोड़कर ये सारे गर्म रेगिस्तानों को घेरे हुए तथा यह रेगिस्तानों तथा सवाना प्रदेश के मध्य अन्तरिम पट्टी बनाते हैं। यह १०° चौड़ी पट्टी है, तथा गर्म रेगिस्तान के दोनों ओर उत्तर और दक्षिण में २०° तथा ३०° अक्षांशों के बीच स्थित है। वर्ष के किसी विशेष भाग में यह वर्षामयी हवाओं तथा उनके तूफानों के प्रभाव में आ जाते हैं। इसी कारण ये अर्द्ध शुष्क होते हैं।

विशिष्ट गर्म स्टेपी प्रदेश अफ्रीका में विस्तृत रूप से हैं, जहाँ गरम स्टेपी की दो पेट्टियाँ हैं—एक सहारा के दक्षिण की ओर तथा दूसरी कालाहारी रेगिस्तान के उत्तर की ओर। पहली पट्टी उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित है। तथा दूसरी पट्टी दक्षिणी गोलार्द्ध में स्थित है। दूसरे क्षेत्र जो इसी प्रकार के हैं, परन्तु कम विस्तृत हैं, मेक्सिको, उत्तरी आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, ईरान के भाग, उत्तरी भारत, उत्तरी पश्चिमी युकाटान, दक्षिणी पश्चिमी मेडागास्कर तथा वरमा में मध्यवर्ती ईरावदी घाटी में पाये जाते हैं। [देखिये चित्र नं० ४५]।

तापक्रम, वर्षा तथा आर्द्रता—गर्म स्टेपी में सम्पूर्ण वर्ष अत्यधिक तापक्रम रहता है तथा वर्षा अत्यधिक कम तथा परिवर्तनशील होती है। वर्षा इस प्रकार

की है कि इस पर निर्भर नहीं रह सकते। कम आद्रता तथा बादल रहित आकाश के कारण, तापान्तर अधिक रहता है। रात्रि में तीव्र विकिरण (radiation) के कारण दिन की अपेक्षा अधिक ठंडक होती है।

स्टेपी प्रदेश में दो ऋतुयें होती हैं—लम्बी शुष्क ऋतु तथा छोटी अनिश्चित नम ऋतु। वार्षिक औसत वर्षा २०'' से कम होती है, तथा साधारणतः यह उस समय होती है जब सूर्य लम्बवत् चमकता होता है। स्टेपी पेटी में जो गर्म रेगिस्तान तथा उष्ण कटिबन्धीय सवाना के मध्य स्थित है, ग्रीष्म ऋतु में अधिक वर्षा होती है। दूसरी ओर उस स्टेपी पेटी में, जो गरम रेगिस्तान तथा भूमध्य रेखीय प्रदेश के मध्य स्थित है, शरद के महीनों में केवल थोड़ी सी वर्षा होती है। परन्तु चूंकि शरद ऋतु में वाष्पी भवन (Evaporation) अधिक नहीं होता, यह कम वर्षा भी पौधों की उत्पत्ति के लिये अत्यधिक प्रभावशाली है। प्रथम स्टेपी प्रदेश में वर्षा व्यापारिक हवाओं द्वारा होती है, तथा दूसरी स्टेपी प्रदेश में वर्षा चक्रवातीय होती है तथा पछुवां के साथ आती है।

उत्तरी गोलार्द्ध में नवम्बर तथा मार्च के बीच शुष्क ऋतु होती है, जब कि सारी पृथ्वी झुलस जाती है तथा धूल उड़ाने वाली हवाये चलती रहती हैं। मार्च से मई तक गर्म शुष्क ऋतु रहती है तथा मई के अन्त में वर्षा प्रारम्भ हो जाती है, जो सितम्बर तक रहती है। अतः इसकी विशेषताये तथा ऋतुये अधिकतर मानसून प्रदेशों की तरह हैं।

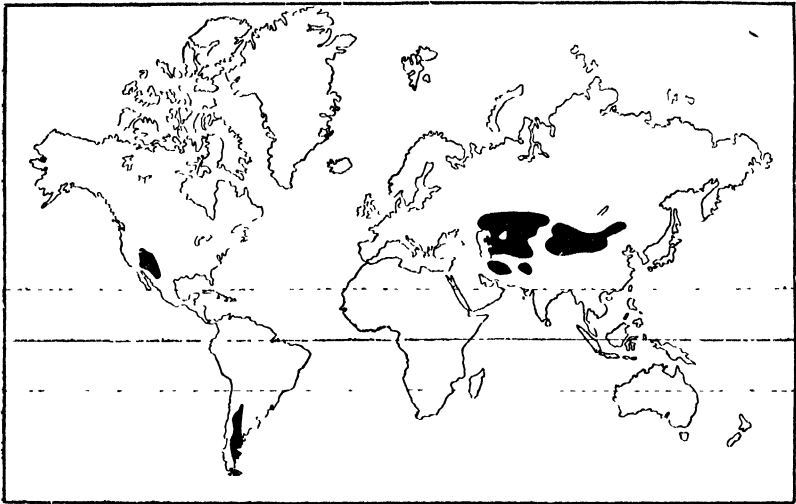
प्राकृतिक वनस्पति तथा जीव-जन्तु—गर्म स्टेपी प्रदेश की प्राकृतिक वनस्पति छोटी घास तथा झाड़ियाँ हैं। झाड़ियाँ कांटेदार होती हैं तथा उनकी पत्तियाँ छोटी परन्तु जड़े लम्बी होती हैं। वास्तव में ये रेगिस्तानी वनस्पति की ही एक प्रकार है। इसमें प्राकृतिक रूप से स्वयं ही नमी प्राप्त करने की शक्ति होती है। घास के फेलाद को कुछ वृक्ष रोकते हैं जो विषुवतरेखीय किनारों पर तितर-बितर रूप में पाये जाते हैं। घास स्थल के भिन्न-भिन्न टुकड़ों पर उगती है, जिनके बीच-बीच वनस्पतिहीन स्थल पाये जाते हैं।

यहाँ के जीवजन्तु उसी प्रकार के होते हैं, जैसे उष्ण कटिबन्धीय सवाना क्षेत्रों में पाये जाते हैं।

मनुष्य तथा औद्योगिक विकास—इन क्षेत्रों में घनी तथा उपजाऊ मिट्टी अधिकता से पाई जाती है, परन्तु लम्बे शुष्क मौसम के कारण, विस्तृत रूप से कृषि तथा पशु-चारण सम्भव नहीं केवल छोटे पैमाने पर ही हो सकता है। जहाँ-जहाँ सिंचाई की सुविधायें उपस्थित हैं, कुछ फसलें उगाई जाती हैं। परन्तु फसलों का उगाना अधिक उन्नतिशील नहीं है, चूंकि उसी प्रकार की फसलें दूसरी अनुकूल वशाओं में अधिक सफलतापूर्वक उगाई जा सकती हैं।

(३) मध्य अक्षांशीय अथवा शीतोष्ण रेगिस्तान (Middle Latitude or Temperate Deserts)—संसार के सारे शीतोष्ण रेगिस्तान महाद्वीपों के आन्तरिक भाग में पाये जाते हैं, अर्थात् यह सामुद्रिक प्रभाव से दूर अथवा पर्वत श्रेणियों के द्वारा महासागरों के प्रभाव से वंचित रहते हैं। यह शीतोष्ण रेगिस्तान

ऐसे पठारों अथवा घाटियों में होते हैं जो पर्वतों से घिरे हुए होते हैं। अतः भिन्न-भिन्न ऊँचाई तथा अक्षांशों के अनुसार वे दो प्रकार के कहे जाते हैं :



चित्र ४८—मध्य अक्षांसीय अथवा शीतोष्ण रेगिस्तान

(अ) तिब्बत तुल्य—इसके अन्तर्गत एशिया में तिब्बत के ऊँचे पठार हैं तथा दक्षिणी अमेरिका में बोलिविया के पठार हैं।

(ब) ईरान तुल्य—इसके अन्तर्गत वह घाटियाँ हैं जो पर्वतों से घिरी हुई हैं। इनके विशेष उदाहरण, एशिया में गोबी, शामो, ईरान तथा तुर्किस्तान की घाटियाँ हैं तथा संयुक्त राष्ट्र में ग्रेट बेसिन (Great Basin) है। इन घाटियों को 'बोल्सन' (Bolsons) कहते हैं, तथा यह चारों ओर से पर्वतों से घिरे हुए वृष्टि छाया प्रदेश में स्थित हैं। यह बोल्सन (Bolsons) अनियमित नमक की झीलों से ढके हुए हैं, जिन्हें प्लाय (Playas) कहते हैं। इनमें से कुछ प्रदेश समुद्र तल पर स्थित हैं जैसे रूसी तुर्किस्तान में तूरान घाटी है, तथा कुछ समुद्र तल से नीचे की ओर भी स्थित हैं, जैसे तारिम घाटी। अतः सतह की इस भिन्नता के कारण, जलवायु की दशाओं में परिवर्तन हो जाता है।

तापक्रम तथा वर्षा—महाद्वीपों के मध्य में स्थित रहने के कारण साधारणतः इनका तापांतर अधिक होता है—मौसमी और दैनिक तापांतर दोनों ही अधिक होते हैं। ग्रीष्म ऋतु गर्म होती है तथा शरद ऋतु अपेक्षाकृत ठंडी होती है, हालांकि स्थिति तथा अक्षांसीय विस्तार के अनुसार वास्तविक तापक्रम प्रदेश प्रदेश में भिन्न-भिन्न होता है। साधारणतः ग्रीष्म ऋतु में दिन का तापक्रम 100°F से भी अधिक रहता है। तिब्बत में धूप में पृथ्वी के धरातल का तापक्रम 130°F से भी अधिक हो जाता है परन्तु छाया में तापक्रम हिमांक (freezing point) तक हो जाता है। उन प्रदेशों में जो अपेक्षाकृत नीचाई पर स्थित हैं, तथा पर्वतों से घिरे हुए हैं, ग्रीष्म काल का तापक्रम संसार में सबसे अधिक होता है। परन्तु भूमि से ताप विकिरण के कारण,

रात्रियाँ अतीव ठंडी हो जाती हैं ।

वृष्टि कम होती है । और इसका कुछ भाग बर्फ के रूप में प्राप्त होता है । वर्षा की कमी निम्नलिखित कारणों से है—(१) इनकी आन्तरिक स्थिति अर्थात् यह महाद्वीपों के मध्य में है जहाँ हवायें नहीं पहुँच पातीं, और यदि पहुँचती भी हैं, तो वह उस समय तक शुष्क हो जाती हैं; तथा (२) इन प्रदेशों के ऊपर अत्यधिक विकसित मौसमी विरुद्ध चक्रवात (Seasonal anti-cyclones) होते हैं । वार्षिक औसत वर्षा १०" से कभी भी अधिक नहीं होती, तथा गर्मियों में और भी कम हो जाती है । परन्तु उन प्रदेशों में जो भूमध्य सागरीय प्रदेशों के किनारे स्थित हैं, शरद ऋतु में चक्रवातों (cyclones) द्वारा वर्षा होती है ।

प्राकृतिक वनस्पति तथा जीव जन्तु—शीतोष्ण (Temperate) रेगिस्तानों में इतने भिन्न २ प्रकार के प्रदेश हैं कि उनकी वनस्पति का सामान्य रूप से वर्णन करना सम्भव नहीं । कुछ शीतोष्ण रेगिस्तानों, छोटी घास के मैदान हैं, तथा कुछ में काँटेदार झाड़ियाँ पायी जाती हैं । तिब्बत तथा बोलीविया जैसे प्रदेशों में, अधिक ऊँचाई के कारण, विशेष प्रकार की वनस्पति पैदा होती है, तथा घाटियों और बोलसन (Bolsons) में मिश्रित मरुस्थानों जैसी वनस्पति पैदा होती है । पूर्ण रूप से वनस्पति ऐसी नहीं जो जीव जन्तुओं का पोषण कर सके । केवल कुछ अनुकूल प्रदेशों में कुछ भेड़ तथा बकरियों को पाला जाता है । तिब्बत प्रदेश में याक जानवर पाया जाता है तथा बोलीविया के उत्तरी ढालों पर, विषयूना जानवर का स्थानीय महत्त्व है ।

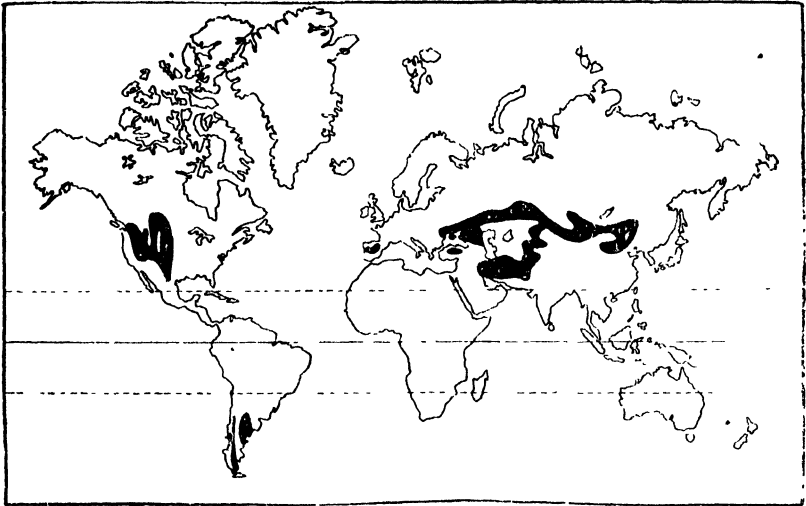
लोग तथा औद्योगिक विकास—पहुँच से बाहर स्थिति, विषम जलवायु तथा कम वर्षा के कारण, इन प्रदेशों को 'निरन्तर कठिनाई के प्रदेश' (Regions of lasting difficulty) कहते हैं । मिट्टी अच्छी तथा उपजाऊ है, परन्तु कृषि केवल उन्हीं स्थानों पर सम्भव है जहाँ जल प्राप्त हो सकता है । संयुक्त राष्ट्र अमरीका में सिंचाई की सुविधायें अत्यधिक विकसित हो गई हैं । अतः अलफाफा घास, टमाटर इत्यादि की फसलें उगाई जाती हैं । कुछ फल भी यहाँ पर उगाये जाते हैं । परन्तु कुछ और घाटियाँ अथवा बोलसन (Bolsons) आन्तरिक प्रवाह क्षेत्र होने के कारण ऐसे हैं कि उनकी भूमि क्षार तथा अनुपजाऊ हो जाती है । इसी कारण से ये बहुत कम विकसित हैं तथा संसार में आर्थिक रूप से सबसे अधिक पिछड़े हुये प्रदेश हैं ।

कुछ प्रदेश खनिज पदार्थों के मिलने के कारण विकसित हो गये हैं । बोलीविया टीन तथा ताँबे के लिये प्रसिद्ध है । इस प्रकार के प्रदेशों को छोड़कर शीतोष्ण रेगिस्तान बहुत कम बसे हुये हैं तथा संसार के आर्थिक नकशे में इनका कोई भी स्थान नहीं है ।

(४) मध्य अक्षांशीय अथवा शीतोष्ण स्टेपी प्रदेश (Middle Latitude or Temperate Steppe)—शीतोष्ण रेगिस्तानों की भांति शीतोष्ण स्टेपी भी महाद्वीपों के आन्तरिक भाग में स्थित । इनके विशेष प्रदेश एशिया में ईरान, एनाटोलिया तथा रूसी तुर्किस्तान हैं; यूरोप में केस्पियन कामेदान तथा दक्षिणी पूर्वी रूस हैं; दक्षिणी अमरीका में पम्पाज, ग्रेनचेको तथा पेटेगोनिया के कुछ भाग हैं और उत्तरी अमरीका में राकी पर्वत के पूर्वी ढाल पर मेक्सिको से कोलम्बिया पठार

तक का विस्तृत क्षेत्र है। यह प्रदेश अर्द्ध शुष्क है तथा शीतोष्ण रेगिस्तानों के किनारे स्थित है।

तापक्रम तथा ऋतु—अक्षांशीय विस्तार तथा ऊँचाई के अनुसार स्थिति में भिन्नता के कारण, तापक्रमिक दशायेँ बहुत भिन्न २ हैं। मौसमी तथा दैनिक तापान्तर बहुत ज्यादा है। ग्रीष्म ऋतु काफी गरम होती है। ग्रीष्म ऋतु में औसत तापक्रम



चित्र ४६—मध्य अधाशीय स्टेपी

इतना अधिक होता है कि १०० फ० तक पहुँचता है, परन्तु शरद ऋतु में तापक्रम बहुत कम होता है, इतना कम होता है कि ध्रुव की ओर वाले किनारों पर यह २० फ० होता है तथा विषुवतरेखीय किनारों पर लगभग ४० से ५० फ० तक रहता है। जुलाई सबसे अधिक गर्म तथा जनवरी सबसे अधिक ठंडा महीना है।

हवायें तथा वर्षा—अर्द्ध शुष्क शीतोष्ण स्टेपी प्रदेश पछुवा हवाओं की पेटी में स्थित है, परन्तु आन्तरिक स्थिति के कारण अथवा पर्वत श्रेणियों के कारण यह उन हवाओं के प्रभाव से वंचित है। इसके अतिरिक्त आस पास में चक्रवातों (cyclone) के गुजरने के कारण इन प्रदेशों में हवाओं की दशा अस्थिर रहती है। गर्मी के महीनों में राकी पर्वत के पूर्वी ढालों के बड़े मैदानों में गरम हवाएं चलती हैं जिन्हें 'तापीय लहर' (Heat waves) कहते हैं, तथा जो केवल दिन के समय ही अत्यधिक भयानक वेग के साथ चलती हैं। शरदऋतु में उत्तरी गोलार्द्ध में इन प्रदेशों के उत्तरी किनारों पर ब्लिजर्ड हवाएं (Blizzards) चलती हैं, जो ठंडी होती हैं तथा इनमें बरफ तथा हिम के कण मिले होते हैं। इनसे तापक्रम शून्य से भी कम हो जाता है अतः भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। रूस तथा साइबेरिया में इनको बूरान हवाएं (Burans) कहते हैं। इन महीनों में शीत लहर भी चलती है तथा उस समय चलती है जब शीतोष्ण चक्रवात का शीत सीमान्त इन प्रदेशों से गुजरता है। यह भी भूमि को हिम आवरण से ढक देती है तथा जिन २ फसलों पर से यह गुजरती है, उनको बरबाद कर देती

है। शरद ऋतु में चिनूक हवाएं (chinooks) जो राकी पर्वत के पूर्वी ढालों पर उतरती है, गरम शुष्क होती है। इनका इन प्रदेशों के मनुष्य बहुत स्वागत करते हैं। यह अत्यधिक निम्न शरद तापक्रम को सहन करने योग्य तथा सुहावना बना देती है।

वर्षा कम, अनिश्चित तथा अनियमित होती है। औसत वर्षा १०" से २०" तक रहता है, तथा अधिकतर वर्षा गरमी के महीनों के शुरू में होती है। अतः शरद ऋतु शुष्क रहती है। यह कम वर्षा भी इतनी अधिक अनिश्चित होती है कि कई-कई साल तक वर्षा ही नहीं होती। नम तथा शुष्क वर्ष साधारणतः समूह में आते हैं अतः कृषि कार्य केवल संयोग का विषय हो जाता है।

प्राकृतिक वनस्पति तथा जीवजन्तु—वृक्षों की उत्पत्ति के लिये वर्षा अपर्याप्त होने के कारण, यहां की विशेष वनस्पति घास है। जब वर्षा बहुत कम होती है यह घास बहुत छोटी होती है तथा जब वृष्टि अपेक्षाकृत अधिक होती है, यह घास कुछ लम्बी हो जाती है। इन घास के क्षेत्रों में कहीं-कहीं छोटी-छोटी शुष्कता सहन करने वाली झाड़ियाँ तथा कंटोले पौधे भी उग आते हैं।

इस क्षेत्र में पाये जाने वाले जीव-जन्तु प्रदेश प्रदेश में भिन्न-भिन्न होते हैं। एशिया में इस जलवायु प्रदेश में है घोड़े, गजाल (gazelle) तथा दो कूबड़ वाले ऊँट पाये जाते हैं। शीतोष्ण स्टेपी के उत्तरी अमरीकी सिरे पर बाहर्सिंधे (antelopes); शेर तथा कुत्ते पाये जाते हैं। खरगोश तथा चूहे भी साधारणतः पाये जाते हैं तथा साथ-साथ में भेड़िया भी मिलते हैं जो छोटे-छोटे जीवजन्तुओं का शिकार करते हैं।

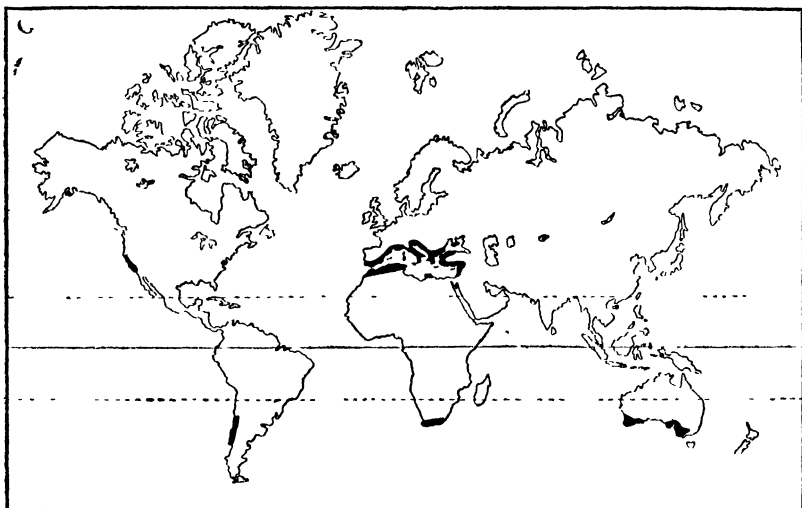
लोग तथा औद्योगिक विकास—इन प्रदेशों में काली मिट्टी होती है जिसमें चूने तथा वनस्पति के सड़े गले अंश की अधिकता होती है। यदि भू-जलस्राव (leaching) नहीं होता तो इनकी उपजाऊ शक्ति बहुत ज्यादा होती है, और यदि इनको उचित मात्रा में जल प्राप्त हो जाता है तो इनसे बहुत अच्छी फसलें होती हैं। परन्तु इन प्रदेशों की आर्थिक व्यवस्था सुचारू नहीं है क्योंकि प्रथम तो यहाँ पानी की कमी है दूसरे वायु द्वारा आवरणक्षय उपजाऊ मिट्टी को हटा देती है तथा इनके स्थान पर दूसरे प्रदेशों की अनुपजाऊ मिट्टी को लाकर जमा कर देती है। यहाँ घूल उड़ाने वाली हवायें अत्यधिक विनाशकारी परिस्थिति उत्पन्न कर देती हैं।

इन प्रदेशों के लोगों का प्रधान व्यवसाय कृषि तथा पशुओं को चराना है। परन्तु उनकी स्थिति तथा व्यापारिक केन्द्र—बाजार तक पहुँच उनकी आर्थिक दशा को निश्चित करते हैं। जहाँ-जहाँ सिंचाई की सुविधाये प्राप्त हैं तथा जहाँ शुष्क खेती हो सकती है, गेहूँ, मक्का, सारधम (sorghum) इत्यादि पैदा किये जाते हैं। कुछ स्थानों पर चकन्दर भी उगाया जाता है।

छोटी घास के क्षेत्रों में भेड़ें पाली जाती हैं तथा लम्बी घास के अधिक आर्द्र क्षेत्रों में पशु चराये जाते हैं। चूँकि कभी-कभी वर्षा बिल्कुल नहीं होती, अतः कुछ स्थानों में जानवरों की चरी आदि उगाई जाती है जो अनावृष्टि काल में सहायक होती है। इस प्रकार के चरागाह तथा पशु चारण भूमियों को कांटेदार तार द्वारा घेर देते हैं। इन में बहुधा सिंचाई भी की जाती है।

स—तर समताप जलवायु (Humid Mesothermal Climate)

इस प्रकार की जलवायु शीतोष्ण प्रदेशों में पाई जाती है तथा इसकी विशेषता यह है कि यहाँ पर अत्यधिक गरम तथा ठंडा तापक्रम नहीं पाया जाता। यहाँ न तो इतनी अधिक गरमी होती जितनी कि उष्णकटिबंध में और न इतनी ठंड होती है जितनी कि ध्रुवीय प्रदेशों में, अतः इन सम तापक्रमिक दशाओं के अनुसार, इसमें सामान्य ऋतुये होती हैं।



चित्र ५०—भूमध्य सागरीय जलवायु

इस प्रकार की जलवायु के प्रदेश या तो मध्यवर्ती अक्षांशों के विषुवतरेखा की ओर वाले किनारों पर हैं अथवा ध्रुवों की ओर वाले क्षेत्रों में समुद्र तट के समीप पाये जाते हैं। इस प्रकार की जलवायु के प्रदेशों में ग्रीष्म ऋतु गरम होती है तथा शरद ऋतु ठंडी होती है, और वनस्पति उत्पादन के लिये वर्षा पर्याप्त होती है। तिस पर भी स्थिति भिन्नता तथा अक्षांशरेखीय विस्तार के कारण स्थानीय भेद उत्पन्न हो जाते हैं। फलस्वरूप गर्म शीतोष्ण प्रदेशों की आर्द्र समताप जलवायु के तीन उप-विभाग हो जाते हैं :—

- (१) शुष्क ग्रीष्म ऋतु वाली उपोष्णीय (Dry Summer Subtropical) अथवा भूमध्य सागरीय जलवायु।
- (२) आर्द्र उपोष्णीय (Wet Subtropical) अथवा चीन तुल्य जलवायु।
- (३) पश्चिमी समुद्र तटीय (Marine west coast) अथवा पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु।

(१) शुष्क ग्रीष्म ऋतु वाली उपोष्णीय अथवा भूमध्यसागरीय जलवायु (Dry Summer Subtropical or Mediterranean Type)—जैसा कि

इसके नाम से प्रत्यक्ष है, इन प्रदेशों में उस प्रकार की जलवायु होती है जैसी भूमध्य सागर के चारों ओर पाई जाती है। इन प्रदेशों में इस जलवायु के होने का कारण सूर्य का विषुवतरेखा के उत्तर-दक्षिण की ओर खिसकना है। यह हवाओं की पेटियों को भी इधर-उधर खिसका देती है। इसका परिणाम यह होता है कि पृथ्वी के कुछ भाग, जो अनुमानतः विषुवतरेखा के दोनों ओर 30° तथा 45° अक्षांश रेखा के मध्य स्थित हैं, गर्मी के मौसम में व्यापारिक हवाओं की पेटि में आते हैं तथा जाड़ों में पछुवा हवाओं (westerlies) की पेटि की ओर खिसक जाते हैं।

उत्तरी अमरीका में केलीफोर्निया, दक्षिणी अमरीका में मध्य चिली, दक्षिणी अफ्रीका में दक्षिणी-पश्चिमी केप प्रान्त तथा पश्चिमी आस्ट्रेलिया का दक्षिणी-पश्चिमी भाग और विक्टोरिया का कुछ भाग, इस प्रकार की जलवायु के प्रधान प्रदेश हैं। यह देखा गया है कि यह नियमित रूप से महाद्वीपों के पश्चिमी तट पर होते हैं, परन्तु भूमध्य सागर के चारों ओर के क्षेत्रों के अतिरिक्त जहाँ इस प्रकार की जलवायु २,००० मील के क्षेत्र में पाई जाती है, और कहीं पर भी यह जलवायु इतने विस्तार में नहीं है।

जलवायु—दक्षिण में गर्म रेगिस्तान तथा उत्तर में ठंडे शीतोष्ण प्रदेशों के मध्य, यह एक अन्तरिम जलवायु का प्रदेश है। हवाओं की पेटियों के सरकने के कारण, यह प्रदेश ग्रीष्म ऋतु में गर्म रेगिस्तानों से मिल जाते हैं तथा आर्द्र मध्यवर्ती अक्षांशों के चक्रवातों के प्रभाव में आ जाते हैं। ग्रीष्म ऋतु में ये प्रदेश गरम रेगिस्तानों की तरह, जो इनके दक्षिण में हैं तथा जहाँ से इनकी ओर हवाये चलती हैं, गरम तथा शुष्क हो जाते हैं। सर्दियों के महीनों में यह उन चक्रवातों के प्रभाव में आ जाते हैं जो पछुवा हवाओं के साथ आते हैं तथा उसी प्रकार का परिवर्तनशील मौसम अनुभव करते हैं।

इन प्रदेशों की जलवायु की खास खास विशेषताये निम्नलिखित हैं :—

(१) नम तथा कम ठंडी शरद ऋतु, (२) गरम अथवा गरम तथा शुष्क ग्रीष्म ऋतु, (३) सूर्य प्रकाश की अधिकता तथा बादल रहित दिनों की अधिक संख्या, (४) वर्षा की अनियमितता, (५) समुद्र से समीपता अथवा पर्वत श्रेणियों के पीछे महाद्वीपों के आन्तरिक भाग में स्थित होने के कारण उत्पन्न भेद।

इस प्रकार की जलवायु के उन क्षेत्रों में जो रेगिस्तानों के समीप हैं, अनावृष्टि काल, लम्बा तथा कठिन होता है तथा ध्रुवों के समीप यह काल बहुत छोटा है। पेल्लेस्टाइन में शुष्क काल की अवधि ६ माह है जबकि यूनान में यह केवल एक मास है। समुद्र से समीपता के कारण साधारण विशेषताओं में भी सुधार होता है। वह क्षेत्र जिनकी स्थिति समुद्र के समीप होती है, वर्षा अधिक होती है, तथा हम जैसे-जैसे आन्तरिक भाग की ओर बढ़ते जाते हैं वर्षा कम होती जाती है।

इस प्रकार की जलवायु के वे प्रदेश जो समुद्र पर अथवा समुद्र के समीप स्थित हैं, उन पर समुद्र का तथा तटवर्ती जलधाराओं का समकारी प्रभाव होता है। इसका नतीजा यह होता है कि गर्मियां ठंडी होती हैं, कुहरा अक्सर पड़ता है तथा सबसे अधिक गर्मी का महीना अगस्त हो जाता है। शरद ऋतु साधारणतः कम ठंडी

होती है तथा कुहरा रहित होती है। वार्षिक तथा दैनिक तापान्तर बहुत कम होता है।

दूसरी ओर, इस प्रकार की जलवायु के वह प्रदेश जो समुद्रों के किनारों से दूर, महाद्वीपों के आन्तरिक भाग में बसे हैं उनमें विषम जलवायु पाई जाती है। हालांकि शरद ऋतु तो फिर भी कम ठंडी ही होती है, परन्तु गर्मियाँ अधिक गर्म होती हैं तथा वार्षिक तापान्तर १५° से भी अधिक हो जाता है।

पर्वत दीवार का काम करते हैं और इस जलवायु के प्रभाव को आन्तरिक भाग तक जाने से रोकते हैं तथा अपने वायुविमुख भाग (leeward side) में शुष्कता उत्पन्न कर देते हैं।

तापक्रम तथा ऋतुये—यहाँ पर दो ऋतुये होती हैं—पहली छोटी, कम ठंडी तथा नम शरद ऋतु तथा दूसरी लम्बी, शुष्क तथा गरम ग्रीष्म ऋतु। चक्रवातों के प्रभाव के कारण, इन क्षेत्रों का तापक्रम बहुत अनियमित होता है। रेगिस्तान, ठंडे शीतोष्ण प्रदेश अथवा समुद्र से समीपता द्वारा इनमें बहुत परिवर्तन होता है। प्रचलित हवाओं से भी तापक्रम पर बहुत प्रभाव पड़ता है—यूरोप में बोरा (Bora) जंसी ध्रुवों की ओर की ठंडी हवाये तथा रेगिस्तानी किनारों की ओर से आने वाली गर्म हवायें, जिन्हें इटली के प्रायद्वीप में सिरक्को (Sirocco) कहते हैं, उल्लेखनीय हैं। शरद ऋतु का औसत तापक्रम ३५° से ५०° फ० तक रहता है, तथा ग्रीष्म ऋतु में तापक्रम ८०° से १००° फ० तक रहता है। वार्षिक तापान्तर २०° से ३०° फ० के करीब रहता है।

गर्मी के महीनों में दिन बहुत गरम होते हैं परन्तु दुखदायी नहीं होते। मौसम परेशान करने वाला या हवा हीन नहीं होता। आकाश साफ रहता है तथा वायुमण्डल शुष्क रहता है। इससे दिन में अधिक गर्मी रहती है तथा रातें शीघ्र ठंडी हो जाती हैं। रात्रियाँ तर तथा ठंडी होती हैं, और प्रातःकाल बहुत सबरे ही कोहरा पड़ता है।

शरद ऋतु की साधारण अवधि ३ माह है और हालांकि तापक्रम बहुत कम नहीं होता, परन्तु फिर भी ध्रुवों की ओर के भागों पर कुहरा पड़ता है। जाड़े के महीनों में दोपहर का तापक्रम ५५° से ६५° फ० हो जाता है, परन्तु रात का तापक्रम ४०° फ० रहता है। यदि प्रदेश महाद्वीप के आन्तरिक भाग में है, तो औसत तापक्रम हिमांक से १०° से २०° ऊपर रहता है।

साधारणतः सापेक्ष आद्रता (Relative humidity) कम होती है परन्तु चौबीस घंटे में अलग-अलग होती है क्योंकि तापक्रम दिन में बढ़ जाता है तथा रात में लगातार गिर जाता है।

हवाये तथा वर्षा—भूमध्य सागरीय जलवायु के प्रदेश हमेशा भिन्न-भिन्न हवाओं के प्रभाव में रहते हैं तथा इनमें हमेशा बाहर से हवाये आती हैं—जाड़ों में बोरा तथा मिस्ट्रल के समान ठंडी तथा शुष्क हवाये तथा गर्मियों में सिरक्को के समान गर्म तथा शुष्क हवाये। इस प्रकार की जलवायु के सब प्रदेशों में प्रायः इसी प्रकार की हवायें चलती हैं, केवल भिन्नता यह रहती है कि उनकी शक्ति तथा गति संचालन स्थान-स्थान पर भिन्न होती है।

गर्मी के महीनों में प्रचलित हवायें उत्तर से आती हैं तथा सर्वाँ के महीनों में हवायें पश्चिम तथा दक्षिण से आने वाली होती हैं। परन्तु चक्रवातीय तूफानों के आने

से यह बदल जाती है तथा इनमें दिशा परिवर्तन उत्पन्न हो जाता है। तटों पर समुद्री तथा स्थली पवन बहुतायत से चलते हैं।

इन प्रदेशों की औसत वर्षा साधारण है। औसत १५" से २५" से भी कम है। वर्षा अधिकतर जाड़ों में होती है तथा गर्मियाँ शुष्क होती हैं। सारी वर्षा चक्रवातीय होती परन्तु जैसे-जैसे हम विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़े इसकी मात्रा बढ़ती जाती है। तुषारपात कम होता है।

शरद ऋतु निश्चय ही वर्षा का मौसम होता है परन्तु मेघाच्छादित दिनों की संख्या बहुत कम होती है तथा मौसम सुस्ती पैदा करने वाला अथवा अंधकारमय नहीं होता। ग्रीष्म ऋतु के दिनमें तेज धूप रहती है तथा आकाश बादलहीन रहता है। तूफानी आंधियाँ (Thunder storms) अथवा तूफानी मेघ (Storm clouds) वहाँ नहीं होते।

प्राकृतिक वनस्पति तथा जीव जन्तु—साधारणतः ग्रीष्मकाल में सब प्रकार की वनस्पति पैदा होती है, परन्तु गरमी यहाँ पर शुष्क होती है तथा अधिकतर वर्षा जाड़े के दिनों से ही होती है। अतः प्राकृतिक वनस्पति ऐसी होती है जिसे जाड़े में एकत्रित की हुई नमी पर निर्भर रहना पड़ता है, साथ-साथ में अधिक गर्मी के महीनों में वाष्पीभवन (evaporation) द्वारा नमी के नष्ट होने का मुकाबला करना पड़ता है।

अतः खुले मैदानों में घास के साथ-साथ झाड़ियाँ तथा कांटेदार पौधे उगते हैं। झाड़ियाँ तथा कांटेदार पौधे ऐसे होते हैं जिनकी जड़े गहरी होती हैं, छाल मोटी होती है, बहुत से कांटे रहते हैं और पत्ते मोटे होते हैं जिन पर रोयें (छोटे-छोटे बाल) उगे रहते हैं। इन पौधों की शाखाएं टेढ़ी-मेढ़ी तथा गंठिली होती हैं।

नम तथा ऊँचे भागों में जंगल पाये जाते हैं। जंगल भी वायु अभिमुख (Windward) ढालों पर पाये जाते हैं तथा कार्क ओक (cork oak) इस प्रदेश का खास वृक्ष है। इसके अतिरिक्त कई प्रकार के चीड़ के पेड़ तथा चेस्टनट (Chestnut) तथा सेडार (cedar) भी पाये जाते हैं। आस्ट्रेलिया में जर्ज विशेष प्रकार का वृक्ष है। इसके अतिरिक्त जैतून (olive) तथा शहतूत के वृक्ष भी पाये जाते हैं। इन जंगलों के सदाबहार वृक्षों की पत्तियाँ मोटी तथा सुई के आकार की होती हैं तथा तने हरे होते हैं, परन्तु यह व्यापार के लिये महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

वनस्पति के अनुसार, इस क्षेत्र के खास जीव-जन्तु बकरी तथा भेड़ें हैं जो घोड़े तथा पशुओं की अपेक्षा यहाँ पर अधिक सफल रहते हैं। तर प्रदेशों में घोड़ा सामान ढोने का काम करता है तथा शुष्क प्रदेशों में खच्चर इस काम को करते हैं। दुगियाँ तथा इनके बच्चे भी यहाँ भली प्रकार रह सकती हैं।

लोग तथा औद्योगिक विकास—भूमध्य सागरीय जलवायु के प्रदेशों में निचले मैदानों के क्षेत्र बहुत कम पाये जाते हैं। ये सब प्रदेश समुद्र के किनारे-किनारे तंग पट्टियों मात्र हैं तथा पर्वत श्रेणियों द्वारा घिरे होते हैं। यहाँ की नदियों की घाटियाँ संकरी होती हैं तथा पर्वत श्रेणियाँ या तो समुद्रों के किनारों के सामानान्तर होती हैं अथवा इन पर समकोण बनाती हुई होती हैं।

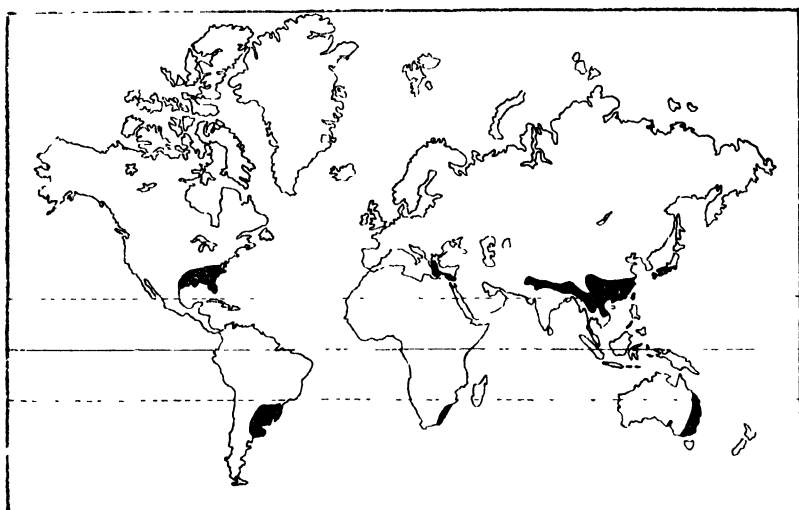
इस प्रदेश की अधिकतर मिट्टी मोटी तथा रेतीली होती है। हाँ, तटीय मैदानों में नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी के छोटे २ टुकड़े इधर-उधर पाये जाते हैं। अच्छी मिट्टी, गरम तापक्रम तथा सिंचाई की सुविधायें होने के कारण इस प्रदेश का मुख्य व्यवसाय कृषि है। साधारणतः इस प्रदेश में तीन प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं—(१) वह फसलें जिनकी अधिक नमी की आवश्यकता होती है तथा जो कम तापक्रम में भी उग सकती हैं, जाड़ों में उगाई जाती हैं। (२) वह फसलें जिनकी कम नमी की आवश्यकता होती है, तथा जो शुष्क दशाओं में भी उग सकती हैं, जैसे जौ तथा गेहूँ, ग्रीष्म ऋतु में उगाये जाते हैं। (३) वह फसलें जो सिंचाई की सहायता द्वारा उगाई जाती हैं।

गेहूँ तथा जौ की खाद्यान्न फसलें इस प्रदेश में स्थानीय उपभोग के लिये हैं तथा वृक्षों की फसलें व्यापारिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं तथा बाहरी मंडियों के लिये होती हैं। एक दफा बोनो के बाद यह वृक्ष फसल कई साल तक चलती है। जंतून, अंगूर की बेल, नीबू, शहतूत, अंजीर, नारंगी, नाशपाती तथा आड़ू बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। यूरोप तथा केलीफोर्निया में वृक्षों की फसलें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरी विशेषता यह है कि पूर्वोक्त तटों की अपेक्षा वृक्षों की फसलें पश्चिमी तटों पर अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यह पर्वतों के ढालों पर उगाई जाती है ताकि वह उपजाऊ मिट्टी तथा पृथ्वी के आन्तरिक जल का उपयोग कर सके और उन हवाओं से सुक्त रह सके जो बाहर से आती हैं। इसके अतिरिक्त फल उगाना, सब्जियों की खेती करना भी महत्त्वपूर्ण है तथा धूप वाले दिनों की अधिकता के कारण, फलों को सुखाने का काम भी होता है। साधारणतः एक ही खेत में दो या तीन फसलें एक साथ उगाई जाती हैं। इस 'मिश्रित खेती' में प्रायः मक्का, शहतूत तथा अंगूर की बेल अथवा गेहूँ, शहतूत तथा अंगूर की बेल साथ-साथ उगाए जाते हैं क्योंकि उनके उगने के समय भिन्न-भिन्न हैं।

जंतून के वृक्षों से तेल निकाला जाता है जिससे साबुन बनाने का उद्योग उन्नति कर गया है; शहतूत के वृक्ष तथा पत्ते रेशम के कीड़ों का पोषण करते हैं, जिससे यह प्रदेश रेशम बनाने के केन्द्र बन गये हैं; अंगूर की बेल से अंगूर मिलते हैं, जिससे यहाँ शराब बनाने का उद्योग विकसित हो गया है। यहाँ से ताजा तथा सूखे दोनों प्रकार के फल भेजे जाते हैं जिससे इन प्रदेशों में फलों का डिब्बों में बन्द करने का उद्योग उन्नति कर गया है। इसके अतिरिक्त इन प्रदेशों का औद्योगिक विकास बहुत पिछड़ा हुआ है। इटली के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रदेश औद्योगिक दृष्टिकोण से इतना उन्नत नहीं है, क्योंकि इसे महाद्वीपीय खानों से आसानी से कोयला मिल जाता है। अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया के प्रदेशों में कोयला आयात करने की सहूलियत है, परन्तु बिखरी हुई जनसंख्या के कारण यह पिछड़े हुए हैं। अतः वृक्षों की फसलों की विदेशी शिल्प उद्योग की निर्मित वस्तुओं के साथ अदल-बदल होती है।

यहाँ के लोगों का दूसरा खास व्यवसाय पशुओं को पालना है जो पर्वतों के ढालों पर अथवा नदियों के डेल्टा पर स्थित घास के मैदानों पर पाये जाते हैं, परन्तु शहरी जनसंख्या की कमी के कारण तथा उन्नत औद्योगिक शहरों की न्यूनता के कारण

दुग्धशाला अथवा मांस उद्योग अधिक विकसित नहीं हुआ है। मुर्गों पालना बहुत महत्त्वपूर्ण है तथा कम आर्द्रता और लम्बा उपजकाल इसके अनुकूल है। केलीफोर्निया में यह सबसे अधिक विकसित है, तथा वहाँ मुर्गों पालने के व्यवसाय की व्यवस्था नवीन कल-करखानों जैसी ही है। केलीफोर्निया के दक्षिणी भागों में तथा आस्ट्रेलिया के भूमध्य सागरीय प्रदेशों में, दुग्धशाला उद्योग सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है।



चित्र ५१—चीन तुल्य जलवायु

(२) आर्द्र उपोष्णीय अथवा चीन तुल्य जलवायु (Humid Subtropical or China Type)—महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर विषुवत रेखा के दोनों ओर ३० तथा ४०° अक्षांशों के बीच भूमध्य सागरीय जलवायु पाई जाती है। इन्हीं अक्षांशों के बीच अथवा ठीक रूप से २५ से ४०° अक्षांशों के बीच—महाद्वीप के पूर्वी किनारों पर वह जलवायु पाई जाती है जिसकी विशेषताये निम्नलिखित हैं :—

(अ) निम्न तथा माध्यमिक अक्षांशों के बीच यह भी एक अन्तरिम पट्टी है।
 (ब) इन प्रदेशों में वर्षा बहुत अधिक होती है। (स) सारे वर्ष में वर्षा का वितरण सम होता अथवा ग्रीष्म ऋतु में होती है। इस प्रकार की जलवायु के प्रदेश दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा उत्तरी गोलार्द्ध में अधिक हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका की दक्षिणी-पूर्वी रियासतें तथा फ्लोरिडा, एशिया में चीन का बहुत बड़ा भाग; आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका के दक्षिणी पूर्वी तट हैं तथा दक्षिणी अमरीका में युरुगुए का प्रदेश और दक्षिणी पूर्वी ब्राजील इस जलवायु के प्रदेश हैं। भिन्न-भिन्न प्रदेशों में लगभग समान जलवायु पायी जाती है परन्तु प्राकृतिक बनावट से स्थानीय भिन्नता हो जाती है।

व्यक्तिगत विशेषताओं तथा स्थानीय दशाओं के आधार पर इस जलवायु के प्रदेशों को हम तीन उप विभागों में विभाजित कर सकते हैं।

(अ) संयुक्त राष्ट्र अमरीका के दक्षिणी पूर्वी प्रांतों में खाड़ी तुल्य (Gulf

type) अथवा कपास की पेटी के प्रकार (the cotton belt type) की जल-वायु है। इन प्रदेशों में वर्षा मेक्सिको की खाड़ी की नमी से भरी हुई हवाओं तथा उत्तरी पूर्वी व्यापारिक हवाओं से होती है। वर्षा सारे वर्ष होती है, हालांकि गर्मियों में अधिक होती है। २०" वर्षा की समवृष्टि रेखा (Isohyet) इसकी पश्चिमी सीमा बनाती है तथा जनवरी की ४०° फ० समताप रेखा (Isotherm) उत्तर में सीमा बनाती है।

(ब) चीन के केन्द्रीय तथा उत्तरी भाग में चीन तुल्य जलवायु पायी जाती है। यहाँ की साधारण जलवायु मानसून प्रदेशों जैसी ही है। भिन्नता केवल यह है कि गर्मियों के महीनों में तापक्रम कम रहता है।

(स) दक्षिणी गोलार्द्ध में इस प्रकार की जलवायु के प्रदेशों में पूर्व आस्ट्रेलिया प्रदेशीय (Eastralian type) जलवायु पायी जाती है। साधारण व्यापारिक हवाये इस प्रदेश में सारे वर्ष, परन्तु गर्मियों में अधिक, वर्षा करती है।

तापक्रम तथा ऋतुये—इन प्रदेशों के पास से होकर गर्म सामुद्रिक धारायें गुजरती हैं अतः तटीय क्षेत्रों में शीतल सामुद्रिक प्रभाव नहीं प्रतीत होता। विषुवत् रेखा की ओर वाले किनारों में तथा ध्रुवों की ओर वाले किनारों के तापक्रम में साधारणतः ४०° फ० की भिन्नता पाई जाती है। सारे वर्ष प्रायः कुहरा पड़ता है परन्तु विषुवत् रेखा की ओर वाले किनारों पर केवल शरद ऋतु में ही कोहरा पड़ता है। तापक्रम का दैनिक अन्तर बहुत कम है—केवल १३° से १५° फ० के बीच।

गर्मियों के महीनों में औसत तापक्रम ७५° से ८०° तक रहता है। कुछ समय ऐसे भी आते हैं जब तापक्रम ९०° फ० से भी अधिक हो जाता है। सापेक्ष आर्द्रता भी बहुत ज्यादा है—९०%। अधिक आर्द्रता तथा अधिक तापक्रम के कारण दिन व रात दोनों का ही मौसम दुखदायी व तंग करने वाला होता है।

सर्दियाँ कम ठंडी होती हैं तथा तापक्रम ४०° से ५५° फ० के बीच रहता है। उत्तरी गोलार्द्ध में जनवरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में जुलाई सबसे अधिक ठंडे महीने हैं। दक्षिण में सागरीय क्षेत्र की अधिकता के कारण, दक्षिणी गोलार्द्ध के प्रदेशों में शरद ऋतु कम ठंडी होती है। दूसरी ओर उत्तरी गोलार्द्ध में शरद ऋतु अधिक ठंडी होती है तथा तापान्तर भी अधिक होता है। आर्द्रता भी अधिक होती है, ७०% से ८०% तक। इसका नतीजा यह होता है कि शरद ऋतु बहुत ठंडी तथा दुखदाई होती है।

वर्षा तथा हवाये—वर्षा बहुत अधिक होती है और सारे वर्ष उचित रूप से वितरित रहती है, हालांकि भिन्न २ क्षेत्रों में वृष्टि के परिमाण में स्थानीय भिन्नता प्रतीत होती है। विशेष बात यह है कि यहां अनावृष्टि काल कोई नहीं होता, हालांकि वर्षा ग्रीष्म ऋतु में अधिक होती है तथा शरद में कम। स्थिति तथा स्थल की बनावट पर निर्भर होने के कारण, वार्षिक औसत वर्षा ३०" से ६०" तक रहती है।

गर्मियों में वर्षा वाहनिक तूफानों (Convictional storms) से होती है, जिसमें गरज तथा बिजली की चमक होती है। संयुक्तराष्ट्र अमरीका के प्रदेशों में इस प्रकार के तूफान बहुत विकसित हो गये हैं। इसके अतिरिक्त अप्रबल चक्रवातीय तूफानों तथा उष्ण कटिबंधीय हुरिकेन तूफानों से भी पर्याप्त वर्षा होती है। ये हुरिकेन आंधियाँ

अधिकतर आखिरी गर्मियों में तथा पतझड़ मौसम के शुरू में चलती है। गर्मियों की वर्षा मूसलाधार होती है तथा पतझड़ में सबसे कम वर्षा होती है। वह साधारण तूफान जो यहाँ पर गर्मियों के महीनों में चलते हैं, तटीय क्षेत्रों में हुरिकेन (hurricanes) तथा टाइफून (typhoons) कहलाते हैं। आन्तरिक भाग में स्थानीय तूफानी हवायें चलती हैं। संयुक्त-राष्ट्र अमरीका में इस प्रकार की हवाओं को जाड़ों में 'नार्दर' (Northerners) कहते हैं। आस्ट्रेलिया के न्यूसाउथ वेल्स के क्षेत्र में 'सदरली बरटर्स्' (Southerly busters) अधिकता से चलती हैं।

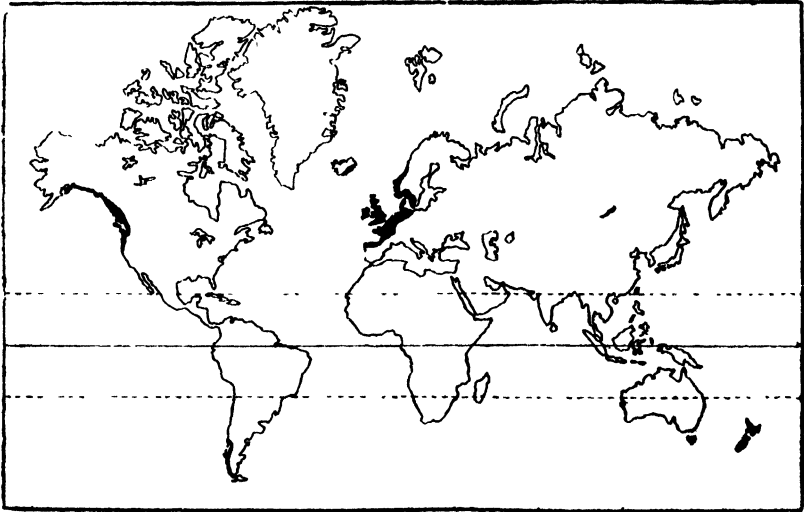
जाड़ों की वर्षा प्रधानतः चक्रवातीय (cyclonic) होती है तथा इसी कारण से ग्रीष्म की अपेक्षा शरद ऋतु के आकाश अधिक मेघाच्छादित होते हैं। कभी २ बरफ भी पड़ती है, परन्तु यह शीघ्र पिघल जाती है। ध्रुवों की ओर वाले किनारों पर तुषारपात अधिक होता है तथा साधारण वर्षा समुद्र की ओर वाले किनारों पर अधिक होती है। शरद ऋतु की वर्षा जलफुहार के रूप में होती है।

प्राकृतिक वनस्पति तथा जीव जन्तु—जलवायु की भिन्नता के कारण पौधों के जीवन में भी बहुत भिन्नता आजाती है। जहाँ वर्षा पर्याप्त रूप से ठीक प्रकार से वितरित है, सदाबहार जङ्गल पाये जाते हैं। यह जङ्गल अपनी उपज में बहुत महत्वपूर्ण तथा व्यवस्था में खुले हुए होते हैं। यहाँ के विशेष वृक्ष मैगनोलिया (Magnolia) तथा खजूर (palm) इत्यादि हैं। ध्रुव की ओर वाले क्षेत्रों में पतझड़ वन (Deciduous forests) पाये जाते हैं, जिनकी पत्तियाँ जाड़ों में गिर जाती हैं; ओक (Oak), सफेदा (Poplar), विलो (Willow) तथा गोंद के पेड़ प्रधान हैं। परन्तु बहुत से स्थानों पर इन जङ्गलों को साफ कर दिया गया है तथा जमीन को फसलें उगाने के काम में लाया गया है।

मनुष्यों ने बहुत से प्रदेशों के जीव जन्तुओं को बरबाद कर दिया है अथवा उनको दूसरी जगह पहुँचा दिया है। फिर भी गिलहरी (Squirrels), खरगोश (Rabbits), चूहे (Raccoon), सीही (Porcupine) तथा दूसरे कई प्रकार के पक्षी पाये जाते हैं। अर्जेंटाइना के पम्पाज तथा फ्लोरिडा के केन्द्रीय भाग के अतिरिक्त, जहाँ पशुओं को चराने का काम होता है, पालतू जानवर बहुत कम पाये जाते हैं।

लोग तथा औद्योगिक विकास—लगातार जल स्राव (leaching) के कारण इन प्रदेशों की मिट्टी बहुत अनुपजाऊ होती है, जहाँ-जहाँ नदियों में बाढ़ आती है। वहाँ मिट्टी फिर से उपजाऊ हो गई। तापक्रम तथा विस्तृत वर्षा भी पौधों की उत्पत्ति के अनुकूल है। फलतः यहाँ के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है। यहाँ पर कई प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं। उत्तरी अमरीका के दक्षिणी पूर्वीय प्रान्तों में रूई, चीनी, चावल तथा तम्बाकू प्रसिद्ध हैं। चीन में चाय, शहतूत (सिल्क के कीड़ों के वास्ते) तथा खाद्यान्न बहुत महत्वपूर्ण हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में इस प्रकार की जल-वायु के प्रदेशों में मनुष्यों का मुख्य व्यवसाय पशुओं को चराना तथा खाद्यान्न फसलों को उगाना है। ब्राजील में कहवा की भी पैदावार होती है। उत्तरी अमरीका तथा आस्ट्रेलिया में, सारे ग्रीष्म ऋतु में मक्का भी उगाया जाता है तथा फ्लोरिडा में रस-दार फलों का उत्पादन स्थानीय आर्थिक व्यवस्था का एक बहुत महत्वपूर्ण अंग है।

उत्तरी अमरीकी प्रदेश में रूई व्यवसायिक फसल है, तथा चीन और जापान के पूर्वी प्रदेशों में शहतूत (कच्ची रेशम) व्यवसायिक फसल है। इस प्रकार के प्रदेशों में तथा वहाँ के कृषि के तरीके में कठिन मेहनत की जरूरत है। आस्ट्रेलिया, चीन तथा जापान में इस समस्या का हल स्थानीय जन-संख्या द्वारा हो गया है, परन्तु इस समस्या ने उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीकी प्रदेशों में उग्र रूप धारण किया जहाँ पर यूरोप के निवासियों ने गुलामी प्रथा को अपनाकर तथा हज़ारी मजदूरों को बाहर से बुलाकर समस्या को हल किया है।



चित्र ५२—पश्चिमी समुद्रतटीय जलवायु

(३) पश्चिमी तटीय अथवा पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु (Marine West Coast or West Europe Type)—यह जलवायु उन प्रदेशों में पाई जाती है जो भूमध्य सागरीय जलवायु के बाद ध्रुव की ओर स्थित है। यह ४५° और ६५° अक्षांशों के मध्य महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर पाई जाती है। इसको शीतोष्ण सागरीय (Temperate Oceanic) जलवायु भी कहते हैं और इसके खास प्रदेश दक्षिणी गोलार्द्ध की अपेक्षा उत्तरी गोलार्द्ध में अधिक हैं। इस जलवायु के मुख्य प्रदेश यह हैं:—(१) उत्तरी पश्चिमी यूरोप जिसके आधार पर इसे पश्चिमी यूरोप तुल्य जलवायु कहते हैं, (२) उत्तरी अमरीका का पश्चिमी भाग—उत्तरी केलीफोर्निया से ६०° उत्तरी अक्षांश रेखा तक, (३) दक्षिणी अमरीका में दक्षिणी चिली का पश्चिमी भाग तथा, (४) न्यूजीलैंड के दक्षिणी द्वीप तथा तस्मानिया।

पहले प्रदेश को छोड़ कर जो बहुत विस्तृत है और जहाँ पर इस प्रकार की जलवायु का प्रभाव कई सौ मील तक है, बाकी सारे प्रदेश इतने विस्तृत नहीं, वे केवल तटीय प्रदेशों तक ही सीमित हैं तथा वहाँ किनारों के समानांतर पर्वत श्रेणियाँ इस जलवायु के प्रभाव को आन्तरिक भाग तक नहीं जाने देती।

इस जलवायु की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) यह जलवायु महासागरीय अथवा तटवर्ती है। समीपवर्ती सागर अथवा समुद्र उनकी विशेषताओं पर असर डालकर उन्हें सम बनाते हैं। इन प्रदेशों में गरम सागरीय धारायें भी किनारों पर होकर बहती हैं। अतः इन अक्षांशों के औसत तापक्रम की अपेक्षा यह प्रदेश अधिक गरम है। वास्तविक रूप से यह शीतोष्ण (Temperate) है।

(२) वर्षा वर्ष भर होती है तथा साधारण मौसम हमेशा कुहरा तथा मेघपूर्ण रहता है।

(३) चक्रवातों के कारण मौसम हमेशा बदलता रहता है।

(४) इस प्रकार की जलवायु विषुवत् रेखा की ओर भूमध्य सागरीय जलवायु प्रदेश से लेकर ध्रुवों की तरफ ढुंड़ा अथवा अर्द्ध ध्रुवीय प्रदेश तक फैली पाई जाती है। परन्तु इस अक्षांशीय विस्तार को समुद्र का प्रभाव ही सम करता है।

तापक्रम तथा ऋतुएं—समुद्र तथा गरम धाराओं के प्रभाव से, इस प्रकार की जलवायु का तापक्रम अधिक नहीं होता है। इन अक्षांशों के औसत तापक्रम की अपेक्षा ग्रीष्म ऋतु ठंडी होती है। इसी प्रकार जाड़े गरम होते हैं। इन्हीं अक्षांशों में स्थित अन्य प्रदेशों की अपेक्षा पश्चिमी यूरोप की शरद ऋतु 20° से 40° फ० गरम रहती है तथा औसत तापक्रम की अपेक्षा ग्रीष्म का तापमान 10° से 15° फ० तक कम रहता है। दैनिक अथवा वार्षिक तापान्तर कभी भी अधिक नहीं रहता।

ग्रीष्म ऋतु में तापक्रम पर सूर्यताप तथा अक्षांश विशेष से स्थिति का असर पड़ता है। अतः हम जैसे-जैसे दक्षिण से उत्तर को जाते हैं तापक्रम कम होता जाता है। तथा समताप रेखायें (Isotherms) पूरब से पश्चिम को खींची जाती हैं। इनको सूर्य रेखायें (Sunlines) कहते हैं। सामान्य गर्मी-सर्दी मनुष्यों की सक्रियता के लिये बहुत अनुकूल तथा आदर्श हैं, परन्तु यह बहुत सी खाद्यान्न फसलों के अनुकूल नहीं है। यहाँ पर आर्द्रता बहुत ज्यादा रहती है तथा आकाश प्रायः मेघाच्छादित रहता है। अतः रातें जल्दी ठंडी हो जाती हैं।

शरद ऋतु में सामान्य तापक्रम के कारण कार्य करना सम्भव रहता है, परन्तु चक्रवातों के क्रम की वजह से शरद ऋतु का तापक्रम पश्चिम में अधिक होता है और जैसे-जैसे हम पूरब की ओर बढ़ते जाते हैं, यह गर्मी कम होती जाती है। फलतः शरद ऋतु की समभार रेखायें (Isobars) तटों के समानान्तर उत्तर से दक्षिण को खींची जाती हैं। इनको सागरीय रेखायें (Ocean lines) कहते हैं। शरद ऋतु में पाला पड़ता है और यद्यपि दोपहर का तापक्रम काफी अधिक रहता है कई दिनों तक मौसम इतना कठिन रहता है कि पौधों का जीवन दूभर हो जाता है। जब कभी विशद चक्रवात के केन्द्र की हवायें इन प्रदेशों में आती हैं तो ठंडा मौसम फैल जाता है और इसी कारण बसन्त की अपेक्षा पतझड़ का मौसम अधिक गरम होता है।

वर्षा तथा हवायें—यह प्रदेश पछुवां हवाओं की पेट्री में स्थित है अतः यहाँ पर शीतोष्ण चक्रवात आते हैं। फलतः सारे वर्ष अधिक वर्षा होती है, परन्तु पृथ्वी की बनावट के अनुसार इसका परिमाण भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न रहता है। ब्रिटिश

कोलम्बिया के तटीय प्रदेशों में २०" वर्षा होती है जबकि आन्तरिक पठार में ५" से अधिक वर्षा नहीं होती। अतः इन प्रदेशों की वर्षा चक्रवातीय तथा पर्वतीय दोनों ही है। जहाँ पर निचले मैदान हैं वहाँ वर्षा २०" से ४०" तक होती है जबकि पर्वत श्रेणियों के किनारे पर स्थित तटीय प्रदेशों में वर्षा १००" से १५०" के बीच होती है।

वर्षा निश्चित होती है तथा यहाँ पर शुष्क ऋतु कोई भी नहीं होती। सीमा के पर्वतों को छोड़कर बर्फ बहुत कम पड़ती है। ग्रीष्म की अपेक्षा शरद में वृष्टि अधिक होती है। शरद ऋतु की विशेषता यह है कि इन दिनों बादल, कोहरा तथा धुंध खूब रहते हैं। शरद ऋतु में बहुत कम दिन वर्षाहीन होते हैं तथा वर्षा धीमी-धीमी फुआरों में होती है, हालांकि यह रिम-झिम वर्षा कई-कई दिन तक लगातार होती रहती है। ग्रीष्म ऋतु में वर्षा बहुत कम होती है तथा धूप वाले दिन बहुत होते हैं। आर्द्रता (Humidity) बहुत ज्यादा होती है, जिससे घना धुंधलापन छा जाता है जो बहुत काफी दिन तक चलता है। अतः इन प्रदेशों में एक बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि कोहरा, धुंध तथा धुंधलेपन के कारण दृश्यता कम रहती है।

प्राकृतिक वनस्पति तथा जीवजन्तु—हालांकि इस प्रकार की जलवायु वाले प्रदेश घने जंगलों की उत्पत्ति के अनुकूल हैं परन्तु इन प्रदेशों की प्राकृतिक वनस्पति विभिन्न प्रदेशों की प्राकृतिक बनावट के अनुसार ही होती है।

(अ) इस प्रदेश के बहुत बड़े भाग में चौड़ी पत्ती वाले पतझड़ बन हैं जिनसे मूल्यवान सख्त लकड़ी प्राप्त होती है, तथा ओक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वृक्ष है। इस प्रकार के जंगल अब चिली, न्यूजीलैंड तथा यूरोप की कुछ पर्वत श्रेणियों पर ही पाये जाते हैं। दूसरे प्रदेशों में उनकी सफाई करदी गई है तथा पृथ्वी को कृषि के योग्य बना लिया गया है। इन पेड़ों की पत्तियाँ शरद ऋतु में गिर जाती हैं।

(ब) ऊँचे पर्वतीय प्रदेश पर जहाँ पर अधिक वर्षा होती है, नुकीली पत्ती वाले सदा बहार जंगल पाये जाते हैं। यहाँ का मुख्य वृक्ष फर (fir) है। ब्रिटिश कोलम्बिया में इन नुकीली पत्ती वाले जंगलों में डगलस फर जाति के वृक्ष अधिकता से पाये जाते हैं। चिली के जंगलों में, बीच, सेडार तथा चीड़ के वृक्ष पाये जाते हैं। न्यूजीलैंड में प्रसिद्ध कौड़ी चीड़ का वृक्ष पाया जाता है।

(स) आन्तरिक प्रदेशों में जहाँ मिट्टी कम उपजाऊ है घास पाई जाती है।

(द) अत्यधिक शुष्क, पर्वतीय प्रदेशों में हीथ (Heath) तथा दलदल पाये जाते हैं।

पृथ्वी की बनावट तथा मिट्टी—हालांकि इन प्रदेशों की प्राकृतिक रूप रेखा को हम विस्तृत रूप से नहीं समझा सकते, परन्तु सारे संसार में इन प्रदेशों की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित हैं:—(१) पुराने पर्वत तट के समानान्तर स्थित हैं, (२) आन्तरिक भाग में पृथ्वी की बनावट हिम प्रवाह द्वारा प्रभावित है। (३) तटीय मैदान संकरे हैं, तथा (४) फियार्ड तटरेखा में बहुत सी खाड़ियाँ तथा कटाने पायी जाती हैं। साधारणतः इन प्रदेशों में चौरस मैदान कम हैं और नीची पर्वत श्रेणियों तथा ऊँचे नीचे मैदानों की अधिकता है।

इन प्रदेशों में भिन्न २ प्रकार की मिट्टी पाई जाती है जिनमें हिम प्रवाह के

बिन्ह मिलते हैं। फलतः इन प्रदेशों की मिट्टी को पांच प्रकार का कहा जा सकता है:—

(अ) बहुत अधिक उपजाऊ हिम प्रवाह निर्मित मिट्टी संकरी घाटियों में पाई जाती है। यह अधिकतर उत्तरी पश्चिमी यूरोप में विस्तृत रूप से पाई जाती है।

(ब) पुरानी लाल बलुही मिट्टी।

(स) चूने के पत्थर अथवा खड़िया मिट्टी उपजाऊ होती है और कुछ तल-टियों में पाई जाती है जैसे लन्दन की तलटी में अथवा पेरिस की तलटी में।

(द) पाडजाल (Podzol) मिट्टी जो अत्यधिक अनुपजाऊ होती है चूँकि उनके अन्दर जलस्राव हो चुका होता है तथा उसका प्रयोग तभी किया जा सकता है जब उनमें चूना मिलाया जावे।

(ध) जहाँ पर जलप्रवाह अच्छा है, नवीन मृत्तिका (alluvial) मिट्टी पाई जाती है तथा जहाँ नया स्थल समुद्र में डूब गया है, और फिर बाहर निकल आया है, नाबें तथा नेदरलैंड की समुद्री मिट्टी पाई जाती है।

लोग तथा औद्योगिक विकास—हन्टिंगटन (Huntington) के अनुसार सभ्यता के विकास के तीन आधारभूत अंग इस प्रकार हैं:—(१) नमी लिए हुए हवा, (२) परिवर्तनशील मौसम, (३) ४०° से ५५° फ० तक का तापक्रम। इन परिस्थितियों में मनुष्य अपने को सक्रिय समझता है। मानसिक और प्राकृतिक रूपसे उसमें शक्ति रहती है इस प्रकार की जलवायु के प्रदेशों में यह सारे साधन मौजूद हैं। यहाँ की समशीतोष्ण जलवायु से मनुष्य स्वस्थ तथा शक्तिशाली रहता है। इसी कारण से इस जलवायु में सबसे अधिक औद्योगिक उन्नति हुई है।

स्थानीय दशाओं के अनुसार इन प्रदेशों के मनुष्यों के खास व्यवसाय भिन्न-भिन्न हैं : इन प्रदेशों के विषुवत रेखाकी ओर वाले किनारों पर प्रधान धंधे कृषि तथा पशुचारण हैं। जहाँ शरद ऋतु कम कठोर होती है तथा उपजकाल लम्बा होता है, दुग्धशाला उद्योग होता है। पशुचारण व्यवसाय में गाय, बेल घोड़े, भेड़ तथा मुर्गियाँ पाली जाती हैं। दुग्धशाला उद्योग के साथ-साथ सूअर भी पाले जाते हैं। कृषि में घास का उगाना, छोटे अनाजों का उत्पादन करना तथा चुकन्दर, आलू और अन्य तरकारियों और फल की खेती शामिल है।

दूसरी ओर, इन प्रदेशों के ध्रुव की ओर वाले किनारों पर मनुष्यों का खास व्यवसाय मछली मारना और लकड़ी काटना है। ठंडी ग्रीष्म ऋतु, अधिक वर्षा तथा उपजकाल के छोटे होनेके कारण फसलका पकना बहुत कठिन होता है। फिर भी पूर्वी भागों में अथवा वायुअभिमुख भागों में जहाँ मिट्टी उपजाऊ है, गेहूँ, जौ तथा जई की फसल उगाई जाती है। फलों में सेब बहुत प्रसिद्ध है तथा अनाजों के साथ-साथ तरकारियाँ भी उगाई जाती हैं तथा जीवजन्तु पाले जाते हैं। जलवायु की दशाओं, मिट्टी की बनावट तथा इस प्रदेश की आर्थिक व्यवस्था की औद्योगिक प्रकृति के कारण मिश्रित खेती (mixed farming) यहाँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। दुग्धशाला उद्योग (dairying) और मुर्गी पालना भी मिश्रित खेती के ही अंग हैं। दुग्धशाला में सूअर पाले जाते हैं जो मट्ठा पीते हैं तथा जिनसे मांस प्राप्त होता है। उत्तरी, पश्चिमी यूरोप में जहाँ जंगल साफ किये गये हैं, कृषि तथा दूध का उद्योग अधिकता से चालू

है। न्यूजीलैंड तथा दक्षिणी चिली में पशुपालन अथवा पशुचारण अधिक विकसित है, हालांकि छायादार घाटियों तथा तटीय मैदानों में कुछ फसलें भी उगाई जाती हैं।

उत्तरी अमरीका, चिली तथा नाबे में विस्तृत जंगल पाये जाते हैं जहाँ से उपयोगी लकड़ी प्राप्त होती है। यहाँ के लोगों का व्यवसाय लकड़ी काटना तथा मछली मारना है। उत्तरी पश्चिमी संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा पश्चिमी कनाडा संसार के महत्त्वपूर्ण लकड़ी उत्पादक क्षेत्र हैं। चिली, न्यूजीलैंड तथा नाबे के जंगल अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे हमें इन प्रदेशों के बहुत से उद्योगों के लिये मुलायम लकड़ी मिलती है।

इन प्रदेशों में विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक साधनों की बहुलता है। यूरोप में कोयला तथा लोहा पाया जाता है। उत्तरी पश्चिमी संयुक्त राष्ट्र अमरीका तथा नाबे के तटीय प्रदेशों में खनिज पदार्थों का अभाव होते हुये भी जलविद्युत (Hydroelectricity) की सुविधायें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इस जलवायु में केवल चिली तथा न्यूजीलैंड ही दो ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ इतना अधिक औद्योगीकरण नहीं हुआ है।

इन प्रदेशों में निम्नलिखित साधन हैं, जिनसे औद्योगिक विकास सम्भव हो सका है :—

(१) आस पास के क्षेत्रों में ही लोहे तथा कोयले की प्राप्ति।

(२) कटे हुए तट तथा समुद्र से समीपता, जिससे कच्चे माल तथा खाद्यपदार्थ के आयात में, तथा बने हुए माल के निर्यात में सहूलियत होती है।

फलतः इन प्रदेशों की आर्थिक व्यवस्था वाणिज्य प्रधान है। यहाँ के लोगों का ध्यान बाहर की मंडियों और उन पर प्रभुत्व जमाने की ओर रहता है। इन प्रदेशों के मुख्य उद्योग निम्नलिखित हैं :—(१) लोहा तथा इस्पात उद्योग—जिससे मिलों का सामान, जहाज, रेल तथा मोटरकार बनती हैं; (२) वस्त्र (Textile) उद्योग, जिसमें रूई, रेशम, पटसन, लिनन (linen) तथा ऊन से बनी हुई चीजें आती हैं। (३) रसायनिक उद्योग, जो खनिज नमक तथा कोयले की खानों पर निर्भर है; (४) विभिन्न उद्योग—जैसे चमड़ा तथा कागज, जो छोटे पैमाने पर स्थानीय बाजारों के लिये किये जाते हैं। ये उद्योग बन्दरगाहों के समीप हैं तथा आयात किये हुए कच्चे माल पर निर्भर रहते हैं।

यहाँ के आवागमन तथा यातायात के साधन बहुत विकसित हैं, और आर्थिक व्यवस्था अधिकतर औद्योगिक तथा वाणिज्य प्रधान है। अतः अधिकतर जनसंख्या शहरों में निवास करती है तथा बड़े २ केन्द्रों में केन्द्रित है।

द—आर्द्र निम्नताप जलवायु

(The Humid Microthermal Climates)

इस प्रकार की जलवायु की विशेषता यह है कि यहाँ पर कम तापक्रम होता है। यह जलवायु कठिनतम होती है। यहाँ शरद ऋतु बहुत ठंडी होती है, और पाले का मौसम बहुत घना तथा लम्बा होता है। वार्षिक तापान्तर बहुत ज्यादा होता है। इस प्रकार की जलवायु उन प्रदेशों में पाई जाती है जो अधिकतर ध्रुवों की ओर या महाद्वीपों के अत्यधिक आन्तरिक भागों में अथवा पर्वत श्रेणियों के अत्यधिक वायु-

विमुख भाग की ओर स्थित है।

चूँकि यह जलवायु महाद्वीपीय है तथा इस पर स्थल का बहुत प्रभाव है, यह अधिकतर उत्तरी गोलार्द्ध में पाई जाती है जहाँ स्थल समूह की अधिकता है। यह महाद्वीपों के आन्तरिक तथा पूर्वी किनारों तक सीमित है। इन प्रदेशों में गरम ग्रीष्म की अपेक्षा ठंडी शरद बहुत महत्वपूर्ण है। गर्मी के मौसम में अधिक वर्षा होती है। शरद में भी कुछ वृष्टि होती है; तथा शरद ऋतु की विशेषता यह है कि इस काल में बरफ जम जाती है।

(१) आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु (Humid continental climate)—यह जलवायु दक्षिण की ओर आर्द्र अथवा शुष्क उपोष्णीय जलवायु के प्रदेशों तथा उत्तर की अर्द्ध ध्रुवीय (Subarctic) अथवा टेगा तुल्य जलवायु के प्रदेशों के मध्य स्थित है। उत्तरी अमरीका तथा यूरेशिया में 35° अथवा 40° अक्षांश से ध्रुवों की ओर इस जलवायु का विस्तार है। जैसे २ हम महाद्वीपों के पश्चिमी किनारों से आन्तरिक भाग की ओर बढ़ते हैं, सागरीय अथवा तटीय जलवायु के स्थान पर अधिक विषम महाद्वीपीय जलवायु मिलती है। उत्तरी अमरीका में, पर्वत श्रेणियों के तटों के समानान्तर होने के कारण पश्चिमी तटीय जलवायु (Marine west coast climate) से महाद्वीपीय जलवायु में परिवर्तन तीव्र तथा आकस्मिक है—यह आन्तरिक भाग में भी है तथा पहाड़ों के वायु-विमुख भाग में भी है। यूरोप तथा एशिया में यह बहुत क्रमशः है। इसी प्रकार यदि उत्तरी अमरीका तथा एशिया में आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु (Humid continental climate) के दक्षिण में चीन तुल्य जलवायु है, तो यूरोप में इसके दक्षिण में भूमध्य सागरीय जलवायु है।

तापक्रम तथा ऋतुये—ग्रीष्म ऋतु अधिक गरम होती है तथा शरद ठंडी होती है। वार्षिक तापान्तर 45° से 55° तक रहता है। वायुमण्डल में अधिक सापेक्ष आर्द्रता (Relative humidity) होने के कारण, ग्रीष्म ऋतु में सड़ी गरमी तथा दुखदायी मौसम होता है। शरद ऋतु में कड़ी ठंड होती है। परन्तु इस प्रकार का मौसम केवल तटीय प्रदेशों में पाया जाता है। आन्तरिक भाग शुष्क होते हैं। जैसे-जैसे हम दक्षिण से उत्तर की ओर चलते हैं अथवा तटीय प्रदेशों से आन्तरिक भाग की ओर चलते हैं गर्मी का मौसमी तापक्रम क्रमशः बढ़ता जाता है तथा सर्दी का मौसमी तापक्रम क्रमशः घटता जाता है। ग्रीष्म ऋतु में तापान्तर इतना अधिक नहीं होता जितना कि शरद ऋतु में।

वर्षा तथा हवाये—इन प्रदेशों पर पछुंवा हवाओं तथा मानसूनी हवाओं का प्रभाव होता है। हालांकि वर्षा सर्दियों में भी होती है, परन्तु अधिकतम वृष्टि गर्मियों के महीनों में ही होती है। हम जैसे २ आन्तरिक भाग की ओर अथवा ऊँचे अक्षांशों की ओर बढ़ते हैं, वर्षा कम होती जाती है। गर्मी ही वर्षा का मौसम होता है। ग्रीष्म ऋतु में जो वर्षा होती है वह वाहिनिक होती है तथा तेज बौछारों में होती है। वर्षा अधिकतर गरज और बिजली की चमक के साथ मूसलाधार धाराओं में होती है। दूसरी ओर शरद ऋतु में वृष्टि चक्रवातीय होती है तथा बर्फ के रूप में होती है। शरद ऋतु में ब्लिजर्ड हवाये (blizzards) चलती हैं जिनसे 0° ठंड हो जाती है

तथा ये बर्फ के चूर्ण को उड़ा कर लाती हैं। चक्रवातीय क्रम के कारण सरदी के महीनों में ऋतु परिवर्तनशील होती है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य मौसम को प्रभावित करता है, तथा मौसम अधिक स्थिर रहता है।

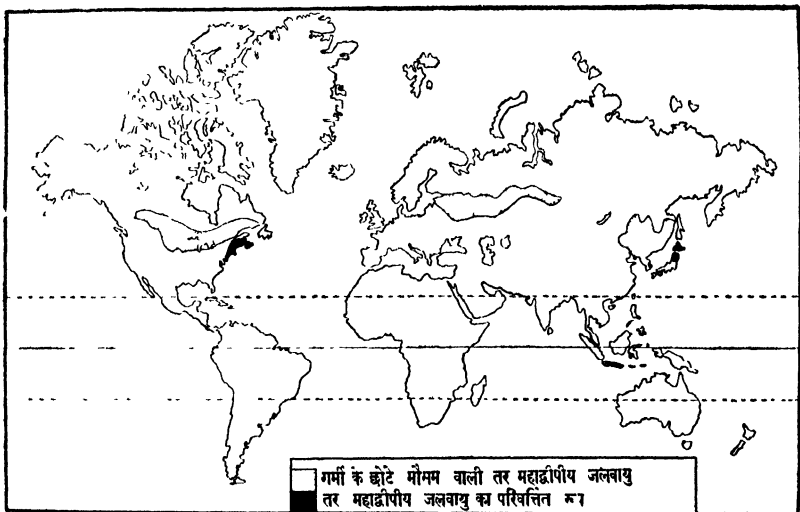
संसार के आर्द्र महाद्वीपीय प्रदेश (Humid Continental Regions) —स्थानीय दशाओं के अनुसार तीन प्रकार के कहे जा सकते हैं:—

(१) आर्द्र महाद्वीपीय प्रदेश जहाँ ग्रीष्म ऋतु छोटी होती है, अथवा वसन्त ऋतु के गेहूँ के प्रदेश (Spring wheat belt type)

(२) आर्द्र महाद्वीपीय प्रदेश जहाँ ग्रीष्म ऋतु लम्बी होती है अथवा मक्का उत्पादक पट्टी तुल्य (Corn belt type) अथवा मध्य यूरोप तुल्य।

(३) परिवर्तित आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु अथवा न्यू इंग्लैंड तुल्य।

(१) आर्द्र महाद्वीपीय प्रदेश जहाँ गर्मी की ऋतु छोटी होती है—इस प्रकार की जलवायु में कनाडा के पूर्वी भाग का २/३ अंश तथा यूरेशिया में स्वीडन से साइबेरिया तक का एक विस्तृत क्षेत्र सम्मिलित है। इसकी विशेषता यह है कि यहाँ ग्रीष्म छोटी तथा गरम होती है और शरद लम्बी तथा ठंडी होती है। अधिक मुचारू रूप से यह जलवायु मंचूरिया में, पूर्वी पश्चिमी यूरोप के अन्न उत्पादक क्षेत्रों में, उत्तरी अमरीका की मक्का उत्पादक पट्टी में तथा नुकीली पत्ती वाले वनों में पाई जाती है। उत्तरी अमरीका में इसकी स्थिति के कारण इसे वसन्त ऋतु के गेहूँ के प्रदेश तुल्य (Spring wheat belt type) भी कहते हैं।



चित्र ५५—आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु

तापक्रम की विषमता, अधिक तापान्तर तथा कठोर ठंड यहाँ की विशेषताएँ हैं। ध्रुव की ओर स्थित होने के कारण, तापक्रम कम है। ग्रीष्म ऋतु छोटी होती है परन्तु अपेक्षाकृत गरम होती है अतः तापक्रम ६०° अथवा १००° फ० तक पहुँच जाता

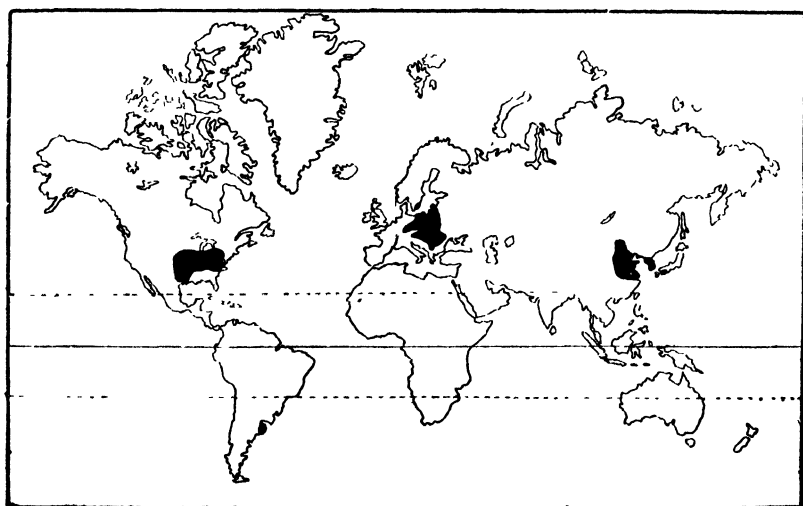
है। परन्तु ग्रीष्म का औसत तापक्रम 70° फ० होता है तथा जुलाई सबसे अधिक गरम महीना होता है। शरद ऋतु में तापक्रम 5° से 15° फ० तक रहता है तथा जनवरी सबसे ठंडा महीना होता है। आन्तरिक स्थिति अथवा समुद्र से दूरी के कारण तापक्रम की कठोरता बढ़ जाती है।

वर्षा—चक्रवातों से जाड़ों के महिनों में कुछ बरफ गिरती है, परन्तु अधिकतम वर्षा ग्रीष्म ऋतु में होती है जब वर्षा वाहनिक होती है। चक्रवातों के प्रभाव से अक्सर रिमसिम वर्षा होती है।

प्राकृतिक वनस्पति तथा जीवजन्तु—इन प्रदेशों की प्राकृतिक वनस्पति जंगल है, तथा सदाबहार नुकीली पत्ती वाले वृक्ष पाये जाते हैं। स्प्रूस (Spruce), चीड़ (Pine) हेमलॉक (Hemlock) प्रसिद्ध वृक्ष हैं। इन जंगलों में पानी भरा रहता है, बलबल होती है तथा हिमनदीय झीलें होती हैं। कनाडा तथा रूस में इन जंगलों से लकड़ी तथा लकड़ी की लुग्दी प्राप्त होती है।

यहाँ के स्थानीय जीव-जन्तु वह होते हैं जिनके शरीर पर ऊँचे होते हैं। यहाँ पर मूस (moose), कैरीबू (caribou) मिन्क (mink), बीवर (beaver) आटर (Otter) तथा भेड़िये इत्यादि प्रसिद्ध जानवर पाये जाते हैं।

लोग तथा औद्योगिक विकास—इन प्रदेशों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी पाई जाती है, तथा इन सब पर हिम आवरण (Ice sheet) का बहुत प्रभाव पड़ा



चित्र ५४—गर्मी की लम्बी ऋतुवाली आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु

है। यह मिट्टी खनिज पूर्ण होती है तथा इनमें प्राणिज तत्व अधिक होता है। यह नमी को अच्छी तरह रख सकती है। अतः यहाँ के लोगों का खास व्यवसाय कृषि तथा पशुपालन है। उत्पादन काल बहुत थोड़ा होता है, केवल १०० दिन। अतः हल्की ऊंची नीची जमीन पर गेहूँ, राई तथा आलू उगाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त चुकन्दर यूरोप में तथा मक्का अमेरिका में प्रधान है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा यूरोप दोनों

में सन महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त चारा भी उगाया जाता है तथा कृषि के साथ-साथ पशु भी पाले जाते हैं।

(२) लम्बी ग्रीष्म ऋतु वाली आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु—इस प्रकार की जलवायु रमानिया, हंगरी तथा पूर्वी रूस में जो कि डैन्यूब नदी के मैदान का मध्य तथा निचला भाग है, पायी जाती है। चीन की ह्वांगहो घाटी, मंचूरिया (एशिया) का दक्षिणी भाग तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका (उत्तरी अमरीका) की मक्का उत्पादन पेट्टी, जो उत्तर में वसन्त ऋतु के गेहूँ की पेट्टी तथा दक्षिण में कपास की पेट्टी के बीच में स्थित है, इसी जलवायु के क्षेत्र हैं। अर्जेंटीना के पम्पास, दक्षिणी अफ्रीका के वेल्ड (Veldt) तथा आस्ट्रेलिया के डाउंस भी इसी प्रकार की जलवायु वाले प्रदेश हैं।

तापक्रम—तापक्रम में अधिक भिन्नता रहती है तथा परिवर्तनशील है। गर्मियों में तापक्रम १००° फ० हो जाता है जो गिर कर सर्दों के छोटे मौसम में २०° फ० हो जाता है। विषुवतरेखा की ओर वाले किनारों पर तथा तटीय प्रदेशों पर तापक्रम सम रहता है। हम जैसे-जैसे समुद्र से आन्तरिक भाग की ओर अथवा ऊँचे अक्षांशों की ओर बढ़ते हैं तापक्रम की कठोरता बढ़ती जाती है। समुद्र के किनारों पर तापक्रमिक वशाएँ कुछ भिन्न होती हैं।

वर्षा—वर्ष में वर्षा का परिमाण भी भिन्न है। हालांकि गर्मी के मौसम में अधिक वर्षा होती है, परन्तु शरद ऋतु पूर्णतः वर्षाहीन नहीं होती। शरद ऋतु में वर्षा बरफ के रूप में होती है और इसके साथ में ब्लिजर्ड आघियाँ (Blizzard) आती हैं। शरद ऋतु की वृष्टि चक्रवातीय होती है और ३, ४ रोज तक लगातार चलती रहती है। ग्रीष्म ऋतु में वर्षा गरजदार बौछारों में होती है तथा प्रायः गरम हवायें चलती हैं। यह गरम हवायें जब अधिक दिन चलती हैं तो फसलों को बरबाद कर देती हैं।

तटीय प्रदेशों में मौसमी वर्षा का वितरण सम तथा विश्वसनीय होता है। परन्तु जैसे-जैसे आन्तरिक भाग की ओर बढ़ते हैं वर्षा का परिमाण तथा उसकी निश्चित रूप रेखा घटती जाती है।

प्राकृतिक वनस्पति तथा जीव जन्तु—अधिकतर पाई जाने वाली वनस्पति घास है, हालांकि कम उपजाऊ मिट्टी वाली जमीन पर सख्त लकड़ी वाले वृक्ष जैसे ओक, चेस्टनट तथा वालनट; और मुलायम लकड़ी वाले वृक्ष जैसे चीड़ पाये जाते हैं। बाकी सब जगह पर घास के मैदान हैं।

यह प्राकृतिक वनस्पति बहुत से घरेलू जीव-जन्तुओं का—जैसे गाय बेल तथा सुअर—पालन पोषण करती है। सुअर सख्त लकड़ी वाले जंगलों में अच्छी तरह रहते हैं। वे यहाँ के फल सुपाड़ी और जड़ों इत्यादि पर निर्भर रहते हैं तथा मक्का भी उनके लिए उगाया जाता है। पशु भी मक्का के सहारे ही पाले जाते हैं, तथा संयुक्त-राष्ट्र अमरीका और अर्जेंटीना संसार के सबसे बड़े मांस पैदा करने वाले क्षेत्र हैं। आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका में भेड़ें तथा घोड़े पाले जाते हैं।

लोग तथा औद्योगिक विकास—इन प्रदेशों की मिट्टी में सड़े गले वनस्पति

के अंश की अधिकता होती है तथा इसका रंग गहरा होता है। इसके अतिरिक्त उत्तरी गोलार्द्ध में खाद की सहायता से यह प्रदेश कृषि कार्य के बहुत बड़े केन्द्र बन गये हैं। उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों ही गोलार्द्ध में इस प्रकार के प्रदेशों में मक्का खास अनाज है। परन्तु चीन में गेहूं, चावल तथा सोयाबीन अधिक महत्वपूर्ण हैं। मक्के के साथ २ जाड़े की किस्म का गेहूं तथा जई भी उगाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त क्लोवर (clover), अल्फाल्फा (alfalfa) अथवा टिमोथी (timothy) क्रम से जई के साथ उसी प्रकार उगाये जाते हैं, जिस प्रकार जई क्रम से हेरफेर के साथ मक्के के साथ उगाई जाती है।

इन्डियनापोलिस तथा पीपिंग इस प्रदेश के मुख्य शहर हैं। लोगों के खास व्यवसाय कृषि तथा मांस देने वाले जानवरों का पालन पोषण करना है। औद्योगिकरण यहाँ बहुत कम हुआ है।

(३) परिवर्तित आर्द्र महाद्वीपीय अथवा न्यू इङ्ग्लैंड तुल्य जलवायु—यह जलवायु छोटी ग्रीष्म वाली आर्द्र महाद्वीपीय जलवायु का परिवर्तित रूप है तथा यह केवल दो प्रदेशों में सीमित है:—उत्तरी अमरीका के कनाडा और न्यू इङ्ग्लैंड में तथा दक्षिणी पूर्वी साईबेरिया के तटीय प्रान्त, कोरिया के उत्तरी पूर्वी तटीय प्रदेश, उत्तरी होन्गू तथा सारे होकेडो में। पूर्वी तटीय किनारों पर वास्तविक समुद्री जलवायु नहीं है। तापक्रमिक भिन्नता इतनी अधिक नहीं जितनी कि आर्द्रता। अतः शरद अधिक ठंडी तथा कठोर होती है परन्तु ग्रीष्म गरम तथा दुखदायी होती है। इस जलवायु की दूसरी विशेषता यह है कि यहाँ पर एक लम्बा पाला रहित मौसम होता है।

तापक्रम—हालांकि यहाँ पर तापक्रम उतना ही होता है जितना आर्द्र महाद्वीपीय (छोटी ग्रीष्म) जलवायु में होता है, परन्तु गर्मी तथा सर्दी की यहाँ अधिकता रहती है, यद्यपि शुष्कता कम हो जाती है। पछुवा हवायें महाद्वीपीय प्रभाव लाती हैं तथा यह उत्तरी अमरीका की अपेक्षा एशिया में अधिक विकसित है। साधारणतः मौसम कुछ पिछड़ जाते हैं या देर में होते हैं। इसीलिए इनको “पिछड़े हुये मौसम” (lagging seasons) के प्रदेश कहते हैं।

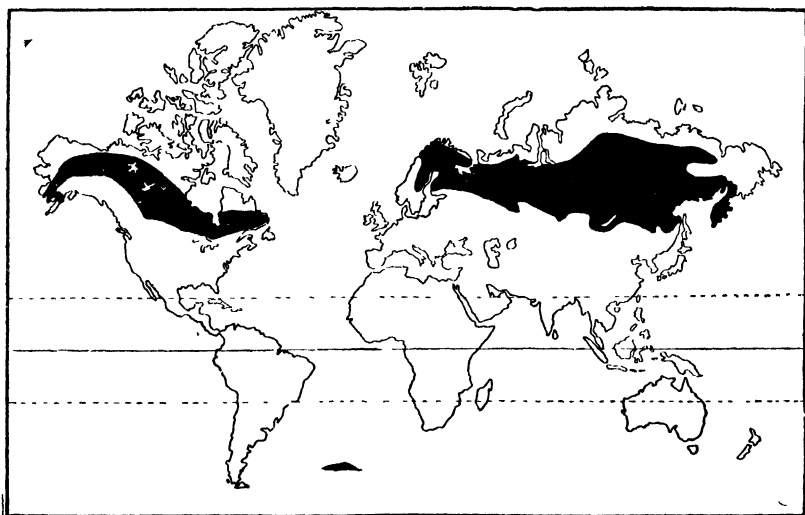
हवायें तथा वर्षा—यह प्रदेश अर्द्ध-ध्रुवीय (sub-polar) क्षेत्र की ठंडी शुष्क हवा के तथा दक्षिण की उष्ण सागरीय हवाओं के प्रभाव में आते हैं। इसके अतिरिक्त उत्तरी अमरीका प्रदेश पर चक्रवातों का प्रभाव होता है तथा एशियाई प्रदेश में मानसूनों का प्रभाव होता है। इन सब हवाओं का असर यह होता है कि यहाँ पर अधिकतर क्रम से तूफान तथा शान्त मौसम आते हैं।

वर्षा बहुत अधिक तथा सम होती है। अमेरिका में शरद तथा ग्रीष्म दोनों में वर्षा बराबर २ होती है, परन्तु एशिया में ग्रीष्म ऋतु में वर्षा अधिक होती है। उत्तरी अमरीका में इस प्रकार की जलवायु के प्रदेशों में शरद ऋतु में भारी बरफ पड़ती है। एशिया में सर्दी के महीनों में बाहर जाने वाली मानसून हवाओं के कारण मौसम स्वच्छ तथा शुष्क रहता है।

प्राकृतिक वनस्पति—इस प्रकार की जलवायु के प्रदेशों में मिश्रित जंगल होते हैं जिनमें बौच, ओक, मेपल, चीड़, स्प्रूस तथा, एस्पन के वृक्ष होते हैं। साधारणतः

दक्षिणी किनारों पर पतझड़ वाले वृक्ष पाये जाते हैं तथा उत्तरी किनारों पर सदा हरे रहने वाले नुकीली पत्ती वाले पेड़ पाये जाते हैं।

लोग तथा औद्योगिक विकास—मिट्टी उपजाऊ नहीं होती परन्तु उनका उपयोग वैज्ञानिक रूप से होता है तथा बहुत सी फसले उगाई जाती हैं। इन प्रदेशों के मनुष्यों का मुख्य व्यवसाय वनों में काम करना है जिससे मूल्यवान कागज की लुग्दी प्राप्त होती है; पशु पालन और दूध का व्यवसाय करना है जिससे मक्खन तथा पनीर मिलता है; फल तथा शाक के बाग लगाना है। अमेरिकन प्रदेशों में आलू तथा सेब महत्वपूर्ण उपज हैं; तथा कृषि द्वारा जई, जौ, राई तथा मटर उगाये जाते हैं। साथ-साथ में चारा, घास तथा छोटे अनाज भी उगाये जाते हैं। यह सब दुग्धशाला की गायों के लिये पंदा किये जाते हैं।



चित्र ५५—अर्द्ध आर्कटिक (Subarctic) अथवा टैगा तुल्य जलवायु।

(३) अर्द्ध आर्कटिक (Subarctic) अथवा टैगा तुल्य जलवायु—यह महा-द्वीप जलवायु का विषम रूप है तथा इसके ध्रुव की ओर वाले भाग पर टुंड्रा प्रदेश है। यह उत्तरी अमरीका तथा यूरेशिया में लगातार पट्टी के रूप में पाई जाती है तथा इसको नुकीली पत्तों वाले सदाबहार जंगलों का प्रदेश भी कहते हैं। यह केवल उत्तरी गोलार्द्ध में अधिक विकसित है जहाँ स्थल समूह अधिकता से है तथा जो ध्रुवों की ओर चौड़े भी हैं।

अर्द्ध आर्कटिक (Subarctic) जलवायु—की पट्टी में एलास्का के भाग, उत्तरी अमरीका में कनाडा तथा केन्द्रीय रूस के वनाच्छादित प्रदेश तथा यूरेशिया के साई-बेरिया सम्मिलित हैं। यह पट्टी के रूप में एक छोर से दूसरे छोर तक पूरब से पश्चिम तक फैले हुए हैं। इन प्रदेशों की विशेषता यह है कि यहाँ शरद ऋतु लम्बी तथा ठंडी होती है। उस समय जमीन बर्फ से जम जाती है। ग्रीष्म ऋतु छोटी होती है। उस समय सर्दियों की बर्फ पिघलकर मिट्टी को दलदल बना देती है। यह विशेष-

ताये खोज बीन के कार्य को असंभव बना देती है ।

तापक्रम—औसत तापक्रम लगभग ४०° फ० रहता है हालांकि कुछ प्रदेशों में औसत हिमांक से नीचे गिर जाता है । सब से अधिक गरम महीने का औसत तापक्रम ७० फा० रहता है । छोटे गर्मी के मौसम में १८ से २४ घंटे तक बिन का प्रकाश रहता है । दूसरी ओर लम्बे सर्दी के मौसम में अधियारा अधिक लम्बे समय तक रहता है । अतः उपज काल मुश्किल से दो चार महिने तक होता है । यह मौसम भी बहुत ठंडा, छोटा तथा कठोर होता है । गर्मी से सर्दी का तथा सर्दी से गर्मी का परिवर्तन इतना शीघ्र होता है कि बसन्त तथा पतझड़ के मौसम बहुत छोटे होते हैं ।

वर्षा—वर्षा बहुत कम होती है तथा सिवाय तटीय स्थल अथवा दक्षिणी किनारों के, वर्षा कभी भी २०" प्रति वर्ष से अधिक नहीं होती । यह वर्षा की कमी तापक्रम, निम्न वास्तविक आर्द्रता, विरुद्ध चक्रवातीय दशायें तथा स्थल समूह के आधिक्य के कारण है । अधिकतर वर्षा बरफ के रूप में होती है ।

लम्बी शरद ऋतु अधिकतर शुष्क होती है । अधिकतर वर्षा गर्म महीनों में होती है । प्रभावशाली बाष्पीभवन के अभाव में, यह कम वर्षा पौधों की उत्पत्ति के लिये पर्याप्त होती है । इसके अतिरिक्त गरजदार तूफान भी आते हैं तथा कभी-कभी तापीय लहर (heat waves) भी चलती हैं ।

प्राकृतिक वनस्पति तथा जीव-जन्तु—अर्द्ध आर्कटिक (Subarctic) जलवायु के प्रदेशों में अत्यधिक जंगल हैं तथा साधारणतः नुकीली पत्ती वाले वृक्ष हैं । अत्यधिक ठंड को सहन करने के लिये प्रकृति ने वृक्षों की पत्तियाँ मोटी, चिकनी तथा सुई की शकल की बनाई हैं । अधिकतर वृक्ष—स्प्रूस, फर, तथा लार्च सदा हरे रहने वाले हैं, हालांकि नदियों के किनारे तथा गहरी घाटियों में पतझड़ वृक्षों जैसे बर्च, विलो तथा पोपलर के झुंड पाये जाते हैं । इन जंगलों में अधियारे स्थानों पर काई तथा लिचन पायी जाती हैं तथा ध्रुव की ओर वाले किनारों पर नीची झाड़ियाँ हैं ।

जीव-जन्तु अधिकतर वह हैं जिनके शरीर पर बाल पाये जाते हैं ।

लोग तथा औद्योगिक विकास—इन प्रदेशों में उत्पादन काल छोटा तथा अनिश्चित होता है । यहाँ की मिट्टी उपजाऊ नहीं है तथा जलप्रवाह भी ठीक नहीं है । इन प्रदेशों में बहुत से स्थानों पर हिम-प्रवाह के चिह्न हैं तथा झील और बलबल बहुत सी जगह पाये जाते हैं । मिट्टी वह है जो हिमप्रवाह द्वारा बनी है । यह मिट्टी साधारणतः बेकार होती है । अतः कृषि असंभव है, हालांकि कुछ अनुकूल क्षेत्रों में आलू, जमीन के नीचे उगने वाली फसलें तथा शीघ्र पकने वाली सब्जियाँ उगाई जाती हैं ।

यहाँ के लोगों का खास व्यवसाय जंगल में काम करना तथा शिकार खेलना है । जहाँ-जहाँ पर आसानी से पहुँचा जा सकता है, इन जंगलों को साफ कर दिया गया है तथा यहाँ पर लकड़ी काटना खास व्यवसाय है । मुलायम लकड़ी के काटे हुए लट्टों के यातायात के लिये शरद में बर्फ से ढकी हुई नदियाँ तथा ग्रीष्म में बाढ़युक्त नदियाँ बहुत अच्छे साधन हैं ।

इन प्रदेशों के उत्तरी भाग में लकड़ी काटने का धंधा सम्भव नहीं है क्योंकि

(१) वृक्ष बहुत छोटे हैं, (२) उत्पत्ति की कोटि तथा ध्रेणी गिरी हुई है। (३) जंगल बुरी तरह से जले हुए हैं, तथा (४) इन क्षेत्रों में पहुँचना तथा बाहर आना बहुत कठिन है। साइबेरिया में यह वृक्ष अलग २ टुकड़ों में उगते हैं जिनके बीच २ दलदल तथा मस्केग (muskegs) पाये जाते हैं। अतः लकड़ी काटना लाभप्रद नहीं है। इस विचार से कनाडा तथा उत्तरी पश्चिमी यूरोप अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। वहाँ जल-विद्युत (Hydro-electricity) के कारण लकड़ी चीरने और काटने तथा कागज की लुग्दी बनाने का व्यवसाय विकसित हो गया है।

उन क्षेत्रों में जहाँ जंगल साफ नहीं किये गए हैं मनुष्य शिकार करते हैं तथा रोंएदार जानवरों को फंदे में फँसाते हैं। इन्हीं प्रदेशों से संसार में चारों ओर फर या बालदार खाल भेजी जाती है। परन्तु धीरे २ यह बाल इकट्ठा करने का कार्य कम होता जा रहा है। बाल वाले जानवरों को अब पालतू बनाया जा रहा है, तथा फर उगाने (fur-farming) का कार्य होता है।

कनाडा, रूस तथा साइबेरिया के इन प्रदेशों में बहुत से मूल्यवान खनिज-पदार्थों का भंडार बताया जाता है, हालाँकि उन पर अभी कार्य नहीं किया गया है। कनाडा तथा यूरेशिया में सोना, चांदी, ताँबा, लोहा, निकल, एसीबेस्टास (asbestos) तथा यूरेनियम (uranium) पाया जाता है। उत्तरी अमरीका में किसी हद तक इन खनिज पदार्थों को निकाला जाता है, परन्तु रूस तथा साइबेरिया में सबसे बड़ी रूकावट जलवायु सम्बन्धी परिस्थितियाँ हैं। खनिज-पदार्थों के विकास के लिये और दूसरी रूकावटें यह हैं—(१) चट्टानें दरारपूर्ण, मुड़ी हुई तथा दुबारा जमी हुई हैं जिससे खनिज-पदार्थों का निकालना बहुत कठिन हो जाता है। (२) बहुत से बड़े २ क्षेत्रों पर दलदल तथा हिमनदीय निक्षेप पाये जाते हैं। (३) जंगलों के बहुत से भाग इतने घने हैं कि वहाँ पर पहुँचना बहुत मुश्किल है।

अतः इस प्रदेश की आर्थिक व्यवस्था की कुंजी प्राकृतिक साधनों को खोज कर निकालना है। जनसंख्या स्थिर रूप से बसी हुई नहीं है, परन्तु मनुष्य बालदार खालों, खनिज-पदार्थ तथा लकड़ी से आकर्षित होकर यहाँ आते हैं। इन प्रदेशों की अधिकतम जनसंख्या आने जाने वाली है।

ई—ध्रुवीय जलवायु

ध्रुवों पर जलवायु बहुत कठिनतम तथा दुःखदायी है। इसमें दो प्रकार की जलवायु पाई जाती है : (१) टुंड्रा प्रदेशीय तथा (२) हिम आवरण तुल्य।

टुंड्रा प्रदेश—यह जलवायु अधिकतर उत्तरी गोलार्द्ध में है तथा अमरीका, एशिया तथा यूरोप में पाई जाती है। इसकी उत्तरी सीमा ६०° उत्तरी अक्षांश रेखा है। दक्षिणी गोलार्द्ध में इस प्रकार की जलवायु में केवल अन्टार्क्टिक महाद्वीप के किनारे तथा कुछ तटीय द्वीप हैं।

जलवायु—वर्ष के अधिकतम भाग में इस प्रदेश पर सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं। शरद ऋतु लम्बी होती है तथा ग्रीष्म ऋतु बहुत छोटी होती है। ग्रीष्म ऋतु में कुछ महीनों के लिए सूर्य क्षितिज पर स्थिर रहता है, परन्तु शरद ऋतु

में सूर्य बिल्कुल निकलता ही नहीं है। परन्तु शरद ऋतु अंधकार पूर्ण नहीं होती क्योंकि चांद, सितारे तथा ध्रुवीय प्रकाश (Aurora Borealis) से काफ़ी प्रकाश प्राप्त होता है।

सर्दों के महीनों में तापक्रम इतना कम होता है कि पृथ्वी के बहुत से भाग पर ५० फीट मोटी बर्फ जम जाती है। गरमी के महीनों में ऊँचे स्थानों तथा बर्फीले मैदानों को छोड़ कर तापक्रम गरम रहता है। यह गर्मी इस बरफ को २-३ फीट की गहराई तक गला देती है। औसत तापक्रम 40° से 50° फ० हो जाता है। सबसे अधिक गर्मी के महीने जून, जुलाई तथा अगस्त हैं। कभी-कभी ग्रीष्म ऋतु की गरमी असह्य हो जाती है तथा सूर्य क्षितिज पर दिन में २० घंटे रहता है। एलास्का में तापक्रम 100° फ० तक पहुँच जाता है। तापक्रम का वार्षिक अन्तर बहुत ज्यादा होता है।

कम तापक्रम के कारण, वाष्पीभवन बहुत कम होता है, अतः वृष्टि बहुत कम होती है। वार्षिक वर्षा $5''$ से $15''$ तक होती है तथा तटीय प्रदेशों पर अधिक होती है। कुहरे तथा बादल से मौसम पूर्णतः उदासी पूर्ण रहता है। अधिकतर वृष्टि बरफ रूप में होती है।

प्राकृतिक वनस्पति—इस प्रदेश की मिट्टी साधारणतः अनुपजाऊ तथा जल-पूर्ण होती है। परन्तु यह प्रदेश पूर्णतः वनस्पतिहीन नहीं है। वृक्षोत्पत्ति सम्भव नहीं है परन्तु कुछ घास, छोटी-छोटी झाड़ियाँ, लिचन तथा काई यहां पर उगती है। टुंड्रा तुल्य वनस्पति में यह ही पैदा होती है तथा इस प्रकार की वनस्पति हिम आवरण, हिम नदी तथा मोरेन का छोड़ कर सब जगह पाई जाती है। बाद के क्षेत्र पूर्णतः रेगिस्तान हैं।

नमी के परिमाण तथा मिट्टी की प्रकृति के अनुसार टुंड्रा तुल्य वनस्पति की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न है। उत्पत्तिकाल ग्रीष्म है जब बरफ पिघल जाती है। इस वनस्पति के सहारे कुछ बारहसिंहे पलते हैं। यह वनस्पति केवल वैज्ञानिकों के महत्त्व की है तथा इसका आर्थिक महत्त्व कुछ भी नहीं है।

जीव-जन्तु—यहाँ बहुत प्रकार के जीव-जन्तु पाये जाते हैं, हालांकि भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न २ प्रकार के जीव-जन्तु पाये जाते हैं। अमेरिकन टुंड्रा में स्थल पर रहने वाले ख़ास जीव-जन्तु मस्क बेल, लोमड़ी, कॅरीबू, भेड़िया, खरगोश तथा लैमिंग हैं। कुत्ता इस क्षेत्र का घरेलू जानवर है। यूरेशिया के टुंड्रा प्रदेश में—जिसे लैपलैंड (Lapland) कहते हैं—बारहसिंघे को भी पालतू बना लिया गया है। मस्क बेल तथा ध्रुवीय भालू भी पाये जाते हैं। टुंड्रा तथा लैपलैंड (Lapland) प्रदेश के दक्षिणी किनारों पर रोएँदार जानवर जैसे बीवर, आटर, लिक्स तथा सेबल पाये जाते हैं। गरमी के महीनों में जब बरफ पिघल जाता है, तो बहुत से मच्छर, मक्खियाँ तथा पिस्सू भी पैदा हो जाते हैं।

यहाँ के जल क्षेत्रों में सील, ह्वेल तथा बालरस मछलियाँ पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से प्रकार की सामुद्रिक चिड़ियाँ भी यहां पाई जाती हैं।

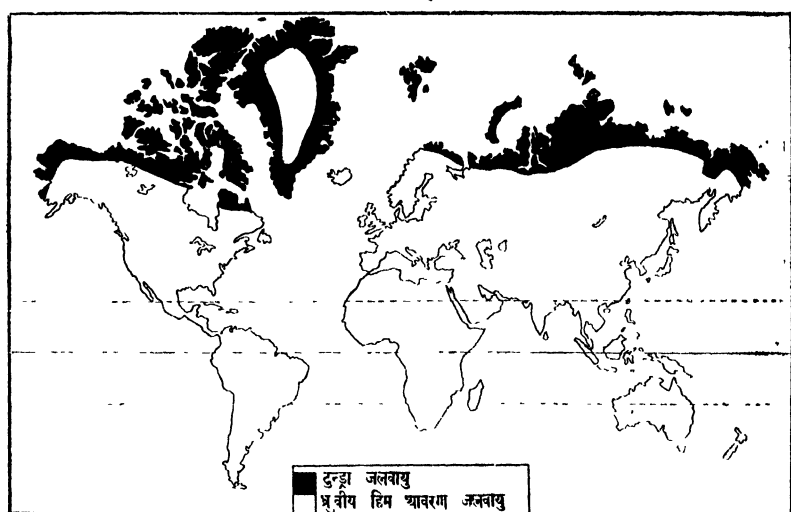
मनुष्य तथा व्यवसाय—कृषि असम्भव होने के कारण यहां के मनुष्यों का

व्यवसाय शिकार खेलना तथा मछली मारना है। जीव-जन्तुओं से इनको खाने के लिये गोश्त, वस्त्र और रक्षा के लिये खाल तथा जलाने व प्रकाश के लिये चरबी मिलती है। यह हल्ले तथा बालरस को पकड़ते हैं। बालरस को खासतौर से उसके दांत के लिए पकड़ते हैं।

यहां की स्थायी जनसंख्या बहुत कम है। कनाडा के टुन्डा प्रदेश में जनसंख्या दसलाख वर्गमील में केवल ५,००० है। औसत एक कुटुम्ब प्रति हजार मील है। यूरेशिया के लैपलैंड में अधिक आबादी है। यहां की औसत आबादी का घनत्व एक वर्गमील में एक मनुष्य है।

इन प्रदेशों में दो प्रकार के लोग रहते हैं :—अमरीका में एस्किमो तथा यूरेशिया में लैप्स। हालांकि प्राकृतिक रूप से, सांस्कृतिक रूप से तथा भाषा सम्बन्धी रूप से ये दोनों प्रकार के लोग एक से हैं, परन्तु इनके आर्थिक कार्य भिन्न-भिन्न हैं। एस्कीमो तट पर रहते हैं अतः प्रधानतः समुद्र में शिकार पर निर्भर रहते हैं। यह अधिकतर खानाबदोश होते हैं तथा तम्बुओं में अथवा ग्रीष्म में लट्टों की झोंपड़ियों में तथा शरदऋतु में बरफ के घरों में रहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में यह अपने कायक (Kayak) नामक नावों पर तथा शरदऋतु में बरफ में छेद करके भालों से शिकार करते हैं।

लैप्स इनसे बहुत अच्छे हैं तथा इनका जीवन अधिक स्थायी है। इनकी आर्थिक व्यवस्था का आधार पालतू बारहसिंहा है। स्थिति के अनुसार लैप्स तीन प्रकार के होते हैं :—नावों के तट के समुद्री लैप्स; बहुत दूर पूर्व में नदियों की घाटियों में रहने वाले नदी के लैप्स, तथा ऊँचे पठारों पर रहने वाले पर्वतीय लैप्स। पर्वतीय लैप्स



चित्र ५६—ध्रुवीय जलवायु

अस्थिर होते हैं तथा गर्मियों में पर्वतों से तटीय क्षेत्रों की ओर आ जाते हैं। यह अपने बारहसिंहों के खाने की तलाश में तथा नये चरागाहों की खोज में इधर से उधर घूमते रहते हैं।

(२) हिम आवरण (The Ice Cap)—विशिष्ट हिम आवरण (Ice caps) उत्तरी तथा दक्षिणी गोलार्द्ध दोनों में ही पाये जाते हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीनलैंड के आन्तरिक भाग में तथा आर्कटिक महासागर के बहुत से द्वीपों में हिम आवरण (Ice cap) पाये जाते हैं, तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में तटीय किनारों को छोड़ कर सारा अर्न्तार्कटिक (Antarctic) एक हिमआवरण ही है। यह महाद्वीपीय हिम-नदियों के केन्द्र हैं तथा इन पर हमेशा बरफ ढकी रहती है। इसके बारे में अधिक ज्ञात नहीं है।

जलवायु—यहां की जलवायु की विशेषता यह है कि यहां पर तापक्रम बहुत कम होता है— 22° से 25.6° फ०। गरम से गरम महीने का तापक्रम भी हिमांक से नीचे रहता है। इन प्रदेशों की दूसरी विशेषता यह है कि यहां पर तीव्र तूफानी हवायें, जिन्हें ब्लिजर्ड (Blizzard) कहते हैं, बराबर चलती रहती हैं, तथा यह १०० मील प्रति घंटे की रफ्तार से चलती हैं। यह हवा बर्फ के टुकड़ों को उड़ा ले जाती है अतः चारों ओर कम दिखाई देने लगता है।

वनस्पति तथा जीव-जन्तु—इन प्रदेशों में किसी भी प्रकार के पेड़ पौधे नहीं होते। ग्रीष्म में लिचन तथा बर्फीले फूल उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु समुद्र के किनारों पर अपेक्षाकृत अधिक होते हैं। वहां पर कई प्रकार की समुद्री घासफूस उग आती है।

कुछ मछलियों के अतिरिक्त, जो आस पास के सागरों में होती हैं, यहां पर और कोई जीव-जन्तु नहीं है। यहां पर काड मछली अधिकता से पाई जाती है। इसके अतिरिक्त कई प्रकार की चिड़ियां भी पाई जाती हैं—जैसे पेनगुइन (Penguin) तथा गल (Gulls) जो मछली खाकर रहती हैं। खुले हुए समुद्रों में वालरस, सील तथा ह्वेल भी पाई जाती हैं।

उत्तरी महाद्वीपों से मनुष्य यहां पर इन समुद्री जीव-जंतुओं का शिकार करने तथा पकड़ने आते हैं। वालरस से खाल, हाथी दांत तथा तेल प्राप्त होता है; तथा सील और ह्वेल से खाल, गोشت तथा तेल प्राप्त होता है।

अन्वेषण तथा माधन—अब तक इन प्रदेशों के बारे में बहुत से अन्वेषण हुये हैं तथा वर्तमान अन्वेषण से यह ज्ञात हुआ है कि अर्न्तार्कटिक (Antarctic) के हिम-आवरण में तांबे तथा कोयले का विस्तृत भंडार है। ग्रीनलैंड के तटीय क्षेत्र से क्रिसोलाइट (Crysolite) प्राप्त होता है। परन्तु वहां की कठोर तथा दुःखपूर्ण जलवायु के कारण तथा विपरीत दशाओं के कारण अधिक अन्वेषण सम्भव नहीं है।

भूपृष्ठ

पृथ्वी का धरातल जल तथा स्थल दोनों से ही मिलकर बना हुआ है। पृथ्वी के धरातल का ७१ प्रतिशत भाग जल द्वारा घिरा हुआ है। अतः पृथ्वी के धरातल का केवल २९ प्रतिशत भाग स्थल है जिसमें से दो-तिहाई भाग उत्तरी गोलार्द्ध में है। पृथ्वी की सतह ढीली मिट्टी से ढकी हुई है, जिसके नीचे कभी कई फीट गहराई पर तथा कभी कुछ इञ्च गहराई पर ही कुछ सख्त तत्व पाये जाते हैं। इसे पृथ्वी का पृष्ठ या पटल कहते हैं तथा यह उन चट्टानों का बना हुआ है जो ५० मील की गहराई तक फंली हुई हैं। यह पपड़ी पृथ्वी के ठंडे होने तथा सख्त होने से बनी है और यह विधि धीरे-धीरे बहुत युगों से चल रही है।

चट्टानें (Rocks)

‘भूगर्भ शास्त्र तथा पृथ्वी की बनावट के अध्ययन के वर्द्ध होणे से चट्टान स्वभाविक निक्षेप का वह पिंड है जिससे भूपृष्ठ का ठोस भाग बना है। इस प्रकार चट्टान ग्रेनाइट (granite) की तरह सख्त भी हो सकती है अथवा मिट्टी और बालू की तरह मुलायम भी हो सकती है। यह चाक की तरह प्रवेद्य हो सकती है अथवा ग्रेनाइट, स्लेट तथा मिट्टी की तरह अप्रवेद्य भी हो सकती है। प्रवेद्य चट्टानों में से पानी गुजर जाता है परन्तु अप्रवेद्य चट्टानों में से पानी नहीं गुजर सकता है। अतः इस सम्बन्ध में इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि चट्टान कोई रासायनिक मिश्रण नहीं है वरन् बहुत से खनिज पदार्थों का संयुक्त रूप है। परन्तु यह खनिज पदार्थ अपने क्रम में बहुत से रासायनिक तत्वों के मिलने से बनते हैं। बहुत सी चट्टानें केवल एक ही प्रकार के खनिज पदार्थ से बनी होती हैं। ऐसी दशा में चट्टान भी उसी खनिज पदार्थ के नाम से पुकारी जाती है। परन्तु वह चट्टान जो बहुत प्रकार के खनिज पदार्थों से बनी होती है केवल चट्टान ही कहलाती है। यह खनिज पदार्थ पृथ्वी में उस समय मौजूद थे जब यह पिघली हुई अथवा गैस रूप में थी। जैसे-जैसे पृथ्वी ठंडी होती चली गई यह खनिज पदार्थ चट्टानों के रूप में ठोस कणदार होकर जमते गये। ग्रेनाइट (Granite) में फेल्सफार (Felspar) के कण हैं जो सख्त बज्र (Quartz) में अम्रक (mica) के साथ-साथ उपस्थित हैं।

प्रथम चट्टानें पिघले हुये पदार्थों के ठंडे होने के कारण बनी थीं। अतः पहली चट्टानों की बनावट संयुक्त (compact) थी तथा उनका रूप पिण्ड की तरह था। परन्तु कठोर समूह फटकर तितर-बितर हो गये तथा इस प्रकार बिखरा हुआ पदार्थ समुद्र के नीचे समतल परत के रूप में जम गया और धीरे-धीरे विकसित होकर चट्टान

बन गई। सब प्रकार की चट्टानों के टूटे-फूटे टुकड़ों से पठारी अधः मिट्टी (Subsoil) बन गई जो नीचे की चट्टानों पर बिछी हुई है। इन चट्टानों से हमें पृथ्वी का पुरातन इतिहास प्रकट होता है तथा यह ही वर्तमान स्थल वृक्षों की आधार है।

चट्टानों का विभाजन हम कई आधारों पर कर सकते हैं परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण तथा माननीय विभाजन चट्टानों की प्रारम्भिक उत्पत्ति के आधार पर वर्गों में बाँटना है। चट्टानों की निर्माण विधि के अनुसार हम चट्टानों को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :—(१) आग्नेय चट्टानें (Igneous rocks) अथवा वह चट्टानें जो अग्नि द्वारा बनी हैं; (२) परतदार चट्टानें (Sedimentary) अथवा जलीय (Aqueous) चट्टानें अथवा वह चट्टानें जो पानी के द्वारा बनी हैं, तथा (३) परिवर्तित (Metamorphic) चट्टानें अथवा वह चट्टानें जो गर्म, दबाव तथा पानी के द्वारा अधिक गहराई पर बनी हैं।

आग्नेय (Igneous) चट्टानें वह हैं जो पृथ्वी के पिघले हुये पदार्थों के ठंडे होने से बनी हैं। यह पिघले हुये पदार्थ पृथ्वी के आन्तरिक भाग में बनते हैं, और यह आग्नेय (Igneous) चट्टानें उस समय बनती हैं जब कि या तो यह पिघला हुआ पदार्थ पृथ्वी के धरातल पर जाकर ठंडा हो जाता है अथवा पृथ्वी की कन्दराओं तथा दरारों के अन्दर ही जम जाता है। जबकि पृथ्वी के अन्दर बहुत गहराई पर कोई आग्नेय (Igneous) चट्टान धीरे २ जम जाती है तो इसे आन्तरिक (Intrusive) चट्टान कहते हैं तथा यह बड़े २ स्फटों का बना होता है। ग्रैनाइट (granite) एक विशिष्ट उदाहरण है जो पूर्णतः स्फटपूर्ण होता है। दूसरी ओर यदि यह शीघ्रता से ठंडी होती है तो कोई भी स्फट नहीं बनते। लावा जो ज्वालामुखी से निकलता है चट्टानों के रूप में जम जाता है परन्तु यह प्यूमिस (pumice), पत्थर अथवा शीशे के समान ही होता है।

बसाल्ट (Basalt) एक विशिष्ट उदाहरण है। इस प्रकार की चट्टानों को बाह्य (Extrusive) चट्टानें कहते हैं।

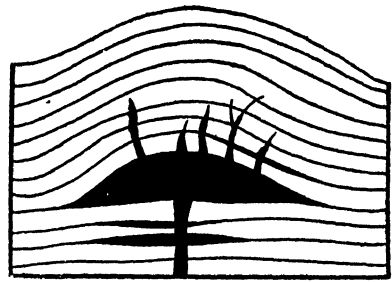
पिघले हुये पदार्थ के ठंडे होने के स्थान तथा ठंडे होने में लिये गये समय के आधार पर, आग्नेय (Igneous) चट्टानों को हम निम्नलिखित तीन प्रकार की कह सकते हैं :

(अ) पातालीय (Plutonic) चट्टानें पृथ्वी में बहुत गहरे पर बनती हैं। यह पिघला हुआ पदार्थ पृथ्वी के धरातल पर नहीं पहुँच पाता तथा धीरे २ उन स्थानों पर जम जाता है जो बहुत गहराई पर हैं। इस प्रकार की बनी हुई चट्टानें पूर्णतः स्फटपूर्ण होती हैं तथा इनके स्फट आकार में बहुत बड़े होते हैं। पृथ्वी के धरातल के ऊँचा उठने पर अथवा काट-छांट के बाद ही यह चट्टानें ऊपर आती हैं। ग्रैनाइट (Granite) इसका उदाहरण है।

(ब) डाइक (Dyke) चट्टानें पृथ्वी की पपड़ी की तहों तथा परतों के सहारे बनती हैं। पिघले हुये पदार्थ का कुछ भाग, पृथ्वी के आन्तरिक भाग को तो छोड़ देता है, परन्तु ज्वालामुखी के मुँह से होकर पृथ्वी के धरातल तक पहुँचने में असमर्थ रहता है। यह पिघला हुआ पदार्थ रास्ते की चट्टानों से मिलता है, जिनसे

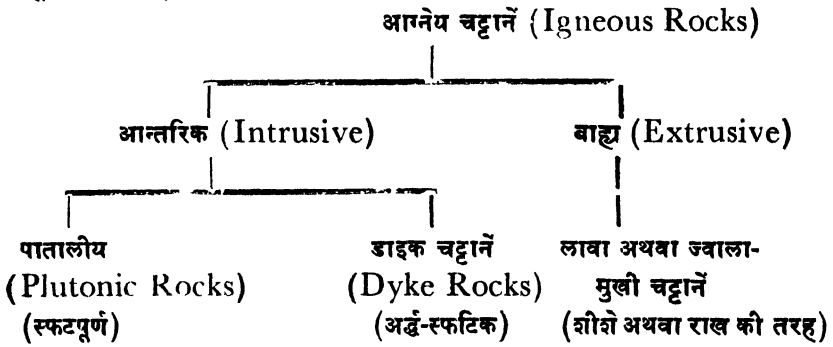
होकर यह लम्बवत् ढीवार के रूप में, पुल या बाँध की तरह बन जाता है। यदि इसी वशा में यह ठंडा हो जाता है तो डाइक (Dyke) चट्टानें बन जाती हैं जो बनावट में अर्द्ध स्फटिक हैं।

(स) लावा अथवा ज्वालामुखी चट्टानें उस लावा के ठंडे होने से बनती हैं जो ज्वालामुखी के फटने के समय निकलता है।



चित्र ५७—आग्नेय चट्टानें तथा उनकी रचना

पहली दो किस्म की चट्टानें—आन्तरिक (Intrusive) चट्टानों के दो भिन्न २ रूप हैं, जबकि आखिरी बाह्य चट्टान (Extrusive) की श्रेणी में आती है। वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका से पूर्णतः स्पष्ट हो जायेगा :



भिन्न-भिन्न प्रकार की आग्नेय (Igneous) चट्टानों में भिन्न-भिन्न प्रकार के तत्त्व भिन्न-भिन्न अनुपात में होते हैं। साधारणतः हम उनको निम्न चार प्रकार की रचना का कह सकते हैं:

(१) पेरिडोटाइट (Peridotite)—स्फटिक चट्टान है जिसमें लोहा, मैंगनीशियम, सिलिकेट तथा आक्साइड सम्मिलित रहते हैं।

(२) बसाल्ट (Basalt), डियोराइट (Diorite) तथा टैचीलाइट (Tachylite) क्रमशः स्फटिक, अर्द्ध-स्फटिक (Semi-Crystalline) तथा शीशे की तरह की चट्टानों के नाम हैं। इनमें चूना, लोहा, मैंगनीशियम, सिलिकेट तथा कुछ कम अनुपात में रजोहे के ऑक्साइड सम्मिलित रहते हैं।

(३) क्षारीय (Alkali) चट्टानें जिनमें क्षारीयपृथ्वी तथा लोहा मैंगनीशियम के सिलिकेटों के स्थान पर क्षार की अधिकता होती है। इसके विभिन्न रूप डियोराइट (Diorite), पारफीराइट (Porphyrite) तथा एण्डोसाइट (Andesite) हैं।

(४) सिलिकन (Silican) चट्टानों में सिलिका (Silica) की अधिकता होती है और लोहा, चूना तथा मैंगनीशियम कम होते हैं। इस प्रकार की चट्टानों का स्फटिक रूप टोनालाइट (Tonalite) है, बज्र प्रफीराइट (Quartz

Poophyrite) अर्द्ध-स्फटिक रूप है तथा डेसाइट (Dacite) शीशे के रूप की चट्टान है।

परन्तु आग्नेय (Igneous) चट्टानों का सबसे साधारण वर्गीकरण रचना के अनुसार है—(१) अम्ल आग्नेय चट्टानें (Acid Igneous Rocks), तथा (२) पैठिक आग्नेय चट्टानें (Basic Igneous Rocks)।

अम्ल चट्टान (Acid Rocks) में अधिकतर सिलिका (Silica) होता है। उनकी रचना में ८०% सिलिका (Silica) तथा २०% में एल्यूमिनियम, क्षार-पदार्थ, लोहे का आक्साइड, मैंगनीशियम तथा चूना है। यह पृथ्वी के उस भाग में होती है जिसे 'सियाल' (Sial) कहते हैं। इनमें लोहे तथा मैंगनीशियम की तरह भारी खनिज पदार्थ बहुत कम होते हैं। अतः यह पीले रंग की होती हैं तथा साधारणतः इसमें बज्र (Quartz) तथा फेल्सपार (Felspar) पाये जाते हैं। ठोस तथा पिण्ड रूप होने के कारण यह अम्ल (Acid) चट्टानें सरल होती हैं तथा मौसमी क्षति का इन पर प्रभाव नहीं पड़ता। ग्रेनाइट (Granite) विशिष्ट उदाहरण है।

पैठिक (Basic) चट्टानों का सम्बन्ध पृथ्वी के उस भाग से है जिसे सिमा (Sima) कहते हैं तथा इसमें सिलिका (Silica) बहुत कम होता है। इसकी रचना में ४०% सिलिका (Silica), ४०% मैंगनीशियम तथा शेष २०% में अधिकतर लोहे का आक्साइड, कुछ चूना, तथा कुछ एल्यूमिनियम होता है। क्षार पदार्थ इसमें बिल्कुल नहीं होता। चूंकि यह चट्टानें भारी खनिज पदार्थों की बनी हैं, अतः इनका रंग गहरा होता है परन्तु यह नरम होती है तथा मौसम का प्रभाव इन पर आसानी से हो जाता है। बसाल्ट (Basalt) इसका साधारण उदाहरण है।

आग्नेय (Igneous) चट्टानों में साधारणतः निम्नलिखित विशेषतायें होती हैं, जो इन्हें दूसरे प्रकार की चट्टानों से अलग करती हैं :

(१) आग्नेय (Igneous) चट्टानों में गोल कण नहीं होते। यह भिन्न-भिन्न रूप तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के स्फटों से बनी होती हैं। इन स्फटों की रचना क्रमरहित होती है।

(२) यह चट्टानें ठोस तथा पिण्ड रूप होती हैं। इनमें परतें नहीं होतीं। परन्तु वर्गानुसार इनमें पूर्ण विकसित जोड़ होते हैं। यही जोड़ कमजोर क्षेत्र हैं जहाँ पर मौसमी क्षति तथा आवरणक्षय (Erosion) का प्रभाव होता है।

(३) यह चट्टानें सख्त होती हैं तथा इनमें से पानी नहीं गुजर सकता। परन्तु इन चट्टानों में विखण्डन (Mechanical weathering) होता है जो इन्हें टुकड़ों में विभक्त कर देता है।

(४) आग्नेय (Igneous) चट्टानों में कोई प्राणिज अवशेष अथवा जानवरों तथा पौधों के चिन्ह नहीं पाये जाते हैं।

परतदार (Sedimentary) चट्टानें वह हैं जो जल, वायु तथा बरफ की क्रिया द्वारा बनी हैं। ये प्राकृतिक साधन आग्नेय चट्टानों को तोड़कर देते हैं तथा तोड़ देते हैं, इन टुकड़ों को बहा ले जाते हैं तथा किसी विशेष स्थान पर जमा कर देते हैं। यह निक्षेप साधारणतः तहों अथवा परतों के रूप में होता है। इसलिए इनको तलछट

की चट्टान (Sedimentary Rocks) अथवा परतदार चट्टान (Stratified rocks) अथवा जलीय चट्टान (Aqueous rocks) कहते हैं। पहला नाम उन पदार्थों को बताता है जिससे वह बनी है तथा उसी पर आधारित है, दूसरा नाम उनके रूप तथा आकार को बताता है तथा तीसरा नाम उनके स्थान तथा बनने के तरीके को बताता है।

बहता हुआ पानी, समुद्र तथा वायु वे खास साधन हैं जिनके द्वारा यह चट्टानें झीलों की सतह पर, नदियों की तलहटी पर तथा उथले समुद्रों में बनती हैं। तलछट के जमाव द्वारा बनी हुई प्रत्येक नई परत इसके आकार तथा विस्तार को बढ़ा देती है। ऊपर के दबाव के कारण, यह तहें दब जाती हैं तथा मोटी चट्टानों का रूप धारण कर लेती हैं। वर्तमान स्थल खंड के अधिकतम भाग में परतदार (Sedimentary) चट्टानें ही हैं। चौड़ाई में विस्तार के अनुसार यह चट्टानें इतनी महत्वपूर्ण हैं कि यह वर्तमान स्थल क्षेत्र के ७५% भाग में फैली हुई हैं। परन्तु यह अधिक गहराई तक नहीं पाई जातीं। भूपृष्ठ में केवल ५% गहराई तक ही पाई जाती हैं।

परतदार चट्टानों की विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) यह चट्टानें भिन्न-भिन्न रूप तथा आकार के छोटे-छोटे कणों की बनी होती हैं। इनमें से कुछ कण बड़े होते हैं तथा कुछ बहुत छोटे। यह छोटे-छोटे कण भिन्न-भिन्न खनिज पदार्थों के वर्ग में सम्मिलित होते हैं।

(२) यह चट्टानें बहुत सी परतों अथवा तहों की बनी होती हैं जो एक के ऊपर एक समतल रूप में बिछी हुई होती हैं। यह समतल परतें इनको अन्य प्रकार की चट्टानों से भिन्न करती हैं।

(३) चूंकि यह चट्टानें पानी के अन्दर बनी हैं इनमें मिट्टी की दरारें होती हैं तथा लहरों अथवा धाराओं के चिन्ह होते हैं।

(४) परतदार चट्टानों में जीवजन्तुओं और वनस्पति के अवशेष पाये जाते हैं। यह वह जीव जन्तु तथा पेड़ पौधे होते हैं जो दो परतों के बीच आ जाते हैं। इन अवशेषों से उस स्थान तथा समय का ज्ञान होता है जहां और जब ये बनी थी।

(५) परतदार चट्टानें अपेक्षाकृत मुलायम होती हैं। इन्हें खरोचने पर चूर्ण निकलता है।

परतदार चट्टानें कई तरह से बन सकती हैं, और उनकी रचना के अनुसार, यह भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित हैं :—

(१) यह बिल्वण्डन द्वारा टूट-फूट से बन सकती है जैसे रेत।

(२) यह रासायनिक क्रिया द्वारा बन सकती है। नमक तथा जिप्सम (gypsum) इसकी खास मिसाल हैं।

(३) यह प्राणिज रूप से बनी हो सकती है—जैसे खड़िया तथा चूने का पत्थर।

वह चट्टानें जो बिल्वण्डन अथवा रासायनिक क्रिया से बनी होती हैं, अप्राणिज (Inorganic) चट्टानें कहलाती हैं क्योंकि ये विशेष खनिज पदार्थों की बनी होती हैं। बालू का पत्थर, चिकनी मिट्टी, शैल (Shale) तथा बजरी उन चट्टानों के उदाहरण हैं जो बिल्वण्डन द्वारा बनी होती हैं; जबकि जिप्सम (Gypsum), चट्टानें

नमक (Rock salt) तथा पोटाशियम (Potassium) उन चट्टानों के उदाहरण हैं जो रासायनिक रूप से बनी होती हैं परन्तु यह दोनों ही अप्राणिज (Inorganic) चट्टानों के उपविभाग हैं।

बहता हुआ पानी, वायु अथवा हिम अपने साथ ले जाए हुए पदार्थ को किसी स्थान पर एकत्रित कर देते हैं। शिलाखंडों के भारीपन के अनुसार, अधिक भारी भाग नीचे तह पर जम जायेगा तथा हल्के कण उनके ऊपर जम जावेंगे। बिखंडन द्वारा बनी चट्टान में रेत के कणों अथवा चिकनी मिट्टी के कणों की अधिकता होती है यथानुसार इस विशेष अप्राणिज चट्टानों को हम दो प्रकार की कह सकते हैं—(१) वह जिनमें रेत अथवा बजरी अधिक होती है और जिसे बलुही (Arenaceous) चट्टानें कहते हैं। इनमें बज्र (quartz) के समान खनिज पदार्थों की अधिकता होती है। सख्त होने के कारण कणों का आकार बड़ा होता है, हालांकि आकार में बहुत भिन्नता होती है। इसके कण भट्टे तथा चुकीले होते हैं। पानी में घुली चिकनी मिट्टी चूना और सिलिका (Silica) इन कणों को जमाकर चट्टानों का रूप देने में सहायता देते हैं। इस प्रकार की चट्टानों में बलुहा पत्थर (Sandstone) सबसे महत्वपूर्ण है। यह अत्यधिक प्रवेश्य होते हैं तथा पानी को सोख सकते हैं। गिटस्टोन (Grit-stone) सख्त बलुहे पत्थर ही होते हैं। इनका रंग गहरा स्लेटी अथवा भूरा होता है। टिकाऊ होने के कारण, यह अधिकतर मकान बनाने के काम में आता है। गिट-स्टोन (Grit-stone) में सिलिका (Silica) अथवा बज्र (Quartz) सीमेंट का काम करते हैं। (२) वह चट्टानें जिनमें चिकनी मिट्टी के कण बहुत होते हैं उनको चिकनी मिट्टी प्रधान चट्टानें (Argillaceous) चट्टानें कहते हैं। यह चट्टानें मुलायम होती हैं, तथा इनमें छोटे २ चिकनी मिट्टी के कण अधिकता से होते हैं। यह अप्रवेश्य होती हैं। पानी इनमें से नहीं गुजर सकता, और न घुस ही सकता है, परन्तु मुलायम होने के कारण इन पर मौसमी क्षति का तथा आवरणक्षय (Erosion) का प्रभाव शीघ्र हो जाता है। रासायनिक मौसमी क्षति का इन पर प्रभाव नहीं होता परन्तु बिखण्डन तथा आवरणक्षय इनको काट-छांट कर निम्न तलागत शैल (Outcrops) की अवस्था में कर देते हैं। शैल (shale) इस वर्ग का महत्वपूर्ण उदाहरण है जिसकी परतें फौरन अलग हो जाती हैं। शैल (shale) अथवा चिकनी मिट्टी की बहुत सी किस्में मिट्टी के बरतन, ईंटें तथा खपरैल और टाइल बनाने के काम में आती हैं।

परन्तु बहते हुये पानी में भी बहुत से रासायनिक पदार्थ होते हैं, जिन्हें बहते वक्त पानी चट्टानों में से ग्रहण कर लेता है। जब पानी भाप बनकर उड़ता है तो अक्सर यह पानी में मिले हुए रासायनिक पदार्थ तहों के रूप में रह जाते हैं। इस प्रकार की एकत्रित तहें या तो झरनों के मुँह पर अथवा नमक की झीलों में पाई जाती हैं। इस वर्ग में स्टैलक्टाइट (Stalactite), ओलाइट (Oolite), लोहनिक्षेप (Iron-deposits) नमक तथा जिप्सम (gypsum) हैं। रासायनिक रूप से बनी हुई ये ही अप्राणिज (Inorganic) चट्टानें होती हैं।

स्टैलक्टाइट (Stalactites) तथा स्टैलग्माइट (Stalagmites)—चूने के

वह निक्षेप है जिन्हें चूने से मिला हुआ पानी भाप बनते वक्त जमीन के नीचे कन्दराओं में छोड़ देता है तथा यह जमाव या तो फर्श से उठते हुए या छत से लटके हुए रह जाते हैं। ऊलाइट (Oolite) स्फटिक चूने का पत्थर है जो विस्तृत रूप से उत्तरी यार्कशायर के मूर तथा काट्सबोल्ड्स (Cotswolds) में पाया जाता है। जिप्सम (Gypsum) चूने का सल्फेट होता है जो साधारणतः नमक की चट्टानों के पास पाया जाता है। इसको खोदकर तथा जलाकर पेरिस प्लास्टर (Plaster of Paris) बनाया जाता है। लोह पत्थर (Iron stone) लोहे का कार्बोनेट (Carbonate) होता है जो साधारणतः कोयले की परतों के पास पाया जाता है।

जैसा कि नाम से प्रत्यक्ष है, प्राणिज (Organic) चट्टानें अथवा प्राणी जीवन से बनी हुई चट्टानें वह होती हैं जो जीव-जन्तुओं तथा पेड़ पौधों के अवशेषों से बनती हैं। बहुत से जीव-जन्तु तथा पेड़ पौधे नष्ट होने के बाव जमीन में दब जाते हैं, तथा इसी दशा में दबे रहते हैं, यहाँ तक कि इसके ऊपर इकट्ठा तलछट की परतें गर्मी तथा दबाव द्वारा इसकी बनावट को बदल देती हैं। कोयला, चूनेका पत्थर तथा प्रबाल या मूंगा (Coral) इसी प्रकार की प्राणिज (Organic) चट्टानें हैं। कुछ प्राणिज चट्टानों में चूने का तत्व अधिकता से होता है तथा कुछ में कार्बन (Carbon) तत्व अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। एक या दूसरे की अधिकता के अनुसार, प्राणिज (organic) चट्टानें दो प्रकार की होती हैं :—(१) चूना प्रधान (Calcareous) चट्टानें, जिनमें चूने का कार्बोनेट (carbonate) अधिक महत्त्वपूर्ण होता है तथा जो कुछ जीव-जन्तुओं के बाहिरी पिंजर और हड्डियों से बनती हैं। इस प्रकार के जमाव उस समय बनते हैं जब पानी भाप बनकर उड़ जाता है या चूने का जमाव छोड़कर अवश्य हो जाता है। चूने का पत्थर (Limestone), खड़िया, डोलमाइट (Dolomite) इसी प्रकार की चट्टानें हैं।

यह बहुत सख्त होती है तथा पानी से बहाये हुये शिलाखंडों द्वारा आसानी से नहीं खुरची जाती। इसमें विकसित जोड़ होते हैं। अतः यह पानी को अपने अन्दर रख सकती है। इनकी दूसरी विशेषता यह है कि यह कार्बन डाइऑक्साइड मिले पानी में घुल जाती है।

सारी चूना प्रधान (Calcareous) चट्टानें जीव-जन्तुओं के अवशेष से बनती हैं जो एक के ऊपर एक चूने मिले पानी में जमा हो गई हैं। अतः चूने का पत्थर (Limestone) उन प्रदेशों में अधिक बनता है जहाँ तापक्रम बहुत ज्यादा होता है तथा जहाँ पर जल समूहों में कीड़ों के लिये पर्याप्त भोजन रहता है। अतः संसार का सारा चूने का पत्थर उष्ण तथा शीतोष्ण कटिबंध के महाद्वीपीय सागर वाले क्षेत्रों में पाया जाता है। रेत अथवा चिकनी मिट्टी के भिन्न अनुपात में पार-स्परिक मिलन से यह खड़िया, सेलखरी अथवा डोलमाइट बन जाता है। डोलमाइट (Dolomite) मैगनीशियम प्रधान चूने का पत्थर होता है जो साधारण चूने के पत्थर (Limestone) से सख्त होता है परन्तु इसके छोटे-छोटे टुकड़े आसानी से हो सकते हैं। अतः इसका भवन निर्माण में विस्तृत रूप से उपयोग नहीं किया जाता। यह पानी में कम घुलने वाला होता है तथा इस पर मौसमी क्षति का प्रभाव भी बहुत

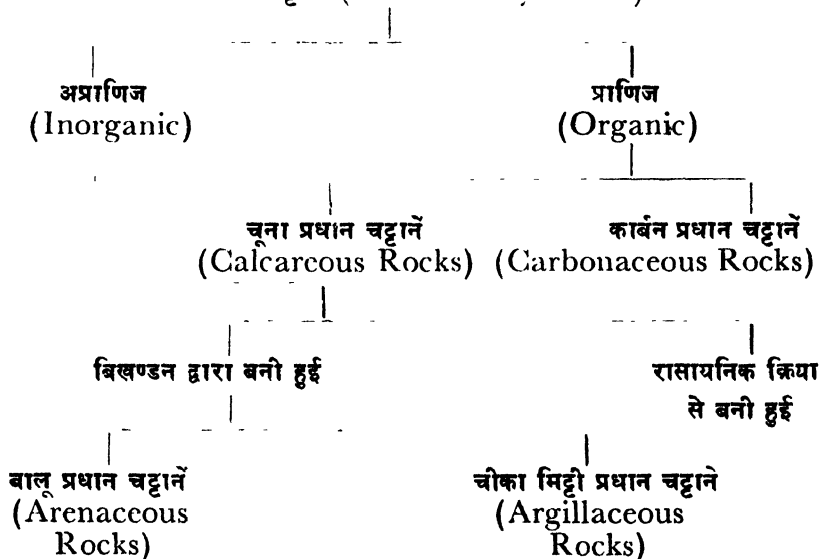
कम होता है। इसके पीले अथवा भूरे रंग के कारण, यह बहुधा बलुहे पत्थर (Sand stone) से मिलता जुलता है।

साधारण चूने का पत्थर प्रवेद्य तथा पानी में घुलनशील होता है। नरम होने के कारण इसको आसानी से तराशा जा सकता है और इच्छानुसार आकृति में बनाया जा सकता है। अतः यह मकानों में अधिकतर इस्तेमाल होता है। सीमेन्ट बनाने के लिये इसको जलाया भी जाता है। इसका रंग साधारणतः पीला होता है। इसके द्वारा बनी हुई आकृतियां गोलाकार होती हैं और दृश्य ऊबड़ खाबड़ नहीं होता। परन्तु इसकी एक किस्म कोयला प्रधान चूने का पत्थर (Carboniferous Lime stone) रंग में गहरा होता है तथा अपेक्षाकृत सख्त होता है। यह कोयले की परतों के साथ-साथ बनता है। इसमें बहुत सी कन्दरायें होती हैं, इसका दृश्य ऊबड़-खाबड़ होता है। तथा इससे बंजर मिट्टी उत्पन्न होती है।

(२) कार्बन प्रधान (Carbonaceous) चट्टानें वे हैं जिनमें कार्बन (Carbon) तत्त्व अधिकता से होते हैं तथा जो अधिकतर पेड़ पौधों के अवशेष से बनती हैं। गर्मी तथा दबाव के प्रभाव से यह पेड़ पौधों के अवशेष कोयले की सख्त तहों में बदल जाते हैं। तेल रखने वाले शेल (Shale) भी इसी वर्ग की चट्टानों में होते हैं। दूसरे शब्दों में यह केवल खनिज रूप में परिवर्तित वनस्पति होते हैं।

परतदार चट्टानों का साधारण वर्गीकरण निम्न चित्र से भली प्रकार समझा जा सकता है :—

परतदार चट्टानें (Sedimentary Rocks)



परतदार (Sedimentary) चट्टानों का दूसरी प्रकार का वर्गीकरण उनकी उत्पत्ति के स्थान के अनुसार किया जाता है। इसके अनुसार परतदार (Sedimentary) चट्टानों के दो वर्ग हैं—(१) वह जिनकी उत्पत्ति समुद्र में हुई है

तथा (२) वह जिनकी उत्पत्ति महाद्वीपों पर हुई है।

समुद्री परतदार चट्टानों (Sedimentary Rocks)—की तीन विस्तृत श्रेणियाँ हैं : (अ) बलुहे पत्थर, (ब) चिकनी मिट्टी तथा शेल, (स) चूने के पत्थर (Lime-stone)। इन सब प्रकार की परतदार (Sedimentary) चट्टानें समुद्र के उथले तथा छिछले पानी के नीचे बनी हैं जो महाद्वीपीय सागर जलीय प्रकोप के समय स्थल क्षेत्रों पर स्थित था।

महाद्वीपीय परतदार (Sedimentary) चट्टानों के दो विस्तृत वर्ग हैं—बलुहे पत्थर तथा चिकनी मिट्टी के शेल परन्तु चूँकि यह बहुत शुष्क दशाओं में बनी होती हैं, उनकी आकृति पूर्णतः भिन्न होती हैं। इस प्रकार की परतदार चट्टानें रेगिस्तानों अथवा तटीय प्रदेशों पर वायु की क्रिया द्वारा बनती हैं। फलतः उनके कण बहुत गोल तथा चिकने होते हैं, उनका रंग लाल होता है तथा इनकी परतें बालुका स्तूप (Sand Dune) की परतों की तरह होती हैं।

बजरी (Gravels), रोड़े पत्थर (Pebbles), कंकड़ों की चट्टान (Conglomerates) तथा ब्रेसइया (Breccias) विशेष परतदार (Sedimentary) महाद्वीय चट्टानें हैं। बजरी (Gravels) में छोटे-छोटे रोड़े तथा रेत होती है, जो नदी की घर्षण क्रिया से गोल हो जाते हैं। शिंगल (Shingle) तथा रोड़े पत्थर (Pebbles) में बड़े-बड़े टुकड़े होते हैं जो समुद्र की लहरों द्वारा किनारों पर फँक दिये जाते हैं तथा जो सामुद्रिक क्रिया से गोल हो जाते हैं। जब बजरी (Gravel) अथवा शिंगल (Shingle) के टुकड़े आपस में जुड़ जाते हैं, इसे हम कंकड़ों की चट्टान (Conglomerates) कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह एकत्रित बजरी (Gravel) अथवा शिंगल (Shingle) होते हैं, तथा इनमें जोड़ने वाली वस्तु रेतिला पदार्थ होता है। ब्रेसइया (Breccias) भी इसी किस्म का एकत्रित पदार्थ होता है तथा यह कई प्रकार से बनती है। यह नुकीले टुकड़ों की बनी होती है जिस पर साथ-साथ रेत से सीमेन्ट हो जाता है।

इस प्रकार के निक्षेप की मोटाई तथा विस्तार बहुत भिन्न-भिन्न हैं। वह जो समुद्र की लहरों द्वारा फेंके दिये होते हैं, न तो अधिक मोटे होते हैं और न अधिक विस्तृत। परन्तु वह जो नदी अथवा हिम नदी के द्वारा बनती हैं, अधिक विस्तृत होती हैं तथा अधिक मोटी भी होती हैं। यूरोप के पुराने तथा नये बलुहे पत्थर तथा हिमालय की सिवालिक पर्वत श्रेणी इसी प्रकार की परतदार (Sedimentary) चट्टानों के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं, जो महाद्वीपों पर बनी हैं। इसी प्रकार की चट्टानें तथा तलहटियाँ फारस तथा तुर्किस्तान में भी पाई जाती हैं। पानी से घिसी हुई चिकने पत्थर की तलहटियाँ, बोल्डर की मिट्टी तथा हिमजल निमित्त निक्षेप, जो या तो घाटी हिमनदी अथवा महाद्वीपीय हिमनदी के पीछे हटने के बाद छोड़ दिये गये हैं, ये सब इसी वर्ग में सम्मिलित किये जा सकते हैं।

पृथ्वी के धरातल पर परतदार (Sedimentary) चट्टानों के वितरण से यह प्रत्यक्ष होता है कि यहाँ पर बलुहे पत्थर, शेल तथा चूने के पत्थर की अधिकता है। पृथ्वी के धरातल पर ८८% विस्तार में चूने का पत्थर, २३% विस्तार में शेल

तथा ६८% विस्तार में बलुहे पत्थर है। इनकी उत्पत्ति के पूर्ण निरीक्षण से यह प्रत्यक्ष है कि हालांकि बलुहे पत्थर तथा चूने के पत्थर दोनों ही अलग-अलग बनते हैं, परन्तु शैल (Shale) हमेशा या तो बलुहे पत्थर के साथ अथवा चूने के पत्थर के साथ क्रमिक परतों में बनता है। सिद्धान्त यह है बलुहे पत्थर तथा शैल (Shales) अथवा चूने के पत्थर (Limestone) तथा शैल (Shale) एक के बाद दूसरे के क्रम से पाये जाते हैं। वितरण की दूसरी विशेषता यह है कि बलुहे पत्थर की उत्पत्ति महाद्वीपीय है, और महाद्वीपीय परतदार चट्टानों के साथ-साथ पाये जाते हैं परन्तु चूने का पत्थर की उत्पत्ति समुद्री होती है और उसी प्रकृति के क्षेत्रों तक ही सीमित है तथा इनके साथ समुद्री निक्षेप पाये जाते हैं।

यह सब प्रकार की परतदार (Sedimentary) चट्टानें प्रधानतः आग्नेय (Igneous) चट्टानों तथा विशेषतः ग्रेनाइट की मौसमी क्षति तथा आवरण क्षय से बनती है। साधारणतः यह अनुमान किया जाता है कि ग्रेनाइट (Granite) के १०० अंशों में से, मौसमी क्षति तथा आवरण क्षय के बाद, ७ भाग चूने का पत्थर, १३ भाग बलुहा पत्थर तथा ८ भाग शैल बन जायेगा। परन्तु यह अनुमान प्रायः काल्पनिक ही है, चूँकि वास्तव में चूने के पत्थर का विस्तार तथा अनुपात बहुत ज्यादा है।

परिवर्तित चट्टानें (Metamorphic Rocks) वह आग्नेय (Igneous) तथा जलीय (Aqueous) चट्टानें हैं जिनका रूप तथा जिनकी विशेषतायें दबाव तथा गर्मी के कारण बदल गई हैं। इन शक्तियों के कारण प्राथमिक चट्टानें सख्त हो जाती हैं तथा इनके खनिज तत्वों का भी रूपान्तर हो जाता है। दबाव तथा गर्मी में भिन्नता के कारण, परिवर्तित (Metamorphic) चट्टानों की विशेषतायें भी भिन्न-भिन्न हैं। इन परिवर्तित (Metamorphic) चट्टानों की उत्पत्ति तथा बनावट की विशेषता यह है कि वह अपनी मूल स्थिति में रहती है तथा केवल आन्तरिक तथा बाह्य शक्तियों के प्रभाव से ही बदलती है।

चट्टानों की बदलने वाली शक्तियों की उत्पत्ति के अनुसार परिवर्तित (Metamorphic) चट्टानें निम्न दो प्रकार की होती हैं :—

(१) स्पर्श परिवर्तन (Contact metamorphism) जो ज्वालामुखी कार्य संचालन से सम्बन्धित है। जबकि अत्यधिक गर्म पिघली हुई चट्टान अथवा लावा पृथ्वी के धरातल के किसी शिथिल बिन्दु से बाहर निकलने की कोशिश करता है, तो यह रास्ते में आने वाली चट्टानों के पोले भागों, कन्दराओं अथवा दरारों में घुस जाता है। इस अन्दर घुसे हुए लावा की गर्मी के कारण यह चट्टानें झुलस जाती हैं तथा यह इनकी तहों में घुसकर बहुत दबाव उत्पन्न कर देता है। संगमरमर इसका खास उदाहरण है, जो और कुछ नहीं केवल सैंका या झुलसा हुआ चूने के पत्थर है। यह अन्दर घुसा हुआ लावा, चूने के पत्थर को स्फट में बदल देता है, और यह सारा चूने का पत्थर संगमरमर बन जाता है। परन्तु ऐसी चट्टानों से ढका हुआ क्षेत्र बहुत सीमित है, अतः यह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

(२) प्रादेशिक परिवर्तन (Regional Metamorphism) पर्वत

निर्माणकारी हलचलके साथ-साथ ही होता है। इसमें आग्नेय (Igneous) अथवा परत-वार (Sedimentary) चट्टानें नीचे जमीन में गहराई पर दबी रहती हैं। ऊपर बिछी हुई तहों के दबाव तथा इससे उत्पन्न अधिक तापक्रम से यह पूर्णतः बदल जाती है। पर्वत बनने की हलचल से इसके अन्दर तथा ऊपर एक साधारण बहाव उत्पन्न हो जाता है। फलतः डूबी हुई चट्टानों का पूर्णतः रूपान्तर हो जाता है। वे स्फटिक हो जाती हैं। ऐसी चट्टानें जो पहले से स्फटिपूर्ण होती हैं उनमें पुनः स्फट बन जाते हैं और सारी चट्टान राशि आग्नेय चट्टानों की तरह पिण्ड रूप तथा कठोर हो जाती हैं।

यह परिवर्तन अथवा रूपान्तर कई सदियों लेती है तथा पृथ्वी की हलचल का भी इस रूपान्तर में निश्चित भाग रहता है। पृथ्वी की हलचलों से यह जमीन के अन्दर दब जाती है और सख्त तथा ठंडी होने के पश्चात् दुबारा इन्हीं हलचलों द्वारा ही यह पृथ्वी के धरातल पर आ जाती है।

इस क्रम के कारण, परिवर्तित (Metamorphic) चट्टानें जैसे स्लेट, ग्रेफाइट (Graphite) तथा क्वार्ट्जाइट (Quartzite) बन जाती हैं। स्लेट चट्टाने उस समय बनती हैं जब दलदली चोका मिट्टी अथवा शैल (Shale) में प्रादेशिक परिवर्तन होता है। इसके कण महीन होते हैं तथा इसकी विशेषता यह है कि इसमें बहुत सी फटन या चटखन होती हैं जो एक दूसरे के समानान्तर रहती हैं। इन चटखन के सहारे-सहारे यह परतों में अलग हो जाती है। बलुहे पत्थर में जब प्रादेशिक परिवर्तन होता है, तो यह बदलकर क्वार्ट्जाइट (Quartzite) बन जाती है। यह बहुत सख्त होती है और इसका रंग सफेद होता है। रासायनिक क्रिया प्रतिक्रिया इन्हें नष्ट नहीं करती। इनकी आकृति बहुत ठोस तथा पिण्ड रूप होती है, जिसमें वज्र के स्फट आपस में मिल जाते हैं। ग्रेफाइट (Graphite) सख्त तथा भाप दिया हुआ कोयला है।

परतों अथवा तहों की बनावट के अनुसार तथा कणों के गुण के अनुसार, दूसरी प्रकार की परिवर्तित (Metamorphic) चट्टानों को हम दो श्रेणी की कह सकते हैं :—

(१) नीस (Gneiss) वह परिवर्तित (Metamorphic) चट्टाने हैं जिनमें कण भेदे होते हैं तथा चटखन अथवा तहों के अलग करने के तल पूर्णतः विकसित नहीं होते।

(२) शिस्ट (Schists) वह परिवर्तित (Metamorphic) चट्टानें हैं जिनके कण महीन होते हैं तथा जिनमें तहों के अलग करने के तल इतने विकसित होते हैं कि परतों की व्यवस्था क्रमिक होती है जो एक के ऊपर एक समानान्तर क्रम में रखी रहती हैं। स्लेट इसका खास उदाहरण है।

स्थलरूप तथा उनके रूपान्तर

भूपृष्ठ जो कई प्रकार की चट्टानों का बना हुआ है न तो अपने रूप में निश्चल है और न स्थायी है। भारगति तथा दबाव, तनाव और चटखन की भौगर्भिक हलचलों के कारण पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी का रूप लगातार धीरे-धीरे बदलता जा रहा है। पर्वत तथा पठार मैदानों में समतल हो गये हैं तथा हरे मैदान और सागर तल-हटियाँ ऊँची उठ कर ऊँचे स्थल बन गये हैं। पृथ्वी के भूगर्भ का इतिहास यह प्रत्यक्ष करता है कि हजारों वर्ष पहले हिमालय के स्थान पर एक उथला समुद्र टीथीस (Tethys) था।

यथार्थता यह है कि कुछ शक्तियाँ तथा हलचलें ऐसी हैं जो हमेशा पृथ्वी की पपड़ी की आकृति बनाने में लवलीन रहती हैं, तथा उनके प्रभाव से भूपटल का रूप हमेशा बदलता रहा है तथा भविष्य में बदलता रहेगा।

भूपृष्ठ पर कार्य करने वाली दो प्रकार की शक्तियाँ हैं :

(१) आन्तरिक शक्तियाँ (Endogenetic forces)—जिनकी उत्पत्ति पृथ्वी के आन्तरिक भाग में बहुत गहराई पर होती है तथा जो नीचे से अपना काम करती हैं। यह शक्तियाँ आन्तरिक गर्मी तथा समतुलन (Isostasy) की समस्याओं से सम्बन्धित हैं। इसी के अनुसार इनको दो प्रकार का कहा जा सकता है—(अ) धीमी शक्तियाँ, जिनसे उत्क्षेप तथा निम्नज्जन होता है, तथा जो पृथ्वी के घरातल पर घरेरे तथा दरारें उत्पन्न करती हैं। यह शक्तियाँ भूपटल पर या तो केन्द्र से बाहर की ओर लम्बवत् कार्य करती हैं अथवा पृथ्वी के ऊपर समानान्तर रूप से कार्य करती हैं। प्रथम कार्य का नतीजा यह होता है कि कुछ क्षेत्र समुद्र के भीतर से उठ जाते हैं तथा कुछ पानी में नीचे बँठ जाते हैं। इसको महाद्वीप निर्माण भी कहते हैं। जबकि पृथ्वी के आन्तरिक भाग की शक्तियाँ समतल रूप में काम करती हैं तो यह इधर-उधर से दबाव पैदा करती हैं जिसके साथ-साथ तनाव भी होता है। यह भूपटल पर घरेरे और दरार पैदा कर देती है तथा उसे पर्वत निर्माण कहते हैं। यह कार्य संचालन बहुत धीरे-धीरे होता है। इन्हें भौगर्भिक गतियाँ (Diastrophism) भी कहते हैं।

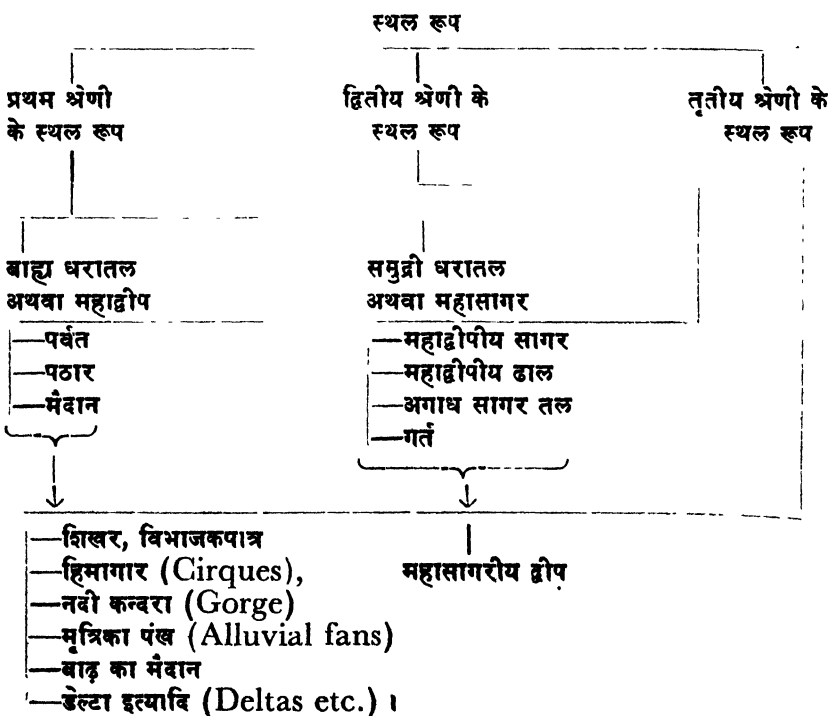
(ब) आकस्मिक शक्तियाँ—इनके क्षेत्र में भूकम्प तथा ज्वालामुखी का विस्फोट आता है। भूकम्प के घक्के तथा ज्वालामुखी के फटने के कारण, पृथ्वी की पपड़ी में बहुत से ध्यान देने योग्य परिवर्तन होते हैं। एक साथ बहुत से क्षेत्र ऊपर उठ आते हैं अथवा नीचे को धंस जाते हैं; जल प्रवाह का रुख बदल जाता है तथा भूपृष्ठ के वर्तमान आकार को ढकने के लिये अन्दर से फँका हुआ पदार्थ बहुत अधिक परिमाण में फँस जाता है।

(२) बाह्य शक्तियाँ (Exogenetic forces) वायुमंडल से सम्बन्धित हैं, अतः पृथ्वी से बाहर हैं। एक ओर वर्षा, बरफ तथा सूर्य तथा दूसरी ओर बहता हुआ पानी, वायु तथा चलता हुआ हिम, हमेशा पृथ्वीकी पपड़ीकी असमानताओं को समतल करनेमें तल्लीन रहते हैं। यह शक्तियाँ ऊँचाइयोंको नष्ट करती हैं, तोड़े हुए पदार्थ इधर से उधर ले जाती हैं तथा उन्हें दूर स्थानों पर लेजाकर जमा कर देती हैं। इस प्रकार ऊँचाइयाँ कम हो जाती हैं तथा जमा किये हुये पदार्थ से एक नया स्थल रूप निकल आता है।

इन दो प्रकार की शक्तियों की लगानार क्रिया प्रतिक्रिया से—एक शक्ति आन्तरिक भाग को अन्दर से ही उठाने की कोशिश करती है तथा दूसरी शक्ति उठे हुए धरातलों को समतल करने की कोशिश कर रही है—बहुत से रूप पैदा होते हैं जो भूपृष्ठ पर दिखाई देते हैं। इनको स्थल रूप (Landforms) कहते हैं तथा इनका इस नक्षत्र के मनुष्यों तथा उनके कार्यों पर बहुत शक्तिशाली प्रभाव पड़ता है। भूदृश्य के किसी खास तत्त्व को स्थल रूप कहने के लिए उसमें निम्नलिखित विशेषतायें होनी चाहिये:—

- (१) इसका धरातल ऐसा होना चाहिये, कि वह दूसरों से पूर्णतः भिन्न हो।
- (२) इसकी चट्टानों की बनावट तथा इसकी साधारण रचना स्पष्ट तथा प्रधान होनी चाहिये।
- (३) यह इतना प्रत्यक्ष होना चाहिये कि इसे प्राकृतिक घटना सम्बन्धी शास्त्र की किसी भी व्याख्या में सम्मिलित किया जा सके।

प्रत्यक्ष रूप से पृथ्वी के स्थलरूपों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं, जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायेगा :



प्रथम श्रेणी के स्थल रूप—महाद्वीप तथा महासागर, पृथ्वी की पपड़ी के सबसे विस्तृत भाग हैं तथा उत्क्षेप निमज्जन द्वारा यह बहुत पहले ही बन गये थे। महाद्वीपीय धरातल मनुष्य का निवास स्थान तथा उसके कार्य करने का स्थान बनाता है। जलवायु का दशाओं के द्वारा महासागरों का मनुष्य की कार्य प्रणाली पर प्रभाव पड़ता है।

द्वितीय श्रेणी के स्थल रूप—प्रत्येक महाद्वीप तथा महासागर को हम और दूसरे प्रकार के स्थल रूपों में विभक्त कर सकते हैं जो महाद्वीप तथा महासागरों के बनने के साथ-साथ ही बने। महाद्वीपों में पर्वत, पठार तथा मैदान; महासागरों में महाद्वीपीय सागर और ढाल, अगाध सागर तल तथा महासागरीय गर्त (deep) वह रूप हैं जिनको प्रधान स्थलरूप (Major landforms) कह सकते हैं, तथा जिनका वर्णन बाद में होगा।

तृतीय श्रेणी के स्थल रूप—प्रधान स्थल रूप के कटने-छंटने पर तथा अनावृत्तीकरण (Denudation) के कारण, एक तीसरी श्रेणी के स्थल रूप विकसित हो जाते हैं जिनमें भूपृष्ठ का छोटे-से-छोटा व्योरा सम्मिलित है। इन छोटी-छोटी असमानताओं अथवा तुच्छ स्थल रूपों से स्थानीय परिस्थिति बनती है तथा इससे स्थल समूह में भिन्नता आती है। उनके बनने के तरीके के अनुसार, उनको हम दूसरे पृष्ठ पर दिखाये गये वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

विध्वंसित (Destructional) रूपों में से दो विशेष पहलू अलग-अलग बनाये जा सकते हैं :

(१) जो पदार्थों के हटाने से बनते हैं उनको अनावृत्तीकरण स्थल रूप (Reduction forms) कहते हैं। इनमें गड्ढे तथा गर्त सम्मिलित हैं जो पृष्ठ १७८ पर रूप (अ) वर्ग में दिखाये गये हैं।

(२) जो अनावृत्तीकरण के साधनों की क्रिया से अवशेष, या पूर्णतः नष्ट नहीं होने पर बनते हैं, उनके अवशिष्ट स्थलरूप (Residual forms) कहते हैं। अगले पृष्ठ की तालिका में इन्हें (ब) वर्ग में रखा गया है।

तृतीय श्रेणी के इन तुच्छ स्थल रूपों में शीघ्र परिवर्तन होता है। यह प्रधान स्थल रूपों की अपेक्षा अधिक जल्दी और प्रत्यक्ष रूप से अपना रूप परिवर्तन करते हैं। यह तुच्छ स्थल रूप थोड़े से समय में ही बन जाते हैं, बदल जाते हैं तथा शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं। उनकी परिवर्तनशीलता तथा साधारण अस्थायित्व के कारण इनका विस्तृत विवरण भूपृष्ठ की शक्तियों के साथ दिया जावेगा।

विकास चक्र

(The Evolutionary Cycle)

पृथ्वी के आन्तरिक तथा बाह्य शक्तियों की क्रिया, प्रतिक्रिया तथा अन्तर क्रिया के कारण, स्थल उठ जाता है, उसमें कटाव हो जाता है, कट-छंटकर अवशिष्ट रूप धारण कर लेता है तथा आवरणक्षय से प्राप्त पदार्थ से नये स्थल बन जाते हैं। जैसे ही महासागर के नीचे से कोई स्थल प्रकट होता है, बाह्य शक्तियाँ इसको

काटना तथा रूपान्तरित करना शुरू कर देती हैं। यह काटा हुआ पदार्थ बहते हुए जल, वायु तथा चलते हुए हिम द्वारा इधर-उधर ले जाया जाता है। इस तलछट के निक्षेप से नये स्थलरूप बन जाते हैं। महासागर की तलहटी में लगातार मिट्टी जमा होते रहने से यह प्रत्यक्ष होता है कि कुछ दिन पश्चात् नया स्थल दिखाई देने लगेगा। अतः पृथ्वी के धरातल के क्रमबद्ध रूप से ऊँचे उठने तथा नीचे धंसने से स्थल रूप कहीं बाहर उठ आते हैं तो कहीं कट-छंटकर चौरस हो जाते हैं। इसी क्रम को विकास चक्र (Evolutionary Cycle) कहते हैं।

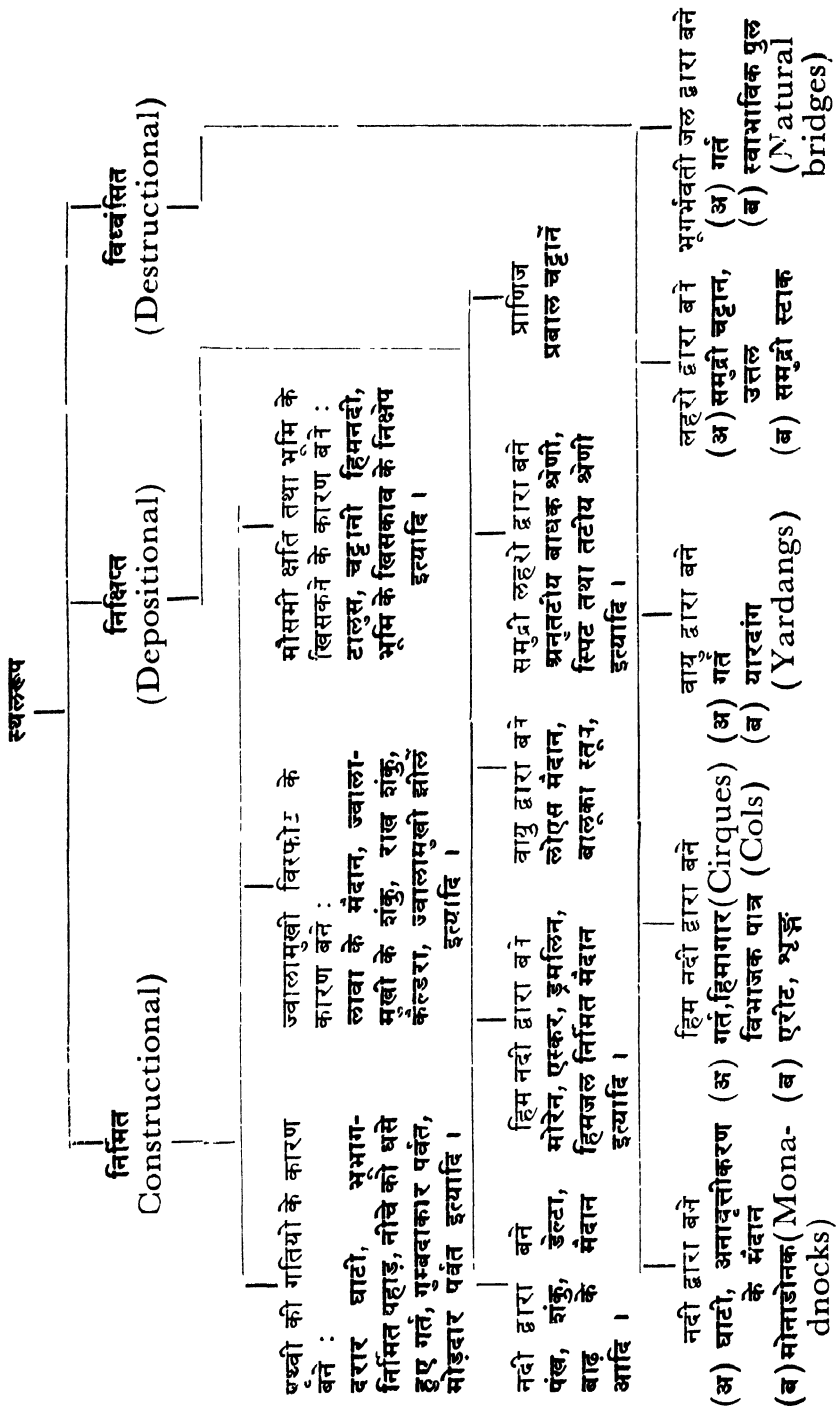
इस विकास चक्र (Cycle of Evolution) के कारण ही प्रत्येक स्थलरूप का एक जीवन-काल होता है। अनावृत्तीकरण तथा आवरणक्षय की बाह्य शक्तियों—जल, वायु तथा बरफ—के कारण प्रत्येक स्थलरूप अपनी आरम्भिक अवस्था से, मध्य अवस्था से होते हुए अन्तिम अवस्था को प्राप्त होता है। स्थलरूप के जीवन इतिहास में यह भिन्न २ अवस्थायें नवीन, प्रौढ़ तथा पुरातन कहलाती हैं। परन्तु इनका अर्थ वर्षों में अवस्था से नहीं है। वे केवल उन दशाओं को बताती हैं जिनमें कोई खास स्थलरूप विकसित होता है। प्रारम्भिक रूप अथवा नवीन अवस्था में स्थलरूप में रूप-परिवर्तन केवल प्रारम्भ होता है, मध्य अवस्था अथवा प्रौढ़ावस्था में, रूपपरिवर्तन पूर्णतः विकसित हो जाता है और जब तक यह अन्तिम रूप अथवा पुरातन अवस्था पर पहुँचते हैं, यह पूर्णतः बदल जाता है—ऊपर उठा हुआ एक स्थल पिण्ड, निचला रूपरेखा हीन मैदान बन जाता है। दूसरे शब्दों में, यह भिन्न २ अवस्थायें उस कार्य-विधि को बताती हैं जो स्थलरूप के रूपपरिवर्तन में पायी जाती है।

नया उठा हुआ स्थल खण्ड जैसे ही बाहर प्रकट होता है इस पर मौसमी क्षति (Weathering) तथा अनावृत्तीकरण (Denudation) के साधन अपना कार्य प्रारम्भ कर देते हैं, तथा संकरी कन्दरा के समान घाटियाँ बन जाती हैं। जिनमें से होकर उत्क्षेप अनुरूप (Consequent) नदियाँ बहनी हैं। इनमें बहुत से जलप्रपात (Rapids) तथा झरने होते हैं। धीरे २ घाटियों के किनारे चौड़े होने शुरू हो जाते हैं तथा नदी की घाटी में घुमाव आना प्रारम्भ हो जाता है, जिससे सारा धरातल घाटी तथा श्रेणियों से भरपूर हो जाता है। आवरणक्षय का कार्य लगातार चलता रहता है, यहाँ तक कि सारा उठा हुआ स्थल पिण्ड एक समतल मैदान बन जाता है। इस आवरणक्षय के मैदान (Peneplain) में श्रेणियों के अवशेष होते हैं जो मोनाडोनक (Monadnocks) कहलाते हैं और इधर-उधर खड़े रहते हैं।

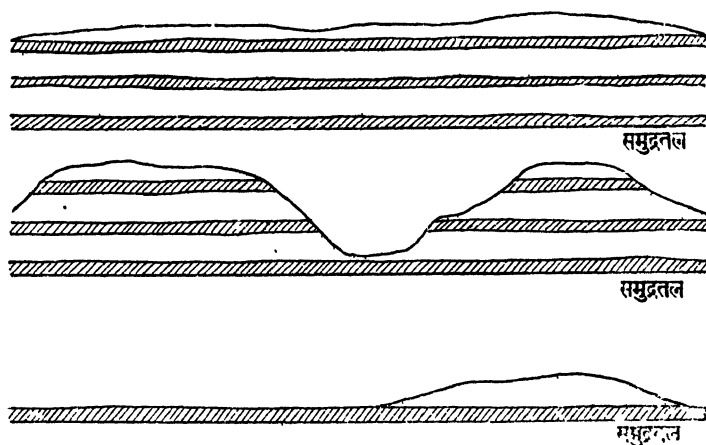
परन्तु कितनी जल्दी कोई खास स्थल रूप अपने विकास में एक विशेष अवस्था ग्रहण करेगा, यह बाह्य शक्तियों की प्रगति तथा तीव्रता और उस प्रदेश की चट्टानों की विशेष बनावट पर निर्भर है। वास्तविक रूप में चट्टानों की बनावट तथा विशेषताओं का स्थल समूह के रूप पर बहुत शक्तिशाली प्रभाव पड़ता है। वास्तव में केवल यही स्थल रूप की आकृति तथा प्रकृति को निश्चित करती है।

चट्टानों की रचना के अन्तर्गत निम्नलिखित तथ्य सम्मिलित हैं:—

(१) चट्टान का स्वभाव—चट्टान सख्त तथा स्फटिक है अथवा मुलायम तथा परतदार। चट्टान पानी में घुलने वाली तथा प्रवेश्य है अथवा अप्रवेश्य।



(२) चट्टानों का झुकाव—चट्टान की क्रमिक व्यवस्था समानान्तर है अथवा लम्बवत्; इसका ढाल तीव्र है अथवा क्रमशः; वह यथाक्रम झुकी हुई है अथवा अनियमित रूप से।



चित्र ५८—उठे हुए धरातल का मैशन बनना

(३) चट्टान की रचना—इसकी परतें समानान्तर हैं अथवा इसकी रचना लम्बवत् परतों में है; सख्त चट्टानों पर नरम चट्टानें बिछी हुई हैं अथवा नरम चट्टानें सख्त चट्टानों के नीचे दबी हैं। सख्त तथा नरम चट्टानें क्रमिक परतों में एक के बाद दूसरी के रूप में हैं या और किसी प्रकार से।

(४) चट्टान में शिथिल तल—चट्टानों में जोड़, चटखन, दरार अथवा परतों को अलग करने वाला तल है और यदि ऐसा है तो धरातल से सम्बन्धित उनकी व्यवस्था किस प्रकार की है।

जहाँ पर चट्टानें समान रूप से सख्त होती हैं, वहाँ घाटियों की दीवारें अधिक विस्तृत नहीं होतीं, चाहे उनमें से बहने वाली धारायें बहुत पुरानी क्यों न हो जाये। उनका भूदृश्य सदैव नवीन बना रहता है। खड़िया तथा चूने के पत्थर के प्रदेशों में गर्त, शुष्क घाटियाँ तथा भूगर्भवती जल प्रवाह, वहाँ की प्राकृतिक बनावट की विशेषताये हैं। यदि सख्त तथा नरम चट्टानों की रचना में एक के बाद दूसरी तह एक के ऊपर एक हों तथा यह समानान्तर रूप में बिछी हुई हों तो जो घाटी बनेगी उसमें रचना के अनुसार चट्टानी पीठिकाये बन जाती हैं। सख्त चट्टानें उभरी हुई रह जाती हैं तथा नरम चट्टानें नीचे से खुद जाती हैं। नियाग्रा जलप्रपात इस प्रकार का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

दूसरी ओर यदि एक के बाद एक सख्त तथा नरम परतों की रचना लम्बवत् है, तो बनी हुई घाटी में बहुत से झरने तथा जलप्रपात बन जायेंगे। यदि कठोर-मुलायम चट्टानों की रचना आड़ी तिरछी हुई, तो जो घाटी बनेगी वह असमान भुजा वाली होगी।

इस प्रकार डब्लू० एम० डेविस के साथ २ यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक स्थलरूप रचना, विधि तथा अवस्था के अनुसार ही बनता है।

प्रधान स्थलरूप—पर्वत

पृथ्वी की रचना में पर्वत का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधारण दृष्टिकोण के अनुसार, यह पृथ्वी के धरातल पर वह उच्च भूमि है, जो देश की साधारण सतह से ऊँचे उठ जाती है। परन्तु पर्वत की परिभाषा तथा वर्णन में अधिक यथार्थ होने के लिये यह माना गया है कि कोई भी पर्वत २००० फीट से कम ऊँचाई का नहीं होना चाहिये तथा कम से कम इसका आधा धरातल तीव्र ढाल का होना चाहिये।

हालांकि पर्वतों की प्रकृति मिश्रित होती है, परन्तु फिर भी निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विशेषतायें संसार के सारे पर्वतों में पाई जाती हैं :—

(१) पृथ्वी के सारे पर्वत परतदार चट्टानों के बने हैं। चाहे यह यूरोप के आल्प्स हों, एशिया का हिमालय हो अथवा अमेरिका के राकीज तथा एण्डेस हों—यह सब ही परतदार चट्टानों के बने होते हैं, जो यह प्रत्यक्ष करते हैं कि ये किसी समुद्र की तलहटी में बने हैं।

(२) स्थिर रूप से संसार के सारे प्रसिद्ध पर्वत वृत्त या चन्द्राकार हैं तथा यह उत्तर से दक्षिण को अथवा पूर्व से पश्चिम को अपने महाद्वीप के तट के समानान्तर फैले हुए हैं। यूरेशिया के अल्पाइन—हिमालय पर्वत पूरब से पश्चिम को तथा अमेरिका के राँकी-एनडियन पर्वत उत्तर से दक्षिण को फैले हुए हैं। इन दोनों प्रकार के पर्वतों का आकार वृत्तखंड जैसा है।

स्वेस (Suess) के अनुसार, पर्वत के वृत्तखंड आकार का मुख्य कारण यह है कि परतदार चट्टानों को बाहर की तरफ धक्का दिया जाता है। यह धक्का केन्द्र से बाह्य किनारों की ओर होता है जिससे यह सारा मुड़ावदार प्रदेश वृत्तखंड के आकार का बन जाता है। इस कल्पना के आधार पर यह माना जाता है कि बाहर की तरफ का यह धक्का यूरोप में दक्षिण से, एशिया में उत्तर से तथा अमेरिका में पश्चिम से आया प्रतीत होता है। अतएव इनकी बनावट लहर के समान तथा आकार वृत्तखंड के समान हो गया है।

(३) यूरोप, अमेरिका तथा एशिया के पर्वतों की परतों के गूढ़ अध्ययन से यह प्रत्यक्ष हुआ कि परत की मोटाई चारों ओर के मैदानों की अपेक्षा मोड़ खाये हुए (Folded) अथवा पर्वतीय प्रदेशों में अधिक होती है। दूसरी बात जो इससे प्रकट हुई वह यह थी कि यह मोटे मोड़दार परत लम्बाई में अधिक है, परन्तु चौड़ाई में बहुत संकरे हैं। इससे यह अंदाज होता है कि तलछट से पूर्ण भूसंनति (Geosyncline) में ही पर्वतों का बनना संभव हुआ है।

इन विशेषताओं के आधार पर पर्वत निर्माण की तीन अवस्थायें ध्यान देने योग्य हैं :—

(अ) भूसंनति (Geosyncline) अवस्था—इस समय तलछट उथले पानी में जमा हुआ तथा इस प्रकार पर्वतों के बनने के लिये जमीन प्राप्त हुई। इसे सैयारी की अवस्था भी कह सकते हैं। पर्वतों की परतों के बीच में पाये जाने वाले प्राणिज अवशेषों से यह प्रत्यक्ष होता है कि भूसंनति उथले समुद्र होंगे जिनमें जैसे-जैसे तलछट का जमाव बढ़ता गया तथा मिट्टीबालू की तह पर तह जमती गई, यह तलहटी धीरे-धीरे उसी अनुपात में नीचे की डूबती चली गई ताकि ऊपर से आने वाले तलछट के जमाव के लिये और स्थान हो जावे।

भूसंनति (Geosyncline) की उत्पत्ति तथा अनुपात में नीचे की घंसना एक संदिग्ध विषय है। कुछ भूगर्भशास्त्री यह मानते हैं कि इसकी उत्पत्ति तनाव की शक्तियों (Forces of Tension) के कारण हुई। तनाव की शक्तियाँ पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी के कुछ भागों को इतना पतला बना देती हैं कि ऊपरी भार के कारण यह नीचे की झुक जाती है। दूसरा मत यह है कि भिचाव या दबाव की शक्तियों के कारण कुछ भाग ऊपर उठ जाते हैं, तथा कुछ डूब जाते हैं। जैसे-जैसे ऊपर के तलछट का भार बढ़ता जाता है यह डूबने वाला भाग अधिकाधिक डूबता जाता है। तीसरा मत यह है कि पहले भूसंनति (Geosyncline) बनता है तथा फिर 'सियाल' (Sial) और 'सिमा' (Simia) में संवाहन धाराओं के कारण यह धीरे-धीरे डूबता जाता है, जिससे अन्तःस्तर के कुछ भाग प्रवाहित हो जाते हैं तथा भूपृष्ठ के नीचे एक कंदरा-सी बन जाती है।

परन्तु इसमें से कोई भी विचार संतोषजनक नहीं है। यद्यपि भूसंनति का होना नितान्त सत्य है जिसे कोई भी टाल नहीं सकता।

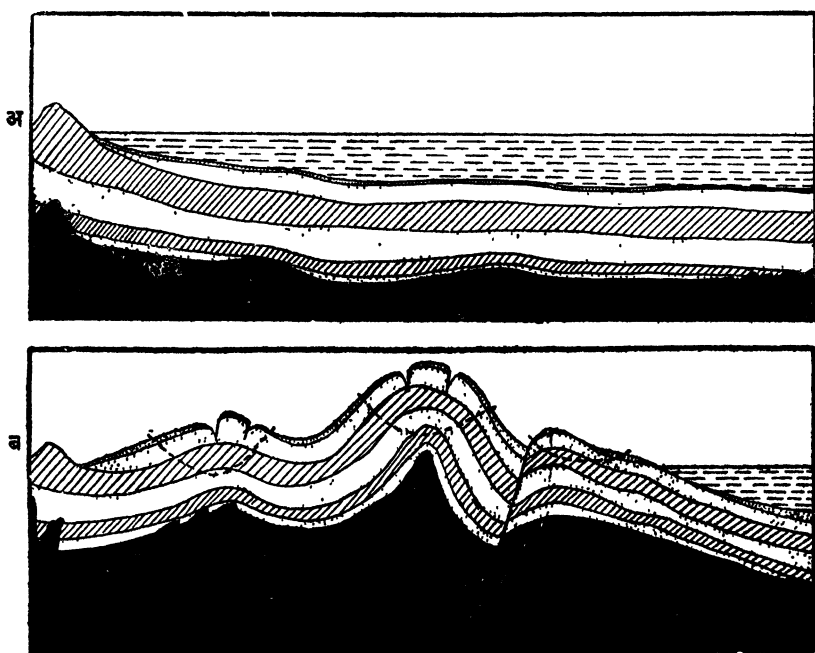
(ब) पर्वत निर्माण (Orogenic) अवस्था—जबकि भूसंनति (Geosyncline) में तलछट का जमाव बहुत समय तक चलता रहता है तो इस पर भिचाव व तनाव की शक्तियों का प्रभाव होने लगता है। ये शक्तियाँ साथ-साथ एक संडासी के दो सिरों की तरह कार्य करती हैं। इस खिचाव अथवा दबाव के प्रभाव से यह सारा प्रदेश कई घेरों के क्रम में मुड़ जाता है, तथा धरातल नेहरावों के रूप में ऊपर को खट जाता है।

यह भिचाव ढकेलने वाली लहरों के रूप में होता है तथा इसकी उत्पत्ति एक संदिग्ध विषय है। कुछ मनुष्यों का विचार यह है कि यह भिचाव पृथ्वी के सिकुड़ने के कारण उत्पन्न हुआ—आन्तरिक भाग ठंडा होता चला गया तथा पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी अपने आपको तदनुरूप बनाने के लिये सिकुड़ती चली गयी अथवा इसमें सिकुड़न पड़ गई, जिससे इसका विस्तार कम हो गया। परन्तु जब हम भिचाव के साथ में तनाव के बारे में सोचते हैं तो यह कल्पना लुप्त हो जाती है। यह बात वास्तव में इस सिद्धान्त के आधार पर असंभव है। दूसरे लोगों का यह विचार है कि पृथ्वी के आवर्तन में परिवर्तन ही भिचाव या धक्के की उत्पत्ति का कारण है। परन्तु भूगर्भ के प्रमाणों के आधार पर यह विचार भी ठीक नहीं पाया जाता। अतः विस्तृत रूप से माननीय सिद्धान्त यह है कि भिचाव या धक्का समतुलन (Isostasy) से उत्पन्न होता है। अन्तःस्तर (Substratum) में समस्थिति नष्ट होने पर पुनः जब

समतुलन स्थापित होता है तो भिचाव या धक्का उत्पन्न होता है। अधःस्तर में रिक्त स्थान को समस्थिति में करने के लिए घरेरे पड़ जाते हैं।

इस भिचाव अथवा शक्तिशाली धक्का देने वाली लहरों से एक तीव्रता से चलनशील क्षेत्र बन जाता है जो उस समय तक आगे बढ़ता रहता है, जब तक कि यह किसी अवरोधक पिण्ड के सम्मुख नहीं आ जाता। इस प्रकार के रूकावट के क्षेत्र पर पहुँचकर, यह भिचाव की लहरे दोनों तरफ बिखर जाती है परन्तु बिखरने से पहले ये मुलायम पिण्ड को केन्द्रीय सख्त भाग की ओर धकेल देती है, जिससे घरेरे पड़ जाते हैं। आदिकाल में पृथ्वी के ठंडे होने की दशा में बने, चट्टान पिण्ड या चबूतरे भिचाव की लहरों के लिए रूकावट के क्षेत्र प्रदान करते हैं। अमेरिका में लारेन्शियन पिण्ड तथा ब्राज़ेलियन पिण्ड है; यूरोप में बाल्टिक पिण्ड तथा एशिया में दक्षिणी भारत अथवा गोंडवाना लैंड का पिण्ड है।

(स) उत्क्षेप निर्माण (Eperigenic) अवस्था—जब धरातल में सिकुड़न पड़ जाती है तथा यह संनति (Synclines) तथा प्रतिनति (Anticlines) अथवा



चित्र ५६—पर्वत श्रेणी के बनने की अवस्थायें—

(अ) समुद्र की तलहटी का भरना।

(ब) समुद्र की तलहटी का मुड़ना तथा ऊपर उठना।

गर्त तथा मेहराब के रूप में भिच जाता है, तो यह सारा पिण्ड ऊपर को उठना शुरू करता है। भिचाव या दबाव (Compression) के कारण यह सारा

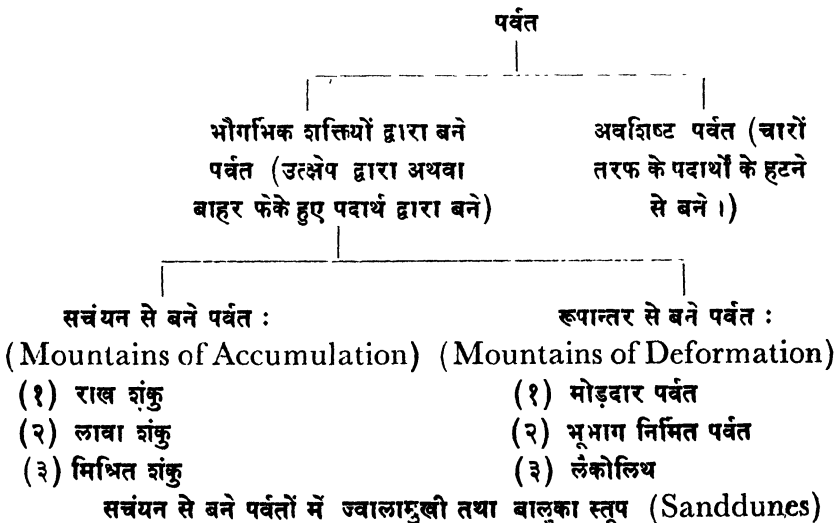
क्षेत्र विस्तार में छोटा हो जाता है तथा स्थानीय समतुलन (Isostasy) के कारण, सारा क्षेत्र ऊपर को उठ जाता है। यह गर्त अथवा संनति (Synclines) बहुधा अधःस्तर (Substratum) तक पहुँच जाते हैं जहाँ पर अत्यधिक गर्मों से वह फल जाते हैं और फलस्वरूप ये ही ऊँचे उठना शुरू हो जाते हैं। बहुत से मौकों पर यह देखा गया है कि पर्वत और भी अधिक ऊँचाई ग्रहण कर लेते हैं।

जहाँ तक हमारा सम्बन्ध टरशियरी अथवा अल्पाइन-हिमालय हलचल से है, पर्वत श्रेणी बनने की ये अवस्थायें सत्य सिद्ध होती हैं। यह हलचल भूगर्भशास्त्र कल्प में अभी हाल में ही हुई थी। इससे पहले दो पर्वत निर्माणकारी हलचलें हो चुकी थीं (१) केलिडोनियन (Caledonian) हलचल सबसे पहली थी तथा इस हलचल में जो पर्वत बने हैं उनका रुख उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम को है। स्कॉटलैंड तथा स्कैन्डीनेविया के पर्वत इस हलचल में बने थे।

(२) हर्सीनियन (Hercynian) हलचल से मध्य जर्मनी तथा उत्तरी-पूर्वी फ्रांस के पर्वत बने थे। अमरीका के एपेलेचियन पर्वत भी इसी वर्ग में आते हैं।

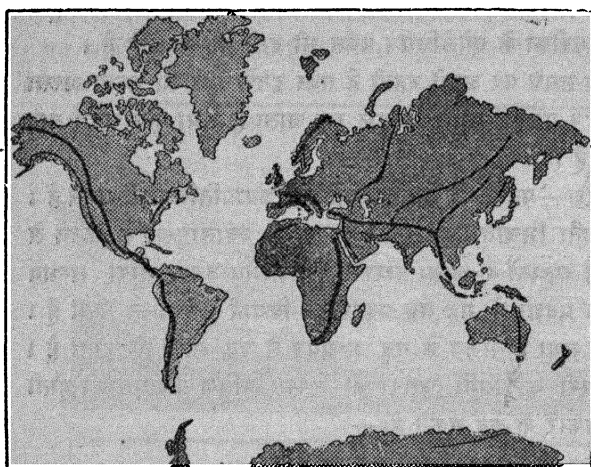
यह हलचलें समय-समय पर आती रहती हैं तथा इनके बीच का लम्बा अरसा शांतिमय रहता है। कभी २ पर्वत निर्माण बिल्कुल रुक जाता है, तथा कुछ समय बाद यह दुबारा शुरू हो जाता है।

पर्वतों का वर्गीकरण—पर्वत प्राकृतिक शक्तियों की क्रियाप्रतिक्रिया से बनते हैं। इन पर्वत श्रेणियों का बनना भिंचाव तथा तनाव के द्वारा, ज्वालामुखी के फटने से अथवा नीचे से पिघली हुई चट्टानों के लावा द्वारा उत्पन्न जलीय दबाव द्वारा सम्भव हुआ है। बहुत से पर्वतीय प्रदेशों में यह सब प्रकार की क्रियायें सम्मिलित होती हैं। एन्डीस, राँकीज, आल्प्स तथा हिमालय के गूढ़ अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। फिर भी चूँकि एक या दूसरी कार्यविधि दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होती है, पर्वतों को हम निम्न प्रकार के कह सकते हैं:—



सम्मिलित हैं, जिनका वर्णन अलग अध्याय में होगा। इसी प्रकार अवशिष्ट पर्वत भी काट-छांट तथा अनावृत्तीकरण के कारण बनते हैं। जैसे ही कोई पर्वत ऊपर को उठता है इस पर अनावृत्तीकरण की बाह्य शक्तियाँ अपना कार्य प्रारम्भ कर देती हैं। चट्टानों की विभिन्न प्रकृति तथा बहुत से जोड़ों के कारण शीघ्र ही मौसमी क्षति तथा अनावृत्तीकरण प्रारम्भ हो जाता है। नदियों, हिमनदियों तथा वायु के द्वारा आवरणक्षय के कारण, पर्वतों का आकार तथा विस्तार कम होता जाता है; उनकी ऊँचाई कम हो जाती है तथा उनकी असमानतायें एक मैदान के रूप में समतल हो जाती हैं। ऐसे मैदान के बीच में कठोर पदार्थ के टोले तितर-बितर रूप में खड़े रहते हैं। यह टोले मोनाडनक (Monadnocks) कहलाते हैं और यही अवशिष्ट पर्वत हैं।

मोड़दार (Folded) पर्वत—भिचाव तथा दबाव की शक्तियों के कारण संनति (Synclines) तथा प्रतिनति (Anticlines) का क्रम बन जाता है। परन्तु



चित्र ६०—भूपृष्ठ के भिचाव से बनी पर्वतमालाएँ

किसी भी मोड़दार पर्वत में ये गर्त तथा मेहराब साधारण रूप में नहीं दिखाई देते। या तो वह अधिक धक्के के कारण टूट जाते हैं या जैसे ही वह ऊपर उठते हैं आवरणक्षय के कारण नष्ट हो जाते हैं। संसार के अधिकतर पर्वत इसी प्रकार के हैं। उनकी जल प्रवाह प्रणाली तथा यातायात

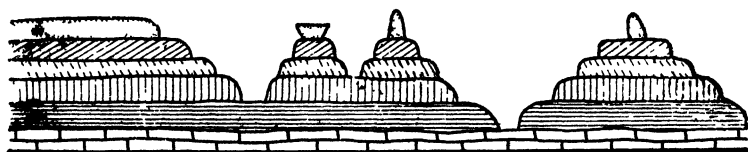
के मार्गों की व्यवस्था चतुर्भुज के आकार की होती है। पुनः मोड़दार पर्वतों में ही खान खोदने तथा पत्थर निकालने का काम अधिकता से होता है।

भूभाग निर्मित पर्वत (Block Mountains) दरार पड़ने के कारण बनते हैं। भूगटल टूटकर कई टुकड़ों में विभाजित हो जाता है, जिनको दरारें अलग-अलग करती हैं। जब ये भूभाग (Blocks) भ्रंशस्तर या दरार के एक तरफ ऊँचे उठ जाते हैं, तो इनसे भूभाग निर्मित पर्वत बन जाते हैं। उनका एक तरफ का ढाल तीव्र होता है तथा दूसरी तरफ का क्रमशः। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के ग्रेट बेसिन (Great Basin) की पर्वत-श्रेणियाँ इसी प्रकार की हैं। सीरिया नेबेदा इसका एक विशेष उदाहरण है। इन उठे हुए प्रदेशों के चारों ओर अपेक्षाकृत बहुत कम ऊँचाई वाले क्षेत्र होते हैं। अतः यह भूभाग निर्मित पर्वत वृष्टि के केन्द्र होते हैं।

जबकि दो दरारों के बीच का भूभाग उठ जाता है तो इनको अवरोधी पिण्ड (Horsts) कहते हैं। इन अवरोधी पिण्ड (Horsts) में उच्छृंग (Scarp) के समान

ढाल होता है। भूभाग निमित्त पर्वतों के क्षेत्रों में बरार घाटियाँ होती हैं, जो दो दरारों के बीच भूमि के धंस जाने से बन जाती हैं। इस प्रकार की दरार घाटियाँ बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। केलीफोर्निया की घाटी, पेलेस्टाइन का मृतसागर (Dead Sea) और लाल सागर तथा राइन घाटी सब इसी प्रकार की हैं।

लैकोलिथ या गुम्बदाकार (Laccolith or Dome) पर्वत वह होते हैं जो पृथ्वी के धरातल पर फोड़े की तरह पैदा होते हैं तथा जो मैग्मा (Magma) के नीचे से ऊपर उठने के कारण पैदा होते हैं। इनकी खास विशेषतायें यह हैं कि यह गुम्बद (Dome) के केन्द्र से बाहर की समान रूप से ढालू रहते हैं। चूँकि इन गुम्बदों पर अधिक वर्षा होती है, अतः इनको वृष्टि के द्वीप (Island of Precipitation) कहते हैं। जलप्रवाह केन्द्र से बाहर की ओर अंगूठी या साइकिल की तीलियों की भाँति होता है। कभी-कभी इन गुम्बदों के बीच आग्नेय चट्टानों का स्तम्भ काट-छाँट के बाद बाहर निकल आता है, उस दशा में मूल्यवान् धातुओं का सन्धन बन जाता है।



चित्र ६१—अनावृत्तीकरण के पर्वत

इन प्रधान रूपों के अतिरिक्त समतल प्रदेश की काट-छाँट द्वारा पठारों से कट-छंटकर भी पर्वत बन जाते हैं। बहते हुए पानी की धारायें समतल पठारों को काट-छाँट देती हैं तथा आवरणक्षय द्वारा बनी घाटियों के साथ २ मूल धरातल के अवशेष, श्रेणियों के रूप में स्थित रहते हैं। इस प्रकार के पर्वत अनावृत्तीकरण के पर्वत (Mountains of Dissection or Circumvallation) कहलाते हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका के एपेलेचियन पर्वत तथा ब्राजील, दक्षिणी पूर्वी साईबेरिया तथा दक्षिणी चीन के उच्च प्रदेश इसी वर्ग में आते हैं।

पर्वतों के भिन्न २ विस्तार तथा व्यवस्था के अनुसार, हम उनका वर्गीकरण निम्न रूप से कर सकते हैं :

(१) पर्वत-प्रदेश पर्वतीय बनावट के विस्तृत क्षेत्र होते हैं जिनकी विशेषता यह है कि उनमें बहुत सी श्रेणियाँ तथा मालाएँ सम्मिलित रहती हैं।

(२) पर्वत-प्रणाली बहुत सी श्रेणियों के मिलने से बनती है। यह श्रेणियाँ स्थिति, रूप तथा बनावट में समान होनी चाहिये हालाँकि उनके बीच में गत अथवा तलहटियाँ रह सकती हैं।

(३) पर्वत-माला जैसा कि नाम से ही प्रत्यक्ष है, एक कतार में स्थित श्रेणियों की एक शृंखला है, हालाँकि घाटियों के समान गत इनको अलग २ करते हैं।

(४) पर्वत-श्रेणी एक रेखामयी रचना है जिनमें बहुत से शिखर तथा शाखायें शामिल होती हैं। इनको घाटियाँ अलग २ करती हैं। भिन्न-भिन्न पर्वतों में रूप तथा बनावट की समानता होती है।

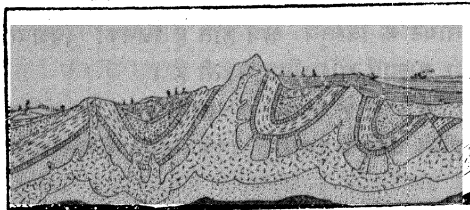
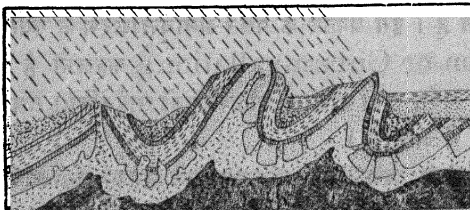
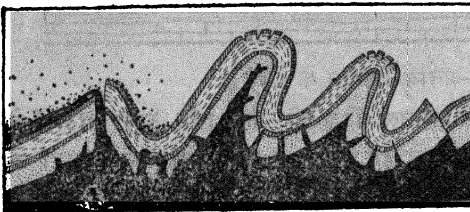
(५) पर्वत-समूह पर्वत शिखर तथा पर्वत शाखाओं की वृत्ताकार तथा पिण्ड-रूप संरचना है। बहुधा लैकोलिथ (Laccoliths) की काट-छाँट से पर्वत-समूह बनते हैं।

(६) पर्वत-शाखा वह मेहराब अथवा भूभाग (Block) है जो मोड़ पड़ने (Folding) तथा दरार फटने (Faulting) के कारण बनता है। एक तरफ या दूसरी तरफ के तीव्र ढाल होने के अनुसार यह कई प्रकार के होते हैं।

(७) पर्वत-शिखर तलहटियों में कम नियमित परतों द्वारा अनावृत्तीकरण में बाधा के कारण बनते हैं। यह गुम्बद की तरह अथवा पिरामिड अथवा सुई के रूप के होते हैं। इनका आकार, चट्टानों की बनावट तथा उस प्रदेश के जोड़ों पर निर्भर है।

पर्वत-शिखर (Peaks) तथा पर्वत-शाखायें (Ridges) या तो एक दूसरे के समानान्तर बनी होती हैं अथवा पूर्णतः अकेली होती हैं अथवा गुम्बद के चारों ओर वृत्ताकार रूप में स्थित रहती हैं अथवा यह ज्वालामुखी विस्फोट के कारण बने शंकु हो सकते हैं।

पर्वतों का विकास चक्र (Cycle of Mountain Development)—



सारे पर्वतों की, उनके विकास तथा अनावृत्तीकरण के साधनों के कार्य के अनुसार, एक निश्चित आयु होती है। नवीनावस्था के पर्वतों की विशेषता यह होती है कि उनके शिखर ऊबड़-खाबड़, संकरी घाटियाँ तथा तीव्र ढाल होते हैं। चूँकि अनावृत्तीकरण के साधन अपना कार्य पर्वतों के निर्माणकाल में ही शुरू करते हैं अतः नवीन पर्वतों के अधिक उदाहरण नहीं हैं। इनके विकसित हो जाने पर, घाटियाँ चौड़ी हो जाते हैं, ऊँचाइयाँ नीची हो जाती हैं तथा शिखर समतल हो जाती हैं। पुरातन अवस्था में पर्वतों की बंधुर रूपरेखा बहुत घट जाते हैं। सारा पर्वतीय प्रदेश एक खुला हुआ पहाड़ी देश

चित्र ६२—पर्वत विकास-चक्र

हो जाता है जिसमें गोल टीले थोड़े-थोड़े फासले पर फैले रहते हैं। परन्तु कभी-कभी ही पर्वत अपनी वास्तविक पुरातन अवस्था तक पहुँच पाते हैं। इससे बहुत पहले ही स्थल के अचानक ऊपर उठने से पर्वतों में पुनः नव-जीवन शुरू हो जाता है। पर्वतों में

पुनः नवीन जीवन के शुरु होने पर मोड़ पड़ने तथा दरार पड़ने का कार्य नहीं होता । एपेलैबियन पर्वत इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण है ।

मनुष्य तथा पर्वत—मनुष्य के कार्यक्षेत्र में पर्वतों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है । अनिश्चित प्राकृतिक बनावट, संकरी घाटियों तथा पतली मिट्टी की तह के कारण पर्वतीय क्षेत्रों में कृषि-कार्य नहीं किया जा सकता । इसके अतिरिक्त यातायात की कठिनाइयों, समतल स्थलों की कमी तथा जलवायु की कठोर दशाओं के कारण, इन प्रदेशों की आबादी बहुत कम है । फिर भी यह मनुष्य जाति के लिये बहुत लाभप्रद है ।

(१) ठंडी अथवा गर्म हवाओं के विपरीत; दुश्मनों के आक्रमण तथा मनुष्य के बीच सम्पर्क के विपरीत पर्वत बचाने वाली दीवार का काम करते हैं । अतः यह रक्षा साधन का कार्य करते हैं, हालांकि इनकी रक्षात्मक कार्य शक्ति उनकी ऊँचाई, अटूट रचना तथा श्रेणियों की व्यवस्था पर निर्भर रहती है ।

(२) हवाओं को ऊपर उठाकर तथा तापक्रम को ओस बिन्दु तक पहुँचा कर पर्वत वृष्टि पर बहुत प्रभाव डालते हैं । बहुत सी नदियों का उद्गम भी पर्वतों से ही होता है, अतः अप्रत्यक्ष रूप से सिंचाई की सारी सुविधायें पर्वतों पर निर्भर रहती हैं ।

(३) पर्वत के ढालों पर बड़े अच्छे चरागाह पाये जाते हैं तथा उनकी ऊँचाइयों पर इमारती लकड़ी की घनी उत्पत्ति होती है ।

(४) पर्वत जलविद्युत (Hydroelectricity) के विकास के लिये साधन प्रदान करते हैं ।

(५) निम्न तापक्रम, स्वास्थ्यवर्धक जलवायु तथा आकर्षक दृश्यों के कारण, पर्वत स्वास्थ्य तथा दर्शक केन्द्र बन जाते हैं जहाँ लोग हजारों की संख्या में जाते हैं ।

(६) पर्वत खनिज पदार्थ तथा धातुओं से भरपूर होते हैं, अतः वहाँ खान खोदने के उद्योग की उन्नति होती है ।

इसके अतिरिक्त संसार के पर्वतीय प्रदेश वायु, रेल तथा सड़क यातायात में अत्यधिक रुकावटें पैदा करते हैं । अतः जहाँ-जहाँ पर दरें या विभाजक पात्र हैं अथवा जहाँ पर्वतों के बीच रास्ता है, वहाँ सैनिक सुरक्षा के दृष्टिकोण से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र स्थापित हो जाते हैं । संक्षिप्त में मनुष्य तथा पर्वतों का अत्यधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा पर्वत मनुष्य के राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही क्षेत्रों पर प्रभाव डालते हैं ।

प्रधान स्थलरूप-पठार

पठार बड़े महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि ये पृथ्वी के धरातल के बहुत बड़े हिस्से को घेरे हुए हैं। दक्षिणी भारत और अफ्रीका विस्तृत पठार मात्र हैं। परन्तु इस स्थलरूप की पूर्ण व सर्वांगीण व्याख्या देना कठिन है। पठारों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये ५०० फीट से अधिक ऊँचे होते हैं और इनका आकार मेज की तरह होता है। इसके अलावा आस-पास के क्षेत्र की ओर इनका ढाल बड़ा ही तीव्र होता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि पठार मेज के समान वे चौरस उच्च-भूमि हैं जो आस-पास के क्षेत्र की अपेक्षा एक दम ऊपर को उठे रहते हैं। इनके बीच नदियों की घाटियाँ बनी रहती हैं। इन संकरी व गहरी घाटियों के बीच-बीच चौड़े और सपाट सिरे वाली विभाजक श्रेणियाँ पाई जाती हैं। सामान्यतः यह देखा गया है कि बहुत ऊँचे तथा कटे-फटे पठारों और पर्वतों तथा पहाड़ियों के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। इसके विपरीत कम ऊँचे तथा कम कटे-फटे पठार मैदानों के समान ही दीख पड़ते हैं। दूसरे शब्दों में तात्पर्य यह है कि पर्वतों तथा पहाड़ियों से घिरे पठार ऊँचे तथा अधिक कटे-फटे होते हैं और मैदानों से घिरे पहाड़ नीचे तथा सपाट होते हैं।

चट्टानों की रचना के अनुसार संसार के पठारों को निम्नलिखित तीन प्रकार का कहा जा सकता है:—

(१) वे पठार जो लावा प्रवाह से बने हैं, जैसे कोलम्बिया का पठार, उत्तरी पश्चिमी दक्षिणी-भारत तथा पूर्वी अफ्रीका। इनकी बनावट शीशे की तरह होती है और बसाल्ट की प्रधानता रहती है।

(२) वे पठार जो मैदानों या जलनिम्न क्षेत्रों के ऊपर उठने से बने हैं, जैसे कि अमरीका का कोल्लेरेडो पठार। इनकी बनावट समानान्तर होती है।

(३) स्फटिक चट्टानों से बने पुराने पेनीप्लेन (Peneplain) के ऊपर उठने से भी पठार बन जाते हैं। आस्ट्रेलिया, पूर्वी ब्राजील, मध्य अफ्रीका और प्रायद्वीपीय भारत के पठार इसी श्रेणी में आते हैं।

पठारों की स्थिति के अनुसार उनको निम्नलिखित श्रेणियों या प्रकारों में बाँटा जा सकता है:—

(१) अन्तरपर्वतीय पठार. (Intermontane Plateau) वे होते हैं जो पर्वत-श्रेणियों से घिरे रहते हैं। इस प्रकार के पठार सबसे अधिक ऊँचे तथा विस्तृत होते हैं। इस प्रकार के पठार प्रायः १०,००० फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं। हिमालय और स्वेन लन श्रेणियों के बीच स्थित तिब्बत का पठार इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। दक्षिणी अमेरिका के एण्डोज पर्वत प्रदेश में स्थित बोलिविया का पठार भी

इसी श्रेणी में आता है। मेक्सिको, मंगोलिया, तारिम बेसिन तथा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का कोलम्बिया प्रदेश इसके अन्य उदाहरण हैं।

(२) पर्वत प्रान्ती पठार (Piedmont Plateau) वे हैं जो पर्वतों के आधार पर स्थित रहते हैं। इन पठारों के एक ओर पर्वत होते हैं और दूसरी ओर मैदान या समुद्र। इनका विस्तार अपेक्षाकृत बहुत कम होता है। उत्तरी अमेरिका का कोलैरेडो पठार तथा दक्षिणी अमेरिका का पेटोगोनिया का पठार इसी प्रकार के हैं। उत्तरी अमेरिका का कोलैरेडो पठार नदियों की संकीर्ण पर गहरी घाटियों द्वारा बहुत कटा-फटा है। इन संकीर्ण गहरी घाटियों को कैनयन या संकीर्ण नदी कन्दरा कहते हैं और इनके कारण इस प्रदेश में यातायात व खेती दोनों की असुविधा है। दक्षिणी अमेरिका का पेटोगोनिया पठार इतना कटा-फटा नहीं है परन्तु यह मैदान की तरफ एक पर्वतखंड (Escarpment) बनाता है जो ३०० से ६०० फीट तक ऊँचा है।

(३) महाद्वीपीय पठार (Continental Plateau) वे विशाल व विस्तृत उच्च प्रदेश हैं जो समुद्र के किनारे से अथवा समीपवर्ती मैदानों से एक दम उठ जाते हैं। इनके अधिकतर किनारों पर समुद्र हैं। विशेष बात तो यह है कि इनके किनारों पर पर्वत कदाचित् ही होते हैं। अफ्रीका, अरब, स्पेन, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी भारत, ग्रीनलैंड, और अर्न्टाटिका महाद्वीपीय पठार हैं। इनमें से प्रथम तीन की बनावट बड़ी ही गहन है। ग्रीनलैंड और अर्न्टाटिका की उत्पत्ति अपेक्षाकृत नवीन है।

जिस विशेष विधि से किसी पठार की उत्पत्ति होती है तथा जिन प्राकृतिक शक्तियों एवं साधनों द्वारा उनका निर्माण होता है, उनके चिन्ह प्रायः प्रत्येक प्रकार के पठार पर मिलते हैं। जिन पठारों की उत्पत्ति समुद्र के जल में होती है उनकी बनावट समतल, उनकी परतों की बनावट समानान्तर तथा उनमें बलुहे अथवा चूने के पत्थरों की प्रधानता होती है। बर्मा का शान पठार इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। अक्सर हवायें धूल के कणों को जमा कर देती हैं और कालान्तर में पठार के समान एक विशाल भूआकार बन जाता है। वायु द्वारा निर्मित पठार का सबसे अच्छा उदाहरण उत्तरी पश्चिमी चीन का लोएस प्रदेश है। हिमनदियाँ भी पठारों की जन्म देती हैं। उनके मार्ग में पड़ने वाली पहाड़ियाँ सपाट शिखर वाले पठार बन जाते हैं। महाद्वीपीय हिम नदियों का निक्षेप भी पठारों के समान बन जाता है परन्तु हिमनदियों द्वारा निर्मित पठारों का केवल स्थानीय महत्त्व होता है।

संसार के विभिन्न पठारों की प्राकृतिक बनावट तथा जलवायु एवं आर्थिक दशा अलग-अलग हैं। अधिकतर पठार अर्द्ध-शुष्क अथवा शुष्क हैं क्योंकि वे व्यापारिक हवाओं की पेटी से अयन रेखाओं के किनारे पर स्थित हैं या पर्वतों के वायुविमुख ढाल की ओर। जहाँ कहीं पठार प्रचलित हवाओं के मार्ग में स्थित होते हैं वहाँ भी उन पर वर्षा अधिक नहीं होती। ऊँचाई के कारण तापक्रम निम्न होता है और उपज-काल छोटा होता है। वर्षा के अनुसार प्राकृतिक बनावट भी अलग-अलग होती है। यद्यपि पठार सपाट तथा चौरस होते हैं परन्तु उनके समीप के पर्वतों से निकलकर बहने वाली नदियाँ इनको संकीर्ण नदी कन्दराओं में बाँट देती हैं। इसके विपरीत अपेक्षाकृत तर पठारी भागों में जलविभाजक चौड़े होते हैं और उच्च प्रदेश अबड़-

खाबड़ तथा गोलाकार होते हैं। हिम आवरण से ढके हुए पठारों में समानान्तर श्रेणियाँ होती हैं जिन्हें जासद्रुगी (Zastrugi) कहते हैं, बीच-बीच में चट्टानी द्वीप छितरे रहते हैं। इन्हें नुनाटक (Nunataks) कहते हैं।

वर्षा, प्राकृतिक बनावट तथा निम्न तापक्रम के कारण अधिकतर पठारी भागों में खेती का धंधा नहीं हो सकता है। उनकी अलग-थलग स्थिति के कारण भी खेती का अधिक विकास नहीं हो पाया है। चाहे कोई भी वनस्पति पायी जाये, पशु-पालन अवश्य होता है। जहाँ कहीं सिंचाई की सुविधा है वहाँ फसलें और विशेषकर गेहूँ की खेती की जाती है। कई स्थानों में लावा और बसाल्ट की मिट्टी पायी जाती है जिसमें नमी रुक सकती है। इसलिए वहाँ पर फसलें उगाई जाती हैं। इस प्रकार की मिट्टी के मुख्य प्रदेश दक्षिणी भारत तथा जॉर्जिया और ओरगिन का कोलम्बिया पठार है।

जिन पठारी भागों में खनिज और धातुएँ पाई जाती हैं वहाँ पर लोगों का प्रधान धंधा खान खोदना है। बोलीविया और पेरू के पठार टीन तथा ताँबे के लिए प्रसिद्ध हैं। संयुक्त राष्ट्र अमरीका की ऐरीजोना रियासत में खान खोदना प्रधान उद्यम है।

पहाड़ी प्रदेश

पर्वतों तथा मैदानों या पर्वतों और पठारों के बीच की अन्तरिम प्राकृतिक बनावट के क्षेत्रों को पहाड़ी प्रदेश कहते हैं। इस वर्ग में ऊँचे मैदानों से लेकर नीचे पर्वतों तक सभी प्रकार के प्रदेश शामिल हैं। इनकी विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

- (१) इनका ढाल काफी होता है और अधिकतर भूमि कटी-फटी होती है।
- (२) उच्च प्रदेशों का शिखर-क्षेत्र कम विस्तृत होता है।
- (३) स्थानीय बन्धुर या ऊँचाई निचाई समुद्रतल से ५०० फीट से लेकर २००० फीट तक होती है।

इन विशिष्ट स्थलरूपों की उत्पत्ति न तो ज्वालामुखी विस्फोट से होती है और न ही भौगर्भिक शक्तियों द्वारा। मौसमी क्षति और अनावृत्तीकरण के साधन ही इनके निर्माण के मुख्य कारण हैं। यदि जलवायु की दशाये प्रधान हैं तो पहाड़ी प्रदेशों की बनावट नुकीली और तीखी होगी परन्तु यदि पहाड़ी प्रदेशों की चट्टानों की रचना से जलवायु की दशाये प्रतिकूल हईं तो उसकी प्राकृतिक रूपरेखा गोलाकार हो जावेगी। पुराने अथवा प्रौढ़ पहाड़ी प्रदेश में गोल पहाड़ियों की एक कतार सी बनी होती है, जिनके बीच २ संकरी श्रेणियाँ तथा चौड़ी V-आकार की घाटियाँ पाई जाती हैं। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक बनावट ऊबड़-खाबड़ होती है।

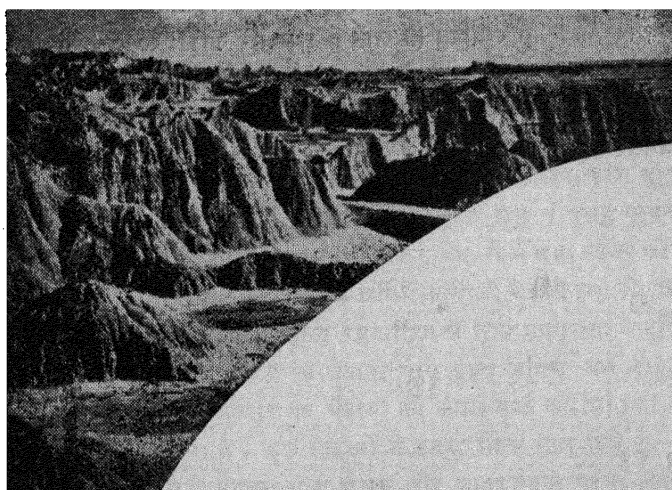
प्राकृतिक बनावट और चट्टानों की रचना के आधार पर संसार के पहाड़ी प्रदेशों को निम्नलिखित प्रकार का कहा जा सकता है—

- (१) समानान्तर रचना के पहाड़ी प्रदेश या नदी द्वारा काटे-छांटे हुए पहाड़ी प्रदेश—पूर्वी संयुक्त राष्ट्र अमरीका का एलीघनी-कम्बरलैण्ड-प्रदेश, अफ्रीका में डेक-

न्सवर्ग पर्वतों के किनारे का भाग तथा दक्षिणी जर्मनी और दक्षिणी भारत के कुछ भाग इस वर्ग के सब से अच्छे उदाहरण हैं। मिसौरी प्रदेश के ओजरक (Ozarks) तथा बोस्टन पर्वत भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। नदियों की प्रणाली वृक्षों की शाखाओं की भांति होती है और घाटी तथा श्रेणियों का तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। उप-आर्द्र प्रदेशों में नदीधारा अथवा गली या सतह के कटाव के कारण जहाँ पर भूमि बुरी तरह से कटफट गई है वहाँ पर इन प्रदेशों को बंजर भूमि (Bad Lands) कहते हैं।

(२) मोड़दार परतदार चट्टानों के पहाड़ी प्रदेश में एक दूसरे के समानान्तर स्थित बहुत-सी श्रेणियाँ तथा घाटियाँ होती हैं। पुराने पर्वतों के आवरणक्षय से इस प्रकार की प्राकृतिक रूपरेखा बन जाती है। इसकी प्राकृतिक बनावट पर्वतों से नीची पर आवरणक्षय के मैदान (Peneplain) से ऊँची होती है। अमेरिका के अपले-शियन पर्वत इसी प्रकार के हैं।

(३) विभिन्न चट्टानी बनावट के पहाड़ी प्रदेशों की विशेषतायें प्रत्येक दशा में अलग-अलग होती हैं। कठोर या मृलायम चट्टानों अथवा ठोस या दरारपूर्ण धरा-



चित्र ६३—बंजर भूमि की प्राकृतिक बनावट

तल के अनुसार मौसमी क्षति तथा आवरणक्षय कहीं पर कम और कहीं ज्यादा होता है। इसके अलावा जलवायु की दशाओं का नियन्त्रण भी बना ही रहता है। शुष्क प्रदेशों में प्राकृतिक बनावट नुकीली होती है परन्तु शीत शुष्क प्रदेशों में गोल होती है। इस प्रकार के प्रदेश पूर्वी आस्ट्रेलिया, कैलिफोर्निया तथा पूर्वी एशिया में पाये जाते हैं।

(४) हिम-प्रवाह के क्षेत्रों के पहाड़ी प्रदेश या हिमाच्छादित पहाड़ी प्रदेश में वे सभी विशेषतायें पाई जाती हैं जो हिम नदी द्वारा आवरणक्षय से सम्बन्धित होती हैं। इस प्रकार के पहाड़ी प्रदेशों में गोलाकार मेघ-शिलायें

(Roche Montonne) पाई जाती हैं और उनके इधर-उधर घाटियाँ स्थित होती हैं, जिनमें बड़े-बड़े शिलाखंड पड़े रहते हैं। झीलें व दलदल भी खूब पाये जाते हैं। नदियों में जलप्रपात और झरने पाये जाते हैं। कनाडा का लारेन्स प्रदेश, न्यू इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, स्कैन्डिनेविया और उत्तरी इंग्लैण्ड की पेनाइन श्रेणी इसके सर्वोच्च उदाहरण हैं।

पर्वतों के समान पहाड़ी प्रदेश भी मनुष्यों के बीच आदान-प्रदान में रुकावट उपस्थित करते हैं। इन प्रदेशों में रहन-सहन कठिन होता है। परन्तु कम ऊँचाई के कारण इनमें खेती की अधिक सुविधा रहती है यद्यपि जहाँ कहीं भूमि का कटाव प्रखर है वहाँ प्रायः ये प्रदेश बंजर ही बने रहते हैं। उच्च प्रदेशों पर जंगल पाये जाते हैं और लोग लकड़ी काटकर अथवा वन में स्थित घास के मैदानों में पशु चराकर पेट पालते हैं। यहाँ के लोगों के प्रधान धन्धे फल उगाना तथा दूध मक्खन तैयार करना है। जहाँ कहीं पहाड़ी प्रदेश बहुत कटे-फटे हैं वहाँ खान खोदने का उद्यम होता है। अपलेशियन पर्वत प्रदेश में बिटुमिनस कोयला निकाला जाता है और कोयले की परतों तक आसानी से पहुँचा जा सकता है। अपेक्षाकृत तर प्रदेशों के पहाड़ी भागों में तेज बहने वाली नदियों की प्रपात रेखा पर जल-विद्युत् बनाई जाती है। पहाड़ी प्रदेशों में स्वास्थ्यवर्धक केन्द्र भी स्थापित हो जाते हैं। अक्सर जाड़ों के खेलकूद तथा शिकार के लिए बहुत से लोग वहाँ जाते हैं। साधारणतया पर्वतों की अपेक्षा पहाड़ी प्रदेश अधिक घने आबाद हो जाते हैं परन्तु तर प्रदेशों की बंजर भूमियाँ (Bad Lands) प्रायः जनसंख्याहीन ही रह जाती हैं।

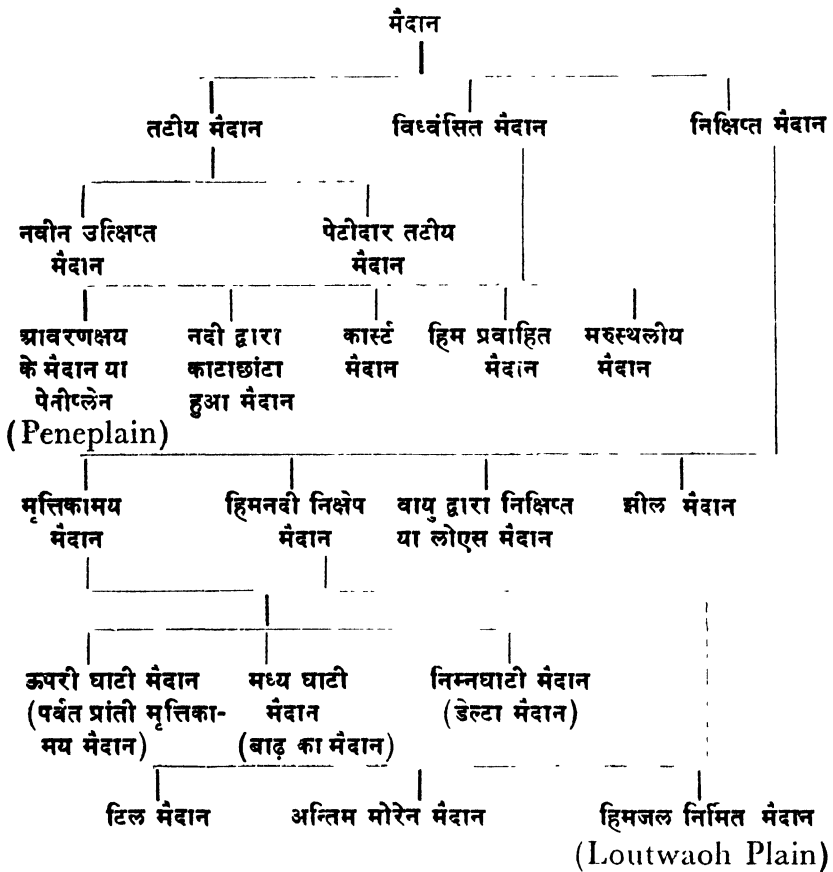
प्रधान स्थलरूप—मैदान

मैदान वे प्रदेश हैं जिनकी स्थानीय ऊँचाई समुद्रतल से ५०० फीट तक रहती है। दूसरी विशेषता यह है कि उनका ढाल क्रमशः होता है और कभी भी तीव्र नहीं होता। परन्तु सभी मैदानों की समुद्रतल से ऊँचाई एक-सी नहीं होती। कुछ मैदान तो बिल्कुल सपाट होते हैं और कुछ की बनावट लहरदार होती है। कुछ मैदान ऊबड़-खाबड़ एवं अव्यवस्थित तक होते हैं। बन्धुर तथा प्राकृतिक बनावट की इन विशेषताओं के अलावा विभिन्न महाद्वीपों में मैदानों की स्थिति अलग-अलग होती है। कुछ मैदान समुद्र के किनारे स्थित होते हैं परन्तु अधिकतर मैदान महाद्वीपों के आन्तरिक भाग में ही स्थित रहते हैं। कुछ मैदान शुष्क भागों में स्थित होते हैं और कुछ दूसरे तर प्रदेशों में पाये जाते हैं। मैदानों की भौगोलिक बनावट भी अलग-अलग होती है। कुछ मैदान चूने के पत्थर और खड़िया के बने होते हैं तथा कुछ में बलहे पत्थर बिछे होते हैं। कुछ मैदान शेल के बने होते हैं परन्तु अधिकतर मैदानों में सभी प्रकार की चट्टानें मिली पाई जाती हैं। इन विभिन्नताओं एवं अनिश्चितताओं के होते हुए भी संसार के मैदानी भाग विस्तार के दृष्टिकोण एवं मानव रहन-सहन के लिये उपयुक्तता के दृष्टिकोण से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। यही कारण है कि मैदानी भाग सबसे अधिक घने आबाद हैं।

उत्पत्ति एवं स्थिति के आधार पर मैदानों को अगले पृष्ठ की तालिका में दिए हुए प्रकार का कहा जा सकता है। कुछ विद्वानों ने इनको भिन्न नाम दिये हैं—तटीय मैदान, नदी मैदान, हिम नदी मैदान, झील मैदान और लावा मैदान परन्तु अगले पृष्ठ की तालिका में दिया गया वर्गीकरण सबसे अधिक सार्वभौमिक है।

तटीय मैदान (Coastal Plain)

समुद्रतट के समीप स्थित मैदानों को तटीय मैदान कहते हैं। इनकी उत्पत्ति लहरों की क्रिया प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भूमि के जल से बाहर निकलने या जल में डूब जाने से होती है। समुद्रजल से बाहर निकली हुई भूमि या तलहटी चौड़ी और सपाट हो सकती है या संकरी और ऊबड़-खाबड़। जैसे ही समुद्र की तलहटी प्रकट होती है उस पर अनावृत्तीकरण की शक्तियाँ, विशेषकर समुद्री लहरे अपने आघात-प्रतिघात द्वारा इसके विस्तार को बढ़ाना शुरू कर देती हैं। आवरणक्षय द्वारा इसके रूप को बना



देती है या निक्षेप द्वारा इसको बड़ा करती जाती है। आवरणक्षय के चक्र की प्रारम्भिक दशाओं अथवा अन्तिम दशाओं के अनुसार तटीय मैदानों को दो प्रकार का कहा जा सकता है—

(१) नवीन उत्क्षिप्त तटीय मैदान — यदि वर्तमान तट मैदानी भूभाग है तो नवीन उत्क्षिप्त मैदान चौड़ा होगा। इसके विपरीत यदि तट के समीप पर्वत है तो नया बाहर निकला मैदान संकरी पट्टी की भाँति होगा। वैसे तो तटीय मैदान प्रायः सभी महाद्वीपों में पाये जाते हैं परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण तटीय मैदान बेल्ट्रियम, नीदरलैंड्स और जर्मनी के हैं। अमेरिका में मेक्सिको की खाड़ी और अटलांटिक सागर के तटीय मैदान भी विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार के तटीय मैदान ढीली बालू और दलदल के बने होते हैं। इनका क्रमशः ढाल समुद्र की तरफ होता है परन्तु कुछ दशाओं में ये बिल्कुल सपाट भी होते हैं। सम्पूर्ण भूभाग पर दलदल और पेंक भूमियाँ पाई जाती हैं और जलप्रवाह पूर्णतया अधिकसित रहता है। उच्च ज्वार के समय इन मैदानों में पानी भर जाता है। जो

कुछ जलधारायें हैं भी उनमें प्रवाह बहुत धीमा होता है । समुद्र से भीतर की ओर चलने पर मिट्टी अच्छी होती जाती है ।

(२) पट्टीदार तटीय मैदान में आवरण-क्षय के विकसित बिन्दु दिखलाई पड़ते हैं । विभिन्न मौसमी क्षति तथा आवरण-क्षय के कारण, मुलायम चट्टानें तो कट-छंट जाती हैं परन्तु कठोर और अधिक बलिष्ठ चट्टानें पर्वतखंड (Escarpment) के रूप में खड़ी रह जाती हैं । सम्पूर्ण प्राकृतिक बनावट में पट्टियों जैसी व्यवस्था रहती है । जलप्रवाह पूर्णतया विकसित होता है यद्यपि मिट्टी, जलप्रवाह प्रणाली और प्राकृतिक बनावट पट्टी-पट्टी में अलग होती है । उत्तरी अमेरिका के आन्ध्रमहासागरीय तथा खाड़ी के तटीय मैदानों में इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है ।

बहुत से तटीय मैदानों पर समुद्री लहरों द्वारा लाई हुई मिट्टी बालू इकट्ठा होती रहती है और फलस्वरूप मैदान की चौड़ाई समुद्र की ओर बढ़ती जाती है । अनु-तटीय बाधक श्रेणी (Offshore Bars) और भित्तिमय तट श्रेणी (Barrier Beaches) इनके विस्तार को समुद्र-जल में आगे तक ले जाती है और जहाजों के लिए ठहरने के सुरक्षित स्थान की व्यवस्था हो जाती है ।

विध्वंसित मैदान (Destructural Plains)

जैसा कि नाम से ही प्रकट है, ये मैदान मौसमी क्षति व आवरणक्षय द्वारा बनते हैं । अनावृत्तीकरण के प्रधान साधन बहता हुआ जल, भूगर्भवर्ती जल, चलता हुआ हिम और हवा हैं । प्रत्येक की विशेषताओं के अनुसार तथा तीव्रता के अनुरूप, इस प्रकार के मैदान कई प्रकार के होते हैं ।

(१) आवरणक्षय के मैदान (Peneplain)—अनावृत्तीकरण की शक्तियाँ पर्वत तथा पहाड़ी प्रदेश को घिस-घिसाकर इतना नीचा कर देती हैं कि सम्पूर्ण प्रदेश लहरदार हो जाता है और उसके बीच-बीच में छोटे-छोटे टीले खड़े रह जाते हैं । इन्हें मोनाडोनक (Monadnocks) कहते हैं और सम्पूर्ण प्रदेश आवरणक्षय का मैदान (Peneplain) कहलाता है । इस प्रकार के मैदान में नदियाँ अगने अन्तःस्थल (Base Level) पर पहुँच चकी होती हैं । इधर-उधर बिखरे पड़े छोटे-छोटे टीले पुराने धरातल के अवशेष मात्र हैं । धरातल का जो कठोर भाग नदियों द्वारा कट छंट नहीं पाता वही टीलों के रूप में खड़ा रह जाता है ।

परन्तु इस प्रकार का वास्तविक मैदान संसार में कहीं भी नहीं पाया जाता क्योंकि जब नदियाँ काट-छाँट करती होती हैं कोई भी भौगर्भिक हलचल धरातल को ऊपर उठा देती है और इस प्रकार सम्पूर्ण कार्यविधि में नवजीवन का संचार हो जाता है । इसलिए संसार के आवरण-क्षय के मैदानों में इतनी ऊँचाई नहीं रहती कि नदियों में पर्याप्त काटने की शक्ति रहे । आवरणक्षय के मैदानों की प्राकृतिक बनावट पर चट्टानों की रचना का भी प्रभाव पड़ता है ।

रूस का मध्यवर्ती मैदान, पूर्वी इंग्लैंड, अमेजन बेसिन के कुछ भाग, मिसी-सीपी की ऊपरी घाटी और भारत के अरावली प्रदेश आवरण-क्षय के मैदान के विशिष्ट उदाहरण हैं ।

(२) नदी द्वारा काटा-छाटा हुआ मैदान या सुइस्टा आकार के मैदान—जैसा कि पहिले कहा जा चुका है नदी द्वारा आवरण-क्षय के मैदान की रूपरेखा चट्टानों की रचना पर निर्भर रहती है। यदि चट्टानें कठोर तथा मुलायम हुई तो मैदान दक्षिणी-पूर्वी इंग्लैंड के मैदानों की तरह लहरदार होते हैं।

इसके विपरीत यदि विभिन्न आवरणक्षय के द्वारा कठोर चट्टानें तथा अधिक कटी-छंटी मुलायम चट्टानें चाय की प्लेट की भाँति बन जाती हैं तो इस प्रकार के मैदान का सुइस्टा आकार (Cuestaform) का कहा जाता है। इस प्रकार के मैदानों में श्रेणियों और मैदानों की समकेन्द्र व्यवस्था रहती है। कठोर चट्टानों की श्रेणी सुइस्टा कहलाती है। पेरिस और लन्दन के बेसिन इस प्रकार के मैदानों के विशिष्ट उदाहरण हैं।

नदी के नवीन या पुराने होने के अनुसार, इस प्रकार बने मैदानों की विशेषताये अलग २ होती हैं। नवीन मैदानों में संकरी V-आकार की घाटियाँ और चौड़े उच्च प्रदेश होते हैं। जलप्रवाह वृक्षों की शाखा के समान होता है। इसके विपरीत प्राचीन-नदियों द्वारा बना मैदान लहरदार होता है और उन पर स्थित ऊँचाइयाँ क्रमशः ढाल की होती हैं।

(३) कास्ट मैदान—भूगर्भवर्ती जल द्वारा बनते हैं। खड़िया या चूने के पत्थर के बने प्रदेश में चट्टानों के घुल जाने से इस प्रकार के मैदान बन जाते हैं। चाहे विस्तार में छोटे हों अथवा बड़े हों, इस प्रकार के मैदानों में यूगोस्लाविया के कार्स्ट प्रदेश जैसी विशेषताये पाई जाती हैं। यह प्रदेश एड्रियाटिक सागर के समानान्तर ५० मील लम्बी पेट्री है और इसी आधार पर संसार के सभी मैदान कार्स्ट मैदान कहलाते हैं।

कार्स्ट मैदान की विशेषता यह है कि सतह पर जल-प्रवाह नहीं रहता और घाटियों का अभाव रहता है। साधारण प्रकृति ऊँची नीची होती है। सम्पूर्ण धरातल पर अनगिनत गड्ढे तथा कन्दराये होती हैं और इनके बीच-बीच चूने के पत्थर की श्रेणियाँ बनी रहती हैं। इन धरातलीय विशेषताओं के अलावा, भूमि के नीचे बहुत से छेद तथा गड्ढे पाये जाते हैं और जलप्रवाह भूमि के नीचे २ रहता है। जब कभी इन भूगर्भवर्ती कन्दराओं की छतें टूट जाती हैं तो गर्त (Sink Holes) तथा स्वाभाविक पुल (Natural Bridges) बन जाते हैं।

इस प्रकार के अन्य मैदान दक्षिणी फ्रांस, फ्लोरिडा के प्रायद्वीप, यूकाटन प्रदेश तथा क्यूबा द्वीप में पाये जाते हैं। इन मैदानों की विकास अवस्था अलग २ होती है। नवीन अवस्था में इन मैदानों में सतह का जलप्रवाह तथा अस्थायी झीलें पाई जाती हैं जिन में वर्षा का जल भर जाता है। प्रौढ़ या मध्य अवस्था के प्रारम्भ में गर्त (Sink Holes) और डोलाइन बन जाते हैं जिनमें से होकर सतह की धारायें भूमि के नीचे प्रवेश कर जाती हैं और भूगर्भवर्ती जलप्रवाह बन जाता है। धरातल पर केवल शुष्क घाटियाँ ही पाई जाती हैं यहाँ तक कि पुरातन अथवा वृद्धावस्था में सम्पूर्ण मैदान में कार्स्ट प्रदेश जैसी विशेषताये उत्पन्न हो जाती हैं।

(४) हिम प्रवाहित मैदान—ये समतल प्रदेश हैं जहाँ हिम नदियों के प्रवाह

ने पुरानी या मूल रूपरेखा में परिवर्तन कर दिया। हिम नदियों के प्रवाह से प्रभावित मैदान में हिम द्वारा काट-छांट व खरोंच के चिन्ह मिलते हैं। उत्तरी पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका के उत्तरी भाग में हिम प्रवाहित मैदान का सबसे अधिक विस्तार है। फिनलैंड, पूर्वी कनाडा और स्वीडन के प्रदेशों में हिम घणित मैदानों का उत्कृष्ट उदाहरण मिलता है। हिम के प्रवाह के कारण, श्रेणियों और घाटियों में बहुत परिवर्तन हो जाता है। इन मैदानों में गोलाकार पहाड़ियाँ तथा चौड़ी खुली हुई घाटियाँ पाई जाती हैं। इन घाटियों की तली पर गड्ढे तथा खरोंच के निशान बने होते हैं। अधिक बड़े गड्ढों में तो झील तथा दलदल हैं, परन्तु घाटी के किनारों पर हिम नदी द्वारा बहाकर लाये हुए शिलाखण्ड पाये जाते हैं। बहुत सी जगहों पर मिट्टी बिलकुल बह जाती है और जल-प्रवाह बड़ा ही अनियमित रहता है। उथली झीलें, दलदल तथा मसकेग जहाँ तहाँ पाये जाते हैं। नदियों में जलप्रपात व झरने पाये जाते हैं। इसी कारण अधिकतर हिम प्रवाहित मैदानों में खेती नहीं होती और केवल वन पाये जाते हैं।

(५) मरुस्थलीय मैदान—पर मौसमी क्षति के चिन्ह मिलते हैं और साथ २ वायु द्वारा आवरणक्षय तथा सतह पर बहने वाली तेज परन्तु अस्थायी नदियों का प्रभाव भी देखने में आता है। कम वर्षा और आर्द्रता के कारण मौसमी क्षति द्वारा विलयन और विखण्डन बहुत धीमा होता है। परन्तु वनस्पति के अभाव में वायु द्वारा आवरणक्षय तथा तेज बहने वाली बरसाती नदियों द्वारा काट-छांट अधिक तीव्र हो जाती है। इसके अलावा अधिकतर मरुस्थलीय मैदानों में आन्तरिक जलप्रवाह के क्षेत्र पाये जाते हैं जिन्हें प्लेया झील कहते हैं। इनका जल खारी होता है और सूखने पर उनके ऊपर नमक की पपड़ी जमी रह जाती है।

मरुस्थलीय मैदानों के अन्तर्गत पर्वत प्रान्तीय मैदान भी होते हैं जो इधर-उधर के पर्वतों के आधार पर स्थित होते हैं। पक्षे की तरह फँसे हुए मैदानों में आड़ी तिरछी लहरे होती हैं और इनका धरातल सपाट होता है। यदि इन भागों से अन्दर की ओर चला जाये तो शष्क नदी घाटियाँ मिलेंगी जिन्हें वादी या बोल्सन कहते हैं और जो आन्तरिक जलप्रवाह के क्षेत्र होते हैं। हवा द्वारा आवरणक्षय तथा विभिन्न मौसमी क्षति के कारण प्राकृतिक रूपरेखा छंट-छंटाकर गोलाकार या चमकदार बन जाती है। कुछ प्राकृतिक रूप तो बड़े ही विचित्र होते हैं। इन मैदानों में बिखरे हुए कंकड़ पत्थरों पर लोहे की ऑक्साइड की पतली परत चढ़ जाती है। इस पर से होकर जब हवा रगड़ खाती है तो यह चमकने लगती है। इसको मरुस्थलीय वार्निश (Desert Varnish) कहते हैं और इस प्रकार के धरातल को मरुस्थलीय चबूतरा (Desert Pavement) कहते हैं।

निक्षिप्त मैदान (Depositional Plains)

संसार के अधिकतर मैदान वे हैं जो मूल जल प्रदेशों में मिट्टी जमा होने से बने हैं। मिसौसीपी तथा गंगा की घाटियाँ, मध्य यूरोप के मैदान और सिन्धु का बेसिन इसी प्रकार के निक्षेप द्वारा बने हैं। वास्तव में सत्य तो यह है कि आवरणक्षय की शक्तियाँ चट्टानों को काट-छांटकर टुकड़े-टुकड़े कर देती हैं, और फिर इन्हें बाहर

ले जाकर दूसरी जगह इकट्ठा कर देती है। निक्षेप के साधन तथा स्थान के अनुसार निक्षिप्त मैदान कई प्रकार के होते हैं। इस प्रकार के मैदानों की मिट्टी बड़ी उपजाऊ होती है और इसीलिए इनमें घनी आबादी पाई जाती है।

(१) मृत्तिकामय मैदान (Alluvial Plains) को नदी जल निमित्त मैदान भी कहते हैं क्योंकि यह नदी द्वारा निक्षेप से बनता है। जैसे ही नदियाँ पर्वत प्रदेश को छोड़कर मैदानों में आती हैं उनका जल फैल जाता है और उनकी तीव्र गति एकाएक धीमी पड़ जाती है। अतः पहाड़ों के आधार पर एक पंखे के समान निक्षेप बन जाता है। यह निक्षेप मोटा होता है और इसमें बजरी बालू की बहुतायत रहती है। इसे पर्वत प्रान्ती मृत्तिका पंख (Piedmont Alluvial-Fan) कहते हैं। इसकी सतह पर वर्षा के जल द्वारा बहा कर लाये हुए बड़े-बड़े ढोके बिखरे रहते हैं। इन पर्वत प्रान्ती पंखों का विस्तार बहाकर लाये हुए शिलाखंडों की मात्रा पर निर्भर रहता है। इनका ढाल पर्वतों की तरफ अधिक तीव्र होता है परन्तु मैदानों की तरफ क्रमशः होता जाता है। इनकी प्रवेश्य मिट्टी तथा सिंचाई के प्रभाव के कारण यहाँ खेती नहीं हो सकती। केवल कुछ घास व झाड़ियाँ ही उगती हैं। कभी-कभी कई मृत्तिकामय पंख आपस में मिलकर पर्वत प्रान्ती मैदान की सृष्टि कर देते हैं। इस प्रकार के मैदान जो नदियों की ऊपरी घाटी में पाये जाते हैं भारत में 'भाबर' कहलाते हैं।

मध्य घाटी प्रदेश में नदी की धारा धीमी पड़ जाती है और इसका मार्ग घुमावदार हो जाता है। मोटे-मोटे शिलाखंड घिस-घिसाकर महीन मिट्टी या बालू में बदल जाते हैं। नदी के जल में ये महीन कण घुले-मिले रहते हैं। जैसे-जैसे नदी की धारा अपनी घाटी को चौड़ा करती है या अपने किनारों के ऊपर से होकर बहती है, जल में मिली हुई यह मिट्टी बालू जमा हो जाती है। इस प्रकार के मैदानों को बाढ़ के मैदान कहते हैं। इनका विस्तार नदी घाटी की चौड़ाई पर निर्भर रहता है। साधारणतया हम जैसे-जैसे नदी के मुहाने की ओर से उसके उद्गम की ओर चलते हैं, इसका विस्तार कम होता जाता है। नदी के ऊपरी भाग में बाढ़ का मैदान केवल कुछ ही गज चौड़ा होता है परन्तु निम्न घाटी में इसका विस्तार इतना अधिक होता है कि इसे डेल्टा प्रदेश से अलग करना मुश्किल हो जाता है।

चौड़े बाढ़ के मैदान की रचना कुछ जटिल होती है। इसकी सतह तो सपाट होती है और इसके बीच से धीमी नदी घुमावों में से होकर समुद्र की ओर बहती रहती है। कभी-कभी नदी द्वारा छोड़े गये घुमावों में धनुषाकार (Oxbow) झीलें बन जाती हैं। प्रत्येक बाढ़ का पानी जब पीछे की हटता है तो कुछ निक्षेप छोड़ जाता है। इस प्रकार उन्नतकगार (Levees) और पंक भूमियाँ बन जाती हैं। प्रत्येक बाढ़ के बाद मिट्टी की एक नई तह बिछ जाती है और इस प्रकार इन मैदानों का उपजाऊपन प्रत्येक वर्ष नया होता रहता है।

यदि किन्हीं भौगोलिक शक्तियों के प्रभाववश मध्यघाटी का तल ऊँचा हो जाता है तो नदी की काटने की शक्ति बढ़ जाती है और वर्तमान मैदान से कुछ ऊँचाई पर पुराना बाढ़ का मैदान एक चबूतरे या उत्तल (Terrace) की भाँति बन जाता।

है। ये चबूतरे पुराने बाढ़ के मैदान के अवशेष मात्र हैं जो वर्तमान बाढ़ के मैदान के किनारे-किनारे पाये जाते हैं।

कुछ अन्य बाढ़ के मैदानों में अन्तर नदीय (Inter-riverain) मैदान बन जाते हैं। भारत में इन्हें ट्राब कहते हैं। यह अन्तर नदीय मैदान वास्तव में पुरानी मृत्तिका के बने होते हैं। पुराने होने के कारण इनमें निक्षेप की अपेक्षा आवरणक्षय के चिन्ह अधिक मिलते हैं। इनकी परतें अनियमित होती हैं और इनकी सामान्य रचना मेज़ या मेसा (Mesa) की तरह होती है। जापान के मैदान, अजेंटाइना के पैम्पास तथा राकी पर्वत का सम्पूर्ण पूर्वी पाइवं इसी श्रेणी में आता है।

नदी की निम्न घाटी में नदी की धारा और भी धीमी हो चुकी होती है और इसका भार बहुत काफी बढ़ जाता है। फलतः जहाँ पर नदी समुद्र में प्रवेश करती है यह अपने मुहाने पर शिलाखंडों का निक्षेप कर देती है। धीरे-धीरे मुहाना इतना भर जाता है कि भूमि समुद्र से बाहर की तरफ जीम की तरह निकलने लगती है और इस त्रिभुजाकार मैदान को डेल्टा कहते हैं। परन्तु संसार की सभी नदियाँ डेल्टा नहीं बनातीं। डेल्टा के सफल निर्माण के लिए काफी तलछट जमा होना चाहिये। साथ-साथ नदी के मुहाने पर ज्वारभाटा तथा अन्य धाराओं का अभाव होना चाहिये अथवा नदी द्वारा बहाकर लाई गई सामग्री बह जावेगी।

डेल्टा के मैदान सामान्यतः सपाट होते हैं। इनकी स्थानीय ऊँचाई निचाई ५० फीट के अन्दर ही होती है। इसमें जहाँ-तहाँ चौड़े दलदल तथा उथली झीलें पाई जाती हैं। सबसे प्रधान प्राकृतिक रूप उन्नत कगार (Levees) होते हैं जो कि धारा के किनारों के समीप सबसे अधिक ऊँचे होते हैं। इन उन्नत कगारों के कारण बहुधा नदी का जल बहुत-सी शाखाओं में विभक्त हो जाता है और डेल्टा प्रदेश में मुख्य नदी की बहुत-सी सहायक तथा चितरक धाराएँ बन जाती हैं। संसार में विख्यात डेल्टा मैदान हांगहो, गंगा, नील, पो तथा मिसिसिपी के हैं। ये मैदान बड़े ही उपजाऊ हैं और इनमें जनसंख्या का घनत्व बहुत अधिक है।

(३) हिमनदी निक्षेप मैदान (Drift Plain)—जैसा नाम से ही प्रकट है ये मैदान हिमनदी द्वारा छोड़े गये निक्षेप से बनते हैं। इस प्रकार के मैदान उस समय बने जब महाद्वीपों पर हिम आवरण पीछे हटने लगे या उनके द्वारा बहाकर लाई हुई सामग्री उनके किनारों से निकलने वाली जलधाराओं द्वारा इधर-उधर फैला दी गई। इन मैदानों का विस्तार तथा महत्त्व बहुत अधिक है। ये उत्तरी-पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका के उत्तरी भाग में पाये जाते हैं। इनकी सतह की रूप-रेखा इनके नीचे पड़ी चट्टानों से बिल्कुल भिन्न है। इनकी उत्पत्ति व रचनाविधि के आधार पर इनको तीन प्रकार का कहा जा सकता है—(१) टिल मैदान जो हिम-के नीचे पड़े निक्षेप से बने हैं। (२) अन्तिम या पार्श्ववर्ती मोरेन जो हिमनदी के किनारों पर बनते हैं तथा (३) हिमजल निर्मित मैदान जो पिघलते हुए हिम की जलधाराओं से बनते हैं।

टिल मैदान क्रमशः लहरदार होते हैं और दूर-दूर लाये गये शिलाखंडों से बनता है। न्यू इंग्लैंड का प्रदेश इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। यहाँ लम्बे-चौड़े

परन्तु नीचे टीलों के बीच-बीच प्रवाह तथा निकास रहित चौड़े पर उथले गड्ढे मौजूद हैं। फलस्वरूप इस प्रकार के मैदानों में दलदल तथा मूर खूब पाये जाते हैं।

पार्श्ववर्ती मोरेन का निक्षेप अर्द्धवृत्ताकार अथवा चन्द्राकार श्रेणियों में होता है तथा इनसे हिमनदी के प्रवाह की दिशा ज्ञात होती है। हिमनदी प्रवाह के दोनों तरफ ये पाये जाते हैं और विभिन्न विस्तार व आकार के शिलाखंड इनमें मिले रहते हैं।

हिमजल निर्मित मैदान (Outwash Plain)—जैसा नाम से ही प्रकट है, इनका निर्माण पिघलते हुए हिम की धाराओं द्वारा फैलाये हुए निक्षेप से होता है। चूँकि निक्षेप जल द्वारा हुआ इसलिए उसमें परतों व तहों का क्रम पाया जाता है। ये परतें बजरी, बालू और बलुहेवोमट की होती हैं। इन परतों के बीच-बीच छोटे-छोटे ढोके भी गड्ढे पाये जाते हैं। इन मैदानों में केटली के आकार के बहुत से गड्ढे पाये जाते हैं। यद्यपि इनकी मिट्टी अधिक उपजाऊ नहीं होती परन्तु इनमें जड़ों का विकास खूब हो सकता है। इसलिए ये मैदान आलू के उत्पादन में विशेष प्रमुख होते हैं। इन मैदानों की मोटाई स्थान-स्थान पर अलग होती है और कहीं उनकी रचना में पत्थरों की अधिकता होती है तो कहीं बालू की।

(३) वायु द्वारा निक्षिप्त लोएस मैदान (Aeolian Loess Plains)---संसार के शुष्क प्रदेशों में वायु द्वारा निक्षेप इतने विस्तृत होते हैं कि विस्तृत मैदान बन जाते हैं। इन मैदानों को लोएस मैदान कहते हैं तथा इनका सबसे अच्छा उदाहरण उत्तरी पश्चिमी चीन में मिलता है। ये मैदान महीन मिट्टी के बने हैं जो रासायनिक रूप से बिल्कुल ठीक है। हवा इसी मिट्टी को शुष्क प्रदेशों से उड़ा कर लाई है। इस निक्षेप को काटने से लम्बाकार किनारे दिखलाई पड़ते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि इनकी रचना स्तम्भ के रूप में है। चूँकि इसमें जलत्वाव नहीं हुआ है लोएस मिट्टी बड़ी ही उपजाऊ है और स्टेपी प्रदेश में इसका निक्षेप सब से अधिक गहरा है। लोएस को सब से गहरी परतें उत्तरी पश्चिमी चीन, रूसी तुर्कीस्तान तथा मिसिसीपी नदी के किनारों पर पाई जाती हैं।

लोएस मैदानों में परतें या तहें नहीं होतीं और इनकी बनावट बड़ी ही प्रवेश्य होती है। इनमें लम्बाकार नलियाँ पाई जाती हैं जो कि पुरानी वनस्पति की अवशेष हैं।

इनके अलावा सहारा तथा आस्ट्रेलिया के बलुहे मैदान भी वायु द्वारा निक्षिप्त हैं। इनमें बालूका स्तूपों का क्रम पाया जाता है। यह बालू राशि नीचे बिछी चट्टानों के विखण्डन तथा उड़ाकर लाये हुए पदार्थों से बनी है। ये मैदान लहरदार हैं और इनमें एक दूसरे के समानान्तर टीले पाये जाते हैं। जहाँ कहीं पानी उपलब्ध है वहाँ ये बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

(४) झील मैदान (Lacustrine Plains)—झीलों की तली भर जाने से इन मैदानों का निर्माण होता है। महाद्वीपीय हिम-प्रवाह के क्षेत्रों और शुष्क प्रदेशों में ये मैदान खूब पाये जाते हैं। अमरीका की बड़ी झीलों के चारों ओर का मैदान इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। इस प्रकार के अन्य छोटे मैदान संयुक्त राष्ट्र

अमरीका, कनाडा तथा उत्तरी पश्चिमी यूरोप में बिखरे पाये जाते हैं। शुष्क प्रदेशों में नमकीन झीलें या प्लाया पाई जाती हैं परन्तु इनके सूखने पर नमकीन पपड़ी वाले क्षारमय क्षेत्र बन जाते हैं।

झील मैदानों की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इनकी सतह नवीन उत्क्षिप्त तटीय मैदान की तरह सपाट होती है। क्रमिक परतों में मिट्टी, बालू और तलछट बिछी रहती है। मिट्टी उपजाऊ है परन्तु जलप्रवाह अच्छा नहीं है। कुछ भाग जलपूर्ण होते हैं और बहुत से दलदली होते हैं। कहीं-कहीं पीट पाया जाता है। जहाँ कहीं पीट का निक्षेप अधिक है वहाँ सत्त्वियाँ उगाई जाती हैं। इन मैदानों के चारों ओर बालू-बजरी की श्रेणियाँ बनी रहती हैं जो पुरानी तट श्रेणियों, अवरोधक श्रेणियों तथा डेल्टा के अवशेष-साग्र हैं।

मनुष्य और मैदान—चूँकि मैदानों में खेती, यातायात और बस्ती बनाने की सुविधा रहती है, इनकी आबादी घनी होती है। परन्तु सभी मैदान घने बसे नहीं होते। संसार के उन मैदानों में जहाँ पर मानवी क्रिया-कलाप के दृष्टिकोण से या तो अत्यधिक नमी या गर्मी या सर्दी होती है विकास नहीं हो पाया है और वे बंजर पड़े हुए हैं। इस प्रकार के अविकसित मैदान अफ्रीका में सहारा तथा कांगों नदी के बेसिन, दक्षिणी अमरीका में अमेजन का प्रदेश तथा उत्तरी अमरीका और यूरेशिया में टुन्ड्रा प्रदेश हैं।

निम्न आक्षांशों के मैदानों में घनी आबादी नहीं पाई जाती क्योंकि वहाँ की जलवायु अस्वास्थ्यपूर्ण तथा मिट्टी अनुपजाऊ है। मध्य अक्षांशों में तर मैदानों की आबादी अपेक्षाकृत घनी है और जहाँ कहीं सिंचाई की सुविधा है वहाँ शुष्क मैदानों की जन-संख्या भी बढ़ गई है।

सामान्य रूप से सब प्रकार के मैदानों में निक्षिप्त मैदानों का महत्त्व सबसे अधिक है और उसमें भी मृत्तिकामय मैदानों का विशेष स्थान है। ये मृत्तिकामय मैदान जो नदी घाटियों में पाये जाते हैं सम्यता के केन्द्र रहे हैं और आज भी आर्थिक विकास वहाँ सबसे अधिक है। इनमें मनुष्य को निम्नलिखित सुविधायें प्राप्त होती हैं :

(१) समतल भूमि पर यातायात के साधनों का विकास हो सकता है। रेल-मार्ग, सड़कें और जलमार्ग बनाये जा सकते हैं।

(२) उपजाऊ मृदायम मिट्टी के कारण ये मैदान संसार के अन्नभंडार बन गये हैं। जहाँ कहीं वर्षा का जल पर्याप्त नहीं है वहाँ सस्ते मूल्य पर सिंचाई के साधन प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(३) जलवायु, उपजाऊ मिट्टी और गमनागमन की सुविधा के कारण, मैदानों में जनसंख्या का घनत्व बहुत अधिक है और सभी बड़े-२ नगर व व्यापार केन्द्र मैदानों में ही स्थित हैं।

अध्याय : : १५

भूपटल की शक्तियाँ

भूकम्प और ज्वालामुखी

भूपृष्ठ पर होने वाली कुछ आकस्मिक गतियाँ भूपटल के रूपों को एका-एक बदल देती हैं। इनमें ज्वालामुखी और भूकम्प मुख्य हैं।

भूकम्प पृथ्वी की वह हलचल है जिसके कारण पृथ्वी हिलने लगती है और जमीन आगे पीछे होने लगती है। भूपटल में यह कम्पन लहरों के रूप में होता है जो कि हलचल के केन्द्र से बाहर की ओर फैलती हैं। पहिले सोचा जाता था कि भूकम्प ज्वालामुखी विस्फोट से उत्पन्न होते हैं परन्तु अब यह सिद्धान्त बिल्कुल भी माननीय नहीं है : अब तो यह प्रमाणित हो चुका है कि भूपटल पर मोड़ पड़ने, दरार फटने या भूमि के खसकने के कारण ही भूकम्प उत्पन्न होते हैं। पर्वतीय प्रदेशों में भूमि के खसकाव तथा हिम शिलाओं के सरकने से भी साधारण कम्पन उत्पन्न हो जाता है। कभी २ चूने के पत्थर से बने प्रदेशों में भूगर्भवर्ती गुफाओं के टूटने से भी भूकम्प उत्पन्न हो जाते हैं। ज्वालामुखी प्रदेशों में भीषण विस्फोटों से भी भूपटल पर कम्पन उत्पन्न हो जाता है।

मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि भूकम्प निम्नलिखित दो प्रकार की शक्तियों से उत्पन्न होते हैं।

(१) भूगर्भवर्ती हलचल—जैसे तनाव द्वारा दरार फटना, चट्टानों का टूटना, पृथ्वी की परतों का ऊपर उठना या नीचे घंसना, घरेरे पड़ना या भीतर की भाप का बाहर निकलने के लिए मार्ग ढूंढ़ना।

(२) ज्वालामुखी विस्फोट जिसके अन्तर्गत पृथ्वी के भीतर की पिघली हुई चट्टान राशि का बाहर निकलना भी शामिल है। परन्तु आजकल भूकम्प की उत्पत्ति के विषय में सबसे माननीय सिद्धान्त लोच के कारण दुबारा चलने का सिद्धान्त (Elastic Rebound Theory) है। साधारणतः किसी स्थान पर शिलाखण्डों के निक्षेप के कारण, पृथ्वी के धरातल की समस्थिति या समतुलन बिगड़ जाता है। जब कभी भी ऊपर के आवरण का भार अधिक हो जाता है और यदि नीचे की चट्टानें कमजोर हुईं तो वे टूट जाती हैं। ऊपर के आवरण के भार तथा दबाव के कारण ये टूटी हुई चट्टानें नीचे की ओर दब जाती हैं। लोचदार होने के कारण नीचे की तरफ की दबाई गई चट्टानें दुबारा ऊपर आने का प्रयत्न करती हैं और अपनी मूल स्थिति में आना चाहती हैं। भूपृष्ठ के नीचे यह हलचल कम्पन या भूकम्प उत्पन्न कर देती है। इस सिद्धान्त का प्रमाण यह है कि भूकम्प आने से थोड़ी देर पहिले पृथ्वी के नीचे से गड़गड़ाहट की आवाज सुनाई देती है। इस प्रकार की हलचल भूपटल से ५० मील

से लेकर ५०० मील की गहराई तक होती है।

भूकम्प लहरें—पृथ्वी के अन्दर जिस स्थान विशेष से भूकम्प की हलचल शुरू होती है उसे भूकम्प उत्पत्ति स्थान (Seismic Focus) कहते हैं। और इसी केन्द्र से लहरें प्रसारित होती हैं जो भूपटल की चट्टानों को हिला डालती हैं। इस केन्द्र से ठीक ऊपर धरातल पर के बिन्दु को भूकम्प केन्द्र (Epicentre) कहते हैं। यह बिन्दु धरातल पर कम्पन लहरों का केन्द्र होता है और यहाँ पर भूकम्प लहरें सबसे अधिक बेगशील होती हैं।

केन्द्र से उत्पन्न लहरें सभी दिशाओं में प्रसारित होती हैं और इनका प्रसार समकेन्द्रीय वृत्तों के रूपों में होता है। इनकी प्रसार रीति एवं गति के अनुसार इन्हें तीन प्रकार का कहा जा सकता है—

(१) समानान्तर अथवा लम्बी लहरें जिन्हें 'धक्के की लहरें' भी कहते हैं, प्रसार की दिशा में ही चट्टान कणों में कम्पन उत्पन्न कर देती है। ये लहरें पृथ्वी के अन्दर से होकर आगे बढ़ती हैं परन्तु जिस माध्यम से होकर ये गुजरती हैं यदि उसका घनत्व अधिक है तो तदनुसार इनकी गति भी तेज हो जाती है। भूगर्भ के केन्द्रीय पिण्ड में से होकर ये ५ से ६ मील प्रति सैकण्ड की दर से गुजरती हैं।

(२) आड़ी निरखी लहरें भी पृथ्वी के भीतर ही चलती हैं और इसके आर-पार होकर गुजरती हैं। परन्तु लम्बी लहरों की अपेक्षा इनकी गति धीमी होती है। ये लहरें तरल पदार्थों में से होकर नहीं गुजर पातीं। इनके द्वारा उत्पन्न कम्पन की दिशा इनके आगे बढ़ने के मार्ग पर लम्बरूप होती है। इसीलिए इन्हें 'कम्पन लहरें' कहते हैं और ये लम्बी लहरों के साथ समकोण बनाती हुई आगे बढ़ती हैं।

(३) धरातलीय लहरें वे हैं जो पृथ्वी के धरातल पर चलती हैं और पृथ्वी का पूरा चक्कर करने के बाद भूकम्प के स्थान पर पहुँचती हैं। चूँकि प्रथम दो प्रकार की लहरों की अपेक्षा धरातलीय लहरों को अधिक लम्बा मार्ग तै करना पड़ता है, ये लहरें सबसे आखीर में पहुँचती हैं और इनका प्रभाव अधिक गहराई तक नहीं पहुँचता। परन्तु ये लहरें सबसे भयानक होती हैं और इनके द्वारा विशेष हानि होती है।

भूकम्प केन्द्र के समीप वाले प्रदेश या स्थान पर ये लहरें एक के बाद दूसरी इतनी जल्दी पहुँचती हैं कि इनको पहिचानना मुश्किल होता है। परन्तु भूकम्प केन्द्र से दूर जाने पर तीनों लहरों का अनुभव तीन विभिन्न कम्पनों द्वारा होता है। सबसे आखिरी कम्पन धरातलीय लहरों द्वारा होता है और प्रथम दो प्रकार की लहरों से उत्पन्न कम्पन तथा धरातलीय लहरों द्वारा उत्पन्न कम्पन के बीच समयान्तर के आधार पर उत्पत्ति-केन्द्र से स्थान-विशेष की दूरी का पता लगाया जा सकता है।

भूकम्प का अध्ययन अथवा भूकम्प-विज्ञान—भूकम्प लहरों की तीव्रता तथा भूकम्प के स्थान को कम्प-लेखक-यन्त्र (Seismograph) द्वारा नापते हैं। इस यंत्र में एक लंगर लगा होता है जिसके सिरे पर एक कलम लगी रहती है। इस कलम का सिरा या बिन्दु एक बेलन पर लिपटे एक कागज से छूता रहता है। जब भूकम्प आता है तो टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ अंकित हो जाती हैं और इनमें लहरों की तीव्रता तथा उत्पत्ति स्थान से दूरी का भास हो सकता है। किस दिशा में भूकम्प हुआ है इसका पता लगाने

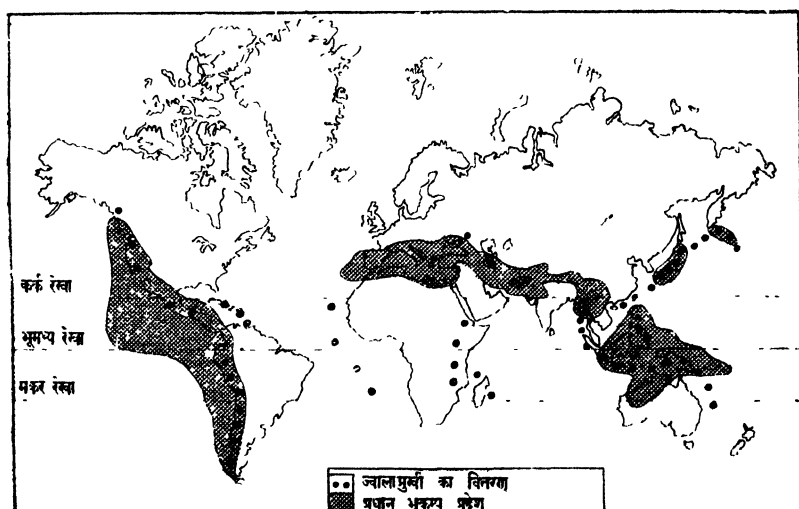
के लिए विभिन्न दिशाओं में कई कम्प-लेखक-यन्त्र रखे जाते हैं। उनसे प्राप्त आंकड़ों की तुलना करके, भूकम्प की असली दिशा मालूम कर ली जाती है।

इन आंकड़ों के आधार पर भूकम्प प्रदेशों को विश्व मानचित्र पर कई प्रकार की सीधी रेखाओं द्वारा चित्रित किया जाता है। जिन स्थानों पर एक ही समय पर भूकम्प आता है उन्हें मिलाने वाली रेखाओं को समकम्प रेखाएँ (Homoseismal Lines) कहते हैं। जिन स्थानों पर भूकम्प द्वारा समान हानि हुई है, उन्हें मिलाने वाली रेखाओं को सम-कम्पन बिनाश रेखा (Isoscismal Lines) कहते हैं। इन रेखाओं के आधार पर भूकम्प तीव्रता के प्रदेशों का पता लगाया जा सकता है और प्रायः देखा जाता है कि भूकम्प वहीं आते हैं जहाँ स्तर भ्रंश या दरारे अधिक हैं। इस प्रकार के प्रदेशों को मिलाने वाली रेखाओं को भूकम्प भ्रंश क्षेत्र रेखाएँ (Seismotectonic Lines) कहते हैं।

भूकम्प पेटियाँ—प्रायः यह देखा जाता है कि मोड़दार पर्वतों के क्षेत्र में और समुद्रतटों के समीप बड़े भीषण भूकम्प आते हैं। प्रधान भ्रंश रेखा दो पेटियों में फैली हुई है—

(१) प्रशान्त महासागरीय पेटि जो प्रशान्त महासागर के चारों ओर एकवृत्त की परिधि की भाँति फैली हुई है। दक्षिणी अमेरिका के दक्षिणी सिरे से शुरू होकर यह पेटि एण्डीज तथा राकी पर्वत-माला से होती हुई अलास्का तक जाती है। अलास्का से यह पूर्वी साइबेरिया में चली जाती और कमज्छट्का प्रायद्वीप, जापान द्वीपसमूह, फिलीपाइन तथा न्यूगिनी और न्यूजीलैण्ड के प्रदेश इस पेटि के अन्तर्गत आते हैं। इस पेटि का अन्त अन्टार्कटिक में पहुँच कर हो जाता है। भूकम्प की यह पेटि ज्वालामुखी विस्फोट क्षेत्र के साथ-साथ ही फैली हुई है।

(२) मध्य-ग्रान्धमहासागरीय-भूमध्य सागरीय पेटि—विषुवत रेखा के समा-



चित्र ६४—भूकम्प और ज्वालामुखी का वितरण

नान्तर फेली हुई है और इसके अन्तर्गत आन्ध्रमहासागर की मध्य श्रेणी के द्वीप तथा महासागरीय गर्त शामिल हैं। इस पेटी में दक्षिणी यूरोप के आल्पस, भारत के हिमालय, बर्मा के पहाड़ तथा पूर्वी द्वीपसमूह और इण्डोनेशिया के नवीन मोड़दार पर्वत शामिल हैं और यह पेटी उन्हीं के समानान्तर जाती है।

भूकम्प द्वारा उत्पन्न परिवर्तन—यद्यपि भूकम्प द्वारा स्थलरूपों के आकार अथवा विन्यास में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो पाता, फिर भी इनके द्वारा बड़ी भयानक परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है और इनके प्रभाव का ज्ञान इनके द्वारा की गई हानि से हो सकता है। भूकम्प प्रधानतः विध्वंसकारी होते हैं और यदि कम्पन या भूचाल समुद्र के नीचे उत्पन्न हुआ है तो इनके द्वारा जनधन की विशेष हानि होती है। उस दशा में समुद्र में बड़ी-बड़ी लहरे उठने लगती हैं और तट से टकराने पर बड़ा नुकसान करती हैं। इसके विपरीत जब भूकम्प के साथ-साथ ज्वालामुखी विस्फोट भी होते हैं तो उनके द्वारा न तो विशेष हानि ही होती है और न वे इतने भयानक ही होते हैं। दूसरे, भूकम्प केन्द्र के समीप सबसे अधिक हानि कदापि नहीं होती क्योंकि उस बिन्दु पर केवल ऊपर नीचे उठने की ही हलचल होती है। सबसे अधिक हानि उस बिन्दु पर या वहाँ होती है जहाँ भूकम्प लहरे तिरछी होकर पहुँचती हैं और इधर से उधर हलचल उत्पन्न कर देती हैं। परन्तु ऐसा बिन्दु भूकम्प उत्पत्ति स्थान से बहुत दूर पर स्थित नहीं होना चाहिये।

मोटे तौर पर भूकम्प का प्रभाव निम्नलिखित प्रकार से समझा जा सकता है -

(१) भूपटल का फेलाव (२) भूपटल का भिचाव (३) जल-प्रवाह की उलट-पुलट तथा (४) शंकु रचना।

भूपटल के फेलाव से दरारें तथा फटन बन जाते हैं। भूकम्प द्वारा उत्पन्न तनाव के कारण भूपटल किसी दरार तल पर इधर-उधर खिसक जाता है। पहिले दरारे तथा फटन बन जाते हैं और तब भूपटल इस प्रकार खिसक जाता है कि एक तरफ का हिस्सा ऊँचा उठ जाता है और दूसरी ओर का भूभाग नीचे को धंस जाता है या अंश स्तर पर भूभाग इधर-उधर खिसक जाता है। यह खसकाव या तो समानान्तर होता है अथवा लम्बरूप। कभी २ भूपटल का खसकाव दिखलाई नहीं पड़ता क्योंकि वह भूमि आवरण के नीचे गहराई में दब जाता है। कभी २ नीचे दबी दरार पर एक टीला सा बन जाता है।

भूपटल का भिचाव, फेलाव की अपेक्षा अधिक होता है। इसके कारण रेल की लाइनें दुहरी हो जाती हैं, मुड़ जाती हैं या भिच जाती हैं। नदी के पुल टूट कर गिर जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अंश स्तर के दोनों किनारे करीब आ गये हैं।

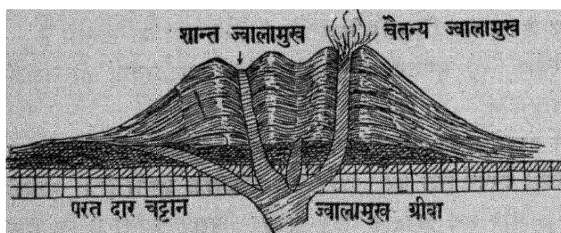
जलाशयों की तलहटी पर भी भूपटल का फेलाव तथा भिचाव होता है। ऐसा होने पर जलप्रवाह प्रणाली उलट-पुलट जाती है। यदि कुछ स्थानों पर झील तथा बलबल सूख जाते हैं तो अन्य स्थानों पर पानी के झरने फूट निकलते हैं। इस प्रकार पानी निकलने से बहुधा बाढ़ आ जाती है और एक अस्थायी झील सी बन जाती है। शुष्क स्थल पर बस्नियाँ जल-निमग्न हो जाती हैं।

भूकम्प के समय, जल के फुआरों के मुँह पर अक्सर बालू मिट्टी इकट्ठा हो

जाती है। धीरे-धीरे ये निक्षेप ऊँचे उठने लगते हैं और फलस्वरूप शंकु रूप टीले बन जाते हैं। इनको पंक ज्वालामुखी कहते हैं और यद्यपि फव्वारों से जल निकलना बग्व भी हो जाता है तब भी ये टीले खड़े ही रहते हैं।

ज्वालामुखी, भूकम्प की तरह, वे आकस्मिक विस्फोट हैं जो धुआँ, धूल तथा लावा बाहर फेंकते हैं। इन विस्फोटों को देख कर मानव-मस्तिष्क ताज्जुब करने लगता है। पहिले लोग इनको देवता समझकर पूजा करते थे। ज्वालामुखी को अग्नि पर्वत कहते थे। परन्तु ज्वालामुखी कोई पर्वत नहीं है यद्यपि यह पर्वतों जैसा लगता है। वास्तव में यह भूगर्भ में निहित लावा या पिघली हुई चट्टानों की राशि तथा धरातल के बीच सम्बन्धकारी साधन है। यह वह चिमनी अथवा नाली है जिसमें से होकर लावा, चट्टान के टुकड़े तथा गर्म गैसों भूगर्भ से धरातल पर फेंक दी जाती हैं।

ज्वालामुखी के मुख को ज्वालामुख (Crater) कहते हैं और यह कटोरे के समान दिखाई पड़ता है। भूगर्भ से धरातल तक चट्टानी पदार्थों को लाने वाली कुप्पी का सबसे ऊपरी सिरा ज्वालामुख कहलाता है। यदि कोई इसमें झाँक कर देखे तो कुछ दूरी पर पिघली हुई चट्टान दिखलाई पड़ती है। चूँकि यह लाल रंग का होता है और इसमें से धुआँ निकलता रहता है, बहुत से लोग ज्वालामुखी को जलता हुआ अथवा धुआँ वाला पर्वत कहते हैं। परन्तु यह बात बिल्कुल ही गलत है।



चित्र ६५—ज्वालामुखी का खंड चित्र

इसका पर्वत जैसा आकार केवल इसलिए होता है कि ज्वालामुख से बाहर फेंकी हुई सामग्री बराबर इकट्ठा होती रहती है और कालान्तर में पर्वत का रूप धारण कर लेती है।

ज्वालामुखी से बाहर निकलने वाले पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं—तरल, ठोस और गैसमय। तरल पदार्थ सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है और उसे लावा कहते हैं। यह पिघली हुई चट्टान होती है और इसमें खनिज मिले रहते हैं। सिलिका की कम या ज्यादा मात्रा के अनुसार लावा दो प्रकार का होता है—(१) अधिक सिलिका युक्त अम्ल लावा और (२) कम सिलिका युक्त पैठिक लावा। अम्ल लावा पीले रंग का होता है और इसका भार हल्का होता है। यह अपेक्षाकृत उच्च तापक्रम पर पिघलता है। यह गाढ़ा होता है और धीरे-धीरे बहता है। इसके विपरीत पैठिक लावा भारी होता है और इसका रंग गहरा होता है। इसे पिघलाने के लिए अपेक्षाकृत कम तापक्रम की आवश्यकता होती है। पतला तथा अधिक तरल होने के कारण यह अधिक तेजी से बहता है। भूमि से निकलते समय लावा में गैस भी रहती है परन्तु धरातल पर पहुँचने पर यह ठंडा होकर जमने लगता है। ठंडा होने के बाद पैठिक लावा शीशे की तरह परतों में जमता है परन्तु अम्ल लावा जमने पर ऊबड़-खाबड़ हो जाता है। ठोस अम्ल लावा की सतह सूखी और रस्सी की तरह हो जाती है क्योंकि बाहर निक-

लती हुई गैसें इसे कहीं ऊँचा उठा देती हैं और कहीं दबा देती हैं। इसके विपरीत पेंडिक लावा में कम गैसें मिली रहती हैं और यह ज्वालामुख से धीरे-धीरे निकलता है। धरातल पर धीरे से निकल कर यह इधर-उधर फैल जाता है। परन्तु अम्ल लावा चिपचिपा होता है और इसमें गैसें अधिक होती हैं। इसलिए यह भयानक विस्फोट के साथ निकलता है। ज्वालामुख में लावा के जम जाने से डाट-सी लग जाती है और थोड़ी-थोड़ी देर के बाद भीषण विस्फोट होते हैं। जब भी विस्फोट होता है धूल और राख बाहर निकल पड़ती है।

धूल के कण तथा राख के टुकड़े वे ठोस वस्तुएं हैं जो ज्वालामुखी द्वारा बाहर फेंकी जाती हैं। ज्वालामुखी से निकले बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों को ज्वालामुखी धूल कहते हैं। इसका रंग स्लंटी होता है और ये टुकड़े बहुत ही हल्के होते हैं। लावा के छोटे-छोटे टुकड़े जो ज्वालामुखी के किनारों पर निकल कर गिरते हैं उन्हें लैपली (Lapalli) या Scoriae या प्यूमिस पत्थर (Pumice Stones) कहते हैं। यह टुकड़े अंगुली के जोड़ों के बराबर होते हैं और इनका आकार नुकीला होता है। इनसे छोटे टुकड़ों को ज्वालामुखी राख कहते हैं। इसका आकार मटर के बराबर होता है। जब ठोस नुकीले टुकड़े अंगुली के जोड़ से बड़े होते हैं तो उन्हें ब्रेसिया (Breccia) कहते हैं और बन्दूक की गोली की भाँति गिरते हैं। कभी-कभी ज्वालामुखी से निकला लावा ऊपर हवा में जाकर गोल पिण्ड में ठोस पड़ जाता है और तब पृथ्वी पर गिरता है। इसे ज्वालामुखी बम कहते हैं। ये ठोस पदार्थ ज्वालामुखी के भीषण तथा विस्फोटक उद्गार के समय ही निकलते हैं। ये ठोस टुकड़े निम्नलिखित तीन प्रकार से बनते हैं—

(१) लावा के टुकड़ों के ऊपर हवा में ठंडे पड़ जाने से

(२) ज्वालामुख में लावा की डाट के विध्वंस हो जाने से और

(३) ज्वालामुख के किनारों के टूट कर हवा में उड़ जाने से। इन ठोस पदार्थों के और विशेषकर ज्वालामुखी बमों का आकार तथा विस्तार विभिन्न होता है। कुछ गोल होते हैं तो कुछ अण्डाकार; कुछ लम्बे होते हैं तो कुछ बेलनाकार। कभी तो ये टुकड़े खोखले होते हैं और इनमें बहुत से छेद बने होते हैं और कभी ये ठोस तथा पिण्ड रूप होते हैं।

इन तरल और ठोस पदार्थों के साथ बहुत सी गैसें भी निकलती हैं। उद्गार के होते ही ज्वालामुख के ऊपर धुएँ का एक बादल उठने लगता है। इस बादल का आकार गोभी के फूल की तरह होता है। इस मेघ में अनेक प्रकार की गैसें मिली रहती हैं जिनमें भाप सर्वप्रधान होती है। यह भाप घनीभूत होती रहती है और इस का प्रमाण यह है कि प्रायः ज्वालामुखी विस्फोट के बाद मूसलाधार वर्षा होती है। इसके बाद हाइड्रोजन, कार्बन डाइआक्साइड तथा गन्धक आक्साइड जैसी शीघ्र जल उठने वाली गैसों का स्थान आता है। इन गैसों के कारण वास्तविक लपटें उठने लगती हैं। अमोनियम क्लोराइड गैस भी पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। ये गैसें ज्वालामुखी पर तो कोई असर नहीं डालतीं परन्तु ये वायुमण्डल में मिल जाती हैं और समीर में पाई जाने वाली चट्टानों पर प्रभाव डालती हैं।

पृथ्वी के आन्तरिक भाग में तो ये गैसें लावा में मिली रहती हैं परन्तु जैसे-

जैसे गर्मी और भार कम होता जाता है, ये गैसें लावा से अलग होने लगती हैं और इन्हीं के कारण ठोस कण बन जाते हैं।

ज्वालामुखी के प्रकार—पृथ्वी के ज्वालामुखी पर्वतों का आकार व विस्तार विभिन्न होता है। इनका आकार-विस्तार ज्वालामुख से फेंके हुए पदार्थों के स्वभाव पर निर्भर रहता है। प्रायः सभी ज्वालामुखी का आकार शंकु के समान होता है और ज्वालामुख इस प्रकार स्थित होता है जैसे कि शंकु की चोटी पर कोई प्याला रखा हो। निर्माणकारी पदार्थों के स्वभाव के अनुसार ज्वालामुखी निम्नलिखित तीन प्रकार के होते हैं—

(१) लावा का गुम्बद (Lava Dome)—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इसका आकार गुम्बद जैसा होता है और इसके ढाल तीव्र होते हैं। शान्त उद्गार के समय इनका निर्माण होता है परन्तु गुम्बद का आकार लावा के स्वभाव के अनुरूप ही होता है। यदि अम्ल लावा है तो गुम्बद अधिक ऊँचा होगा परन्तु इसका विस्तार कम होगा और इसके ढाल तीव्र होंगे। इसके विपरीत यदि (पैठिक) लावा है तो गुम्बद अधिक विस्तार में फैला हुआ, आकार में चिपटा होगा तथा इसकी ऊँचाई भी अधिक नहीं होगी। इस दूसरे प्रकार के लावा गुम्बद को हवाई तुल्य कहते हैं।



चित्र ६६ —हवाई तुल्य ज्वालामुखी

अम्ल लावा से बने लावा गुम्बद दो प्रकार के होते हैं—स्ट्रोमबोली तुल्य और वल्कनो तुल्य। इन दोनों के ज्वालामुखों का आकार तथा विस्तार भिन्न होता है। स्ट्रोमबोली तुल्य ज्वालामुखी का मुख पाईप की तरह संकरा होता है। इसके विपरीत वल्कनो तुल्य ज्वालामुखी का मुख बहुत बड़ा होता है और इसका आकार कुप्पी की तरह होता है। चूंकि वल्कनो ज्वालामुखी का लावा स्ट्रोमबोली की अपेक्षा अधिक चिपचिया तथा कम तरल होता है। इसलिए वल्कनो तुल्य ज्वालामुखी कम फैला हुआ, अधिक ऊँचा तथा अधिक तीव्र ढाल वाला होता है। इस प्रकार के शंकु में यदि



STROMBOLIAN TYPE



VULCANIAN TYPE

चित्र—६७

उद्गार विस्फोटक तथा भीषण हुए तो शंकु का अधिक भाग नष्ट हो जाता है और कुप्पी-

नुमा ज्वालामुख के स्थान पर उथले कटोरे जैसी आकृति बन जाती है। इस विशाल छिद्र की तली सपाट होती है और इसे कैल्डरा (Caldera) कहते हैं।

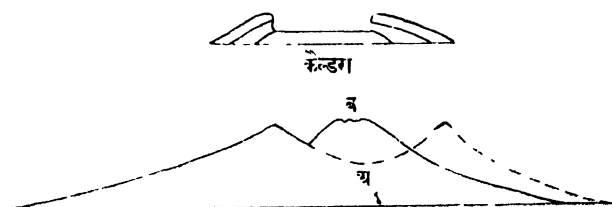
इस प्रकार के लावा गुम्बद जर्मनी, मध्य फ्रांस और प्रशान्त महासागर प्रदेश में अधिक पाये जाते हैं।

(२) ज्वालामुखी राख शंकु (Cinder Cone)—जब विस्फोटक उद्गार होता है तो ज्वालामुखी से लावा की अपेक्षा राख, धूल तथा अन्य ठोस पदार्थ अधिक निकलते हैं। अतः इस प्रकार के निक्षेप से बने शंकु को ज्वालामुखी राख शंकु कहते

हैं। विस्फोटों की भीषणता तथा अवधि के अनुसार ही ज्वालामुखी का विस्तार छोटा बड़ा होता है। यदि विस्फोटक उद्गार कम देर तक होते हैं तो राख शंकु नीचे पर, चौड़े होंगे। इसके विपरीत यदि कम अथवा सामान्यतः भीषण उद्गार बहुत देर तक आते रहते हैं तो ऊँचा परन्तु संकीर्ण राख शंकु बन जाता है। प्रथम दशा में ज्वालामुख बड़ा होता है, परन्तु दूसरी दशा में ज्वालामुख छोटा होता है। राख शंकु के निर्माण में हवाओं का भी बड़ा महत्वपूर्ण भाग होता है। यदि उद्गार के समय तेज हवा चलती हुई तो वायुविमुख ढाल पर अधिक निक्षेप होगा। इसके विपरीत यदि वायुमण्डल शान्त रहा तो दोनों ओर के ढालों पर समान निक्षेप होगा। इस प्रकार प्रथम प्रकार का शंकु विषम होगा तथा दूसरे प्रकार का शंकु पूर्णतया सम होगा। एक तीसरे प्रकार का राख शंकु वह है जिसमें लावा के निकलने से शंकु टूट जाता है। इस प्रकार के शंकु में लावा प्रवाह की कुप्पी या नली की दीवारें बहुत कमजोर होती हैं। जब कभी लावा चिमनी में शांतिपूर्वक उठता है, शंकु टूट जाता है, विशेषकर आधार के पास एक ओर को। इस प्रकार के शंकु को टूटा हुआ शंकु अथवा धनुषाकार शंकु (Conc of Horse Shoe type) कहते हैं।

(३) मिश्रित शंकु (Composite Cones)—उन ज्वालामुखी पर्वतों में जहाँ लावा के शांत उद्गार और राख तथा भूल के विस्फोटक उद्गार बारी २ से होते हैं, जो शंकु बनता है वह इन दोनों पदार्थों का मिश्रित रूप ही होता है। यदि इस प्रकार के मिश्रित शंकु का एक खण्ड बनाया जाये तो चट्टान के ऊपर लावा तथा राख की परतें बारी २ से बिछी मिलेंगी। अधिकतर मिश्रित शंकुओं के चारों ओर एक कॅल्डरा (Caldera) या निमग्न ज्वालामुख होता है। यह कॅल्डरा पुराने ज्वालामुख का अवशेष मात्र

होता है। इसके बीच में नवीन ज्वालामुख स्थित होता है जोकि मध्यम तीव्रता के उद्गारों के फल-



स्वरूप बना है। चित्र ६८—(अ) उद्गार के पूर्व सोमा (ब) उद्गार के बाद सोमा सोमा (Somnia) इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है। पुराना विस्फोटक ज्वालामुख अथवा कॅल्डरा (Caldera) कालर की तरह प्रतीत होता है। यह पूर्णतया अथवा अंश रूप विध्वंस हो सकता है। इस प्रकार के शंकु को Adventive Cone कहते हैं।

मिश्रित शंकु की दीवारें बहुधा विस्फोटक उद्गार के कारण टूट जाती हैं और इसके पार्श्वों पर दरारें बन जाती हैं। इन दरारों के चारों ओर छोटे राखशंकु बन जाते हैं जिन्हें आश्रित शंकु (Parasitic Cones) कहते हैं। इनसे लावा की संकरी धारायें बहती रहती हैं। यदि उद्गार अधिक भीषण नहीं हैं और निकला हुआ लावा पेंठिक है तो लावा थोड़ी ऊँचाई तक उठकर तब धरातल पर गिरता है। इसके फलस्वरूप तीव्र ढाल वाला शृङ्ख सा बन जाता है। इसे Spatter अथवा Dribbler

शंकु कहते हैं ।

शंकु रचना के सिद्धान्त—यद्यपि ज्वालामुखी रचना के विषय में अनेकों मत एवं सिद्धान्त हैं परन्तु दो सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—(१) निक्षेप ज्वालामुख सिद्धांत (Crater of Ejection Theory) और (२) उत्क्षेप ज्वालामुख सिद्धान्त (Crater of Elevation Theory) । प्रथम सिद्धान्त के अनुसार ज्वालामुखी उद्गार का प्रारम्भ किसी दरार अथवा ज्वालामुख छिद्र से हुआ था । इस प्रकार के छिद्र के चारों ओर बाहर निकले हुए पदार्थ इकट्ठा होते गये और प्रत्येक उद्गार के बाद निक्षेप बढ़ता ही गया यहाँ तक कि कालान्तर में शंकु रूप बन गया । दूसरे सिद्धांत के मुख्य प्रवर्तक दो जर्मन भूगर्भवेत्ता थे, जिनके नाम थे—वानबुश (Von Buch) और वान हमबोल्ट (Von Humboldt) । उनके अनुसार ज्वालामुखी उसी प्रकार बनता है जैसे शरीर पर कोई फोड़ा । जैसे फोड़े में पहले बदन सूज जाता है और तब मवाद बहना शुरू होता है, उसी प्रकार पहिले पृथ्वी की पपड़ी शंकुरूप में फूल गई और तब तरल पदार्थ के उद्गार शुरू हुए । परन्तु ज्वालामुखी शंकु को काट कर देखने के बाद यह सिद्धांत गलत प्रमाणित हो गया है । ज्वालामुखी की रचना में प्रथम स्थिति तो पृथ्वी पर छेद का बनना है, जिसमें से होकर पिघली हुई चट्टान बहती है और बार २ निक्षेप होते रहने से शंकु बनने व बढ़ने लगता है ।

ज्वालामुखी उद्गार के विषय में निश्चित ज्ञान का अभाव है । पहिले ऐसा विश्वास था कि ऊपरी ठोस पतली पपड़ी के नीचे पृथ्वी का आन्तरिक भाग तरल है । परन्तु भूकम्प लहरों के द्वारा प्रस्तुत प्रमाण से यह सिद्धान्त गलत साबित हो गया है । पृथ्वी का आन्तरिक भाग ठोस चट्टानों का बना हुआ है । इस प्रकार ज्वालामुखी उद्गार यह सिद्ध करते हैं कि पृथ्वी के धरातल के नीचे पिघली हुई चट्टानों के विस्तृत भंडार हैं जिनसे ज्वालामुखी का सीधा सम्बन्ध है ।

पिघली हुई चट्टानों की यह राशि या मैग्मा बाहर आने का प्रयत्न करता है और किसी भी कमजोर स्थल को फोड़ कर बाहर आ जाता है । मैग्मा में मिली गैसों तथा भाप के कारण उसमें एक विस्फोटक शक्ति आ जाती है । वास्तव में भूगर्भ की गर्मियों के कारण वर्षा का जल जो अन्दर प्रवेश कर जाता है, भाप में बदल जाता है और फलस्वरूप फँलने के लिये जोर मारता है । जैसे ही यह भाप फँलती है, इसके कारण मैग्मा विस्फोटक उद्गार के साथ बाहर निकल पड़ता है ।

परन्तु उद्गार केवल उन्हीं स्थानों से हो सकते हैं, जो मोड़ पड़ने, दरार फटने, आवरणक्षय अथवा फँलाव-संकुचन क्रिया द्वारा कमजोर पड़ गये हैं । इन कमजोर स्थलों से उद्गार होते हैं और पिघली हुई चट्टानें ऊपर को धकेल दी जाती हैं । पिघली हुई चट्टान राशि को ऊपर धकेलने की शक्ति के आधार पर उद्गार तीन प्रकार के होते हैं—

(१) संघ उद्गार (Fissure Eruptions) में लावा धीरे-धीरे संकड़ों दरारों से उबल-उबल कर निकलता रहता है और पृथ्वी के बहुत बड़े भूभाग में फँल जाता है । इसमें तीव्रता या भीषणता लेशमात्र की भी नहीं होती । लावा प्रवाह

आकर भूमि को ढक लेता है और कालान्तर में लावा की कई सौ मोटी तहें जप जाती हैं। भारत का दक्षिणी प्रदेश तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका का स्नेक नदी प्रदेश इसके विशिष्ट उदाहरण हैं जहाँ इस प्रकार के उद्गार हुए हैं। इस प्रकार के उद्गार उस आदिकाल में हुए जब पृथ्वी ठंडी हो रही थी। उस समय पृथ्वी की पपड़ी पतली थी। इसलिए पिघली हुई चट्टानों का मैग्मा समानान्तर दरारों में से होकर भूपटल को पिघला देता था और बाहर बहने लगता था। इस लावा प्रवाह से बड़ी-बड़ी घाटियाँ व पर्वत तक दब जाते थे।

(२) शान्त उद्गार (Effusive Eruptions) वे हैं जो पृथ्वी के ठंडे होने की द्वितीय स्थिति से सम्बन्ध रखते हैं। भूपृष्ठ ठंडा हो चुका था और ऊपरी पपड़ी इतनी मोटी पड़ चुकी थी कि अब मैग्मा के लिए किसी भी स्थान से फोड़ निकलना सम्भव न था। अतः उद्गार चुने-चुने दरार स्थलों पर होते थे और ज्वालामुखी छिद्र के चारों ओर लावा का गुम्बद बन गया। इन उद्गारों में कोई भीषणता नहीं थी। ज्वालामुखी की नली में मैग्मा उबलता रहता है और ज्ञाग या फेन की तरह ऊपर उठ जाता है। हवाई, समोआ और आइसलैंड के ज्वालामुखी इसी प्रकार के हैं।

इस प्रकार का शान्त क्रिया कलाप स्ट्रामबोली में भी पाया जाता है। लावा उबल-उबल कर गुम्बद की दोनों शाखाओं पर फैलता रहता है। साथ-साथ धुंआ भी निकलता रहता है। इसी आधार पर इस प्रकार के उद्गार को स्ट्रामबोली तुल्य उद्गार भी कहते हैं।

(३) विस्फोटक अथवा केन्द्रीय उद्गार (Explosive or Central Eruption) में विशेष ध्वनि तथा कम्पन होता है। चारों ओर गड़गड़ाहट की ध्वनि सुनाई पड़ती है और तत्पश्चात् आकाश में भयानक बादल छा जाते हैं। इस के फौरन बाद ही तुकोले टुकड़ों की बौछार के साथ-साथ लावा प्रवाह होना शुरू हो जाता है। इस प्रकार के उद्गारों से भूकम्प आ जाते हैं और चारों तरफ भयावह वातावरण उपस्थित हो जाता है। परन्तु इनके द्वारा भूरचना में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं होता। इनका प्रभाव महत्वपूर्ण नहीं होता। इस प्रकार के विस्फोटक उद्गार माउन्ट बल्कनो में बहुत आते हैं। इसी लिए इन्हें बल्कनो तुल्य उद्गार भी कहते हैं।

पृथ्वी के ठंड होने में तीसरी स्थिति का भास इनके द्वारा ही होता है। जब भूपृष्ठ काफी मोटा पड़ गया तो कमजोर स्थलों से फूट निकलना भी सम्भव न रहा। अतएव मैग्मा और गैसें इकट्ठी होती रहती हैं यहाँ तक कि उनकी शक्ति इतनी अधिक होती है कि वे ज्वालामुखी की डाट को तोड़ कर भीषणता के साथ बाहर निकल पड़ती हैं। सिसली के माउन्ट रटना, इटली का माउन्ट विसुवियस तथा जापान का फ्यूजीयामा विशिष्ट उदाहरण हैं।

आगे चल कर केन्द्रीय उद्गार इतना भीषण हो जाता है कि आसपास के प्रदेश तहस-नहस होकर उड़ जाते हैं। यह उस समय होना है जब पृथ्वी के भीतर चट्टानों के ठोस पड़ने से पिघली हुई चट्टानों की राशि में लावा का अंश कम हो जाता है और उनके स्थान पर गैसें इकट्ठी होती रहती हैं जो धड़के के साथ बाहर आ जाती हैं। इस दशा में लावा नहीं निकलता। बल्कि गैसें राख और ठोस टुकड़े

इस घड़ाके के साथ विस्फोट होते हैं कि शंकु का कुछ भाग तरु हवा में उड़ जाता है । सन् १८६३ में इसी प्रकार के उद्गार के कारण क्राकाटोआ का सम्पूर्ण द्वीप नष्ट हो गया और विशाल समुद्री लहरों ने समीपवर्ती सुमात्रा और जावा के कुछ तटीय गावों को भी विध्वंस कर दिया ।

अलास्का का काटामाई, कैलीफोर्निया का लेंसनपेक तथा जापान का बदाईसान अभी भी इसी दशा में हैं ।

ज्वालामुखी की अन्तिम दशा में न तो भीषणता ही रहती है और न विस्फोट ही होता है । लावा प्रवाह भी बन्द हो जाता है और राख तथा धूल भी नहीं निकलती । ज्वालामुख से केवल गन्धक, भाप और गैसें निकलती रहती हैं । इस प्रकार के ज्वालामुखी को धुआरे (Fumeroles) कहते हैं और इसे ज्वालामुखी उद्गार की गंधकीय स्थिति (Solfatara Stage) कहते हैं । इस स्थिति में कुछ धुआरों से केवल गन्धक, भाप अथवा कार्बन डाईआक्साइड ही निकलता रहता है । भारी होने के कारण ये गैसें निम्न वायुमण्डल में बुरी तरह फँल जाती हैं और समीपवर्ती घाटियों में भर जाती हैं । इटली और कैलीफोर्निया में इन एकत्रित गैसों से बिजली बनाने के प्रयोग किये जा रहे हैं । इनसे कुछ रसायन प्राप्त करने की कोशिश भी हो रही है ।

ज्वालामुखी के उद्गार न तो स्थायी होते हैं और न लगातार ही । कुछ ज्वालामुखी की दशा ऐसी होती है कि उनमें किसी भी समय उद्गार आ सकता है । इस प्रकार के ज्वालामुखी को चैतन्य ज्वालामुखी (Active Volcano) कहते हैं । कुछ अन्य ज्वालामुखी ऐसे होते हैं कि उनमें उद्गार तो बहुत समय से नहीं हुए परन्तु होने की दुबारा कभी भी हो सकते हैं । इन्हें मृपुज्ज्व ज्वालामुखी (Dormant Volcano) कहते हैं । इनके ज्वालामुख में लावा सदैव भरा रहता है और उसमें से धुआँ उठता रहता है । जिस ज्वालामुखी में उद्गार एक अरसे से नहीं आये और फलस्वरूप उसके ज्वालामुख पर झील या वन छा गये हैं, उसे शान्त ज्वालामुखी (Extinct Volcano) कहते हैं परन्तु सच तो यह है कि कोई भी ज्वालामुखी शान्त नहीं होता । उद्गार आते हैं और तब झील या वन सब हवा में उड़ जाते हैं । इटली का माउन्ट विमुवियस काफी दिन शान्त रहने के बाद फटा था तो ऐसा ही हुआ था ।

ज्वालामुखी और भूदृश्य—ज्वालामुखी निक्षेप को लहरें तथा जल काट सकते हैं । ज्वालामुखी गुम्बद के कट-छंट जाने के बाद लावा की डाट अंगूठे की तरह खड़ी रह जाती है । इसे ज्वालामुख ग्रीवा (Volcanic Neck) कहते हैं । कभी २ अनावृत्ती-करण के प्रहार के फलस्वरूप ग्रीवा या पाइप न बनकर दीवाल, सिल्ली या बांध सा बन जाता है । इसे ज्वालामुख सिल (Volcanic Sill) कहते हैं । समुद्र के सामने पड़ने वाले ज्वालामुखी को लहरें काट डालती हैं और इस प्रकार बनी कटानों में अच्छे प्राकृतिक पोताश्रय बन जाते हैं ।

इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के गुम्बद, शंकु तथा शृङ्ग अपनी विशिष्ट रूप रेखा से भूदृश्य की सुन्दरता बढ़ाते हैं । जिस घाटी में लावा प्रवाह हो चुका है वहाँ पर घाटी व श्रेणियाँ सभी कुछ उसके नीचे दब जाती हैं । परन्तु जब बीच की श्रेणियों को काट डाला जाता है तो अवशिष्ट ऊँचाइयों पर लावा की टोपी मेज की तरह

प्रतीत होती है। इसे मेसा (Mesa) कहते हैं।

ज्वालामुखी और मनुष्य—यद्यपि ज्वालामुखी प्रधानतः विध्वंसकारी होते हैं फिर भी भूगर्भ के इतिहास के समझने में विशेष सहायक होते हैं। ज्वालामुखी द्वारा फँके गये पदार्थ भी मनुष्य के लिये विशेष उपयोगी होते हैं और लावा से उसे उपजाऊ मिट्टी प्राप्त होती है।

ज्वालामुखी का वितरण—इसकी निम्नलिखित दो विशेषतायें हैं—

(१) संसार के सभी ज्वालामुखी व्यवस्थित पेटियों में पाये जाते हैं और ये प्रदेश मोड़ पड़ने तथा दरार फटने वाले क्षेत्र ही हैं। फिर भी इस नियम के अनेक अपवाद हैं, जैसे हिमालय में कोई भी ज्वालामुखी नहीं है और आइसलैण्ड जैसे ज्वालामुखी प्रधान क्षेत्र में न तो मोड़ ही पड़े हैं और न दरार ही फटी है।

(२) अधिकतर ज्वालामुखी समुद्रतट के समीप और द्वीपों पर पाये जाते हैं। महाद्वीपों के आन्तरिक भागों में ज्वालामुखी का अभाव है। केवल जारडन की दरार घाटी जो अफ्रीका तक फैली हुई है, उसमें ज्वालामुखी पाये जाते हैं।

संसार के प्रधान ज्वालामुखी निम्नलिखित पेटियों में पाये जाते हैं—

(अ) प्रशान्त महासागर के किनारे वाले भाग जिसके अन्तर्गत अमरीका के पश्चिमी तट, क्यूराइल द्वीपसमूह, जापान, फिलीपाइन, इन्डोनीशिया और न्यूजीलैंड शामिल हैं।

(ब) यूरेशिया की पेटि जिसके अन्तर्गत इटली तथा पूर्वी भूमध्य सागरीय प्रदेश आते हैं। यह पेटि काकेशिया, आरमीनिया, फारस, बलूचिस्तान और बर्मा होती हुई पूर्वी द्वीपसमूह या इन्डोनीशिया में समाप्त हो जाती है।

(ग) आन्ध्र महासागरीय पेटि में पश्चिमी द्वीपसमूह तथा पूर्वी आन्ध्र महासागर के द्वीप शामिल हैं। आइसलैण्ड से सेंट हेलेना तक सभी द्वीप ज्वालामुखी द्वारा निर्मित हैं। [देखिये चित्र नं० ६४]

भूपटल की शक्तियाँ

पर्वत निर्माणकारी और महाद्वीप निर्माणकारी हलचलें

पृथ्वी की बाह्य और आन्तरिक शक्तियों के बीच सतत युद्ध होता रहता है और उनके घात प्रतिघात के फलस्वरूप स्थलरूपों का निर्माण होता है। पृथ्वी के भीतर से आक्रमण करने वाली शक्तियों को आन्तरिक शक्तियाँ (Endogenetic Forces) कहते हैं और इनके द्वारा पर्वत तथा महाद्वीपों का निर्माण होता है। इन शक्तियों से किस प्रकार के स्थलरूप का निर्माण होता है, इस आधार पर इनको दो वर्गों में बाँटा गया है :—

(१) महाद्वीप निर्माणकारी अथवा उत्क्षेप सम्बन्धी हलचल (Eperiogetic Movement)।

(२) पर्वत निर्माणकारी अथवा भिचाव तनाव सम्बन्धी हलचल (Oroge-netic Movement)। इन दोनों प्रकार की हलचलों द्वारा भौगर्भिक क्रिया-कलाप होता है। इनके सामूहिक प्रभाव को भौगर्भिक गति (Diastrophism) कहते हैं। भौगर्भिक गतियों का क्रियाकलाप बड़ा धीमे-धीमे होता रहता है और हजारों वर्ष बाद इनका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(१) महाद्वीप निर्माणकारी हलचल :—यह भूगर्भ की लम्बाकार गति है और पृथ्वी पर इसका प्रभाव नीचे से ऊपर को होता है। इस प्रकार की हलचल से भूपृष्ठ पर चट्टानों की समानान्तर स्थिति में कोई भी अन्तर नहीं आता परन्तु कुछ भूभाग या तो ऊपर उठ जाता है या नीचे को धंस जाता है। इस प्रकार या तो कोई भाग समुद्र के तल से बाहर निकल आता है या उसके नीचे धंस जाता है। इस प्रकार उत्क्षेप और निमज्जन द्वारा महाद्वीप और पठार बन जाते हैं।

उत्क्षेप का सब से अच्छा उदाहरण भूपृष्ठ की परतदार चट्टानें हैं। सभी प्रकार की परतदार चट्टानें पहिले समुद्र जल के नीचे दबी थीं। चूँकि अब बहुत-सी परतदार चट्टानें महाद्वीपों के शुष्क आन्तरिक भागों में स्थित हैं, यह स्पष्ट है कि यह भूखंड समुद्र जल से बाहर उठ कर ही बना है। फ्लोरीडा, स्वीडन और पश्चिमी द्वीपसमूह के तटीय प्रदेशों में नवीन भूमि के ऊपर उठने के चिन्ह इस धारणा को और भी बृद्ध कर देते हैं। पृथ्वी के इतिहास के आदि काल में इस प्रकार की हलचलें बहुधा आती रही होंगी और उन्हीं के फलस्वरूप महाद्वीप बने होंगे।

यदि एक स्थान पर भूमि उठ जाती है तो दूसरे स्थान पर वह धंस जाती है। सत्य तो यह है कि उत्क्षेप और निमज्जन साथ-साथ होते रहते हैं। उत्तरी सागर के तटीय प्रदेश धीरे-धीरे जलमग्न होते जा रहे हैं और जल का विस्तार बराबर बढ़

रहा है। इसके अतिरिक्त बहुत से महाद्वीपीय सागरों (Continental Shelf) की तली में पेड़ों की जड़ें लगी मिली हैं जो साफ तौर पर प्रमाणित करती हैं कि ये पुराने वनाच्छादित प्रदेशों के जलमग्न होने से बने हैं।

यद्यपि भूमि का ऊपर उठना या नीचे धंसना समतुलन सम्बन्धी परिवर्तन के कारण ही होता है परन्तु अक्सर समुद्र जल के तल परिवर्तन के कारण भी ऐसा हो जाता है। समुद्र का जल यदि पीछे हट जाता है तो नवीन भूमि की पट्टी प्रकट हो जाती है। इसके विपरीत समुद्र जल के आगे बढ़ जाने से नये क्षेत्र जलमग्न हो जाते हैं और जहाँ शुष्क भूमि थी वहाँ जल ही जल दिखलाई पड़ता है। हिमयुग की महाद्वीपीय हिमनदियों के पिघलने पर समुद्र जल के तल परिवर्तन के कारण तटीय प्रदेश जलमग्न हो चले परन्तु बाद में समतुलन सम्बन्धी परिवर्तन के कारण नवीन भूमि का उत्क्षेप हुआ।

महाद्वीप निर्माणकारी हलचल का प्रभाव स्थानीय अथवा प्रादेशिक हो सकता है। दोनों ही दशाओं में यह कहना कठिन होता है कि केवल एक ही प्रकार की गति द्वारा विशेष स्थलरूप बना है। लम्बरूप उत्क्षेप या निमज्जन के साथ-साथ भिचाव व तनाव की समाकार शक्तियाँ भी अपना असर करती रहती हैं यद्यपि उनका प्रभाव अपेक्षाकृत गौण रहता है। इसी प्रकार कोई भी पर्वत प्रदेश केवल पर्वत-निर्माणकारी शक्तियों द्वारा नहीं बना है। वहाँ पर महाद्वीप निर्माणकारी शक्तियाँ गौणरूप से सहायता करती हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार की शक्तियाँ आपस में सम्बन्धित हैं। उत्क्षेप और निमज्जन के साथ-साथ पृथ्वी का धरातल मुड़ता तथा टूटता भी है।

(२) पर्वत निर्माणकारी हलचल—यह पृथ्वी की समाकार गति है और यह समानान्तर रूप से प्रभाव डालती है। इसकी लहरें एक ओर से दूसरी ओर को चलती हैं। फलस्वरूप भूपृष्ठ की चट्टानें मुड़ जाती हैं, या टूट जाती हैं या एक दूसरे के ऊपर उलट जाती हैं। भूपटल के इस प्रकार मुड़ने-मुड़ाने से पर्वत बन जाते हैं और इसीलिए इसे पर्वत निर्माणकारी हलचल कहते हैं।

पर्वत निर्माण में दो प्रकार की गतियाँ सम्मिलित हैं—भिचाव या संकुचन की गति और (ब) प्रसार अथवा तनाव की गति। इन दोनों प्रकार की गतियों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध है। भूपृष्ठ पर यदि एक ओर भिचाव पड़ता है तो दूसरी ओर अवश्य ही तनाव पड़ेगा। भिचाव या संकुचन से पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी पर मोड़ या घरेरे पड़ जाते हैं। प्रसार या तनाव से दरारे तथा संधें पड़ जाती हैं—भूपृष्ठ की चट्टानें तड़क या चटख जाती हैं। पर्वत निर्माण के अन्तर्गत निम्नलिखित तीन प्रकार के प्रभाव आते हैं—

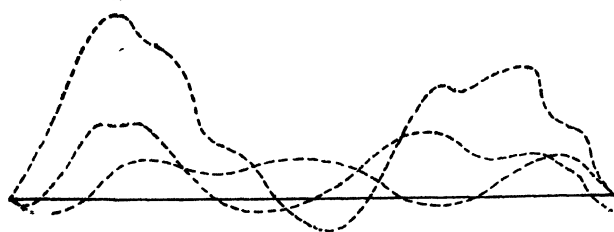
(१) मोड़ या घरेरा पड़ना (२) दरार फटना (३) संध या जोड़ बनना।

भूपृष्ठ का मुड़ना अथवा घरेरे पड़ना (Folding)

भूपटल की समानान्तर परतों पर जब बायें बायें से भिचाव पड़ता है तो ये परतें बुहरी हो जाती हैं—मोड़ अथवा घरेरे के क्रम में मुड़ जाती हैं। मोड़ या घरेरे पड़ने के

अर्थ है कि भूपृष्ठ का क्षेत्रफल संकुचित हो गया है। इस प्रकार भूपटल के सिकुड़ने से बहुत से गर्त तथा मेहराब बन जाते हैं। घरेरे के मेहराब को प्रतिनति (Anticline) कहते हैं और गर्त को सन्नति (Syncline) कहते हैं। इन प्रतिनति तथा सन्नति के कारण सम्पूर्ण भूपृष्ठ एक लहर के समान प्रतीत होता है। परन्तु भूपटल पर इतनी विभिन्न शक्तियाँ एक ही समय पर काम करती रहती हैं कि साधारण लहर जैसी बनावट दिखाई नहीं पड़ती। इसीलिए पृथ्वी पर मोड़ या घरेरे सीधे सादे नहीं होते जैसे कि कपड़े को एक तरफ से धकेलने पर बन जावेंगे। साधारणतया धक्का या भिचाव काफी तीव्र तथा सभी तरफ से होता है। फलतः विभिन्न आकार, विस्तार और झुकाव के मोड़ बन जाते हैं। कभी-कभी मोड़ पड़ने की क्रिया इतनी जटिल एवं तीव्र होती है कि मोड़ खाती हुई चटानें अपनी धुरी पर से टूटकर उलट जाती हैं या कुछ दूरी पर खिसक जाती हैं।

यदि भिचाव या धक्का केवल एक ही तरफ से होता है तो साधारण प्रतिनति तथा सन्नति बन जाते हैं। मोड़ या घरेरे नीचे तथा चौड़े होते हैं। इनको खुले हुए मोड़ या जूरा तुल्य घरेरे कहते हैं।

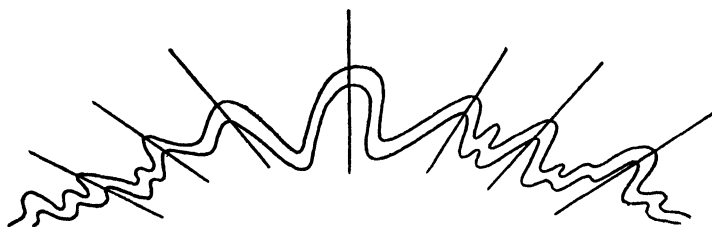


चित्र ६९—साधारण मोड़

को संकीर्ण घरेरे कहते हैं। ये मोड़ भिचते चले जाते हैं यहाँ तक कि इनके दोनों पार्श्व एक ही तरफ को झुक जाते हैं। इस प्रकार के संकीर्ण मोड़—पंखे के समान मोड़ जिनकी शाखायें समानान्तर होती हैं, आल्पस पर्वत-माला में पाये जाते हैं।

यदि धक्का काफी तीव्र हुआ और दोनों ही तरफ भिचाव पड़ा तो जो घरेरे बनने के ऊँचे तथा संकरे होंगे।

इस तरह के घरेरों

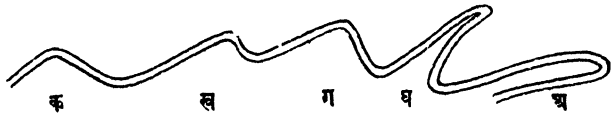


चित्र ७०—पंखे के समान मोड़

प्रत्येक मोड़ के, चाहे वह खुला हुआ हो अथवा संकीर्ण, दो पार्श्व या शाखायें होती हैं। बहुत कम दशा में वे दोनों पार्श्व एक ही दिशा में झुके हुए होते हैं। हल-चल की तीव्रता तथा चट्टानों की बनावट के अनुसार कई प्रकार के मोड़ बन जाते हैं, जैसा कि नीचे दिये हुए चित्र से स्पष्ट हो जावेगा।

(क) सम अथवा लम्बरूप घरेरे प्रायः खुले हुए और सीधे होते हैं। उनकी

अक्षरेखा लम्बाकार होती है और उनकी दोनों शाखायें समान झुकाव पर स्थित होती हैं।



चित्र ७१—घरेरो के प्रकार

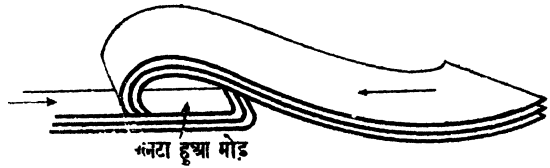
(ख) विषम अथवा असमान घरेरे उस समय बनते हैं जब उनकी एक शाखा तो लम्बी तथा क्रमशः ढाल की होती है और दूसरी शाखा छोटी पर तीव्र ढाल वाली होती है। यह सामान्य तल लम्बरूप से झुका हुआ रहता है।

(ग) एक लम्ब शाखा वाला घरेरा उस समय बनता है जब विषम घरेरे की छोटी तथा तीव्र ढालवाली शाखा बिल्कुल लम्बरूप हो जाती है।

(घ) उल्टा हुआ मोड़ या घरेरा उस समय बनता है जब भिचाव की तीव्रता के कारण कुल मोड़ एक ही दिशा में इस प्रकार धकेल दिया जाता है कि उसके दोनों पार्श्व एक ही दिशा में झुक जाते हैं। छोटा तथा तीव्र पार्श्व क्रमशः ढालवाली लम्बी शाखा की दिशा में झुक जाता है।

(ङ) लेटा हुआ मोड़ या घरेरा वह है जो मोड़ के अधिक उलट जाने पर बनता है। इसमें कोई भी समाकारिता नहीं रह जाती और अक्षरेखा का तल इतने सपाट कोण पर झुका रहता है कि एक तरफ की शाखा दूसरी शाखा के समानान्तर हो जाती है।

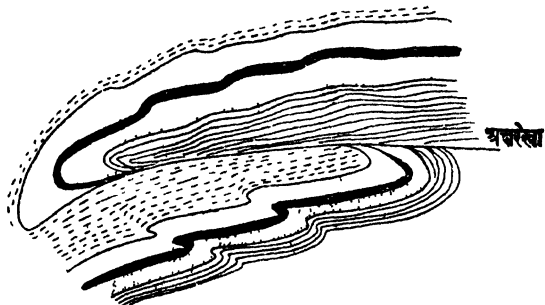
घरेरे की शाखाओं के सरकने से लेटा हुआ मोड़ बन जाता है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि घरेरा या मोड़ अपनी धूरी पर से टूट जाता है और थोड़ा-सा आगे खसक कर दूसरे स्तर पर आरोपित हो जाता है। इस प्रकार आरोपित पार्श्व अथवा उलटकर आगे बढ़ी हुई मोड़ की दशा को ग्रीवा खंड (Nappe) कहते हैं।



चित्र ७२—उल्टा हुआ मोड़

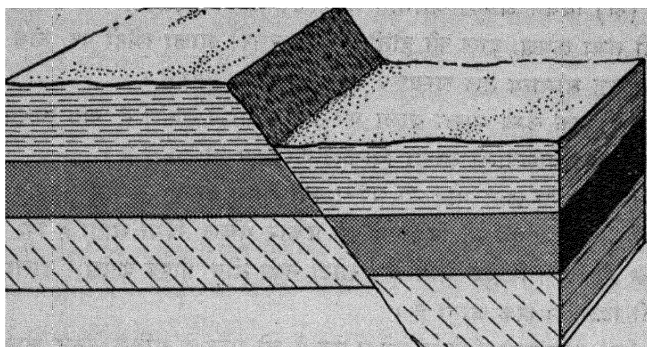
दरार फटना या स्तर भ्रंश (Faulting) /

एक स्थान पर बचाव या भिचाव पड़ने के अर्थ हैं कि दूसरे स्थान पर तनाव होगा। कभी-कभी जब भिचाव काफी तीव्र होता है तो भूपृष्ठ चटख जाता है। भिचाव की शक्तियों से घरेरे तथा मोड़दार पर्वत बनते हैं। तनाव से दरार व जोड़



चित्र ७३—लेटा हुआ मोड़ या ग्रीवाखंड

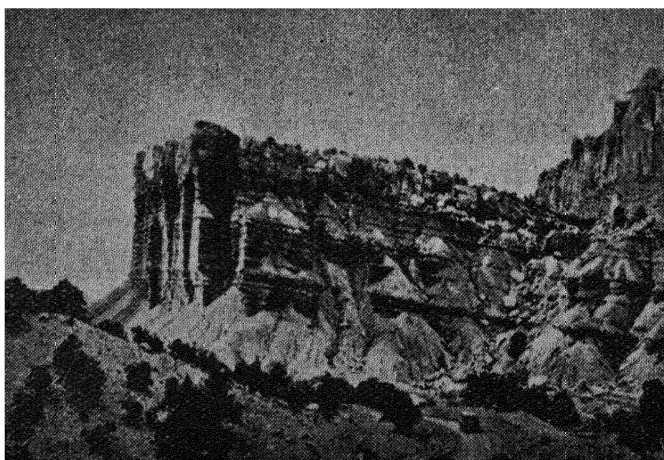
बनते हैं। प्रायः तनाव दो प्रकार का होता है—स्थानीय और प्रादेशिक। स्थानीय तनाव तीव्र भिचाव के कारण होता है और इसके फलस्वरूप मोड़ उलटकर टूट जाता है। [देखिये चित्र नं० ७२] प्रादेशिक तनाव भिचाव से अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होता है। यदि यहाँ भिचाव पड़ा है तो कहीं दूसरी जगह तनाव पड़ेगा और इस कारण दरारें बन जाती हैं।



चित्र ७४—सामान्य दरार

जब तीव्र भिचाव के कारण स्तर भ्रंश होता है तो जो दरार बनती है उसे उल्टे हुए मोड़ की दरार कहते हैं। परन्तु सामान्य दरार फैलाव या तनाव के कारण बनती है जैसाकि ऊपर के चित्र से स्पष्ट है।

दरारें उस समय पड़ती हैं जब भौगर्भिक अथवा पर्वत निर्माणकारी शक्तियों की हलचल बहुत तेजी से हुई है या चट्टानें बहुत कमजोर तथा चटखने वाली हैं या भूआवरण कम गहरा व भारी है। अतएव भूपटल टूट जाता है और इस प्रकार बनी

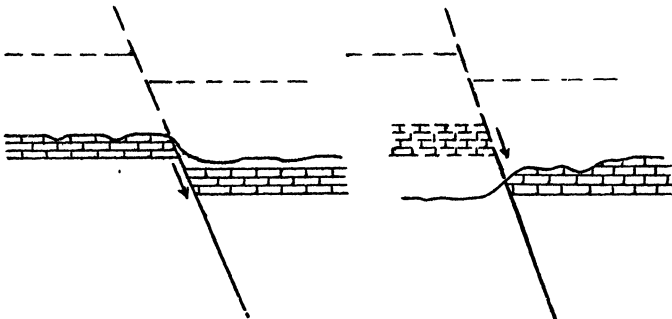


चित्र ७५—उच्छृङ्खल रचना

चट्टान के एक तरफ का भूभाग दूसरे की अपेक्षा नीचे को सरक जाता है। इसे दरार कहते हैं और प्रत्येक दरार की दो शाखाएँ होती हैं—ऊपर उठी हुई शाखा और नीचे धंसी हुई शाखा। स्तर भ्रंश की रेखा को दरारतल (Fault Plane) कहते हैं और इस प्रकार बनी दरार की चौड़ाई विभिन्न होती है। यह कुछ इंच से लेकर कई फीट तक चौड़ी हो सकती है।

कभी-कभी दरार पड़ने के कारण भूभाग का खिसकाव दिखलाई नहीं पड़ता क्योंकि यह भूआवरण के नीचे दबा रहता है। अक्सर अनावृत्तीकरण की शक्तियों के आघातों से दरार दिखलाई तो पड़ने लगती है परन्तु विभिन्न आवरणक्षय तथा मौसमी क्षति के कारण दरार की शाखाओं की बनावट बिल्कुल उलट जाती है। ऊपर उठी हुई और नीचे धंसी हुई शाखाओं के बीच कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता—उनके बीच सम्बन्धकारी तीव्र ढाल वाले पर्वत खंड (Escarment) का लोप हो चुका होता है। दरार का मुख्य चिह्न तो यही पर्वत खंड होता है परन्तु जैसे-जैसे आवरणक्षय होता जाता है, इसका धीरे-धीरे लोप होता जाता है। इसका फल यह होता है कि दरार से बने उच्छृङ्खों के स्थान पर दरार रेखा वाले उच्छृङ्ख बनने लगते हैं क्योंकि दरार रेखा पर आवरणक्षय की शक्तियाँ अव्यवस्थित भूआकार उत्पन्न कर देती हैं।

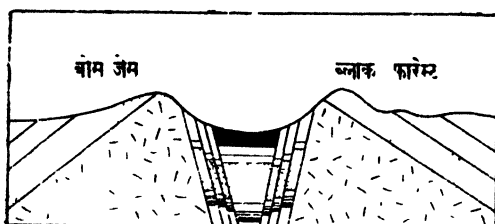
ऊपर उठी हुई शाखा कठोर चट्टानों की बनी है या नीचे धंसी हुई शाखा में कठोर चट्टानें हैं, इसके अनुसार ही उच्छृङ्ख रचना के भेद हो जाते हैं—खसकाव की रेखा पर आवरणक्षय द्वारा बनने वाली प्राकृतिक रूप रेखा के दो भेद हो जाते हैं। यदि नीचे धंसी हुई शाखा में मुलायम चट्टानें हुईं तो जो उच्छृङ्ख बनेंगे वे मूल पर्वत खंड से भिन्न नहीं होंगे क्योंकि आवरणक्षय की शक्तियाँ कोमल परतों वाली नीची शाखा को केवल और नीचा ही कर पायेगी। इस प्रकार के दराररेखा वाले उच्छृङ्ख को स्वय आरोपित (Resequent) कहते हैं। इसके विपरीत यदि ऊपर उठी हुई शाखा में मुलायम चट्टानें हुईं और नीचे धंसी हुई शाखा अपेक्षाकृत कठोर चट्टानों की बनी हुई तो आवरणक्षय की शक्तियाँ व्यवस्था को बिल्कुल उलट देंगी। कालान्तर में नीचे धंसी हुई शाखा कट-छंटकर अपेक्षाकृत नीची हो जायेगी। मूल दरार का उच्छृङ्ख उलट जायेगा और दरार रेखा पर बने इस प्रकार के उच्छृङ्ख को उल्टा हुआ (Obsequent) कहते हैं।



चित्र ७६—दरारतल उच्छृङ्ख (अ) स्वयं आरोपित उच्छृङ्ख (ब) उल्टा हुआ उच्छृङ्ख

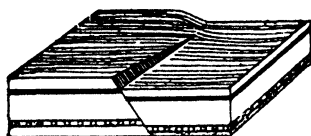
स्तर भ्रंश द्वारा या तो एक दरार या बहुत-सी दरारे पड़ सकती हैं। बहुत-सी दरारों की व्यवस्था कई प्रकार की हो सकती है। ये दरारें सीढ़ी की तरह एक के ऊपर एक अथवा दो-दो के जोड़े में पाई जा सकती हैं। जब कई समानान्तर दरारें एक ही दिशा में नीचे की तरफ उतरती जाती हैं तो इन्हें सीढ़ीनुमा दरार पड़ना कहते हैं। इसके विपरीत जब दो-दो समानान्तर दरारे एक साथ पाई जाती हैं तो कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थलरूपों की रचना हो जाती है। यदि दो समानान्तर दरारों के बीच का भूभाग नीचे को धंस गया है तो दरार घाटी या ग्रॉबन (Graben) बन जाती है। दूसरी ओर, यदि दो समानान्तर दरारों के बीच का भूभाग ऊपर को उठ गया है तो भूभाग निमित्त पर्वत अथवा अवरोधी पिण्ड (Horst) बन जाते हैं।

दरार घाटी (Rift Valley) अथवा ग्रॉबन : दो समानान्तर दरारों के बीच के भूभाग के नीचे धंस जाने से बना यह स्थलरूप बड़ा ही महत्वपूर्ण है। अफ्रीका की झोले, इसराइल का मृत सागर, लाल सागर, जर्मनी की राइन घाटी आदि दरार घाटी के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। जर्मनी की राइन घाटी तथा एशिया माइनर के टारस पर्वत से दक्षिणी अफ्रीका तक फैली हुई दरार घाटियों की शृङ्खला मूल उच्छृंग द्वारा ही घिरी हुई है। इसके विपरीत स्काटलैंड की मिडलैंड घाटी तथा कैलीफोर्निया की घाटी शुरू में दरार घाटी के रूप में ही बनी परन्तु आवरणक्षय की शक्तियों ने उनकी दरार रेखा के उच्छृंग में काफी परिवर्तन कर दिया है।



चित्र ७७—राइन की दरार घाटी

और सारी बनावट बड़ी ही जटिल होती है यद्यपि ऊपरी रूपरेखा बड़ी ही सीधी सादी मालूम होती है।



चित्र ७८—एक दिशा मोड़

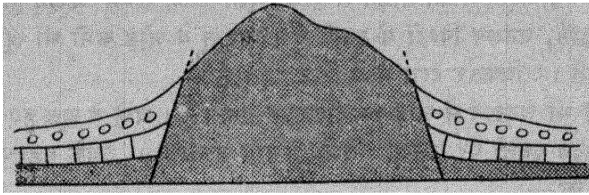
को एक दिशा मोड़ (Monocline) भी कहते हैं। इन भूभाग निमित्त पर्वतों के एक ओर दरार उच्छृंग होता है। इनके बाव विषम घाटियाँ पायी जाती हैं। इस प्रकार के पर्वत पश्चिमी-उत्तरी अमरीका तथा उत्तरी पेनाइनश्रेणी में बहुत पाये जाते हैं।

अवरोधी पिण्ड (Horst) —दो समानान्तर दरारों के बीच भूभाग के ऊँचा उठ जाने से जो स्थलरूप बनता है उसे अवरोधी पिण्ड (Horst) कहते हैं। इसमें केन्द्रीय भूभाग केवल उठ ही नहीं जाता बल्कि इधर-उधर के भूभाग अपेक्षाकृत नीचे भी

प्रायः दरार घाटी लम्बी तथा सिकरी होती है। फिर, दरार घाटी की रचना के लिए केवल दो समानान्तर दरारें ही काफी नहीं होतीं। अधिकतर दशाओं में दरार घाटी के दोनों तरफ एक से अधिक दरारे होती हैं

भूभाग निमित्त पर्वत (Block Mountain) —दो समानान्तर दरारों के एक तरफ भूभाग के ऊपर उठ जाने से भूभाग निमित्त पर्वत का निर्माण होता है। इस प्रकार उठे हुए भूभाग को एक दिशा मोड़ (Monocline) भी

धंस जाते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय पिण्ड गुम्बद के समान दिखने लगता है।



चित्र ७६—अवरोधी पिण्ड

जोड़ या संध पड़ना (Jointing)

जोड़ या संध स्तरभ्रंश के वे रूप हैं जो स्थानीय तनाव से बन जाते हैं और इनके दायें-बायें न तो भूभाग ऊपर को उठता है और न नीचे को खसकता है। जोड़ उत्पन्न करने वाला स्थानीय तनाव विभिन्न प्रकार की चट्टानों तथा स्थानों पर अलग-अलग होता है। साधारणतया स्थानीय तनाव के निम्नलिखित चार प्रकार होते हैं—

(१) भूपटल पर ठंडा होकर घनीभूत होने से आग्नेय चट्टानें सिकुड़ती हैं और उनमें जोड़ पड़ जाते हैं।

(२) सूखने पर परतदार चट्टानें सिकुड़ती हैं और सामान्य उत्क्षेप के अनुसार इन पर प्रादेशिक तनाव भी पड़ता है। फल यह होता है कि जटिल क्रम के जोड़ उत्पन्न हो जाते हैं।

(३) कुछ प्रकार की चट्टानों में स्फट पड़ने के कारण स्तर-स्तर अलग किये जा सकते हैं और इन्हीं के सहारे जोड़ बन जाते हैं।

(४) प्रतिनति (Anticlines) पर और संनति (Syncline) में चट्टानों के खँचातान तथा ऐंठन के कारण भी जोड़ बन जाते हैं। ये क्रियायें प्रतिनति के शिखर पर सबसे अधिक होती हैं और फलस्वरूप चौड़ी संधें बन जाती हैं। संनति में भी जोड़ पड़ जाते हैं परन्तु वे न तो खुले हुए होते हैं और न चौड़े ही।

आग्नेय चट्टानों में, ठंडा होने पर बनने के कारण, जोड़ों या संधों का आकार स्तम्भ की तरह होता है। परन्तु परतदार चट्टानों में तीन प्रकार के जोड़ पाये जाते हैं। जो जोड़ परतों या तहों के समानान्तर होते हैं उन्हें फटन तल (Cleavage Plane) कहते हैं। ये उन चट्टानों में पाये जाते हैं जिन पर अधिक दबाव पड़ा है। इस फटन तल के सहारे चट्टानों की परतों को अलग-अलग किया जा सकता है। वे जोड़ जो तहों के झुकाव अथवा अत्यधिक ढाल वाली दिशा के समानान्तर होते हैं उन्हें झुकाव जोड़ (Dip Joints) कहते हैं। तीसरी प्रकार के जोड़ वे होते हैं जो स्ट्राइक अथवा झुकाव पर लम्बाकार खींची गई रेखा के समानान्तर होते हैं। इन्हें स्ट्राइक जोड़ (Strike Joints) कहते हैं। आखिरी दो प्रकार के जोड़ मुख्य जोड़ (Master Joints) कहलाते हैं क्योंकि ये सभी प्रकार की चट्टानों में प्रधान हैं। ये दोनों प्रकार के जोड़ पृथ्वी के धरातल पर लम्बरूप स्थित रहते हैं और जहाँ ये एक दूसरे को काटते हैं वहाँ समकोण बनता है।

इन मुख्य जोड़ों के कारण विभिन्न चट्टानों का रचनाक्रम बड़ा ही जटिल होता है। आग्नेय चट्टानों को तोड़ने से पांच भुजा वाले खम्भ अलग हो जाते हैं। परतदार चट्टानें घनरूप पिण्डों में टूटती हैं। परन्तु ये जोड़ कभी भी खुले हुए या चौड़े नहीं रहते। अधिकतर दशा में ये मिले रहते हैं।

किसी भी चट्टान में जोड़ कमजोर स्तर बनाते हैं। चाहे वे खुले हुए हों अथवा मिले हुए, भूदृश्य रचना पर उनका विशेष प्रभाव पड़ता है। उनके महत्त्व का मूल कारण यह है कि—

(१) मौसमी क्षति और आवरणक्षय की शक्तियों का प्रहार इन्हीं स्थलों पर सबसे अधिक तीव्र होता है। भूमि में प्रवेश करता हुआ जल इन्हीं कमजोर बिन्दुओं से होकर अपना रास्ता ढूँढ़ निकालता है। रासायनिक परिवर्तन तथा पाले की क्रिया भी इन्हीं कमजोर स्थलों पर अधिक होती है। हिमनदियों के प्रवाह के समय इन्हीं स्थलों पर खसोटन (Plucking) क्रिया सबसे अधिक होती है।

(४) पत्थर खोदने या खान से खनिज प्राप्त करने की विधि तथा कार्य प्रणाली भी इन्हीं जोड़ों के अनुसार होती है।

अध्याय : : १७

अनावृत्तीकरण

पृथ्वी की आन्तरिक शक्तियों द्वारा जैसे ही कोई स्थलरूप बनता है कि उसके ऊपर वायुमण्डल की बाह्य शक्तियाँ प्रहार करना आरम्भ कर देती हैं और उनका प्रयत्न इनको समतल करने का होता है। चट्टानों की टूट-फूट अथवा उनको समतल करने की इस क्रिया को अनावृत्तीकरण (Denudation) कहते हैं। इसके अन्तर्गत दो प्रकार की क्रियाएँ शामिल होती हैं—

(१) मौसमी क्षति या ऋतु प्रहार (Weathering)—अनावृत्तीकरण के साधनों के क्रियाकलाप के लिए चट्टानें इस प्रकार तैयार की जाती हैं।

(२) आवरणक्षय या काट-छाट (Erosion)—हिम, वायु और जल द्वारा चट्टानों की काटछांट होती है।

ये दोनों प्रकार की क्रियाएँ उन साधनों द्वारा की जाती हैं जो सूर्य से शक्ति प्राप्त करते हैं और गुरुत्वाकर्षण के नियन्त्रण में काम करते हैं। यद्यपि प्रधान साधन तो बहता हुआ जल, चलता हुआ हिम तथा हवा है परन्तु प्राणि व वनस्पति मण्डल तथा वर्षा, पाला और तापान्तर जैसे जलवायु के तत्त्व भी चट्टानों के विखण्डन (Disintegration) और विलयन (Decomposition) में सहायता पहुँचाते हैं। इनको काटछांट की शक्तियाँ कह सकते हैं और ये दो प्रकार के कार्य करते हैं—कभी तो वहीं पर जहाँ चट्टान मूलतः स्थित है और कभी चट्टान को उसकी मूल स्थिति से हटा कर।

मौसमी क्षति या ऋतु प्रहार (Weathering)

जलवायु की शक्तियों—वृष्टि और तापक्रम—के प्रभाव के कारण अपनी स्थिति पर ही चट्टानें नष्ट-भ्रष्ट होती रहती हैं। इसको मौसमी क्षति या ऋतुप्रहार कहते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसका सम्बन्ध वायुमण्डल तथा ऋतु के तत्त्वों से है। ये शक्तियाँ चट्टान पर दो प्रकार से असर डालती हैं—(१) घर्षण द्वारा तथा (२) रासायनिक विधि से। चट्टानें टूट-टूट कर टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं परन्तु उनके खनिज तत्त्व बरकरार रहते हैं। चट्टानें गल-सड़कर विलीन हो जाती हैं क्योंकि उनके खनिज तत्त्वों का अनुपात बदल चुका होता है। प्रथम क्रिया विधि को घर्षणीय मौसमी क्षति या विखण्डन कहते हैं और दूसरे को रासायनिक मौसमी क्षति या विलयन कहते हैं। यद्यपि ये दोनों प्रकार की क्रियाविधियाँ साथ-साथ होती रहती हैं और परस्पर सहयोग के साथ चट्टानों को नष्ट करती हैं परन्तु फिर भी इनका अलग-अलग अध्ययन करना ही उचित है।

घर्षणीय मौसमी क्षति या विखण्डन (Mechanical Weathering) के प्रधान साधन सूर्यताप, पाला तथा कुछ अंश में पेड़ पौधे हैं। शुष्कवायु के प्रदेशों में वायु या हवा ऋतुप्रहार का शक्तिशाली साधन है।

प्रायः महाद्वीपीय जलवायु के प्रदेशों में परन्तु विशेषकर महस्थलीय क्षेत्रों में दैनिक तापान्तर बहुत अधिक होता है। फल यह होता है कि खाली चट्टान दिन के समय गरम होकर फँल जाती है। रात के समय तापक्रम गिर जाता है और ये ही चट्टानें सिकुड़ने लगती हैं। इस प्रकार प्रतिदिन एक बार फँलने तथा सिकुड़ने से चट्टानों में एक प्रकार का तनाव उत्पन्न हो जाता है और वे तड़क जाती हैं। इस क्रियाकलाप के दिन-प्रति-दिन होते रहने से संध तथा दरारें चौड़ी होती जाती हैं और सम्पूर्ण चट्टान बड़े-बड़े खण्डों में टूट जाती है। विभिन्न प्रकार के खनिज तत्त्वों से मिलकर बनी चट्टानों पर तापान्तर का भी प्रभाव पड़ता है। विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों पर गरमी का अलग-अलग असर होता है। उनके सिकुड़ने तथा फँलने में विभिन्नता के कारण चट्टानें विभिन्न खनिज कणों में टूट जाती हैं या यूँ कह सकते हैं कि जो खनिज तत्त्व पहिले एक साथ मिले हुए थे अब अलग-अलग हो जाते हैं। सूर्य ताप के कारण चट्टानों की इस टूट-फूट के दो प्रकार हैं—शिलाखण्डों में टूटना तथा खनिज कणों में टूटना।

शीत तथा शीतोष्ण जलवायु के प्रदेशों में, चट्टानों का टूटना अथवा विखण्डन पाले के कारण होता है। चट्टानें वर्षा के जल से श्रोतश्रोत हो जाती हैं। यह जल रात में जम जाता है। दिन के समय यह फिर पिघल जाता है। जमने पर इसका आयतन बढ़ जाता है और यह फँलता है। फल यह होता है कि चट्टान में दरार व संध बन जाती हैं और इन्हीं स्तरों के सहारे टूट कर यह टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं। उच्च पर्वत प्रदेशों में भी इसी प्रकार की विखण्डन क्रिया होती है और इसी के फल-स्वरूप बड़ी-बड़ी पहाड़ियाँ संपात (Screes) का ढेर बन जाती हैं।

कुछ प्रदेशों में पौधे और जीव-जन्तु भी चट्टानों पर विशेष दबाव डालकर उन्हें विखण्डित कर देते हैं। भूमि खोदने वाले जीव-जन्तु तथा पौधों की फँलती हुई जड़ें चट्टानों को कमजोर कर देती हैं और कालान्तर में उनके बड़े-बड़े खण्ड अलग हो जाते हैं।

शुष्क प्रदेशों में, हवा के द्वारा विखण्डन होता है। शुष्क हवा चट्टानों को तड़काकर उनकी परतों को इस प्रकार छील डालती है जैसे किसी फल का छिलका उतारा जाता है। इसे परत उखड़ना (Exfoliation) कहते हैं।

रासायनिक मौसमी क्षति या विलयन (Chemical Weathering) का प्रधान साधन वर्षा का जल तथा वायुमण्डल की गैसें हैं। विभिन्न गैसों से परिपूर्ण वर्षा का जल अथवा वायुमण्डल की नमी चट्टानों में रासायनिक परिवर्तन उत्पन्न कर सकती है। चट्टानों में विलयन प्रारम्भ हो जाता है और वे गलने अथवा नष्ट होने लगती हैं। उच्च तापक्रम और अधिक आर्द्रता में यह क्रिया विशेष रूप से होती है। यही कारण है कि रासायनिक मौसमी क्षति संसार के गर्मतर भागों में सबसे अधिक होती है। आक्सीजन, कार्बन डाइआक्साइड तथा जल घुलाकर अथवा जल-

पूर्ण करके चट्टानों की रचना में उलट-पुलट कर देते हैं'। विधि विशेष की प्रधानता के आधार पर रासायनिक मौसमी क्षति को निम्नलिखित प्रकार का कहा जा सकता है—

(क) ओषजीकरण (Oxidation)—जब ऑक्सीजन लोहे के सम्पर्क में आता है तो उस पर लोहे के ऑक्साइड की परत चढ़ जाती है या मोरचा (जंग) लग जाता है। यह लोहे को खा जाता है और लोहे का टुकड़ा गल जाता है। जब यही कार्यविधि विस्तृत रूप से होती है तो इसे ओषजीकरण (Oxidation) कहते हैं। वर्षा के मौसम में लोहा तत्व प्रधान चट्टानों का ओषजीकरण हो जाता है और सम्पूर्ण चट्टान नष्ट हो जाती है।

(ख) कार्बनीकरण (Carbonation)—डाइऑक्साइड मिश्रित वर्षा का जल पृथक् के छिद्रों से प्रवेश करता हुआ जब चूने के पत्थर से बने प्रदेशों में से होकर बहता है तो सम्पूर्ण चट्टान विलीन हो जाती है या घुल कर नष्ट हो जाती है।

(ग) जलीकरण (Hydration)—जब शुद्ध वर्षा का जल पृथ्वी के छिद्रों से प्रवेश करके नीचे पहुँचता है तो कुछ खनिज पदार्थों को भारी कर देता है। फेल्स-पार (Felspar) खनिज पर यह क्रिया सबसे अधिक प्रभाव डालती है और चूँकि यह खनिज थोड़ी बहुत मात्रा में हर चट्टान में मौजूद रहता है इसलिए इस क्रिया का प्रभाव बड़ा ही व्यापक है। इसीलिए जलीकरण विलयन का महत्वपूर्ण साधन है। जल से पूर्ण खनिज तत्व चट्टान के भीतर इतना भीषण दबाव डालते हैं कि खनिज पदार्थ का चूर्ण बन जाता है—फेल्सपार तो क्योलिन मिट्टी में बदल जाता है।

(घ) घुलना (Solution)—वर्षा का जल कई खनिज तत्वों को घुला डालता है और मिट्टी में जलस्राव उत्पन्न कर देता है। इस जलस्राव द्वारा बहुत से खनिज तत्व मिट्टी में से बहा ले जाये जाते हैं और चट्टानों की रासायनिक रचना बदल जाती है।

रासायनिक मौसमी क्षति की तीव्रता, वर्षा, चट्टानों की रचना, चट्टानों की प्रवेश्यता, जल में मिली गंशों तथा चट्टान के खुले स्तर की मात्रा पर निर्भर रहती है। इसके अलावा तापक्रम का ऊपर से नियन्त्रण रहता है। विखण्डन द्वारा भी चट्टान रासायनिक मौसमी क्षति के लिए तैयार की जाती है। इन दोनों प्रकार की मौसमी क्षति के सामूहिक प्रभाव के फलस्वरूप संपात (Scree) रचना होती है और टूटे हुए शिलाखंड इकट्ठा हो जाते हैं। ये शिलाखंड ढाल पर से फिसलकर पहाड़ियों के आधार पर इकट्ठा हो जाते हैं।

परन्तु सब प्रकार की चट्टानों की मौसमी क्षति एक सी नहीं होती। कुछ चट्टानें आसानी से टूट-फूट जाती हैं और कुछ अन्य चट्टानें ऋतु प्रहार को सहन कर खड़ी रहती हैं। यह सब विभिन्न मौसमी क्षति के कारण होता है और विभिन्न चट्टानों की ऋतु प्रहार को सहन करने की शक्ति पर निर्भर रहती है। मौसमी क्षति में विभिन्नता उत्पन्न करने वाले विभिन्न तत्वों में निम्नलिखित अधिक महत्वपूर्ण हैं—

(अ) चट्टानों की रचना और प्रकार—इसमें हम यह नहीं देखते कि चट्टान

कठोर है या मुलायम। बल्कि यह देखना होता है कि चट्टान छिद्रपूर्ण है, घुलनशील है और उसमें जोड़ तथा दरारे हैं। चट्टान में पाये जाने वाले खनिज तत्वों के स्थायित्व को भी ध्यान में रखना पड़ता है। इसी के अन्तर्गत हम यह भी देखते हैं कि चट्टान का कितना भाग खुला हुआ है या प्रहार के सामने है।

(ब) जलवायु—इसके अन्तर्गत हम यह देखते हैं कि प्रदेश शुष्क है या तर, गर्म है या ठंडा क्योंकि उसी के अनुसार मौसमी क्षति के साधन तथा क्रिया विधि भिन्न होंगे।

(स) ढाल का भी मौसमी क्षति पर प्रभाव पड़ता है। यदि ढाल तीव्र हुआ तो मौसमी क्षति के साधनों द्वारा विखण्डन तथा विलयन की क्रिया काफी तेजी से होगी।

(द) वनस्पति के आवरण से चट्टान का खुला भाग निर्धारित होता है। वनस्पति चट्टान तथा मिट्टी की रक्षा करती है। वनस्पति आवरण से ढकी चट्टानों की अपेक्षा खाली चट्टानों पर मौसमी क्षति अधिक तीव्र होती है।

मौसमी क्षति के द्वारा प्राकृतिक रूपरेखा के आकार प्रकार पर प्रभाव पड़ता है और मनुष्य के लिये विभिन्न लाभ प्राप्त होते हैं। आवरणक्षय के साधनों को मौसमी क्षति से सहायता तो मिलती ही है इसके अलावा वह मिट्टी की रचना करती है और खनिज कणों को ढोके के रूप में एक स्थान पर एकत्रित कर देते हैं जिससे कि उन्हें आसानी से खोद कर निकाला जा सकता है। पहाड़ियों के आधार पर नुकीले टुकड़ों का ढेर बन जाता है और जब नदियाँ इस सपात या तालुस पर से होकर गुजरती हैं तो वे इनको अपने साथ बहा ले जाती हैं और बाढ़ के मैदानों पर फँला देती हैं। इसके फलस्वरूप उनका उपजाऊपन बढ़ जाता है।

आवरणक्षय (Erosion)

चट्टानों के टुकड़े जब धरातल से रगड़ खाते हैं तो खुरचन अथवा काट-छाँट उत्पन्न कर देते हैं। जिस धरातल पर से होकर ये नुकीले टुकड़े गुजरते हैं, उसे वे काट देते हैं एवं उसमें गड्ढे बना देते हैं। इस क्रिया को आवरणक्षय कहते हैं। चट्टानों के विखण्डन और विलयन से जो नुकीले शिलाखंड पहाड़ों के आधार पर इकट्ठा हो जाते हैं वे वहीं पड़े नहीं रहते बल्कि जैसे ही जल, हिम तथा वायु उन पर से प्रवाहित होते हैं, इस राशि के कुछ भाग को अपने साथ घसीट ले जाते हैं। इस प्रकार आवरणक्षय के प्रमुख साधन बहता हुआ जल, चलता हुआ हिम, हवा, लहरें और भूगर्भवती जल है। ये साधन भूपटल पर विभिन्न प्रकार से आक्रमण करते हैं और इनके ही द्वारा तृतीय श्रेणी के स्थल रूपों का निर्माण हो जाता है।

आवरणक्षय क्रिया के तीन अंग हैं—(१) पर्वत के आधार से शिलाखंडों को उठाना या ग्रहण (Picking) (२) इन शिलाखंडों को एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाना अथवा अपनयन (Transporting) (३) जिस धरातल पर से होकर प्रवाह हो रहा है उसकी काट-छाँट करना तथा शिलाखंडों को आपस में टकराकर स्तत घर्षण द्वारा चूर्ण करना अथवा काट-छाँट (Etching)। इस प्रकार घर्षण या

घिसाव आवरणक्षय का आधार है और बिना अपनयन के घिसाव होना सम्भव नहीं। इसलिए अपनयन आवरणक्षय का महत्त्वपूर्ण अंग है और इसकी तीन विधियाँ होती हैं—

(१) आवरणक्षय का साधन चट्टानों की घुला डालता है और चट्टानों की राशि को घोल की ही अवस्था में एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाता है।

(२) आवरणक्षय के साधन महीन कणों को अपने साथ मिलाये हुये भी इधर से उधर ले जा सकता है।

(३) बड़े-बड़े शिलाखंड तथा टुकड़े साधन-विशेष के धक्के से तलहटी के साथ घसीटते तथा रगड़ खाते हुये चलते हैं।

इस प्रकार ले जाये गये शिलाखंड आवरणक्षय के औजार हैं परन्तु आवरणक्षय के साधन के विस्तार तथा तीव्रगति पर उसकी शक्ति निर्भर रहती है। विभिन्न साधनों का आयतन, गति एवं भार का स्वभाव अलग-अलग होता है। इसीलिए विभिन्न प्रकार के साधनों द्वारा किये गये आवरणक्षय में अलग-अलग विशेषताये होती हैं जिनका विवरण आगे वाले अध्यायों में दिया जावेगा।

जैसे ही आवरणक्षय की शक्तियों की तीव्रता कम हो जाती है, उन के द्वारा सामान को किसी भी प्रकार से ले जाने की शक्ति भी कम हो जाती है। फल यह होता है कि काट-छांट से प्राप्त शिलाखंड प्रवाह के स्थान से पास या दूर में जमा होने लगते हैं। इस प्रकार के निक्षेप से नये स्थल रूपों का प्रादुर्भाव होने लगता है।

आवरणक्षय चक्र (The Cycle of Erosion)—निक्षेप पर विचार करने से आवरणक्षय की क्रियाविधि में विभिन्न दशाओं का विवेचन आवश्यक हो जाता है। यह तो हम पहिले ही देख चुके हैं कि हर प्रकार के स्थल रूपों का विभिन्न स्थितियों से होकर विकास होता है। आवरणक्षय चक्र भी इन्हीं स्थितियों के अनुरूप दशाओं में से होकर गुजरता है। नवीन अथवा प्रारम्भिक अवस्था में भूभाग का रूप विकार शुरू ही हुआ होता है। प्रौढ अथवा मध्य अवस्था में आवरणक्षय की क्रिया काफी आगे बढ़ चुकी होती है। पुरातन अथवा अन्तिम अवस्था में आवरणक्षय की क्रिया बिल्कुल बन्द हो चुकी होती है और काट-छांट की अपेक्षा निक्षेप अधिक प्रधान होता है।

यद्यपि आवरणक्षय चक्र का सामान्य रूप तो केवल नदी द्वारा काट-छांट कार्य में ही देखने को आता है परन्तु इसको हिम नदी, लहरे तथा हवा के सम्बंध में भी अध्ययन किया जा सकता है। प्रथम स्थिति में नदी नीचे को काटकर अपनी तलहटी गहरी करती रहती है। दूसरी स्थिति में दायें-बायें काट-छांट तथा घाटी चौड़ा करने का काम अधिक महत्त्वपूर्ण होता है और फल यह होता है कि जलविभाजक श्रेणियाँ संकरी होती जाती हैं यहाँ तक कि अन्तिम अवस्था में नदी अपने अन्तरस्थल को पहुँच जाती है। इस दशा में तलहटी को गहरा करने तथा घाटी को चौड़ा करने का काम खतम हो चुका होता है। नदी अब काट-छांट न करके केवल निक्षेप ही करती है। सम्पूर्ण घाटी एक पेनीप्लेन (Peneplain) में बदल जाती है। यही हाल लहरों, हवा तथा हिम नदी द्वारा आवरणक्षय का भी है केवल अन्तर इतना है कि विभिन्न स्थितियाँ या दशायाँ इतनी स्पष्ट नहीं होती। इनके आवरणक्षय चक्र में प्रथम

स्थिति वह होती है जब लहरें, हवा तथा हिम नवी नीचे की ओर काटती तथा शिलाखंड को ग्रहण करती होती है। दूसरी स्थिति में अपनयन के साथ-साथ आवरणक्षय भी होता रहता है। तीसरी स्थिति में साधन विशेष की तीव्रता बिल्कुल खतम हो चुकी होती है और शिलाखंडों का भार इतना अधिक हो चुका होता है कि अब और अधिक आगे ले जाना सम्भव नहीं होता। इसलिए अन्तिम अवस्था में काट-छाँट से बने रूप आकार रहित मैदान पर निक्षेप होने लगता है।

परन्तु आवरणक्षय का चक्र निबिघ्न रूप से कदापि नहीं चलता होता। घाटी की काट-छाँट के साथ २ भूभाग का उत्क्षेप हो सकता है। किसी विशेष स्थिति में उत्क्षेप हुआ है, इसके अनुसार ही भूदृश्य तथा स्थिति विशेष में परिवर्तन हो जायेगा। दूसरे, आवरणक्षय चक्र पर जलवायु के अंगों का भी असर पड़ता है। तर उष्ण कटिबंध तथा शीतोष्ण प्रदेशों में तापक्रम तथा वर्षा द्वारा परिवर्तन सर्व प्रधान होता है। तर उष्ण कटिबंध में भारी वर्षा तथा चट्टानों के रासायनिक विलयन के कारण भूदृश्य में शंकवाकार पहाड़ियों की प्रधानता होती है और इनके ढाल नतोदर होते हैं। भिन्न जलवायु में इसी प्रकार की अन्य विशिष्ट रूप रेखा बन जाती है।

परन्तु उत्क्षेप तथा जलवायु के तत्त्वों का प्रभाव केवल आवरणक्षय चक्र की शुरु की स्थितियों में ही पड़ता है। बाद की स्थितियाँ सब एक समान रहती हैं। अन्तिम स्थिति में या तो आवरणक्षय का मैदान (Peneplain) बन सकता है अथवा दायें-बायें काट-छाँट से बाढ़ का मैदान बन जाता है या लहरों द्वारा संकरा तटीय मैदान बन जाता है। कभी २ दो साधनों की संयुक्त कार्यशक्ति से एक विशेष प्रकार की निम्न रूपरेखा का निर्माण हो जाता है।

चाहे हम किसी भी दृष्टिकोण से विचार करें, आवरणक्षय के साधन तथा उनका चक्र भूदृश्य के निर्माण तथा विभिन्न प्रकार के स्थल रूपों की उत्पत्ति में विशेष प्रभावशाली स्थान रखते हैं।

अध्याय : : १८

अनावृत्तीकरण के साधन

(१) बहता हुआ जल

जैसे ही शुष्क भूभाग समुद्र के भीतर से बाहर निकलता है, उसके ऊपर कुछ बाह्य शक्तियाँ प्रहार करने लगती हैं। इनमें बहता हुआ जल सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वर्षा का कुछ जल तो भूमि में सोख जाता है और कुछ पुनः भाप बन कर उड़ जाता है परन्तु अधिकांश भाग जलधारा के रूप में बहने लगता है। पृथ्वी के धरातल पर स्थित नदियाँ और जलधाराएँ बहता हुआ जल हैं और इनमें वर्षा के अतिरिक्त जल, झीलों के फटने तथा पर्वतों की हिम नदियों के पिघलने से जल प्राप्त होता है। बहुत से स्थानों पर भूमि में सोखा हुआ वर्षा का जल झरनों के रूप में बाहर निकल कर बहने लगता है।

यह बहता हुआ जल सभी जगह बहुत महत्वपूर्ण होता है। पहाड़ों की तेज बहने वाली छोटी २ धाराएँ काटती छांटती हैं तथा मैदानों में घूमकर बहने वाली नदियाँ तथा मरुस्थलीय प्रदेशों में बाढ़ लाने वाली नदियाँ प्रलयकारी दृश्य उत्पन्न करती हैं। बहता हुआ जल दो प्रकार के कार्य करता है—यह स्थल का आवरणक्षय करता है और तत्पश्चात् काटे-छांटे हुये शिलाखंडों को उपयुक्त स्थान पर जमा करता है। इसके द्वारा आवरणक्षय तथा निक्षेप दोनों ही कार्य होते हैं। स्थलखंड के प्रगट होते ही उसके ढाल के अनुरूप छोटी २ धाराएँ बन जाती हैं। ये धाराएँ स्थल भाग को काटकर अपनी घाटी बनाती हैं। इस घाटी में से बहती हुई ये धाराएँ मौसमी क्षति से टूटे फूटे संपात या टालुस को अपने साथ बहा ले जाती हैं। इस भार की सहायता से नदी काट-छांट का काम करती है। जिस प्रदेश में नदी के कार्य होते रहते हैं उसे नदी पात्र (Basin) या प्रवाह क्षेत्र कहते हैं।

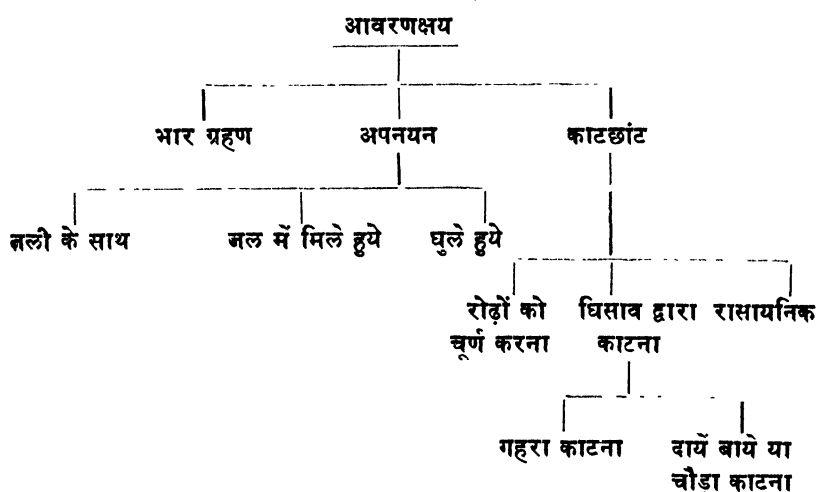
नदी के भार—के अन्तर्गत मौसमी क्षति द्वारा प्राप्त वे सभी कंकड़-पत्थर आ जाते हैं जो पर्वतों के आधार पर पड़े रहते हैं और नदी की धारा द्वारा घसीट कर नीचे को खसकते हैं। ले जाने की विधि विशेष के अनुसार नदी के भार को तीन प्रकार का कहा जा सकता है :—

(अ) जल में मिला हुआ शिलाखंड-भार

(ब) जल में घुला हुआ शिलाखंड-भार

(स) जल में घसिटा हुआ शिलाखंड-भार

नदियों द्वारा आवरणक्षय कार्य की अनेक विशेषतायें तथा दशायें होती हैं। बहता हुआ जल अपना भार ग्रहण करता है, इसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक बहन करता है और साथ २ अपनी घाटी को काटता छांटता भी जाता है। विभिन्न स्थितियाँ तथा उनका परस्पर सम्बन्ध निम्न चार्ट से स्पष्ट हो जायेगा—



संपात अथवा तालुस के छोटे-छोटे कण जल में मिले रहते हैं। इसी कारण नदी का जल मटमैला दिखलाई पड़ता है। इसके अलावा नदी के जल में कुछ प्रकार की चट्टानों को घुलाने की शक्ति होती है और इन्हें घोल के रूप में घुलाये रहता है। परन्तु ये दोनों प्रकार के भार इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं जितना कि तीसरे प्रकार का भार जिसके अन्तर्गत बड़े-बड़े रोड़े तथा शिलाखंड शामिल होते हैं और नदी की तलहटी के साथ रगड़ खाते हुए, बलकते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। प्रवाह में ये बड़े-बड़े पत्थर आपस में टकराते हैं और फलस्वरूप टूट कर नुकीले कंकड़ बन जाते हैं। नदी की तलहटी के साथ लगातार घिसते रहने के कारण ये नुकीले शिलाखंड गोल पत्थर बन जाते हैं और फिर चूर्ण होकर बालू बजरी में परिणत हो जाते हैं। बड़े-बड़े कंकड़-पत्थर तथा रोड़ों को चूर करके बालू बजरी में बदल देना नदी द्वारा आवरणक्षय की प्रथम क्रिया है।

एक ओर तो बड़े-बड़े शिलाखंड आपस में टकराकर चूर्ण हो जाते हैं और दूसरी ओर ये ही नदी की तली तथा इसके पार्श्वों के साथ रगड़ खाते रहते हैं। फल यह होता है कि नदी की तलहटी और गहरी होती जाती है और इसकी दीवारों के बीच की जगह चौड़ी होती जाती है। इसे घिसाव द्वारा काट-छाट कहते हैं। जल में घसिटा हुआ कंकड़-पत्थर की रगड़ से नदी की तली की गहराई बढ़ना गहरा काटना कहलाता है और जल में मिले हुए भार से दीवारों का दायें बायें को कट कर चौड़ा होना चौड़ा काटना कहलाता है। नदी की प्रथम स्थिति में यह अपनी तली को गहरा करती रहती है परन्तु दूसरी अवस्था में चौड़ी करने का काम अधिक प्रधान रहता

है। नवीन नदियों की मुख्य क्रिया गहरा काटना होती है परन्तु प्रौढ़ नदियों में चौड़ा काटने की क्रिया मुख्य होती है। प्रौढ़ नदी की धारा इधर से उधर घूमती तथा मोड़ खाती हुई बहती है और अपने जल विभाजकों को काट कर छोटा व संकरा करती जाती है। नदी की ये दोनों क्रियाये वर्षणीय आवरणक्षय कहलाती हैं।

अपनी तलहटी तथा दीवारों को घिस कर काटने के अतिरिक्त नदी उन चट्टानों को भी घिस कर नष्ट कर डालती है जिन पर से होकर वह प्रवाहित होती है। बहुत से खनिजनमक घुलकर नदी जलमें मिल जाते हैं। इस क्रियाको रासायनिक काट-छांट कहते हैं।

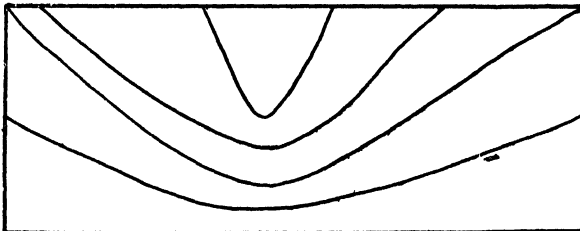
नदी के द्वारा काट-छांट तथा इसकी क्षयकारी क्रियाये निम्नलिखित तत्त्वों पर निर्भर रहती हैं :—

- (१) पानी की मात्रा (२) जल की गति (३) नदी का भार तथा (४) तलहटी की चट्टानों की प्रकृति।

नदी में पानी की मात्रा नदी के स्रोत तथा प्रदेश में वर्षा की मात्रा पर निर्भर रहती है। हिमनदियों से निकलने वाली नदियों में जल की मात्रा उस समय अधिक होती है जब बर्फ पिघलती है। इस प्रकार कुछ समय ऐसे होते हैं जब नदी में पानी की मात्रा अधिक हो जाती है और साथ-साथ नदी की चाल भी तेज हो जाती है।

नदी जल की गति जल की मात्रा तथा तलहटी के ढाल पर निर्भर रहती है। जल की मात्रा जितनी ही अधिक होती है तथा ढाल जितना ही तीव्र होता है, जल की धारा उतनी ही अधिक तेज होती है। नदी घाटी की दीवारों के बीच के फासले का भी नदी की रफ्तार पर असर पड़ता है। संकरी कन्दरा जैसी घाटियों में से होकर बहने वाली नदी की धारा चौड़ी घाटी की अपेक्षा कहीं तेज होती है।

नदी में जल की मात्रा तथा रफ्तार पर नदी की क्षय शक्ति निर्भर रहती है। जितनी ही रफ्तार तेज होगी नदी में उतनी ही अधिक भार वहन करने की शक्ति भी होगी। यदि नदी की रफ्तार दूनी कर दी जाय तो यह पहिले की अपेक्षा ६४ गुना अधिक भार वहन कर सकेगी। भार वहन शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही अधिक भार होगा तथा तदानुसार काट-छांट करने की शक्ति भी अधिक



चित्र ८०—नदी तलहटी का कटाव

होगी क्योंकि शुद्ध जल में क्षयकारी शक्ति नहीं के बराबर होती है। नदी द्वारा काट-छांट अथवा आवरणक्षय उसके भार के अनुपात में ही होता है। जब नदी का भार उतना ही होता है जितना इसे सामान्यतः ले जाना चाहिए तो नदी न तो काटती है और न निक्षेप ही करती है। परन्तु यह बात केवल कहने के लिए ही होती है।

सत्य तो यह है कि नदी का भार या तो पूर्ण-मात्रा से कम होता है या उससे अधिक । जब उचित मात्रा से अधिक भार होता है तो निक्षेप होने लगता है । इसके विपरीत जब नदी का भार कम होता है तो यह अपनी घाटी को काटती है । इस प्रकार नदी या तो अपनी तलहटी को काटती रहती है या उस पर तलछट जमा करती रहती है ।

नदी घाटी रचना—नदी जल के क्रिया-कलाप के फलस्वरूप उसकी घाटी की रचना होती है । घाटी की रचना का आदि श्रीगणेश तो तभी हो सकता है जब वर्षा की जलधाराये अपने लिये मार्ग ढूँढ़ निकालती हैं । छोटी-छोटी जलधाराओं के बनते ही गहरा काटने का काम शुरू हो जाता है । इस समय कोई भी सहायक नदियाँ नहीं होतीं । जल की मात्रा तथा भार भी अधिक नहीं होता । इसलिए एक संकरी पर गहरी घाटी बन जाती है । जैसे-जैसे समय बीतता जाता है नदी में जल की मात्रा

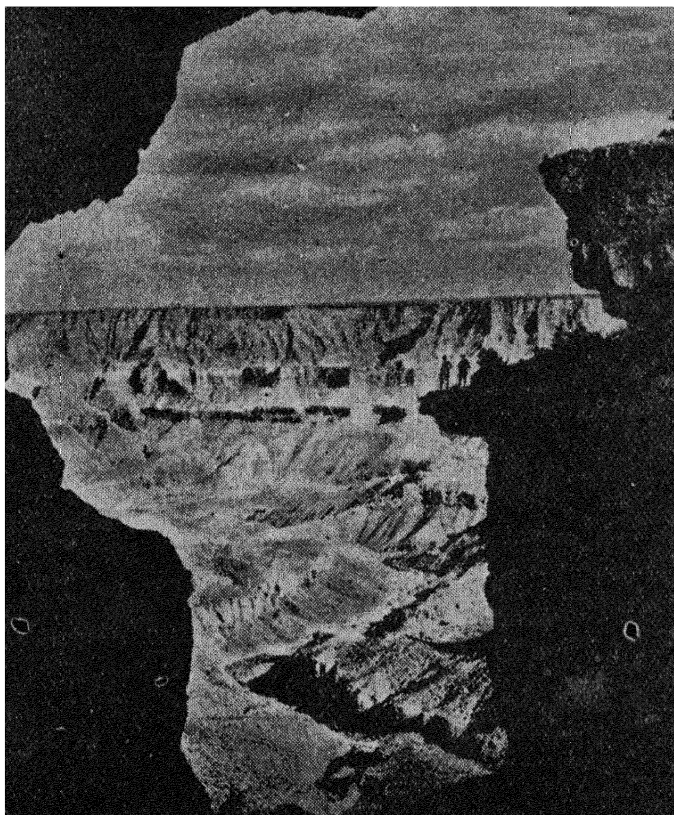


चित्र ८१—नदी की तलहटी की काट-छाट

तथा उसका भार दोनों ही बढ़ते जाते हैं । फल यह होता है कि नदी अपनी दीवारों को भी काटने लगती है । घाटी की दीवारों की काट-छांट में वर्षा, वायु तथा सूर्य से भी सहायता मिलती है । दीवारें चौड़ी होने लगती हैं और घाटी अंग्रेजी वर्णमाला के फैलाये हुये V अक्षर के समान हो जाती है । यदि चट्टानों की बनावट इतनी कठोर है कि केवल गहरा करने की क्रिया ही हो सकती है तो जो घाटी बनेगी वह गहरी तथा संकरी कन्दरा होगी । यदि गहरा करने के साथ-साथ चौड़ा करने की क्रिया भी होती रहती है तो नदी की घाटी की रचना सामान्य अक्षर V के समान होगी ।

प्रारम्भिक अवस्था में गहरा काटने की क्रिया ऐसे विशिष्ट प्रकार से होती है कि नुकीले पत्थर वृत्ताकार भँवर में चक्कर काटते रहते हैं । इससे नदी घाटी की तली में गड्ढे तथा गर्त बन जाते हैं । बाढ़ की स्थिति में जब नदी धारा का भार अधिक रहता है तो नदी घाटी की रचना अधिक समरूप से होती है जैसे कि रेतनी द्वारा बराबर कर दी गई हो । इस बाढ़ की स्थिति में किनारों पर की काटछांट गहरा करने की क्रिया की अपेक्षा अधिक प्रधान होती है । गहरा करने की अपेक्षा चौड़ा करने की क्रिया अधिक प्रधान होती है । जैसे-जैसे दीवारों को काटने की क्रिया अधिक प्रधान होती जाती है, नदी के आदि मोड़ बढ़ जाते हैं । अपने नतोदर किनारे को नीचे से काटती हुई नदीका मार्ग घुमावदार होता जाता है । नदीमें घुमाव पड़ जाते हैं और

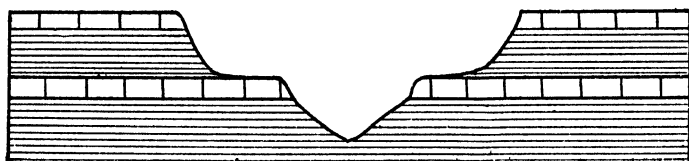
बाहर को निकली हुई पर्वत शाखायें बन जाती हैं। और भी बाद की स्थिति में नदी द्वारा चौड़ा काटने की क्रिया इतनी प्रखर हो जाती है कि ये पर्वत शाखायें पीछे को हटने लगती हैं और इन पर्वत शाखाओं के आधार पर संकरी मैदानी पट्टियाँ बन जाती हैं। यदि नदी की धारा में काफी शक्ति हुई तो ये पर्वत शाखायें बिल्कुल ही नष्ट हो जाती हैं और नदी एक चौड़े मैदान में से होकर बहने लगती है तथा उसकी दोनों भुजाओं पर तीव्र ऊँचाइयाँ खड़ी रहती हैं। इसे घुमाव का प्रदेश कहते हैं और यही बाद में बाढ़ के मैदान में बदल जाता है।



चित्र ८२—कोलेरैंडो की कन्दरा

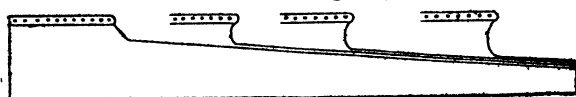
परन्तु घाटी की खंड रचना बहुत हद तक चट्टानों की बनावट पर निर्भर रहती है। घुलनशील चूने के पत्थर या खड़िया के बने प्रदेश में बनी नदी घाटी गोलाकार होगी। वर्षा की कमी तथा कठोर चट्टानों के कारण कोलेरैंडो नदी अभी भी एक गहरी संकीर्ण कन्दरा में से होकर बहती है और इसकी रूपरेखा नवीन नदी जैसी बनी हुई है। कठोर परतें किस कोण पर झुकी हुई हैं इस बात का भी घाटी रचना

पर बड़ा असर पड़ता है। आवरणक्षय मे विभिन्नता के कारण कई प्रकार की अनियमितायें उत्पन्न हो जाती हैं। यदि कठोर तथा मुलायम चट्टानों की परते एक के ऊपर एक करके बिछी हुई हैं तो घाटी में रचनात्मक चट्टानी पीठिकायें (Structural Rock Benches) बन जायेंगी। यदि कठोर परते मुलायम परतों के साथ-साथ स्थित होकर नदी के बहाव की ओर थोड़ा सा झुकी हुई हैं तो नदी की धारा में प्रपाती की एक शृंखला सी बन जायेगी। समतल मुलायम चट्टानी परत के नीचे यदि कठोर चट्टान की तह लम्बरूप स्थित है तो नदी की घाटी रचना में जलप्रपात बन जायेंगे।



चित्र ८३—रचनात्मक चट्टानी पीठिकाएँ

जब कठोर चट्टान समतल रूप से समाकार मुलायम चट्टान पर स्थित होती है तो जलप्रपात ज़रूर बनता है परन्तु कठोर चट्टान के नीचे कटाव होते रहने से यह जलप्रपात हमेशा पीछे को हटता रहता है। जलप्रपात में जैसे जल गिरता है यह एक गड्ढा बना लेता है। लगातार पानी गिरते रहने से यह गड्ढा बराबर बढ़ता जाता है और इसके कारण नीचे की मुलायम चट्टान आधार पर से पीछे को कटती जाती है। जैसे-जैसे जलप्रपात पीछे को हटता है, इसकी ऊँचाई भी घटती जाती है और यह सर्वथा सम्भव रहता है कि कालान्तर मे यह बिल्कुल ही गायब हो जाए।



चित्र ८४—जलप्रपात का पीछे हटना

इस प्रकार की अनियमितायें नवीन अवस्था में तथा नदी की ऊपरी घाटी में अधिक होती हैं। काफी अरसे के बाद नदी की धारा इसको सपाट करने में सफल हो पाती है और फलस्वरूप उद्गम से समुद्र तक इसकी तलहटी काफी सपाट व चौरस हो जाती है। इस स्थिति में नदी में केवल इतनी शक्ति भर रहती है कि यह सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जा सके। इसके द्वारा न तो काट-छांट होती है और न निक्षेप ही।

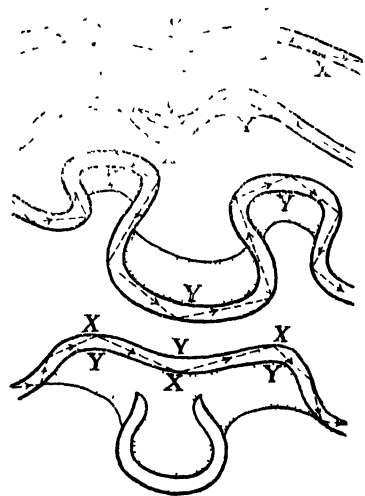
घाटी के भाग—जहाँसे नदी निकलती है उसे उसका उद्गम कहते हैं और जहाँ नदी समुद्र में मिलती है उसे नदी का मुहाना कहते हैं। उद्गम से मुहाने तक नदी की घाटी के तीन भाग होते हैं—(१) ऊपरी भाग (२) मध्य भाग तथा (३) निचला भाग। दूसरे शब्दों में इन्हें ऊपरी घाटी, मध्य घाटी तथा निम्नघाटी कह सकते हैं।

नदी की ऊपरी घाटी प्रायः पर्वतों के बीच स्थित होती है और इसमें अनेक अनियमितायें पाई जाती हैं। इस भाग में नदी की गति बड़ी तेज होती है परन्तु इस तेज बहने वाली धारा में जल की मात्रा कम होती है और कंकड़-पत्थरों का अभाव

होता है। इस कारण इसमें अधिक शक्ति नहीं रहती। यद्यपि नदी अपनी तलीको गहरा करती रहती है आवरणक्षय अधिक नहीं होता। नदी का ऊपरी मार्ग टेढ़ामेढ़ा होता है और उसमें बहुत से प्रवाती तथा जलप्रपात होते हैं। आसपास के पर्वतों से गिरने वाली चट्टानें रास्ता रोक देती हैं और इस रुकावटके कारण अक्सर बाढ़ आ जाती है।

नदी की मध्य घाटी वहाँ से शुरू होती है जहाँ नदी पर्वत प्रदेश को छोड़ कर मैदान में प्रवेश करती है। ढाल तथा विस्तार में परिवर्तन के साथ-साथ ही नदी की धारा का बहाव भी धीमा पड़ जाता है और इसकी गति कम हो जाती है। शुष्क प्रदेशों को छोड़ कर, अन्य सभी जगह इस भाग में नदी की धारा जलपूर्ण होती है और उसमें शिलाखण्डों का भार भी अधिक होता है। इसलिए इसी भाग में तली की काटछांट सबसे अधिक होती है। गहरा काटने के साथ-साथ चौड़ा काटने की क्रिया भी चलती रहती है। नदी की धीमी जलधारा जरा सी रुकावट से मुड़ जाती है और नदी के मार्ग में घुमाव पड़ जाते हैं। सच तो यह है कि कोई भी धारा अधिक समय तक सीधी नहीं रह सकती जब तक कि उसका प्रवाह बहुत तेज न हो। पृथ्वी के आवर्तन के कारण प्रत्येक प्रकार का प्रवाह मुड़ जाता है।

नदी के मार्ग में इस प्रकार से बने मुड़ाव को घुमाव (Meanders) कहते हैं। घुमाव में नदी की धारा नतोदर किनारे पर तो बड़ी तेज होती है और इसलिए उसे खूब काटती है परन्तु उन्नतोदर किनारे पर धारा बड़ी धीमी होती है। इसलिए उस तरफ निक्षेप होता है। नतोदर किनारे पर धारा नीचे से काटती है और उन्नतोदर किनारे पर निक्षेप करती है, इसलिए नदी इधर-उधर मुड़ती हुई बहती है। इसकी धारा कभी एक किनारे पर तेज होती है तो कभी दूसरे किनारे पर। फल यह होता है कि घुमाव बढ़ते जाते हैं यहाँ तक कि वे पूर्ण वृत्ताकार हो जाते हैं। जैसे ही ये घुमाव पूर्ण वृत्तके आकर के हो जाते हैं, नदी के निक्षेप उनके मुँह को बन्द कर देते हैं और इस प्रकार वे नदी की धारा से कट कर अलग हो जाते हैं। नदी इन घुमावों को छोड़ कर भिन्न दिशा में बहने लगती है और इन परित्यक्त घुमावों में धनुषाकार (Oxbow) झीले बन जाती हैं। नदी का इस प्रकार अपने घुमावों को काट कर भिन्न दिशा में बहना घाटी के मध्य भाग की विशेषता है।



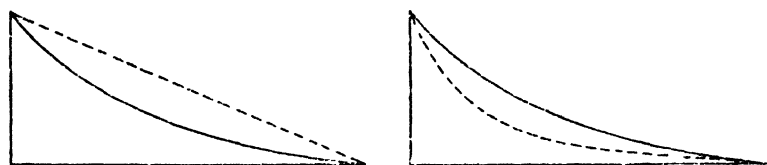
चित्र ८६—नदी के मार्ग में घुमावों का विकास

नदी की निम्न घाटी में ढाल विस्तार बहुत कम होता है। इसलिए नदी की धारा बड़ी ही धीमी हो जाती है। यहाँ पर नदी का भार भी बहुत अधिक होता है और यह सबका सब नदी की धीमी धारा ले

जाने में असफल रहती है। इसलिए यहाँ की प्रधान क्रिया निक्षेप है। गहरा काटने की क्रिया नहीं के बराबर होती है और चौड़ा करने की क्रिया भी अधिक नहीं होती। अत्यधिक निक्षेप के कारण नदी की धारा का बहाव बराबर बदलता रहता है और इसका मार्ग फिर टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता है।

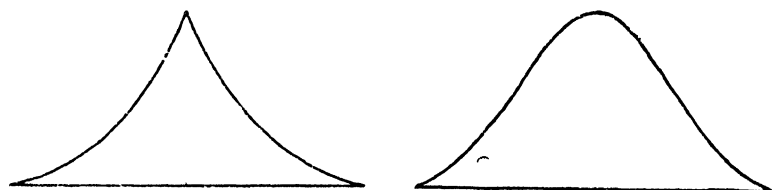
जल द्वारा आवरणक्षय की दिशा—नदी के जल की क्षय शक्ति उसके उद्गम तथा मुहाने पर नहीं के बराबर होती है। इस प्रकार नदी घाटी के ऊपरी और निचले सिरों पर कोई आवरणक्षय नहीं होता। नदी घाटी के मध्य भाग में किसी स्थान पर सबसे अधिक आवरणक्षय होता है। इस विशेषता के कारण नदी के मार्ग का सम ढाल नतोदर हो जाता है। इसको जल द्वारा आवरणक्षय की दिशा कहते हैं।

जल द्वारा आवरणक्षय की नतोदर दिशा जल विभाजक तक नहीं रहती। यही कारण है कि सामान्य जल-विभाजक हमेशा उन्नतोदर होता है और शिखर पर गोलाकार होता है। यदि आवरणक्षय की दिशा जल-विभाजक तक बढ़ी हुई तो जल-विभाजक की रूपरेखा तीक्ष्ण हो जाती है। इस तीक्ष्ण जल-विभाजक को नतोदर जल-विभाजक (Cusplate Watershed) कहते हैं। परन्तु इस प्रकार के जल-विभाजक कभी-कभी ही बनते हैं। चित्र नं १०३ तथा १०४ से जल-विभाजक के विकास एवं नाश का ज्ञान होता है।



चित्र ८६—जल द्वारा आवरणक्षय की दिशा

इस सिलसिले में एक बड़ी महत्वपूर्ण ध्यान देने योग्य बात यह है कि नदियाँ अपनी घाटी को पीछे की तरफ काटती हैं। इसको उद्गम की ओर आवरणक्षय कहते हैं। इसका संकेत तथा प्रमाण जलविभाजक के नाश तथा जल द्वारा आव-



चित्र ८७—(अ) नतोदर जलविभाजक (ब) सामान्य जलविभाजक

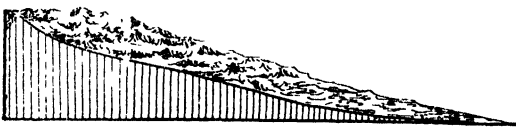
रणक्षय की दिशा से मिलता है। उद्गम की ओर आवरणक्षय की भी एक सीमा होती है। नदी अपने उद्गम से परे काट नहीं सकती परन्तु बहुत से ऐसे उदाहरण हैं जिनमें यह देखा जाता है कि नदी की घाटी उद्गम से परे तक फैल गई है। परन्तु इस विशेषता का कारण नदी द्वारा पीछे को कटाव कदापि नहीं है। वर्षा और तुषार का भी उद्गम स्थान पर अत्यधिक असर पड़ता है। फल यह होता है कि नदी का

उद्गम नदी के कटाव की दिशा में ही हटने लगता है । इस प्रकार नदी का उद्गम पोछे को हटाता जाता है और नदी की घाटी उद्गम से परे को बढ़ जाती है ।

उद्गम की ओर आवरणक्षय उन नदियों में सबसे अधिक होता है जो अपने अन्तरस्थल (Grade) पर पहुँच चुकी है । इसलिए उद्गम की ओर आवरणक्षय की विशेषताओं को समझने के लिए नदी के अन्तरस्थल (Grade) के बारे में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है ।

अन्तरस्थल (Base level or Grade)—नदी के जीवन में यह वह अवस्था है जबकि नदी ने अपनी तलहटी को इतना गहरा कर लिया होता है कि अधिक गहरा कटाव सम्भव नहीं होता और दूसरे इसका भार इतना पूर्ण चित्र ८८—जलविभाजक का एक ही दिशा में खसकना होता है कि नदी न तो निक्षेप करती है और न आवरणक्षय ही । यह केवल शिलाखंडों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाती है । यह दशा नदी के मुहाने पर होती है । जहाँ नदी समुद्र से मिलती है वहाँ गहरा करने की क्रिया नगण्य होती है और इसीलिए यह स्थायी अन्तरस्थल होता है और इसका नदी जल द्वारा आवरणक्षय पर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है । इसी प्रकार मुख्य नदी के साथ सहायक नदी का संगम भी स्थानीय अन्तरस्थल बनाता है जोकि सहायक नदी द्वारा आवरणक्षय को नियंत्रित करता है ।

कुछ लोग इसे आवरणक्षय की आधार रेखा भी कहते हैं । जर्मन भाषा में इसको थालवेग (Thalweg) कहते हैं । जो नदियाँ अन्तरस्थल तक पहुँच चुकी होती हैं उनके मार्ग का ढाल ऐसा होता है कि नतोदर भाग ऊपर को होता है परन्तु ऐसा कभी भी वास्तविक रूप से सम्भव नहीं हुआ है । वास्तव में अन्तरस्थल को प्राप्त नदी केवल एक कल्पना मात्र है । यह वह समस्थिति है जब निक्षेप और आवरणक्षय क्रियाएँ बराबर होती हैं । इस प्रकार की समस्थिति प्रायः कभी भी नहीं आ पाती क्योंकि जब तक नदी द्वारा अपनयन होता रहता है यह निश्चय है कि नदी के किसी-न-किसी भाग में निक्षेप की अपेक्षा आवरणक्षय अधिक होगा । ऐसा कभी भी सम्भव नहीं कि नदी का भार, जल की मात्रा तथा रफ्तार इतने स्थायी हो जाये कि नदी न तो काट-छांट करे और नहीं निक्षेप करे । इसलिए केवल अस्थायी अन्तरस्थल ही बन पाते हैं और वे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार के स्थानीय अन्तरस्थल वहाँ पर बन जाते हैं जहाँ नदी किसी कठोर चट्टान पर से गुजरती है या जहाँ यह शील में जाकर मिलती है या जहाँ इसमें कोई अन्य सहायक नदी आकर मिलती है ।



चित्र ८९—नदी का अन्तरस्थल

नदी घाटी चक्र—
नदियों द्वारा आवरणक्षय की तीव्रता के अनुसार,

नदियों की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। यथानुसार नदियाँ नवीन, प्रौढ़ तथा पुरातन होती हैं परन्तु इसका इनकी आयु से कोई सम्बन्ध नहीं है। समय या वर्षों से इन विशेष दशाओं अथवा अवस्थाओं का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ आयु के अनुसार नदियाँ पुरानी हैं परन्तु अवस्था, दशा तथा स्थिति के अनुसार वे अभी भी नवीन हैं। नदी की अवस्था या स्थिति नदी द्वारा आवरणक्षय पर निर्भर रहती है और उसी से निर्धारित की जाती है।

नवीन नदी की घाटी संकरी तथा गहरी होती है और उसमें बहुत से प्रपाती तथा जलप्रपात पाये जाते हैं। नदी का मार्ग ऊबड़-खाबड़ होता है और जल-विभाजक अविकसित होते हैं। जैसे ही घाटी बनती है गहरा करने की क्रिया सर्वप्रधान होती है और बीच में धारा सब से अधिक तेज होती है। फल यह होता है कि चौड़ा करने की अपेक्षा घाटी अधिक तेजी से गहरी होती है। इसीलिए घाटी गहरी होती है तथा इसकी दीवारों का ढाल तीव्र होता है। इस प्रकार की गहरी घाटी को कन्वरा (Canyon) कहते हैं।

प्रौढ़ नदी में तलहटी को गहरा करने की अपेक्षा घाटी को चौड़ा करने की शक्ति अधिक होती है। जलधारा का प्रवाह बहुत तेज नहीं होता और नदी धीरे-धीरे घुमावों में से होकर बहती रहती है। मुख्य नदी से बहुत सी सहायक नदियाँ भी आकर मिल जाती हैं और इधर उधर निकली हुई पर्वतशाखाएँ नीचे से कट जाती हैं। जल-विभाजक भी क्रमशः संकरे हो जाते हैं और घाटी में ढीले तथा मैदान रहते हैं। वास्तव में जब नदी अन्तर स्थल को पहुँच जाती है तो उसकी घाटी को प्रौढ़ कहते हैं।

पुरातन नदी इतनी धीमी हो जाती है कि यह कुछ भी शिलाखंड नहीं ले जा सकती। इसके अन्दर आवरण-क्षय की शक्ति नहीं होती और इसीलिए मुख्य क्रिया निक्षेप होती है। सम्पूर्ण घाटी कट-छंट कर चौड़ा बाढ़ का मैदान बन जाता है और केवल छोटे-छोटे ढीले इधर-उधर दिखलाई पड़ते हैं। इस मैदान के बीच से पुरातन नदी धीरे-धीरे इधर से उधर घूमती हुई बहती रहती है। यह अपना मार्ग भी नहीं बदल सकती। इसलिए अपने किनारों से बहुत नीचे यह अपनी मूल स्थिति में ही बहती रहती है। लगभग तलछट के जमाव के कारण इसके किनारे ऊँचे हो जाते हैं।

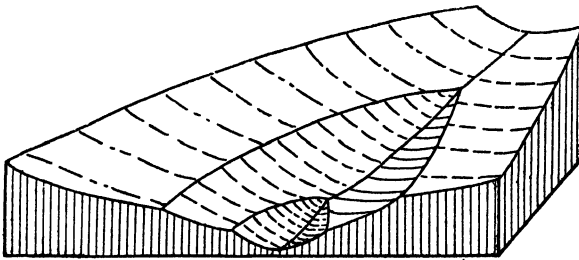
नदी का नवजीवन—नदी कदाचित् ही पुरातन अवस्था में पहुँच पाती है। हमारी पृथ्वी बड़ी ही अस्थायी है और हलचलें प्रायः हमेशा हुआ ही करती हैं। ये हलचलें उत्क्षेप, निमज्जन तथा जलवायु में परिवर्तन से सम्बन्ध रखती हैं। कभी-कभी नदी के उद्गम स्थान पर भारी वर्षा हो जाती है। इन परिवर्तनों के कारण सारा किया कराया काम बिगड़ जाता है। आवरणक्षय चक्र का क्रम उल्टा जाता है और फिर से काट-छांट शुरू हो जाती है। इसको नदी में नवजीवन कहते हैं। इससे नदी का काया-कल्प हो जाता है और इस प्रकार की नदी को नवजीवित नदी कहते हैं तथा इसके फलस्वरूप बने स्थलरूपों को नवजीवन के स्थलरूप कहते हैं।

प्रायः नवजीवन का संचार काफी प्रौढ़ स्थिति में होता है। प्रवेश में उत्क्षेप हो सकता है जिससे फिर गहरा करने वाली काट-छांट शुरू हो जाती है। यह सब उस समय होता है जब नदी अपने अन्तरस्थल को प्राप्त कर चुकी होती है और उसके मार्ग में घुमाव

बन चुके होते हैं या दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि जब नदी पूर्णतया प्रौढ़ हो जाती है। परन्तु नदी के विकास की किसी भी स्थिति में नवजीवन हो सकता है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आवरणक्षय चक्र एक नहीं कई हो सकते हैं। नव-जीवन के संचार के बाद प्रथम आवरणक्षय चक्र के स्थान पर दूसरा आवरण-क्षय चक्र शुरू हो जाता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि एक स्थलरूप के आवरण-क्षय चक्र में कोई बाधा आ सकती है जिससे उसे कई और आवरण-क्षय चक्रों में से हो कर गुजरना पड़ता है। अन्त में, फल यह होता है कि साधारण भूदृश्य तथा प्राकृतिक रूप रेखा का मूल घरेरों अथवा प्राकृतिक रचना से कोई भी सम्बन्ध नहीं रह जाता।

नवजीवन का संचार दो कारणों से होता है। अन्तरस्थल के छोटे-मोटे परिवर्तन जिन्हें बाधाएं कहते हैं और ज्वालामुखी तथा जलवायु सम्बन्धी परिवर्तन जिन्हें आकस्मिक घटनाएँ कहते हैं। इन बाधाओं तथा आकस्मिक घटनाओं के कारण वर्तमान आवरण-क्षय चक्र में रुकावट पड़ जाती है और नये चक्र का सूत्रपात हो जाता है। और जैसे ही नये आवरण-क्षय चक्र का सूत्रपात होता है, निम्नलिखित बातें दिखलाई पड़ने लगती हैं—

(१) नदियाँ अपनी तलहट्टियों को दुबारा काटने छाँटने लगती हैं। और जल द्वारा आवरण-क्षय की दिशा पुनः बनने लगती है। जहाँ पर आवरण-क्षय की वर्तमान दिशा पुरानी दिशा को छूती है वहाँ के ढाल में बहुधा अन्तर आ जाता है और इसे 'निक बिन्दु (Knick point)' या नव-जीवन शीर्ष कहते हैं। इस बिन्दु पर प्रायः जलप्रपात रेखा बनी होती है जिस पर से होकर नदियाँ मुख्य नदी में या मुख्य नदी समुद्र की ओर जाती है। जब कई बार नवजीवन या काया-कल्प हो चुका होता है तो नदी की रूपरेखा मिश्रित हो जाती है।



चित्र ६०—नदी की मिश्रित रूपरेखा तथा निक बिन्दु

(२) निक्षेप द्वारा बने बाढ़ के मैदानों को काट कर नदियाँ अपनी तलहट्टी बनाने लगती हैं। फलतः दायें और बायें मृत्तिकामय उत्तल (Alluvial Terraces) बन जाते हैं। इन नदी निर्मित उत्तलों में शुष्क भूमि पाई जाती है और प्राणिज अवशेष मिलते हैं। इनमें पर्याप्त भूगर्भवती जल भी होता है। इन उत्तलों का ऊपरी भाग सपाट तथा ढाल तीव्र होता है। नदी के दोनों ओर ये उत्तल समानान्तर पट्टियों में स्थित रहते हैं यद्यपि इनकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई अलग-अलग होती है। ये उत्तल उस समय बनते हैं जब नदी की तलहट्टी में तलछट जमा होने के साथ गहरा

कटाव भी होता रहता है। भूगर्भ-शास्त्र के दृष्टिकोण से निक्षिप्त सामग्री के हटाव की विभिन्न स्थितियों का ज्ञान इन उत्तलों द्वारा होता है। यह हटाव अथवा कटाव या तो बायें बायें की काट-छांट में विभिन्नता अथवा अपूर्ण काट-छांट के कारण उत्पन्न होता है। नदी के मार्ग में घुमावों के कारण काट-छांट अपूर्ण रह जाती है।

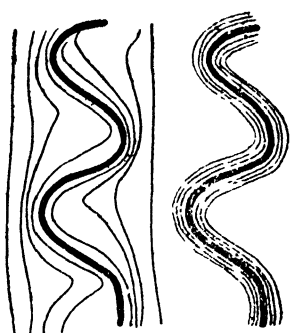
(३) जैसे ही नदी गहरा करने वाली काट-छांट शुरू करती है नदी के घुमाव अपना आकार तथा स्थिति बदलने लगते हैं। यदि कटाव तेजी से होता है तो



चित्र ६१—मृत्तिकामय उत्ताल

अन्दर फंसे हुये (Intrenched) और यदि कम तीव्र है तो अन्दर बने हुये (Ingrown) घुमाव बन जाते हैं। इस प्रकार के घुमावों की रचना चट्टानों की बनावट पर निर्भर रहती है। जब नदी द्वारा लाई हुई मृत्तिका में कटाव होता है तो घुमाव नदी की धारा की दिशा में खसकने लगते हैं और खसकते समय उत्तलों को काट कर नष्ट कर देते हैं। अक्सर इस प्रकार हटने और खसकने में कटे हुये घुमाव अलग छुट जाते हैं और इन परित्यक्त कटावदार घुमावों में बहुधा हिम प्रवाह की मिट्टी बालू भर जाती है। दूर से ये भूमि पर पड़े धब्बे या खंरोच के चिन्ह से मालूम पड़ते हैं और भूदृश्य की शोभा बढ़ाते हैं।

नदी निक्षेप और उनके विविध रूप—नदी की निम्न तथा मध्य



चित्र ६२—कटे हुये घुमाव

घाटियों में जल की धारा बड़ी ही धीमी हो जाती है। अतएव निक्षेप होने लगता है। जैसे ही नदियाँ समुद्र की ओर बहती हैं वे अपनी तलहटी तथा किनारे के मैदानों में मिट्टी बालू जमा करती जाती हैं। इस निक्षेप से अनेक प्रकार के रूप व आकृतियाँ बन जाती हैं जिन में स्तूप, पर्वतशाखाये, अवरोधी श्रेणियाँ, बंध, पंख तथा डेल्टा प्रधान हैं।

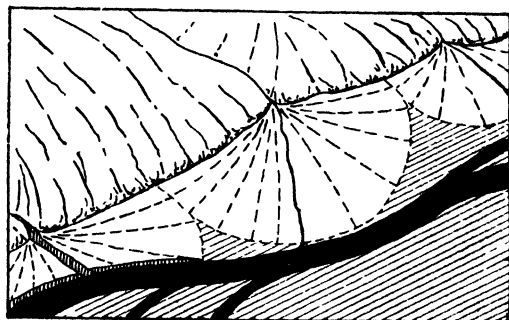
(अ) मृत्तिकामय शंकु अथवा पख

(Alluvial Cones or fans)—पर्वतों के आधार पर उस स्थान पर बनते हैं जहाँ नदियाँ

मैदानों में प्रवेश करती हैं। जैसे ही नदी पर्वत प्रदेश को छोड़कर मैदान में प्रवेश करती है इसकी धारा रुक जाती है और इसकी बहन शक्ति कम हो जाती है। अतः मोटी बजरी बालू और कंकड़ शंकवाकार टीलों में इकट्ठा हो जाती है। जब दो या अधिक शंकु आपस में मिल जाते हैं तो उनका आकार पख के समान लगने लगता है।

मृत्तिकामय शंकु महीन कणों के बने होते हैं और उनका आकार अपेक्षाकृत अधिक चौरस होता है। इसके अलावा छोटी नदियों द्वारा बनाये शंकु अधिक ढालू होते हैं। वास्तव में सत्य तो यह है कि नदी का निक्षेप संपात या तालुस में मिलकर उनका

आकृति शंकु की तरह कर देता है। इन शंकवाकार निक्षेपों के प्रदेश में नदी की गति बहुत धीमी पड़ जाती है और जल का बहुत अधिक भाग सोख कर नष्ट हो जाता है क्योंकि यह निक्षेप प्रवेश्य तथा छिद्रदार होता है। इसलिए पानी अन्दर प्रवेश कर जाता है और फिर बाहर निकलता है। इस प्रकार के शंकु शुष्क प्रदेशों में अधिक बनते हैं क्योंकि वहाँ अक्सर 'मेघ विस्फोट' वाली मूसलाधार वर्षा होती है और इसके फलस्वरूप जल तेजीसे धाराओं में बहने लगता है। ये धारायें वनस्पति हीन ढाल पर से होकर बहती हैं और काफी मिट्टी बालू ले जाती है। बाढ़ में पानी भाप बनकर उड़ जाता है और बजरी बालू का शंकवाकार निक्षेप बना रह जाता है।



(ब) नदी की मध्य घाटी में बाढ़ के दिनों में नदी

चित्र ६३—मृत्तिकामय शंकु

द्वारा निक्षेप होता है परन्तु यह अपनी तलहटी में भी तलछट जमा करती रहती है जिससे स्तूप, पर्वतशाखाएँ तथा बालू की अवरोधी श्रेणी भी बन जाती है। क्रमशः निक्षेप द्वारा नदी की तली समीपवर्ती मैदान की अपेक्षा ऊँची हो जाती है।

(स) नदी की मध्यघाटी में निक्षेप दो प्रकार से होता है—लहरों तथा धारा के बहाव से और नदी की बाढ़ से नदी की धारा की प्रवाह की दिशा में जैसे-जैसे घुमाव पड़ते जाते हैं मोटी बजरी, बालू तथा कंकड़-पत्थर किनारों पर जमा होते जाते हैं। इस प्रकार के बहाव निक्षेप द्वारा उन्नतकगार (Levees) अथवा स्वाभाविक बन्ध (Natural Embankments) बन जाते हैं। ये उन्नतकगार नदियों के किनारों पर उठे रहते हैं और प्रति मील में इनका ढाल ५ से १० फीट तक होता है। बहुत से स्थानों पर इन उन्नतकगारों को कृत्रिम तरीकों से पक्का कर दिया गया है ताकि बाढ़ के समय नदी इनको तोड़ कर किनारों को जलमग्न न कर सके। परन्तु इसमें सफलता नहीं मिली है।

(द) बाढ़ के दिनों में महीन कणों के निक्षेप से बाढ़ के मैदान बन जाते हैं। इन मैदानों के ऊपर मृत्तिका की चादर सो दूर तक फैली होती है और इनके बीच में धनुषाकार झीलें तथा दलदल पाये जाते हैं। सम्पूर्ण मैदान रचना के दृष्टिकोण से लहरदार होता है और नदी के घुमाव सभी जगह पाये जाते हैं।

(इ) नदी की निम्नघाटी में नदी द्वारा निक्षेप को डेल्टा कहते हैं। निम्न-लिखित दशाओं में डेल्टा अच्छी तरह बनते हैं—

(१) नदी का उदगम ऊँचे पहाड़ों में हो और इसकी सहायक नदियाँ काफी विकसित हों ताकि वे काफी तलछट बहाकर लावे।

(२) नदी के मुहाने पर ज्वार-भाटा तथा अन्य धाराओं का अभाव होना

चाहिए नहीं तो नदी द्वारा बहाकर लाई हुई मिट्टी बह जायेगी। हाँ, यदि नदी बहुत बालू मिट्टी बहा कर लाती है तो ज्वार-भाटा तथा जलधाराओं के बावजूद भी डेल्टा बन जायेगा परन्तु वह विषम एवं अनियमित आकार का होगा।

(३) नदी के मार्ग में कोई बड़ी झीलें नहीं होनी चाहिए क्योंकि इनमें नदी द्वारा बहाकर लाई हुई मिट्टी बालू इकट्ठा होती रहेगी और निम्न घाटी तक पहुँचते-पहुँचते इतनी काफी मिट्टी बालू नहीं बन पायेगी जोकि डेल्टा बना सके।

(४) नदी की निम्नघाटी काफी विस्तृत होनी चाहिए ताकि समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते नदी की धारा काफी धीमी पड़ जाये अन्यथा निक्षेप सम्भव नहीं होगा।

डेल्टा में मिट्टी के महीन कण तो मुहाने के समीप समुद्र की तली में जमा हो जाते हैं और निक्षेप चक्र में यह समतल तह सबसे अधिक पुरानी होती है। सबसे अधिक निक्षेप मुहाने पर होता है और इन परतोंका ढाल आगेकी ओर होता है। सबसे नवीन तथा मोटे निक्षेप डेल्टा के शीर्ष पर पाये जाते हैं और यह भी समाकार होते हैं।

तीव्र निक्षेप के कारण, धारा के किनारों पर सबसे अधिक निक्षेप होता है और कालान्तर में दोनों किनारों पर मिट्टी के कगार से बन जाते हैं। ये मिट्टी के किनारे जीभ की तरह समुद्र में भी बढ़े रहते हैं। यदि जलधारायें हुईं तो यह जीभ अग्रभाग में थोड़ा सा मुड़ जाती है और यदि नदी में बाढ़ आयी हुई तो मिट्टी या पंक का डेल्टा प्रत्येक धारा में बाढ़ आने पर टूट कर कटावदार बन जायेगा क्योंकि प्रत्येक धारा बाढ़ के समय अपने किनारे के बंध को तोड़ कर अपना डेल्टा या निक्षेप अलग बनाने का प्रयत्न करती है।

जल प्रवाह प्रणाली और उनका विकास



चित्र ६४—डेल्टा की रचना

जैसे ही नदी की धारा बनती है, यह अपनी घाटी बनाने लगती है परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता जाता है घाटी का रूप तथा आकार भी बदलता रहता है। नदी चट्टानों की रचना में तदारुण रूप जमती जाती है और उसकी सहायक नदियों का विकास होता जाता है। घाटी के पूर्ण विकास तथा सहायक नदियों की व्यवस्था को जलप्रवाह प्रणाली (Drainage System) कहते हैं।

समान संरचना की चट्टानों पर विकसित जलप्रवाह प्रणाली विभिन्न संरचना की चट्टानों की अपेक्षा अधिक सम होती है। इसमें जटिलतायें कम होती हैं। यदि कठोर तथा कोमल चट्टानों की परत एक के ऊपर एक करके बिछी हो तो जलप्रवाह प्रणाली में प्रपाती, जल प्रपात तथा चट्टानी उत्तलों की बहुतायत होगी। दूसरी ओर यदि कठोर तथा मुलायम चट्टानों परतें लम्बरूप स्थित हुईं तो घाटी एक स्थान पर तो चौड़ी होगी और दूसरे स्थान पर संकरी हो जायेगी।

इसके अलावा, वर्षा की मात्रा तथा चट्टानों की प्रवेक्ष्यता (यह जलप्रवाह की

मात्रा निर्धारित करता है) के अनुसार कई प्रकार की जलप्रवाह प्रणालियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। किसी भी जलप्रवाह प्रणाली के विकास में निम्नलिखित स्थितियों को आसानी से पहचाना जा सकता है :—

(१) छोटी-छोटी जलधाराओं के रूप में जलप्रवाह का शुरु होना।

(२) छोटी-छोटी जलधाराओं का नदी के रूप में बनना तथा सहायक नदियों का विकसित होना।

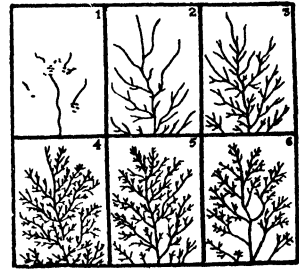
(३) प्रथम सहायक नदियों की शाखाओं तथा उपधाराओं के विकास से जलप्रवाह प्रणाली का प्रसार।

(४) उद्गम की ओर आवरणक्षय अथवा पीछे काटन की क्रिया के फलस्वरूप नदियों के विस्तार में प्रसार।

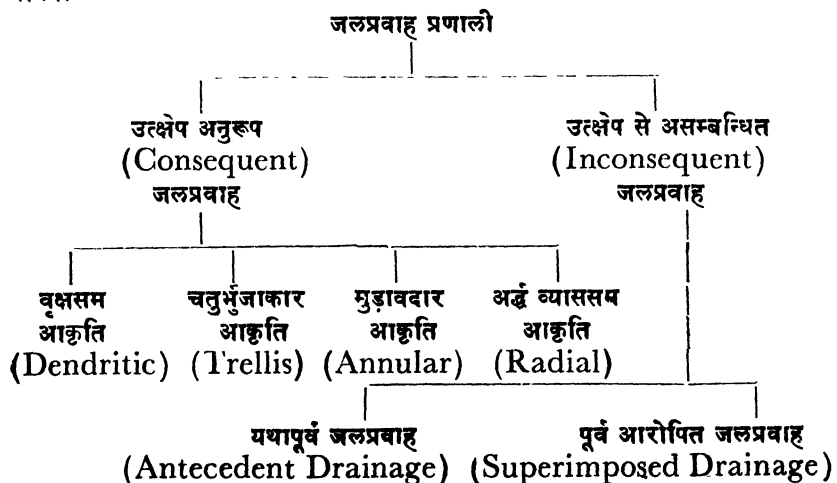
(५) जल प्रवाह प्रणाली की जटिलताओं का मिल मिलाकर सामान्य रूप धारण करना। इसका प्रारम्भ जल विभाजकों के हटने से होता है और अन्त नदी स्रोत हरण (River Capture) में होता है। इसके द्वारा छोटी-छोटी धाराओं की प्रवाह प्रणाली उलट जाती है और बड़ी घाटियों में छोटी घाटियाँ समा जाती हैं।

इस प्रकार इन स्थितियों में से होकर प्रवाह प्रणाली का क्रमिक विकास होता है और पूर्ण विकास होने पर नदी तथा उसकी सहायक धाराएँ और उपधाराएँ वृक्ष के समान दिखाई पड़ने लगती हैं। मुख्य नदी तो तना हुई और अन्य धाराएँ उसकी शाखाएँ। इसे वृक्षसम (Dendritic) जल-प्रवाह कहते हैं।

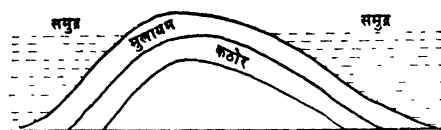
जलप्रवाह प्रणाली के विकास और चट्टानों की संरचना के बीच सम्बन्ध के अनुसार विभिन्न जलप्रवाह प्रणालियाँ कई प्रकार की होती हैं जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायेगा—



चित्र ६५—वृक्षसम जलप्रवाह प्रणाली के विकास की स्थितियाँ



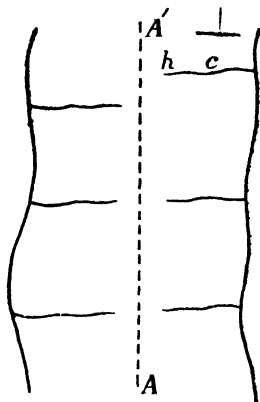
उत्क्षेप अनुरूप जलप्रवाह (Consequent Drainage) का चट्टानों की संरचना के साथ एक नियमित सम्बन्ध होता है। इसी के अनुसार प्रवाह प्रणाली तथा उपधाराओं का विकास होता है। मुख्य नदी प्रदेश के ढाल के अनुरूप ही बहती



है। शुरू-शुरू में नदी रचनात्मक ढाल के समानान्तर बहती है और इस प्रकार की नदियों को उत्क्षेप अनुरूप नदियाँ (Consequent Streams)

चित्र ६६—उत्क्षेप अनुरूप जलप्रवाह का प्रारम्भ

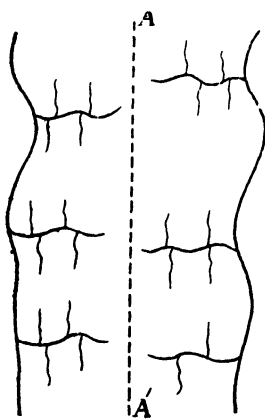
कहते हैं। इस मुख्य नदी के दोनों किनारों पर वर्षा के कारण नालियाँ बन जाती हैं और उनमें छोटी-छोटी सहायक नदियाँ बहने लगती हैं। ये सहायक नदियाँ अपने जलविभाजकों में पीछे की ओर काटती हैं और मुख्य नदी की दिशा से तिरछी होती हैं। ये सहायक घाटी की दोबारों के ढाल के अनुरूप होती हैं और इन्हें बाद में बनी नदी (Subsequent Streams) कहते हैं। ये सहायक नदियाँ नालियों के रूप में शुरू होती हैं परन्तु संयोगवश इन्हें कोई सुविधाजनक स्तर मिल जाता है जैसे मुलायम चट्टानें, भ्रंशस्तर या दरार और संघ। ऐसा स्तर प्राप्त करने पर ये नदियाँ गहरे कटाव तथा उदगम की ओर काट-छांट करके अपनी घाटी का विस्तार करने लगती हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि उत्क्षेप अनुरूप मुख्य नदी भी बाद में बनी तलहटी में से होकर बहने लगती है।



चित्र ६७

उत्क्षेप अनुरूप नदियाँ बिन्दु रेखा जलविभाजक हैं

बाद में बनी नदियों की रूप रेखा तथा आकार



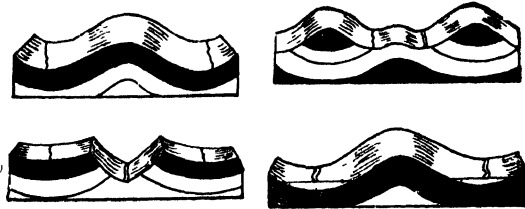
चित्र ६८

बाद में बनी नदियाँ

पायेगी। फलतः बाद में बनी सहायक नदियाँ प्रतिनति के पाश्चो पर से बहती रहती

नियमित होता है। मोड़दार चट्टानों के प्रदेश में उत्क्षेप अनुरूप नदियाँ संनति में से होकर बहती हैं और लम्बी घाटियाँ बनाती हैं परन्तु बाद में बनी सहायक नदियाँ प्रतिनति अथवा उर्ध्व मोड़ों के ढाल पर से होती हुई आड़ी-तिरछी घाटियों में बहती हैं। तीव्र ढाल होने के कारण बाद में बनी नदियाँ उर्ध्व मोड़ों अथवा प्रतिनति की अधिक गहरी काटने में सफल होती हैं। यहाँ तक कि संनति से भी नीची तलहटी बना लेती हैं। अतः कालान्तर में संनति तो श्रेणियों के रूप में खड़ी रह जाती है और प्रतिनति नीची घाटियाँ बन जाते हैं। यदि मोड़दार चट्टानों के नीचे कठोर चट्टान की परत बिछी हुई है तो गहरा करने की क्रिया अधिक तीव्रता तथा आसानी से नहीं हो

है। यदि ऐसा हुआ तो संनति श्रेणियाँ नष्ट हो जाती हैं और बाढ़ में बनी सहायक नदियाँ भी लम्बी उत्क्षेप अनुरूप घाटियों में बहने लगती हैं। इस प्रकार की धाराओं को स्वयं आरोपित नदी (Rescquent Stream) तथा इसे स्वयं आरोपित जलप्रवाह कहते हैं। परन्तु स्वयं आरोपित नदियों को निश्चित रूप से पहिचानना कठिन



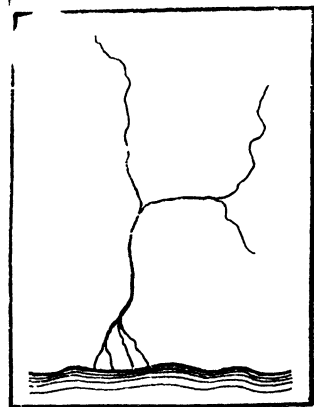
चित्र ९९—स्वयं आरोपित नदी का विकास

होता है क्योंकि जिस धरातल पर से होकर वे बहती हैं वह बहुधा उत्क्षेप अनुरूप नदियों के मूल धरातल से सैकड़ों फीट नीचा होता है यद्यपि यह बहुत कुछ उसी के समान प्रतीत होता है।



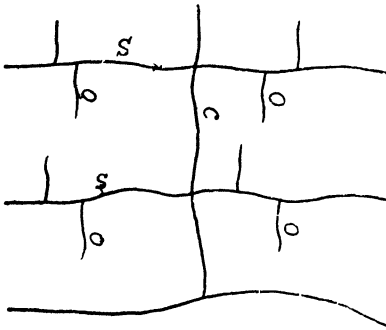
चित्र १००—उच्छृङ्खल प्रदेश में चतुर्भुजाकार जलप्रवाह

इसके विपरीत उच्छृङ्खल तथा स्तरभ्रंश वाले प्रदेशों में उत्क्षेप अनुरूप नदियाँ तो आड़ी तिरछी घाटियों में बहती हैं और बाढ़ में बनी सहायक नदियाँ लम्बी समानान्तर घाटियाँ बना लेती हैं। फल यह होता है कि बाढ़ में बनी सहायक नदियाँ उत्क्षेप अनुरूप मुख्य नदियों से समकोण पर मिलती हैं और जलधाराओं की व्यवस्था चतुर्भुजाकार हो जाती है। इस में उत्क्षेप अनुरूप नदियाँ तो एक दूसरे के समानान्तर होती हैं परन्तु बाढ़ में बनी सहायक नदियाँ इस नियमित रूप से विकसित होती हैं कि उत्क्षेप अनुरूप नदियों से लम्बरूप जाकर मिलती हैं। इन बाढ़ में बनी सहायक नदियों के किनारे पर आकर कुछ वितरक जलधाराएँ मिल जाती हैं। ये उपधाराएँ या तो मुख्य नदी के समानान्तर बहती हैं या उनसे विपरीत दिशा में। ढाल के अनुरूप अथवा विपरीत बहने वाली ये नदियाँ ढाल के विपरीत उपधारा (Obsequent stream) कहलाती हैं। इस प्रकार की जलप्रवाह व्यवस्था को चतुर्भुजाकार अथवा ट्रेलिस (Trellis) जलप्रवाह प्रणाली



चित्र १०१—ढाल के विपरीत उपधारा

कहते हैं। यह वहाँ विकसित होता है जहाँ विचित्र कठोरता वाली चट्टानें एक कोण पर झुकी रहती हैं और कठोर चट्टान की तो श्रेणियाँ बनी होती हैं। तथा इनके बीच-बीच



विषम या असमान आकार की घाटियाँ होती हैं। इस प्रकार की व्यवस्था में नदी स्रोत हरण (River Capture) की अधिक सम्भावना रहती है।

चौरस मिट्टी के बने मैदानों में या पिण्डरूप रचना वाले प्रेनाइट चट्टानों से बने प्रदेशों में जो नदियाँ या धारायें बनती हैं उनका प्रदेश विशेष की संरचना से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

चित्र १०२—उत्प्रेक्ष अनुरूप, बाद में बनी इस प्रकार की नदियों की सहायक तथा ढाल के विपरीत धारायें धारायें नहीं होतीं। उनकी दिशा तथा स्थिति आकस्मिक ही होती है। इन नदियों को आकस्मिक नदी (Insequent Stream) कहते हैं। जल प्रवाह बड़ा ही अनिश्चित तथा अनियमित होता है।

उत्प्रेक्ष अनुरूप जल प्रवाह कई प्रकार की प्रणालियों में व्यवस्थित होता है। जिनमें निम्नलिखित विशेष महत्वपूर्ण हैं—

(१) वृक्ष सम प्रणाली (Dendritic Pattern) में मुख्य नदी वृक्ष के तने के समान होती है और इसकी सहायक नदियाँ पेड़ की टहनियों तथा शाखाओं की तरह होती हैं।

(२) चतुर्भुजाकार प्रणाली (Trellis Pattern) में उत्प्रेक्ष अनुरूप, बाद में बनी तथा ढाल विपरीत नदियाँ चतुर्भुज की तरह व्यवस्थित रहती हैं।

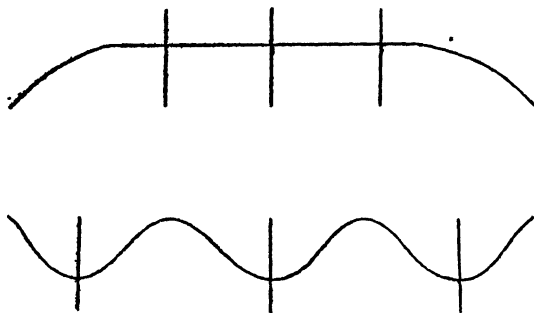
(३) मोड़दार प्रणाली (Annular pattern) में गुम्बदाकार पर्वत के चारों ओर श्रेणियाँ व्यवस्थित होती हैं और जल प्रवाह मोड़दार हो जाता है।

(४) अर्द्धव्यासमम प्रणाली (Radial Pattern) में गुम्बदाकार पर्वत पर चारों ओर नदियाँ प्रवाहित होती हैं और वृत्त के अर्द्धव्यास या पहिये की तीलियों की भाँति प्रतीत होती हैं।

चट्टानों की संरचना तथा वर्षा की मात्रा तथा प्रकृति के अनुसार इन जल-प्रवाह प्रणालियों में और जटिलताये भी आ जाती हैं।

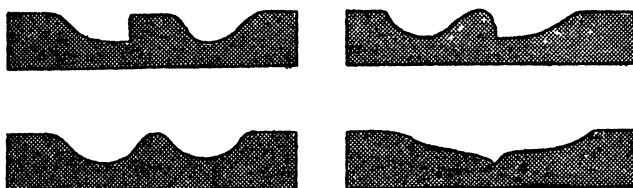
नदी स्रोत हरण (River capture)—या नदी का हड़पना नदी घाटी चक्र में एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना है। नदी घाटी के विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में दो नदी प्रणालियों को अलग करने वाले जलविभाजक स्पष्ट होते हैं। परन्तु जैसे-जैसे जलप्रवाह प्रणाली विकसित होती जाती है, जलविभाजक भी स्पष्ट होते जाते हैं। परन्तु तब ही जलविभाजकों का खसकाव अथवा नास प्रारम्भ हो जाता है। इसके कई कारण हैं।—नदी के किनारों पर भिन्न रीति से आवरणक्षय तथा किसी एक दिशा में उद्गम की ओर आवरणक्षय अधिक होता है। इसके कारण जलविभाजक के ढाल असमान हो जाते हैं। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है क्रमशः ढाल की अपेक्षा

तीव्र ढाल पर आवरणक्षय अधिक तेजी से होता है। फल यह होता है कि जलविभाजक खसकने लगता है या पीछे की धकेल दिया जाता है जिससे कि जलविभाजक का शीर्ष अधिक क्षयशक्ति वाली नदी से दूर हटता जाता है।



चित्र १०३—जल विभाजक का सकरा पड़ना

यदि जलवायु तथा भौगर्भिक तत्व सहायक हूयें तो जलविभाजक का इस प्रकार एक ही दिशा में खसकना और भी प्रखर हो जाता है। जलविभाजक की किसी एक ओर कठोर चट्टान का होना, भौगर्भिक हलचल का पैदा होना तथा अपेक्षाकृत अधिक वर्षा का होना इसी प्रकार की परिस्थितियाँ हैं। हिमनदी, ज्वालामुखी तथा हिमखंड की क्रिया से भी आवरणक्षय की गति बढ़ जाती है।

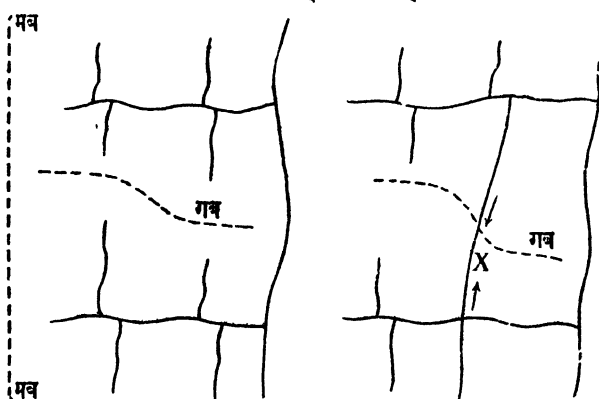


चित्र १०४—जल विभाजक का नष्ट होना

जैसे ही जल विभाजक नीचे होकर पीछे धकेल दिये जाते हैं अधिक आवरण-क्षय करने वाली नदी अपनी घाटी को अधिक चौड़ा कर लेती है परन्तु घाटी प्रसार दूसरी समीपवर्ती नदियों को हड़पने के बाद ही सम्भव होता है। अधिक काटछांट करने वाली नदी को कुछ प्रारम्भिक सुविधायें प्राप्त होती हैं जिनके कारण वह अपेक्षाकृत अधिक घाटी प्रसार करने में सफल होती है और समीपवर्ती नदियाँ उसमें समा जाती हैं। इसे नदी का हड़पना कहते हैं और प्राथमिक सुविधा में अधिक वर्षा या कोमल चट्टानों पर से होकर प्रवाहित होना कह सकते हैं क्योंकि इनकी सहायता से काटछांट की क्रिया बिना किसी रुकावट के होती रहती है।

परन्तु वास्तविक नदी स्रोतहरण (River capture) से जलप्रवाह की दिशा बदल जाती है। समानान्तर पर भिन्न मुख्य नदियों में गिरने वाली विपरीत दिशा में बहती हुई दो बाद में बनी सहायक नदियों को अलग करने वाले जलविभाजक के खसकने से नदी स्रोतहरण होता है। इनमें से कोई एक नदी कोमल चट्टानों में से अपनी तलहटी बना कर कठोर चट्टानों की परत पर पहुँच सकती है और

तब अधिक गहरा होना सम्भव नहीं होता। परन्तु दूसरी नदी लगातार कोमल चट्टानों को काटती छांटती हुई अपनी तलहटी को गहरा करती जाती है और उद्गम की ओर आवरणक्षय भी होता जाता है। यदि उसी ओर की मुख्य नदी भी काटछांट में तेज हुई तो सुविधाप्राप्त सफल सहायक नदी के लिये अन्तस्थल और भी नीचा हो जावेगा। इस प्रकार दो सुविधाप्राप्त सहायक नदी कालान्तर में अपनी समीपवर्ती धारा के प्रदेश में बड़ जाती है और उसके उद्गम स्थान को अपने में मिला लेती है। फलतः कम सफल सहायक तथा मुख्य नदियों का प्रवाह अधिक शक्तिशालिनी नदी की तरफ हो जाता है। इसे नदी का हड़पना या नदी स्रोतहरण कहते हैं। हरण करने वाली या हड़पने वाली नदी को हारिणी नदी (Pirate River) कहते हैं और जिस नदी का जल हड़पा जाता है उसे हरित नदी (Beheaded Stream) कहते हैं। हड़पने के बाद स्रोत या उद्गम रहित नदी में स्वभावतः



चित्र १०५—नदी स्रोत हरण—X शुष्क दर्रा है। मव—मुख्य विभाजक,
गब—गौण विभाजक

जल कम हो जाता है और उसका विस्तार भी कम हो जाता है। इस प्रकार की क्षीण नदी को अनुपयुक्त या असफल नदी कहते हैं क्योंकि इसमें जल घाटी के अनुपात में बहुत कम होता है तथा जीवन युद्ध में यह हारी हुई होती है। नदी स्रोत हरण के बिन्दु के बिल्कुल नीचे एक शुष्क खुला स्थान सा बन जाता है। इसे शुष्क दर्रा कहते हैं। कालान्तर में असफल नदियाँ बिल्कुल ही सूख जाती हैं और उनके स्थान पर शुष्क घाटी बन जाती है। जहाँ कहीं नदी स्रोत हरण होता है वहाँ उसके चिन्ह स्पष्ट ही नजर आते हैं। शुष्क दर्रा जलीय दर्रे से कुछ ऊँचाई पर स्थित रहता है क्योंकि जलीय दर्रा नदी द्वारा काटछांट से बराबर गहरा होता रहता है। कभी २ शुष्क दर्रे की तरफ से हारिणी नदी की ओर छोटी ढाल-विपरीत धारायें बहने लगती हैं।

नदी स्रोत हरण वहाँ ज्यादा होता है जहाँ दो जल प्रवाह प्रणालियों को अलग करने वाली समान सीमा या जल विभाजक होता है। दूसरे यह समुद्र से दूर नदी की मध्य घाटी के ऊपरी भागमें होता है क्योंकि वहाँ सहायक नदियाँ सबसे कम विकसित होती हैं, जल विभाजक काफी संकीर्ण होते हैं और जल की धारा बड़ी ही भीषण रहती है।

उत्क्षेप से असम्बन्धित जलप्रवाह (Inconsequent Drainage) में प्रवाह प्रणाली, व्यवस्था तथा विकास और प्रदेश की चट्टानों की संरचना के बीच कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार का जलप्रवाह दो प्रकार से बन सकता है—

(१) पूर्व आरोपित जलप्रवाह (Superimposed Drainage)

(२) यथापूर्व जलप्रवाह (Antecedent Drainage)

पूर्व आरोपित जलप्रवाह—कठोर चट्टानों से बने भूभाग के ऊपर अक्सर कोमल चट्टानों की परत बिछ जाती है। वे चट्टानें निक्षेप द्वारा बिछ जाती हैं। इस पर शुरू हुआ जलप्रवाह स्वभावतः कोमल चट्टानों के अनुरूप अपनी तलहटी बनायेगा। जब कोमल चट्टानों को काट कर नदियाँ नीचे की कठोर चट्टानों पर पहुँचती हैं तो उनकी व्यवस्था इतनी स्थायी हो चुकी होती है कि भिन्न प्रकृति की चट्टानों के होते हुए भी वे अपने पुराने मार्ग में ही बहती रहती हैं। इस प्रकार के जलप्रवाह को पूर्व आरोपित या (Epigenetic) कहते हैं।

कठोर चट्टान पर जलप्रवाह आरोपित हो जाता है और तलहटी की चट्टानों तथा जलप्रवाह की घाटी के बीच कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। पश्चिमी इंगलैण्ड में शील प्रदेश का जलप्रवाह इसी प्रकार का है। चट्टानों की संरचना में परिवर्तन हो जाने से पूर्व आरोपित जलप्रवाह प्रणाली में प्रपाती तथा जल प्रपात बन जाते हैं और इसका विस्तार संकीर्ण होता है।

यथापूर्व जल प्रवाह में नदी की धारा पहले जैसी ही बहती रहती है और भूखंड की सतह में बाद वाले परिवर्तनों से बिल्कुल भी प्रभावित नहीं होती। जो नदी भूमि के उत्क्षेप के साथ-साथ अपने यथापूर्व रूप में बहती रहती है उसे यथा पूर्व जलप्रवाह कहते हैं।

नदी विकास के इतिहास में ढाल के तिरछे होने अथवा भूमि के उत्क्षेप के कारण प्रवाह क्षेत्र की सतह में हेरफेर उत्पन्न हो जाता है। फलस्वरूप नदी प्रणाली का विकास रुक जाता है और उसमें उलट-फेर हो जाता है। कुछ दशाओं में या तो सामान्य उत्क्षेप इतना प्रभावशाली नहीं होता कि नदी के विकास पर असर डाल सके या नदी की क्षयकारी शक्ति इतनी तीव्र होती है कि उत्क्षेप के साथ-साथ ही नदी अपनी तलहटी को उसी अनुपात में गहरा करती जाती है। अतएव नदी अपनी पुरानी तलहटी ही में बहती रहती है और उत्क्षेप भी जारी रहता है। फलस्वरूप नदी की धारा के दोनों तरफ विशालकाय तीव्र ढाल वाली दीवालें खड़ी हो जाती हैं। इस प्रकार का जल-प्रवाह प्राथमिक भौगोलिक हलचल के फलस्वरूप उत्क्षेप के अनुरूप बनायी गई तलहटी में ही बहती रहती है और इसलिये बाद के परिवर्तनों तथा हलचलों से उत्पन्न उत्क्षेप के दृष्टिकोण से यथापूर्व कहा जाता है। यथापूर्व जलप्रवाह नदी की धारा का भूमि के उत्क्षेप के साथ सफल युद्ध चित्रित करता है।

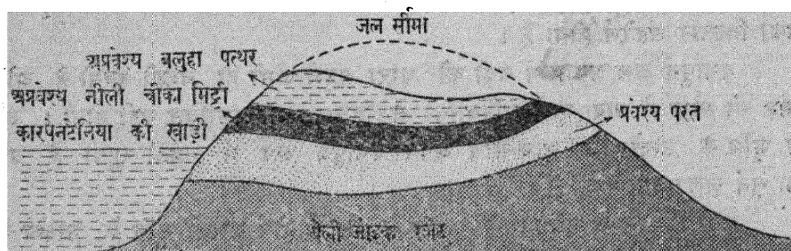
किसी प्रदेश में यथापूर्व जलप्रवाह को पहिचानने और निश्चित करने के लिए वहाँ के उत्क्षेप के इतिहास को समझना जरूरी है। उत्तरी अमेरिका की कोलम्बिया नदी तथा भारत की ब्रह्मपुत्र नदी यथापूर्व जलप्रवाह के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

अध्याय : : १६

अनावृत्तीकरण के साधन

(२) भूगर्भवती जल

इस पृथ्वी पर जल का प्रधान साधन वर्षा है। जैसे ही वर्षा होती है इसका एक अंश तो भाप बनकर वायुमंडल में मिल जाता है और इसका कुछ भाग धरातल पर बहने लगता है। इस जल का कुछ अंश पृथ्वी में सूख जाता है और इसी को भूगर्भवती जल कहते हैं। पृथ्वी में सोखा हुआ जल भूमि के अन्दर इकट्ठा रहता है और इसकी मात्रा स्थान-स्थान पर भिन्न रहती है। परन्तु भूपृष्ठ के निर्माण में इसका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका मुख्य कार्यक्षेत्र धरातल के नीचे है परन्तु धरातल के ऊपर भी झरनों तथा जलस्रोतों द्वारा यह अपना काम करता है।



चित्र १०६—चट्टानी परत और भूगर्भवती जल

भूमि में जितना जल सोखा जायेगा यह चट्टानों के स्वभाव पर निर्भर रहता है। चट्टानों का जल के स्राव से सम्बन्ध के आधार पर उन्हें दो प्रकार का कहा जा सकता है।—प्रवेश्य चट्टानें जिनमें से होकर जल जा सकता है और अप्रवेश्य चट्टानें जिनमें से होकर नहीं गुजर सकता। चट्टान की प्रवेश्यता तथा उसकी छिद्रपूर्ण बनावट में कोई भी सम्बन्ध नहीं है। बहुत ही भारी स्फटिक चट्टानों में इतनी दरारें होती हैं कि वे प्रवेश्य हो जाती हैं। इसके विपरीत बहुत सी छिद्रपूर्ण चट्टानों के छिद्र के बीच की जगह इतनी कम होती हैं कि उनमें से होकर जल प्रवेश नहीं कर पाता। भूगर्भवती जल के दृष्टिकोण से जिन चट्टानों में जल रह सकता है तथा जिन में से होकर जल गुजर सकता है उन्हें जलीय चट्टान कहते हैं। इन्हीं चट्टानों की उपस्थिति पर किसी प्रदेश के भूगर्भवती जल की मात्रा निर्भर रहती है।

चट्टानों से गुजरने वाला जल बहुत अधिक गहराई तक नहीं जा सकता। जल के नीचे धंसने की एक सीमा होती है। अधिकतर दशाओं में प्रवेश्य चट्टानों के नीचे अप्रवेश्य चट्टानें बिछी रहती हैं और यही पानी को और अधिक नीचे तक नहीं

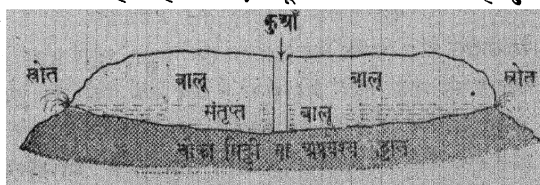
जाने देती। इसके अलावा ऊपर की चट्टानों के दबाव के कारण नीचे की चट्टानों के छेद तथा दरारें बन्द हो जाती हैं और कुछ सौ फीट गहराई के बाद अप्रवेश्य हो जाती हैं। इसलिए भूगर्भवर्ती जल केवल उसी गहराई तक पाया जाता है। यह गहराई अनुमानतः ३००० फीट है। इस गहराई के बाद सभी प्रकार की चट्टानें शुष्क पाई जाती हैं। परन्तु इस गहराई से ऊपर की सभी तरफ चट्टानों के छेद और दरार जलसे भरे रहते हैं। इस सीमा के ऊपर की चट्टानें संतृप्त रहती हैं परन्तु चट्टानों की संतृप्तता भूमि के धरातल तक केवल कहीं-कहीं ही आती हैं। सामान्यतः संतृप्तता की एक ऊपरी सीमा भी होती है जो भूमितल से थोड़ा नीचे होती है। इस ऊपरी सीमा को संतृप्त तल (Saturation Level) या जल रेखा (Water table) कहते हैं।

चूँकि स्थान-स्थान पर वर्षा की मात्रा तथा प्रवेश्यता की गति अलग-अलग होती है, जलरेखा कहीं ऊँची और कहीं नीची रहती है। अधिक वर्षा के प्रदेशों तथा शील व नदियों के समीपवर्ती क्षेत्रों में जलरेखा काफी ऊँची होती है। इसके विपरीत पर्वतीय प्रदेशों तथा तीव्र ढालों में जलरेखा नीची होती है। जलरेखा समय-समय पर बदलती रहती है। वर्षा के दिनों में यह ऊँची होती है और गर्मियों के मौसम में नीची हो जाती है। इस परिवर्तनशील जलरेखा को अस्थायी जलरेखा कहते हैं। परन्तु एक निश्चित सीमा के बाद जलरेखा का उतार-चढ़ाव नहीं होता है। उस सीमा को स्थायी जलरेखा कहते हैं।

भौगोलिक अनियमितताओं तथा विभिन्न गहराई पर चट्टानों की प्रवेश्यता में परिवर्तनों के कारण किसी भी क्षेत्र में अनेक जलरेखाएँ पाई जाती हैं। यह जल-रेखाएँ प्रायः वहाँ बनती हैं जहाँ कम प्रवेश्य चट्टानें अधिक प्रवेश्य चट्टानों से मिलती हैं। इन जलरेखाओं को स्थानीय जलरेखा कहते हैं। इनमें से कोई भी एक प्रदेश भर के लिए प्रधान हो सकती है। इन गौण तथा स्थानीय जलरेखाओं का अस्तित्व अस्थायी होता है जैसा कि जलस्रोतों द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

जो जलरेखा किसी प्रदेश भर के लिए होती है उसे प्रादेशिक जलरेखा कहते और यह स्थायी होती है। प्रादेशिक जलरेखा बड़ी ही जटिल एवं अनियमित होती है। यह कभी भी समतल नहीं होती। अक्सर देखा गया है कि जलरेखा की विभिन्नताएँ धरातल की रूपरेखा के अनुरूप ही होती हैं और उससे धरातल की विभिन्न रूपरेखा का ज्ञान हो सकता है।

जल अपना तल प्राप्त करना चाहता है। अतएव भूगर्भवर्ती जलमें प्रवाह शुरू हो जाता है और उच्च जलरेखा के स्थानों से निम्न जलरेखा के स्थानों की तरफ जल प्रवाहित होने लगता है। चट्टानों की प्रवेश्यता में अन्तर होने के कारण भूगर्भ-



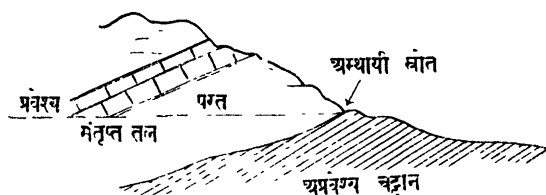
चित्र १०६—कुएँ और जलस्रोत

वर्ती जल एक ही दिशा में अधिक प्रवाहित होता है। इस जलप्रवाह के कारण जल-रेखा और भी जटिल एवं असम हो जाती है। उसका धरातल लहरदार हो जाता है।

धरातल पर भूगर्भवर्ती जल का निकास चट्टानों तथा कुओं के रूप में होता है। काफी गहराई तक खोदने पर कुओं में जलरेखा तक जल भर आता है। इसी प्रकार जब घाटियों, गर्त या गड्ढों के धरातल जलरेखा को छूते अथवा काटते हैं तो भूगर्भवर्ती जल जलस्रोत या चश्मों के रूप में घाटी के किनारों से बाहर निकल पड़ता है और तथानुसार जलरेखा नीची हो जाती है। चूँकि जलस्रोत में जल चट्टानों से रगड़ के बाद निकलता है इसलिए यह प्रायः बूद-बूद करके बाहर आता है। परन्तु कभी-कभी जलस्रोत से प्रवाह बहुत जोर से होता है और इस प्रकार बनी जलधारा से सम्पूर्ण घाटी भर जाती है।

प्रवाह के स्थायित्व के आधार पर जल स्रोतों को दो प्रकार का कहा जा सकता है। नियमित स्थायी जलस्रोत उस समय तथा उस स्थान पर बनता है जहाँ भूगर्भवर्ती कठोर चट्टानी परत सन्नति के रूप में झुकी रहती है। दूसरी बात जो जरूरी है वह यह कि जलरेखा पहाड़ी के शिखर के नीचे काफी ऊँचाई पर स्थिति होनी चाहिये ताकि इसके ओर कठोर धनुषाकार चट्टानी परत के मिलन बिन्दु पर स्रोत का उद्गम स्थापित हो जाये। ऐसी स्थिति होने से यदि जल निकलने के कारण जलरेखा कुछ नीची हो जाती है तो जलीय भार विस्तार (Hydraulic Gradient) कायम रहता है और चश्मा सूखता नहीं।

अस्थायी जलस्रोत वे ही होते हैं जिनमें कुछ समय तो जलप्रवाह होता है और बाकी समय वे शुष्क पड़े रहते हैं। अस्थायी जल स्रोत में प्रवाह ब रकने का समय काफी नियमित रहता है। इस प्रकार के अस्थायी जलस्रोतों के दो भेद होते हैं— (१) संतृप्त तल जल-स्रोत (Saturation Level Spring) में जल प्रवाह उसी समय तक होता है जब तक कि संतृप्त तल ऊँचा रहता है। जैसे ही संतृप्त तल नीचा होता है जलप्रवाह बनाये रखना कठिन हो जाता है। जल चट्टानों से घिस कर बाहर नहीं निकल पाता और चश्मा सूख जाता है।



चित्र १०८—संतृप्त तल जलस्रोत

से बनता है। चूँकि यह स्वाभाविक गड्ढा मुड़ा हुआ होता है, इसमें से जलप्रवाह उस समय तक नहीं हो पाता है जब तक कि यह एक निश्चित तल तक जलपूर्ण न हो जाये। जैसे ही वह नाली उस बिन्दु तक भर जाती है, स्रोत से जलप्रवाह होने लगता है परन्तु जैसे ही स्रोत उद्गम के आन्तरिक सिरे से जल का तल नीचा हो जाता है, जलप्रवाह बन्द हो जाता है।

भौगर्भिक संरचना तथा चट्टानों की बनावट के आधार पर जलस्रोतों के निम्न-लिखित तीन प्रकार होते हैं—

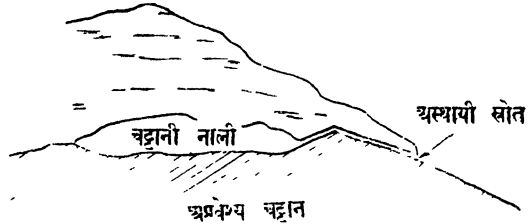
(२) साइफन जलस्रोत (Siphon Spring)

वह है जो भूगर्भ में स्थित कठोर तथा कोमल चट्टानों के बीच बनी स्वभावतः मुड़ी हुई चट्टानी नाली के जल के बाहर प्रवाहित होने

- (१) झुकाव आधार जलस्रोत (Dip-foot springs)
- (२) दरार जलस्रोत (Fissure springs)
- (३) उच्छृंग आधार जलस्रोत (Scarp foot springs)

साधारण मोड़

तथा गर्त के प्रदेश में, यदि जलीय चट्टानें इस प्रकार स्थित हुई कि उनके ऊपर तथा नीचे अप्रवेद्य चट्टानों की परते स्थित हुई और साथ-साथ सम्पूर्ण तह काफी कोण पर झुका हुआ तो



चित्र १०६—माइफन जलस्रोत

जलरेखा भी उसी दिशा में गिरती जाती है जिस ओर प्रदेश विशेष का झुकाव होता है। इधर-उधर से प्रवेश करके वर्षा का जल जलीय चट्टानों में भर जाता है। वह अतिरिक्त जल जो जलीय चट्टान में नहीं समा पाता बाहर निकलने की कोशिश करता है और अप्रवेद्य चट्टान की ऊपरी परत के किनारे से बाहर निकलने लगता है। इस प्रकार के जलस्रोत को झुकाव आधार जलस्रोत (Dip-foot Springs) कहते हैं। यदि सम्पूर्ण प्रदेश में जलीय चट्टानों के उच्छृंग हुये तो जल प्रवाह पर्वत खंड के आधार से होने लगता है और इन्हें उच्छृंग आधार जलस्रोत (Scarp foot Spring) कहते हैं।

इसके विपरीत यदि प्रदेश में दरारें तथा भ्रंशस्तर हुये तो जलीय चट्टानों में एकत्रित जल इन्हीं स्वाभाविक मार्गों से बाहर निकलने लगेगा जैसे कि पातलफोड़ कुये में होता है। इस प्रकार के जलस्रोतों को दरार जलस्रोत (Fissure Springs) कहते हैं।

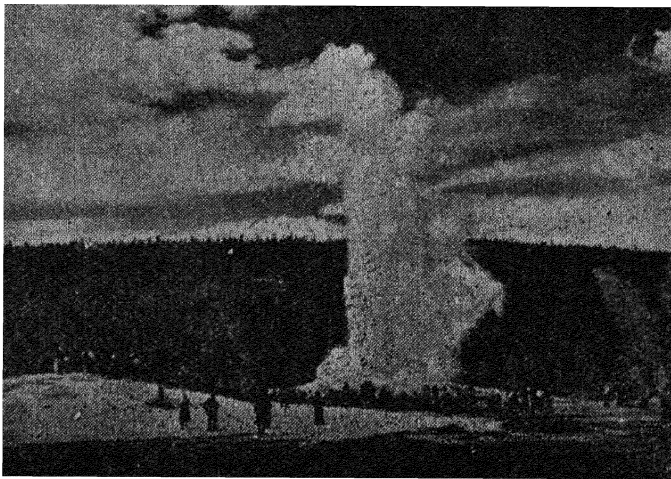
ये तीन प्रकार के जलस्रोत बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं और भ्रंशस्तर के सहारे बनी नदियों को जल प्रदान करते हैं। इस प्रकार धरातल के जल द्वारा आवरणक्षय में इनका महत्त्वपूर्ण भाग रहता है।

स्रोत जो जल से निकलता है वह या तो बर्फ के समान ठंडा होता है या गर्म। कुछ सौ फीट गहराई से आने वाला जल ठंडा होता है परन्तु जो जल अधिक गहराई से आता है वह भौगर्भिक गर्मी के कारण गर्म हो जाता है। दरार जलस्रोतों से, जिन का वर्णन अभी किया जा चुका है गर्म जल निकलता है। इसलिए उन्हें तापीय जल स्रोत भी कहते हैं। इन जलस्रोतों के जल पर मौसमी वृष्टि का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता और तापक्रम सदैव एक ही स्तर पर बना रहता है। इन जलस्रोतों के जल में खनिज तत्व मिले रहते हैं क्योंकि जल बहुत अधिक गहराई से आता है और उच्च तापक्रम के कारण इस में घुलाने की शक्ति अधिक हो जाती है। पर्वत श्रेणी के आधार पर विभिन्न चट्टानों के मिलन बिन्दु पर ये जलस्रोत पाये जाते हैं और ज्वालामुखी विस्फोट के प्रदेश में इनकी बहुलता होती है।

जब इनका जल उबलने वाले तापों को छूने लगता है तो इन्हें गर्म जलस्रोत

कहते हैं। गर्म जल-स्रोतों के जल में गर्मी सिलिशस लावा के अतिरिक्त रगड़, रासायनिक परिवर्तन तथा विद्युत उद्गार से आती है। चूंकि इस जल में नमक तथा खनिज तत्व मिले रहते हैं इसलिए इन्हें अक्सर खनिज जलस्रोत भी कहते हैं। कुछ जलस्रोतों से छूटा अम्ल पानी निकलता है और कुछ से क्षार पानी। किसी विशेष खनिज तत्व की प्रधानता के अनुसार गन्धक के चश्मे, नमकीन चश्मे तथा कारबन डाइऑक्साइड प्रधान चश्मे होते हैं जिनका पानी सोडे की तरह लगता है। साधारणतया सभी खनिज जलस्रोत गर्म होते हैं परन्तु कुछ ठंडे भी होते हैं। ये ज्वालामुखी विस्फोट के प्रवेश में पाये जाते हैं या वहाँ पाये जाते हैं जहाँ दरार फटी होती है। जिस छेद से पानी निकलता है उसके मुँह के चारों ओर नमक खनिज तत्वों का निक्षेप चबूतरों तथा धारियों के रूपों में बन जाता है। इन निक्षेपों का रंग चमकदार होता है। इनके जल में औषधि के गुण होने के कारण खनिज जलस्रोतों के समीप होटल, रोगीगृह तथा स्नानागार बन जाते हैं। कभी-कभी इनका जल बोटलों में भरकर निर्यात कर दिया जाता है और स्थान विशेष का महत्त्वपूर्ण उद्योग बन जाता है।

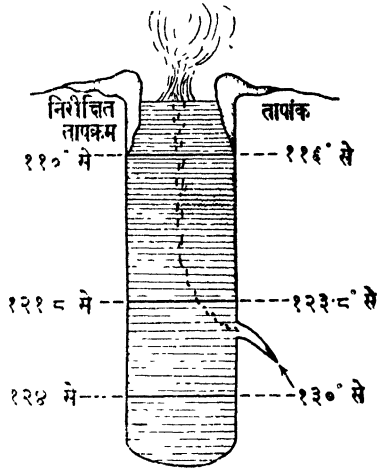
जब गर्म जलस्रोत से जल तथा भाप स्तम्भ के रूप में ऊँचा उठता है तो उसे गेसर (Geyser) कहते हैं। गेसर निचले प्रदेशों में जलप्रवाह रेखाओं के बराबर पाये जाते हैं। गेसर की संकरी ग्रीवा में उठती हुई भाप से जल गर्म हो जाता है और दरारों से होकर आगे बढ़ता है। गेसर नली की संकीर्णता तथा अनियमितता के कारण संवाहन विधि में बड़ी रुकावट पड़ती है। फलस्वरूप जल विस्फोट के साथ बाहर निकलता है। यह क्रिया राख शंकु के विस्फोट उद्गार से मिलती जुलती है



चित्र ११०—ग्रोल्ड फेथफुल गेसर, यलोस्टोन पार्क, संयुक्त राष्ट्र अमरीका और बाहर फेंका हुआ जल बहुत ऊँचाई तक जाता है तथा ठंडा भी हो जाता है। नीचे गिर कर नली में वापस पहुँचने पर यह जल उठती हुई भाप द्वारा फिर से गर्म हो जाता है और जब तक यह जारी रहता है, गेसर शान्त रहता है। वो विस्फोट

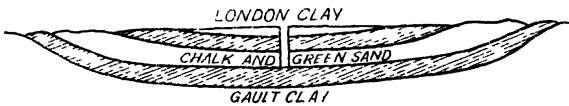
के बीच बहुधा शान्ति रहती है ।

गेसर द्वारा फेका हुआ जल सिलिका मिश्रित होता है और गेसर नली के मुँह के बिल्कुल समीप इसके जमाव से ढीला छेददार निक्षेप बन जाता है । इसे सिलिका सिन्टर (Silicous Sinter) कहते हैं । यह चमकदार होता है और गेसर के विस्फोट काल तक इसमें बहुत से रंग चमकते रहते हैं । जब गेसर का मुँह बन्द हो जाता है और सिलिका नहीं निकलता तो सिन्टर निक्षेप का रंग खतम हो जाता है और वह नष्ट होकर खड़िया की तरह चूर-चूर हो जाता है । संसार के सबसे प्रसिद्ध गेसर आइसलैण्ड तथा न्यूजीलैण्ड में पाये जाते हैं ।



भूगर्भवर्ती जल का दूसरा धरातलीय प्रतिरूप कुएँ हैं । यदि कम गहराई तक खोदे गये तो कुएँ में पानी केवल वर्षाकाल में ही रहेगा और जैसे ही अस्थायी जलरेखा नीची हो जायेगी, कुआँ भी सूख जायेगा । अतः कुओं में जल की सतत व्यवस्था रखने के लिए इनको काफी गहराई तक खोदना पड़ता है ताकि वे स्थायी जलरेखा तक पहुँच जाये । कुछ प्रदेशों में जलरेखा इतनी नीची होती है या अप्रवेद्य चट्टान इतनी विस्तृत होती है कि बहुत अधिक गहराई तक खोदने के बाद भी जल नहीं मिलता ।

चित्र १११—गेसर नली में उबलता हुआ पानी

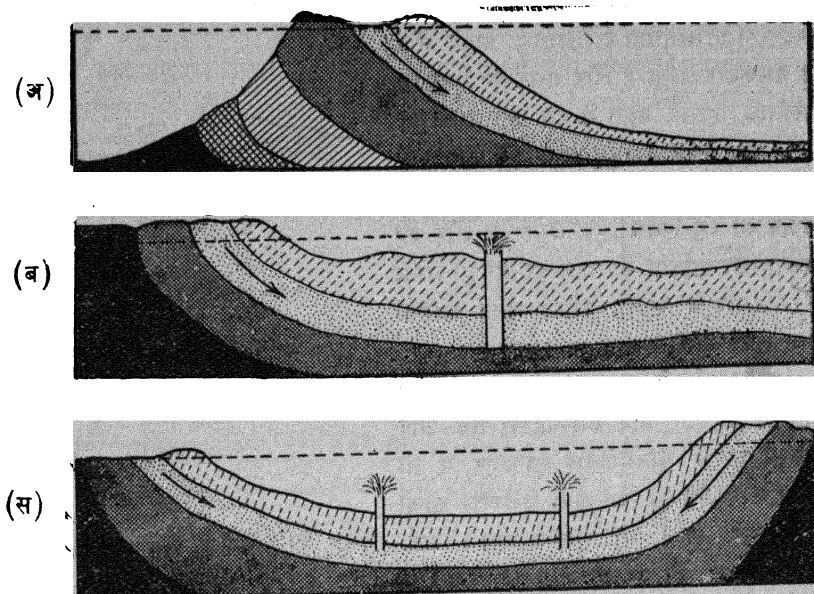


चित्र ११२—लंदन बेसिन की रचना

कुएँ के लिए आदर्श दशा वह होती है जब जलीय चट्टाने अप्रवेद्य चट्टानों की दो परतों के बीच स्थित होती हैं । एक अप्रवेद्य चट्टान ऊपर होती है और एक नीचे । यदि वह सम्पूर्ण प्रदेश एक संतति के रूप में झुका हो तो वास्तविक पातालफोड़ क्षेत्र बन जाता है । ऊपर की अप्रवेद्य चट्टान के नीचे जल अपने तल को प्राप्त करने की चेष्टा करता है परन्तु उसमें असफल रहता है । इसलिए जैसे ही ऊपर की चट्टान में एक छेद कर दिया जाता है जल अपने आप ऊपर की उठने लगता है । जल उठकर किस ऊँचाई तक जा पायेगा यह संतति रचना के दोनों सिरों पर जलरेखा की ऊँचाई पर निर्भर रहता है ।

यदि सम्पूर्ण प्रदेश संतति के रूप में नहीं झुका हुआ है तो ऊपर की चट्टान के फोड़े जाने पर जल अपने आप नहीं निकलेगा बल्कि इसे कृत्रिम रूप से पम्प द्वारा निकालना होगा ।

भूगर्भवर्ती जल का कार्य—भूगर्भवर्ती जल में प्रवाह होता है परन्तु इसका प्रवाह इतना धीमा होता है कि इसमें प्रवाहित धरातल की काट-छांट की बिल्कुल



चित्र ११३—भूगर्भवर्ती जल और पाताल फोड़ कुएँ—(अ) प्रवाहहीन कुआँ (ब) वह कुआँ जिससे पम्प द्वारा पानी निकालना होता है (स) अपने आप जल फँकने वाला पाताल फोड़ कुआँ ।

भी शक्ति नहीं रहती । इसलिए भूगर्भवर्ती जल का कार्य तीन प्रकार का होता है—(१) चट्टानों को घुलाना (२) निक्षेप तथा (३) पाषाणीकरण (Petrification)।

पृथ्वी में सोखने पर या प्रवेश करने पर वर्षा का जल कार्बन डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन तथा गन्धक जैसे तत्वों से मिल जाता है । इस प्रकार का मिश्रित जल चट्टानों पर रासायनिक क्रिया कर सकता है और कालान्तर में उनके एक बड़े हिस्से को घुला डालता है जिससे कि वे खोखली हो जाती हैं और अन्त में नीचे की धंस जाती है । भूगर्भवर्ती जल की क्रिया खड़िया या चूने के पत्थर के बने प्रदेशों में विशेष प्रखर रहती है । इसीलिए इसके प्रभाव चूने के पत्थर से बने प्रदेशों में विशेषतया स्पष्ट रहते हैं ।

जब जल में खनिज तत्व काफी मात्रा में घुल जाते हैं तो जल में और अधिक घुलाने की शक्ति नहीं रह जाती और यह घुले हुए खनिज तत्वों का निक्षेप करने लगता है । सत्य तो यह है कि जैसे ही तापक्रम बढ़ता है जल भाप बन जाता है और घुले हुए खनिज तत्व जमे रह जाते हैं । इसके अलावा यदि तापक्रम नीचा हो जाता है तो जल में चट्टानों को घुलाने की शक्ति कम हो जाती है और निक्षेप शुरू हो जाता है । कभी-कभी ऑक्साइड तत्व और विशेषकर कार्बन डाइऑक्साइड तत्व

जो जल में घुलाने की शक्ति प्रदान करता है बाहर निकलने लगता है और भूगर्भवती जल शक्तिहीन होकर घुले हुए खनिज तत्त्वों को जमा कर देता है।

इनके अलावा, अक्सर भूगर्भवती जल मूल खनिज के स्थान पर दूसरा खनिज तत्त्व रख देता है। इस विधि को पाषाणीकरण (Petrification) कहते हैं और साधारणतया चूने के कारबोनेट के स्थान पर सिलिका या लोहे का सल्फाइड इकट्ठा हो जाता है। इस प्रकार किसी भी खनिज के रूप, आकार तथा मात्रा में बड़ा परिवर्तन हो जाता है। भूगर्भवती जल द्वारा किया गया पाषाणीकरण बड़ा ही उपयोगी है। इसके द्वारा इधर-उधर छिंतरे पड़े उपयोगी खनिज पदार्थ एकत्रित हो जाते हैं। यह जल इनको एक जगह इकट्ठा करके इनको खान से निकालने में सुविधा प्रदान करता है।

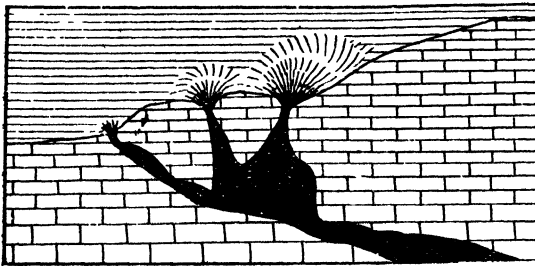
भूगर्भवती जल द्वारा आवरणक्षय—कारबन डाईआक्साइड मिला हुआ वर्षा का जल चूने से बनी चट्टानों पर से जब गुजरता है तो यह चट्टानों के कुछ भाग को घुला डालता है। चट्टान के घुलने के कारण संध चौड़ी हो जाती है और सम्पूर्ण धरातल पर कटान बन जाती है। इनको फ्रांसीसी भाषा में लेपी (Lapies), जर्मनी में कारेन (Karrens) तथा सरबिया में बोगाज (Bogaz) कहते हैं।

धीरे २ ये लेपी और भी चौड़े हो जाते हैं जिससे कि भूमिजल गर्त (Sink Holes) बन जाते हैं। इन्हें जल सोखने वाले गर्त (Swallow Holes) कहते हैं। इन में



चित्र ११४—लेपी

से होकर धरातल की धारायें गायब हो जाती हैं और भूमि के नीचे बहने लगती हैं। खड़िया से बने प्रदेश में, यदि घुलाने की शक्ति बहुत तीव्र हुई तो ये जल सोखने वाले गर्त और भी अधिक चौड़े हो जाते हैं। इस प्रकार के चौड़े कुप्पीनुमा गर्त को डोलाइन (Doline) कहते हैं।



चित्र ११५—डोलाइन और भूगर्भवती कन्दराओं की रचना घुलाने की शक्ति पर निर्भर रहता है। ये

भूगर्भवती कन्दरायें दो प्रकार की होती हैं—(१) समाकार कमरों या बरामदों जैसी तथा (२) लम्बाकार नाली जैसी जिन्हें पोनर (Ponors) कहते हैं। इनमें से होकर

भूगर्भवती जलप्रवाह स्थापित हो जाता है।

कभी २ इन भूगर्भवती कन्दराओं या कमरों की छत टूट जाती है और उनके स्थान पर एक बहुत बड़ा गड्ढा बन जाता है। कभी २ इन कन्दराओं की छत अन्दर की ओर खोखली हो जाती है और प्राकृतिक पुल (Natural Bridges) बन जाते हैं जिनकी रूप रेखा वृत्ताकार होती है।

कन्दराओं की छत के टूटने से तथा डोलाइन और जल सोखनेवाले गर्त के मिलने से अक्सर बड़े विस्तृत गड्ढे बन जाते हैं। इन्हें यूवाला (Uvala) या पोलजे (Polje) कहते हैं। इन विशाल गड्ढों के बीच में चूने के अवशिष्ट टीले इधर-उधर खड़े रहते हैं। इनको हम (Hum) कहते हैं।

भूगर्भवती जल द्वारा निक्षेप कार्य भूगर्भवती कन्दराओं में होता रहता है।



चूने से मिला हुआ पानी कन्दरा की छत से बूंद २ कर टपकता है। जब जल की बूंद छत से लटकी रहती है इसमें का कुछ पानी भाप बनकर उड़ जाता है और चूने का कुछ हिस्सा जमा रह जाता है। इसके ऊपर इसी प्रकार

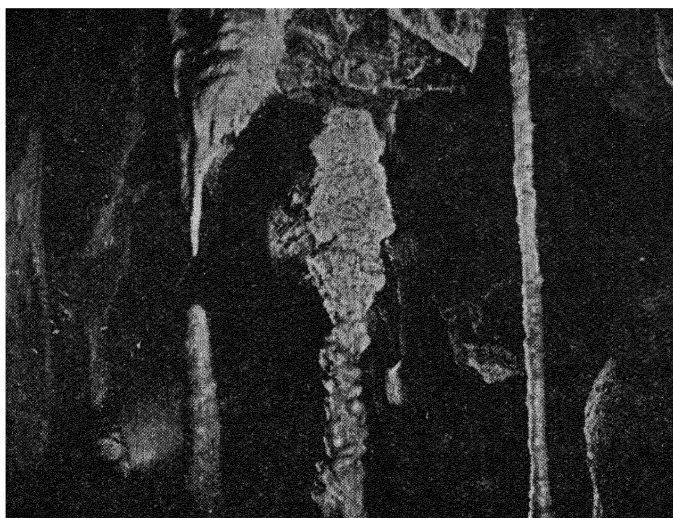
चित्र ११६—पोलजे और हम का और निक्षेप होता रहता है और इसका विस्तार छत से नीचे की ओर बढ़ने लगता है यहाँ तक कि कालान्तर में एक नुकीले खम्भे की तरह यह लटकने लगता है। इसे स्टाल्कटाइट (Stalactite) कहते हैं और ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि चूने के समकेन्द्रीय छल्ले एक के ऊपर एक करके क्रम से रखे हो। सब से चौड़ा छल्ला छत पर होता है और सब से छोटा नीचे वाले सिरे पर।

कन्दरा की छत से जो पानी की बूंदें नीचे फर्श पर गिरती हैं उनमें कुछ चूना अवशेष मिला रहता है और गिरने के बाद पानी जब भाप बन कर उड़ जाता है तो इसी प्रकार का निक्षेप तली पर भी बना रह जाता है। अतएव फर्श से छत की ओर एक स्तम्भ-सा उठने लगता है। इसे स्टाल्गमाइट (Stalagmite) कहते हैं। यह आकार में शंकु की तरह होता है और अपेक्षाकृत मोटा भी होता है। चूँकि फर्श पर गिरने के बाद बूंदें बिखर जाती हैं इसलिए स्टाल्गमाइट की रूपरेखा अनियमित एवं भोंडी होती है। इसके शीर्ष पर बहुधा ज्वालामुख जैसा गड्ढा होता है।

कभी २ ये दोनों स्तम्भ आपस में मिल जाते हैं और छत से फर्श तक एक पूर्ण स्तम्भ बन जाता है। चूने के पत्थर से बनी अग्रेरी गुफाओं में इनके द्वारा अजीब दृश्य बन जाता है। आस्ट्रेलिया और इंग्लैंड के सोमरसेट प्रदेश में इनके सर्वोच्च उदाहरण मिलते हैं। इनकी सुन्दरता को देखने के लिए बहुत से दर्शक दूर २ से आते हैं। कभी २ स्टाल्कटाइट तथा स्टाल्गमाइट के आपस में मिल जाने से बाजे की पाइप जैसी आकृति बन जाती है जिसे थपथपाने से ध्वनि उत्पन्न होती है। कभी २ एक स्टाल्गमाइट समीपवर्ती दूसरे स्टाल्गमाइट से मिल जाता है और तब ये खम्भे बहुत से शाल, पर्व या झड़ों की भांति प्रतीत होते हैं।

कार्स्ट प्रदेश की प्राकृतिक बनावट और विकास चक्र—यद्यपि स्विट्जरलैंड के आल्पस, एपीनाइन श्रेणी (इंग्लैंड), संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ भाग, आस्ट्रेलिया के

कुछ भाग, न्यूजीलैण्ड, उत्तरी फ्लोरीडा और यूकाटन में भूगर्भवर्ती जल के क्रियाकलाप के स्पष्ट चिन्ह मिलते हैं परन्तु इसकी क्रियाओं का सब से विकसित रूप एड्रियाटिक



चित्र ११७—स्टैलगमाइट

सागर के पूर्व में कास्ट्र प्रदेश में मिलता है। यह प्रदेश ५० मील लम्बी पट्टी में इस्ट्रियन प्रायद्वीप से लेकर यूगोस्लाविया में से होता हुआ दक्षिणपूर्व की ओर फैला हुआ है।



चित्र ११८—स्टैलक्टाइट

इस प्रदेश की स्थानीय ऊँचाई ८००० फीट है और सम्पूर्ण प्रदेश पथरीला रेगिस्तान

है जिसमें गड्ढे, गर्त और टीले अव्यवस्थित रूप से फैले हुये हैं। वनस्पतिहीन यह प्रदेश बंजर पड़ा हुआ है। इसमें कोई धरातलीय जलप्रवाह भी नहीं है। धरातल पर लम्बे-लम्बे गड्ढे पाये जाते हैं जो कि धरातल की जलधाराओं द्वारा परित्यक्त शुष्क घाटियाँ हैं। डोलाइन की नली पर टेरा रोसा (Terra Rossa) निक्षेप पाया जाता है जो कि चूने के पत्थर के घुलने के बाद अवशिष्ट मिट्टी है।

कार्स्ट प्रदेश की प्राकृतिक बनावट का एक विकास चक्र होता है जिनमें तीन स्थितियाँ होती हैं—(१) प्रथम अवस्था में कार्स्ट धरातल पर केवल दरारें व कटाने बन जाती हैं और लेपी, जल सोखनेवाले गर्त तथा डोलाइन का निर्माण हो जाता है। इनमें से होकर धरातल पर का जलप्रवाह गायब हो जाता है और भूगर्भवती कन्दराये बन जाती हैं। (२) दूसरी अवस्था में भूगर्भवती कन्दरायें, पोनर और कमरे बन जाते हैं। जल सोखनेवाले गर्त बड़े हो जाते हैं और डोलाइन तथा भूमि जलगर्त के टूट जाने से भूगर्भवती जलप्रवाह में और अधिक विस्तार हो जाता है। जलरेखा की ऊँचाई कम हो जाती है और अस्थायी जलप्रवाह से धरातल की प्राकृतिक रूपरेखा शुष्क और बंजर हो जाती है। काफी प्रौढ़ अवस्था में डोलाइन तथा जल सोखनेवाले गर्तों के मिल जाने से यूवाला बन जाते हैं। इनकी छत बहुत पतली होती है और ये ५०-६० मील चौड़े हो जाते हैं। (३) तीसरी और अन्तिम अवस्था में भूगर्भवती कन्दराओं की छतें टूट जाती हैं और पोल्जे बन जाते हैं जिनके बीच में अवशिष्ट टीले (हम) खड़े रहते हैं और धरातलीय जलप्रवाह फिर से शुरू हो जाता है। जल अपना काम कर चुका होता है और इसके लिए और अधिक नीचे धंसने की शक्ति नहीं होती। कन्दराओं की छतों के टूटने से सम्पूर्ण प्रदेश एक बार फिर खुल जाता है और इसके साथ-साथ नीचे की अप्रवेश्य परत भी दिखलाई पड़ने लगती है।

अध्याय : : २०

अनावृत्तीकरण के साधन

(३) चलता हुआ हिम

यद्यपि वर्तमान हिम पिण्ड इतने छोटे तथा कम विस्तृत हैं कि आवरणक्षय कार्य में उनका कोई भी स्थान नहीं है परन्तु भूगर्भशास्त्र के इतिहास द्वारा हमें पता चलता है कि निकट भूतकाल में एक समय ऐसा था कि हमारी पृथ्वी का अधिकांश भाग हिमाच्छादित था और इस प्रवाह के चिन्ह विस्तृत क्षेत्रों में अभी भी देखने को मिलते हैं। इन तथ्यों से स्पष्ट होता है कि चलते हुए हिम का पृथ्वी पर प्रवाहित होना महत्त्वपूर्ण ही नहीं बरन् नियमित भी है। यद्यपि इसका प्रभाव पृथ्वी के कुछ ही भाग तक सीमित रहता है और इसका क्रियाकलाप लगातार नहीं होता रहना परन्तु फिर भी स्थलरूप निर्माण और परिष्कार में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

चलते हुये हिम या हिम नदी (Glacier) के अध्ययन के लिए तुषारपात तथा हिमरेखा (Snowline) को समझना जरूरी है। जब जलवायु बहुत अधिक ठंडी होती है तो वर्षा के जल के स्थान पर तुषारपात होने लगता है। ऊँचे स्थानों तथा उच्च अक्षांशों में गिरी हुई हिम एकत्रित हो जाती है। गर्मों के दिन में यद्यपि इसका कुछ भाग पिघलकर नष्ट हो जाता है, फिर भी उन स्थानों पर काफी हिम पड़ा रहता है। उन स्थानों को जहाँ हिम सदैव बना रहता है हिम क्षेत्र (Snow fields) कहते और जिस रेखा के ऊपर सदैव हिम ही हिम रहता है उसे हिम रेखा कहते हैं। अक्षांश, दृष्टि की मात्रा, प्रचलित वायु की दिशा और स्थान विशेष के प्राकृतिक रूपों के अनुसार हिमरेखा की ऊँचाई अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग होती है। हिमरेखा की निम्नलिखित विशेषताये ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) जैसे-जैसे हम भूमध्य या विषुवत रेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ते जाते हैं हिमरेखा नीची होती जाती है। उच्च अक्षांशों में भी जहाँ तुषारपात कम होता है, हिमरेखा ऊँची है।

(ब) शुष्क हवाओं के मार्ग में पड़ने वाले प्रदेशों में हिमरेखा ऊँची होती है। परन्तु तर हवाओं के प्रदेश में यह नीची होती है।

(स) क्रमशः ढाल की अपेक्षा तीव्र ढाल पर हिम रेखा ऊँची होती है।

जिस समय बर्फ ऊपर से गिरती होती है, तुषार सफेद चूर्ण सा होता है परन्तु झकड़ा होने के बाद यह अर्द्ध-स्फटिक ठोस आकृति धारण करने लगता है। ऊपरी परतों के दबाव से हिम क्षेत्र की नीची परतें पिघलने लगती हैं। पिघलने के बाद जल नीची तहों की ओर बहने लगता है और दुबारा जम जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण हिमराशि में कण-कण से बन जाते हैं और नीचे की परतों का तुषार हिम में

परिवर्तित हो जाता है। स्फटिक हिम के इस प्रदेश को नेवे या फर्न (Neve or Firn) कहते हैं और हिमनदी का मुख्य स्रोत यही है।

ऊपरकेभार, ढाल तथा गुरुत्वाकर्षण के कारण यह हिम चलने लगता है और इस हिमधारा को हिमनदी कहते हैं। यह जीभ की भांति आगे बढ़ता है इसका जीवन अथवा सतत प्रवाह हिम क्षेत्र पर निर्भर रहता है। मार्ग में कितना हिम पिघलकर नष्ट हो जाता है इसका भी प्रभाव पड़ता है। यदि नष्ट हुये हिम की अपेक्षा हिमक्षेत्र में हिम की मांग पूर्ति अधिक है तो हिम नदी अधिक दूर तक चली जायेगी। जैसे-जैसे यह हिम नदी आगे बढ़ती है यह उस प्रदेश का आकार धारण कर लेती है जिसमें से होकर यह बहती है।

हिम नदियों के प्रकार—संसार की हिमनदियाँ या हिमपिण्ड दो श्रेणियों में विभक्त हैं—

(१) घाटी या पर्वतीय हिमनदी

(२) महाद्वीपीय हिमनदी या हिमआवरण जो ग्रीनलैण्ड तथा आर्कटिका में पाई जाती है।

इन दो प्रकार की हिमनदियों में केवल स्थिति तथा प्रवाह क्षेत्र का ही अन्तर नहीं है बल्कि इनका आकार, भूरचना की क्रिया, हिम प्राप्ति का तरीका तथा उनके प्रवाह से उत्पन्न स्थलरूपों में भी भिन्नता होती है। प्रथम, घाटी या पर्वतीय हिमनदी घाटी या चट्टान के बेसिन में से होकर प्रवाहित होती है परन्तु महाद्वीपीय हिमनदी एक आवरण या ढाल की भांति गुम्बदाकार रूप से पृथ्वी की प्रकृति को अपने नीचे दबाये रहती है। उनके नीचे घाटियाँ तथा पर्वत दोनों ही दबे पड़े रहते हैं। दूसरे, पर्वतीय हिमनदी द्वारा गड्ढे तथा गुफायें उत्पन्न हो जाती हैं—ढाल तीव्रतर हो जाता है। परन्तु महाद्वीपीय हिमनदी धरातल की ऊँचाई-निचाई को काट-छांट कर चौरस कर देती है। तीसरे, पर्वतीय हिमनदी को हिम नेवे (Neve) से प्राप्त होता है। इसका आधार पाला है जिससे तुषार में छोटे-छोटे गड्ढे बन जाते हैं और कालान्तर में बढ़ते जाते हैं तथा यही पर्वतीय हिमनदियाँ शुरू होती हैं। इसके विपरीत महाद्वीपीय हिमनदी को निम्न मैदानों, उतरती हुई धाराओं तथा बादलों से गिरने वाली तुषार की मुड़ियों से हिम प्राप्त होता है। चौथे, पर्वतीय हिमनदी से प्रवाहित प्रदेशों में नतोदार भूरचना मिलती है जिसमें ऊपरी सिरे पर मोड़ तीव्र होता है। इसके विपरीत महाद्वीपीय हिमनदी द्वारा उत्पन्न स्थलरूप उन्नतोदार होते हैं और उनके आकार का मुड़ाव थोड़ा ही होता है। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि पर्वतीय हिमनदी द्वारा भूरचना में आवरणक्षय से उत्पन्न स्थल-रूपों की प्रधानता रहती है परन्तु महाद्वीपीय हिमनदी द्वारा उत्पन्न प्राकृतिक रूपरेखामें निक्षेपात्मक स्थलरूपों की प्रधानता होती है।

‘घाटी या पर्वतीय हिमनदी—इनको आल्पाइन हिमनदी भी कहते हैं और पर्वतीय घाटियों में से होकर जीभ की तरह बहते हैं। ये हिमनदियाँ नेवे के नीचे उतरने से बनती हैं और बाद में तुषारपात द्वारा इसका विस्तार बढ़ता जाता है। हिमखण्डों (Avalanches) और वायु द्वारा उड़ाकर लाई हुई बर्फ भी इनकी मात्रा को बढ़ाती

रहती है। घाटी की बनावट के अनुसार इस का रूप आकार बदलता रहता है। पर्वतीय हिमनदियाँ साधारणतया विस्तृत नहीं होती। उनका विस्तार २-३ मील से अधिक नहीं होता। परन्तु कुछ पर्वतीय हिमनदियाँ ऐसी विस्तृत होती हैं कि वे ५०-६० मील तक बहती चली जाती हैं और हिम की बड़ी नदी से प्रतीत होते हैं। हिम की मोटाई दस फीट से लेकर कई हजार फीट तक होती है।

रूप आकार के आधार पर पर्वतीय नदियों को निम्नलिखित प्रकार का कहा जा सकता है—

(अ) चट्टान खण्ड हिमनदी (Cliff or Cornice Glacier) चट्टान के ऊपर पाये जाते हैं और अनेक रूप के होते हैं। कभी तो यह वृत्ताकार होता है और कभी अर्द्ध चन्द्राकार। कभी तो रेखा के समान सीधा होता है और कभी अनियमित।

(ब) प्रपातपूर्ण हिमनदी (Cascade Glacier) वे होती हैं जो किसी पर्वत खंड पर आकर समाप्त हो जाती हैं और प्रपात के समान रूप धारण कर लेती हैं। इनके किनारे या सिरे टूटे हुए होते हैं।

(स) जब कोई हिमनदी पर्वतखण्ड पर आकर समाप्त हो जाती है तो हिम के बड़े-बड़े खण्ड टूट कर अलग हो जाते हैं और नीचे की ओर बिखर जाते हैं। हिम के ये बड़े-बड़े टुकड़े एकत्रित होकर तथा मिलकर एक हिम राशि का रूप धारण कर लेते हैं। इन्हें दुबारा बनी हुई हिमनदी (Recemented or Reconstructed Glacier) कहते हैं।

(द) किसी जल-विभाजक के ढाल पर पाये जाने वाले तथा एक सिरे से दूसरे सिरे तक प्रवाहित होने वाली हिमनदी को गर्त हिमनद (Trough glacier) कहते हैं।

(इ) यदि किसी हिमनदी के प्रवाह तथा सतह पर नुकीले चट्टान के टुकड़े पड़े हों तो चलते हुये हिमपुंज को चट्टानी हिमनदी (Rock Glacier) कहते हैं। इस प्रकार की हिमनदियाँ एलास्का में बहुत पाई जाती हैं और उनके सम्पूर्ण मार्ग में उनके ऊपर चट्टाने-ही-चट्टानें पड़ी रहती हैं।

संसार के कुछ देशों में जहाँ पर उच्च पर्वत समुद्र के बिल्कुल समीप होते हैं हिमनदियाँ समुद्र की ओर उतरती हुई समुद्र पर समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार की हिमनदियों को ज्वारीय हिमनदी (Tidal Glacier) कहते हैं। इस प्रकार की हिमनदियाँ उत्तरी नावों के फियार्ड में खूब पाई जाती हैं। इसके विपरीत यदि कोई हिमनदी पर्वत प्रदेश से उतर कर मैदान में प्रवेश करती है तो उसका सिरा पंख के समान फैल जाता है और इस प्रकार की हिमनदी को पर्वत प्रान्तीय हिमनदी (Piedmont Glacier) कहते हैं। ऊपर से उतरती हुई विभिन्न हिम नदियों के सिरों के फैलने से बने विभिन्न हिम पंख या शंकु के मिलने पर पर्वत प्रांतीय हिमनदियाँ पर्वतों के आधार पर बन जाती हैं। एलास्का की मलास्पीना हिमनदी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

विस्तार के आधार पर पर्वतीय हिमनदियों को निम्नलिखित छः प्रकार का कहा जा सकता है—

(अ) प्रसारपूर्ण हिमनदी (Expanded Foot type) का आकार फैलाये हुये पैर की तरह होता है। इसमें हिम की राशि इतनी अधिक होती है कि न केवल घाटी ही पूर्णतः भरी होती है बल्कि अग्रप्रदेश में भी प्रवाह होने लगता है। यह प्रवाह इतना अधिक होता है कि एक अलग हिम नद बन जाता है। एलास्का की टोकू हिमनदी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

(आ) वृक्षसम हिमनदी (Dendritic type)—जैसा नाम से ही प्रकट है इस प्रकार की हिमनदी में मुख्य प्रवाह तो बहुत विस्तृत नहीं होता परन्तु इसके इधर-उधर घाटी के दोनों पाइवों से सहायक हिमनदियाँ आकर मिलती रहती हैं जिससे कि सम्पूर्ण हिम प्रवाह शाखा सहित वृक्ष समान प्रतीत होने लगता है। मुख्य हिमनदी के दोनों तरफ सहायक हिमनदियाँ होती हैं और बहुत सी हिमनदियाँ इधर-उधर से लटकती हुई रहती हैं। इस प्रकार की हिमनदी की अवस्थायें होती हैं—प्राथमिक अवस्था वह होती है जब शाखायें पूर्ण विकसित नहीं होती और अंतिम अवस्था वह होती है जब सहायक हिमनद और लटकती हुई घाटियाँ पूर्णतया विकसित होती हैं। हिमालय प्रदेश की बाल्टारो हिम नदी वृक्ष सम प्रकार की प्राथमिक अवस्था का उदाहरण है और न्यूजीलैंड की तस्मान हिमनदी इसी प्रकार की अन्तिम अवस्था का उदाहरण है।

(इ) फैलती हुई हिमनदियाँ (Radiating type) यूरोप के आल्प्स प्रदेश में पाई जाती हैं। इसकी रूप व्यवस्था ऐसी होती है कि मुख्य हिमनदी तो पर्वत की दीवार में स्थित रंगशाला की तरह की गुफा में स्थित रहती है और इससे निकलने वाली छोटी-छोटी हिमनदियाँ इधर-उधर फैलती हुई नीचे को प्रवाहित होती हैं। ये छोटी-छोटी हिम नदियाँ बड़े हिमनद से बाहर की ओर फैलकर नीचे के स्तर पर किसी एक बिन्दु पर मिल जाती हैं और इनकी आकृति स्त्रियों के पंखों में तीलियों के समान मालूम पड़ने लगती हैं।

(ई) नालाकार अथवा अर्द्धचन्द्राकार हिमनदियाँ (Horse shoe type) कनाडा तथा संयुक्त राष्ट्र अमरीका के पर्वतीय प्रदेशों में पाई जाती हैं। छोटी-छोटी हिमनदियों का अग्रभाग अन्दर को मुड़ा हुआ रहता है और ये उस बड़े हिमनद के अवशेष मात्र होते हैं जो हिमागार की दीवार से चिपका रहता है।

(उ) पूर्व प्राप्त बेसिन की हिमनदियाँ (Inherited Basin Glaciers) वे होती हैं जो पहिले से बनी घाटी में हिम प्रवाह द्वारा बन जाती हैं।

(३) स्पिटजबर्जन हिमनदी (Spitzbergen Glacier) वह है जिसमें हिमप्रवाह इतना अत्यधिक होता है कि घाटी में कुछ भी नजर नहीं आता। केवल इधर उधर थोड़े बहुत निकले हुये जलविभाजक दिखते रहते हैं।

महाद्वीपीय हिमनदी या हिमआवरण—ग्रीनलैंड और अर्न्टार्किका में सम्पूर्ण वृष्टि तुषार के रूप में होती है। वर्ष प्रति वर्ष गिरने वाली तुषार बराबर इकट्ठा होती रहती है क्योंकि यहाँ पर पिघलने या वाष्पीकरण द्वारा नाश बहुत ही कम होता है। फल यह होता है कि ये प्रदेश विस्तृत हिम पुंज से दबे रहते हैं। एक विशालकाय हिम गुम्बद के नीचे धरातल की सारी ऊँचाई निचाई दबी पड़ी रहती हैं। इन्हें महा-

द्वीपीय हिम नदी या हिम आवरण कहते हैं। चूँकि इनके बारे में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना तो सम्भव नहीं इसलिए जो कुछ भी हम जानते हैं वह अनुमान मात्र है। अनुमान है कि ग्रीनलैण्ड के आवरण की मोटाई २००० फीट से ७००० फीट तक है और अन्टार्क्टिक के हिम आवरण की औसत मोटाई ४००० फीट है। कभी-कभी हिम आवरण के सिरे समुद्र के ऊपर भी फँस जाते हैं। समुद्र की लहरें उनसे टकराती हैं और उसके बड़े-बड़े टुकड़ों को काटकर समुद्र की तरफ बहा ले जाती है। इन्हें हिमशैल (Iceberg) कहते हैं।

तटीय प्रदेश हिम-आवरण से मुक्त रहते हैं और पर्वत शिखर बीच-बीच में बाहर निकले रहते हैं। इन्हें नुनाटक (Nunatak) कहते हैं। इस हिम-आवरण में बहुत से संघ पाये जाते हैं जिनसे तीव्र ढालों पर हिम की गति का पता चलता है। हिम की गति आन्तरिक भागों की अपेक्षा किनारे पर अधिक होती है। अन्दर की ओर तो नुनाटक के चारों ओर पिघलती हुई हिमराशि से बनी हुई खाई-सी देखने में आती है।

इन खाईयों तथा इसी प्रकार की चौड़ी संघों से धरातल की धारायें ज्ञातपूर्ण प्रपातों के रूप में प्रवेश करती हैं। इनको हिमनद-कूप (Glacial well) या हिम-नदी भंवर (Glacier mill) कहते हैं। इनके अलावा बहुत-सी धारायें हिम-आवरण के नीचे बहती रहती हैं और इनकी आवाज हिम-सतह पर कान लगाने से स्पष्ट सुनाई पड़ती है। हिम-आवरण के विषय में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनके अग्र-भाग में अधिक ढाल के कारण ऊपर की हिम परतें तली की अपेक्षा अधिक तेजी से चलती हैं और नीचे की परतों को छोड़कर ऊपर की परतें किनारे पर जल्दी पटुंग जाती हैं। इसको हिमनदीय प्रवाह (Englacial Drift) कहते हैं।

हिम-आवरण में शिलाखंड नहीं मिले रहते और फलतः इसके द्वारा आवरण-क्षय कार्य नहीं होता। जहाँ कहीं चट्टानी तलहटी ऊपर आ जाती है वहाँ पर बोल्डर मिट्टी या स्थलीय मोरेन (Ground Moraine) का निक्षेप हो जाता है।

चलते हुये हिम की विशेषतायें—हिम नदी में गति, प्रवाह तथा सतह की बनावट से सम्बन्धित अनेक विशेषतायें होती हैं—

(१) हिम नदी चलती है परन्तु इसकी प्रवाह गति इतनी धीमी होती है कि देखने पर हिम चलता हुआ नहीं प्रतीत होता। मध्य में जहाँ गहराई सबसे अधिक होती है और जहाँ पार्श्वों के साथ रगड़ से रुकावट सब से कम पड़ती है हिम की चाल सबसे तेज होती है। हिम की चाल तली की अपेक्षा सतह पर अधिक तेज रहती है। इसका कारण यह है कि सतह पर किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं होती।

हिम नदी की प्रवाह-गति या चाल उसके विस्तार, घाटी के ढाल तथा हिम के औसत तापक्रम पर निर्भर रहती है। हिमनदी जिनती ही बड़ी होगी उसकी दैनिक गति उतनी ही तेज होगी। बड़ी-बड़ी हिम-नदियाँ एक दिन में कई फीट तक चलती देखी गई हैं। दूसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है कि तुषार का आगम जितना ही अधिक होगा, हिम नदी की चाल उतनी ही तेज होगी और उसका विस्तार उतना ही अधिक होगा। दूसरे, ढाल के तीव्रतर होने से हिमनदी की चाल बढ़ जाती है। परन्तु

इस सामान्य सिद्धांत में एक दोष है। जिन हिम नदियों का प्रवाह तीव्र ढाल पर से होता है उनमें हिमराशि की कमी होती है और इसलिए उनकी गति बहुत तेज नहीं हो पाती साधारणतः सबसे अधिक तेज बहने वाली हिमनदियाँ उन सामान्य ढालों पर पाई जाती हैं जहाँ पुषार का आगम अधिक होता है।

(२) हिमनदी की सबसे अधिक गहराई बीच में होती है। वहाँ पर हिम सतह सबसे ऊँची होती है और घाटी का फर्श सबसे नीचा होता है। किनारों पर हिम पतली पड़ जाती है और तली में यह घाटी की बनावट के अनुसार ही बन जाती है।

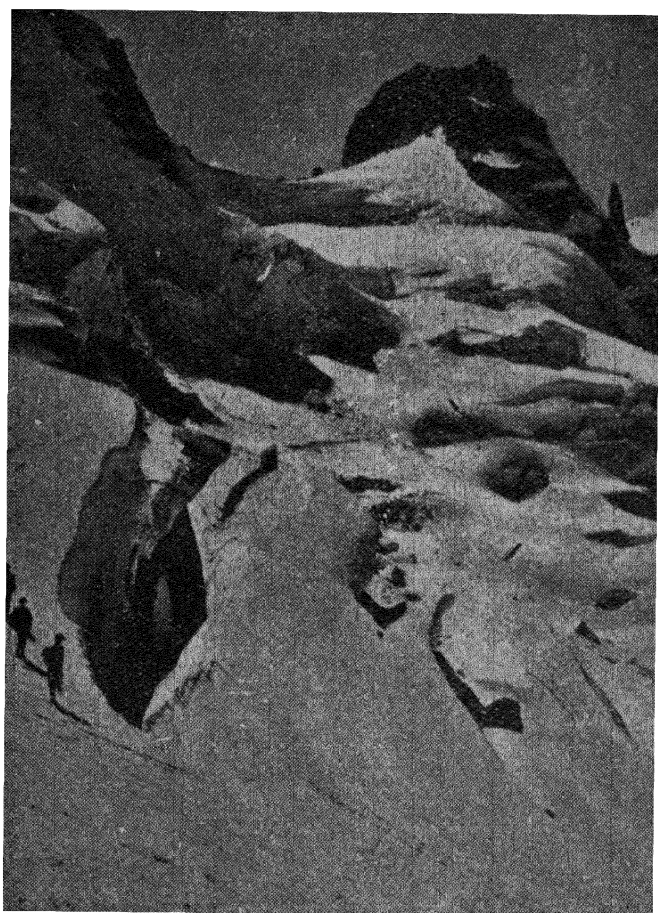
(३) जब हिम नदी प्रवाहित होने लगती है तो उसकी रचना अर्द्ध स्फटिक हो जाती है और धीरे-धीरे इसमें कण और स्फट बढते जाते हैं। परन्तु इसकी बनावट बड़ी ही भौंडी होती है और इसमें बहुत-सी परतें तथा धारियाँ पड़ी रहती हैं। हिमराशि के सभी स्फट एक आकार विस्तार के नहीं होते और विभिन्न हिमपरतों के बीच शिलाखंड तथा वायु के बुलबुले दबे पाये जाते हैं। हिमनदी के विभिन्न भागों में गति विभिन्नता के कारण हिमराशि के प्रवाह काल में ही भिचाव तथा तनाव पड़ता रहता है। फल यह होता है कि धारियाँ पड़ जाती हैं जैसे चट्टानों में संघ पड़ जाती हैं। इन धारियों के सहारे-सहारे दरारें फटने लगती हैं। ये दरारें या फटन लम्बी तथा आड़ी तिरछी दोनों ही प्रकार की होती हैं। इन कमजोर स्थानों पर सूर्य की किरणें सबसे अधिक तेजी से प्रभाव डालती हैं और जैसे-जैसे बर्फ पिघलती जाती है दरारें चौड़ी होकर गोल वृत्ताकार गर्त का रूप धारण कर लेती हैं। इन गर्तों में से होकर पिघलता हुआ पानी धारा के रूप में प्रवाहित होता है और नीचे की तरफ कूब पड़ती है। इन छिद्रों को हिमनली (Moulin) कहते हैं। इनमें से होकर छोटी धारायें नीचे की चली जाती हैं। इस प्रकार हिमनदी की रूपरेखा में विस्तार हो जाता है।

हिम सतह पर तनाव तथा दरारों व संथों की विभिन्न गति के कारण इन छिद्रों का विस्तार बहुत बढ जाता है और इन्हें हिमविवर (Crevasse) कहते हैं। हिमविवर के बनते ही हिम की सतह श्रेणी, शिखर तथा सेरास (Seracs) के कम में बदल जाती है। हिमविवर उस समय भी बन जाते हैं जब हिमनदी तीव्र ढाल पर से उतरती होती है परन्तु उनकी रचना सीढ़ियों या जल प्रपात के रूप में होती है। इस सीढ़ीदार हिमविवर को मेराकम (Seracs) कहते हैं।

(४) कभी-कभी हिमनदी की सतह पर महीन मिट्टी या धूल फैल जाती है। दोनों तरफ स्थित प्रदेशों में मौसमी क्षति के कारण यह मिट्टी फैल जाती है। प्रत्येक बूल का कण अपने नीचे के हिम को पिघला देता है और बड़े गहरे धूलकूप (Dustwell) बन जाते हैं। जब ये धूलकूप एक दूसरे के बहुत समीप स्थित होते हैं तो इनके मिलने से नहाने के टब जैसा गड्ढा बन जाता है। इन गड्ढों में जल रात के पाले के कारण जम जाता है और हिम की नुकीली सुईयाँ बन जाती हैं। रात पर रात ऐसा होते रहने से हिम की सुईयों से गड्ढा बिल्कुल बन्द हो जाता है और इसे हिम नदी तारक (Glacier Star) कहते हैं।

(५) अक्सर गोलाकार बोलडर हिमनदी की सतह पर आकर टिक जाते हैं।

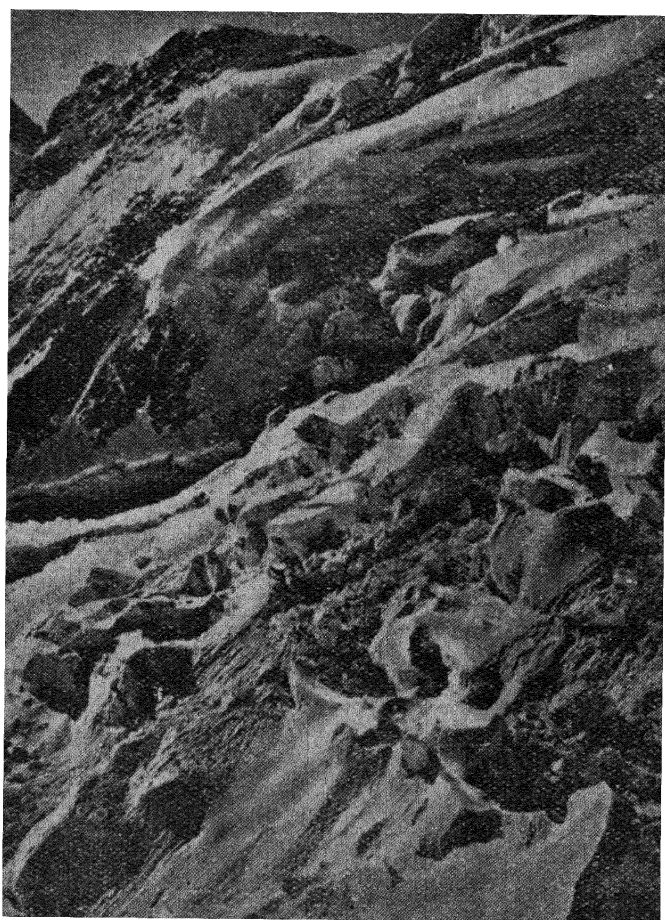
ये मेज का काम करते हैं और सूर्य की किरणें एक ओर की अपेक्षा दूसरी ओर अधिक तीव्र होती हैं। धीरे-धीरे चट्टानी ढोका एक तरफ को झुकने लगता है और हिम का पिरामिड (Ice Pyramid) बन जाता है। इसके एक ओर नलियाँ सी बनी रहती हैं।



चित्र ११६—हिमनदी पर हिमाववर

चलते हुए हिम का भार—हिमनदियों के मार्ग में पड़ने वाले चट्टानी रोड़े और शिलाखंड इसके प्रवाह के साथ-साथ घसीटते चल आते हैं। ये शिलाखंड आसपास के प्रदेश की मौसमी क्षति से प्राप्त होते हैं। ये शिलाखंड चलती हुई हिमराशि में जमे रहते हैं। जिन शिलाखण्डों को हिमनदियाँ अपने साथ घसीटती रहती हैं उन्हें हिमनदी का भार (Load) कहते हैं। ये शिलाखंड घाटी की दीवारों से कटक कर गिरते रहते हैं। इस भार का कुछ अंश हवा द्वारा उड़ा कर लाया जाता है

और हिमखंड (Avalanche) के साथ भी आता है। इनके अलावा हिमनदियाँ घाटी की तलहटी से भी चट्टानों के टुकड़े काट लेती हैं। प्रवाह के नीचे के धरातल को हिमनदियाँ रगड़ तथा खसोटन द्वारा नष्ट करती रहती हैं। रगड़ तथा खसोटन द्वारा कटे हुए चट्टान के छोटे-बड़े टुकड़े इसमें मिलते रहते हैं।



चित्र १२०—मेराकम

ये शिलाखंड विभिन्न आकार-विस्तार के होते हैं और हिमनदी के भार में चट्टान के बड़े ढोंकों और बोलडर से लेकर महीन शिलाचूर्ण तक सभी प्रकार की सामग्री मिली पाई जाती है। हिम नदियाँ इनका तीन प्रकार से अपनयन करती हैं—(१) तलहटी के समीप घसीट कर (२) सतह पर और (३) हिम की परतों के बीच फँसा कर। विभिन्न प्रकार से ले जाया जाता हुआ यह भार बड़ा

ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे आवरणक्षय में सहायता मिलती है और अन्त में मिट्टी जमा हो जाती है ।



चित्र १२१—हिमनदीय मेज

हिमनदियों का कार्य—अभी कुछ समय पहिले तक हिमनदियों द्वारा किये गये कार्य का महत्त्व ठीक से नहीं समझा जाता था । इसके दो कारण थे—प्रथम तो यह कि हिमनदियों का क्रिया कलाप पर्वतीय प्रदेशों तक सीमित है जहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन है और दूसरे यह कि इसका कार्य दिखलाई नहीं पड़ता । सन् १८३७ के बाद से हिमनदियों के कार्य का विस्तृत अध्ययन किया जाने लगा है । आजकल इन विषय से सम्बन्धित तीन मत हैं—

(१) रक्षात्मक मत (Protectionist School)—इस मत के समर्थक हिमनदियों तथा हिमआवरण को भूपृष्ठ के रक्षक मानते हैं । इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सन् १८८५ में हीम (Heim) नामक विद्वान ने किया ।

(२) क्षयात्मक मत (Erosionist School)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सन् १९०४ में हेस (Hess) द्वारा किया गया । हेस ने हिमनदियों के आवरणक्षय कार्य को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया और उनकी उतना ही भीषण साधन माना जितना कि नदियाँ या बहता हुआ जल ।

(३) तीसरा मत सबसे अधिक आधुनिक है और इसके अनुसार हिम रक्षा और क्षय दोनों ही कार्य करता है । जब तक हिम हिलता-डुलता नहीं इसका आवरण भूपृष्ठ की रक्षा करता है परन्तु जैसे ही यह गतिमान हो जाता है, यह प्रवाहित धरातल की काट-छाँट या क्षय शुरू कर देता है ।

इसलिए हिमाच्छादित प्रदेशों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि चलता हुआ हिम निम्नलिखित कार्य करता है—

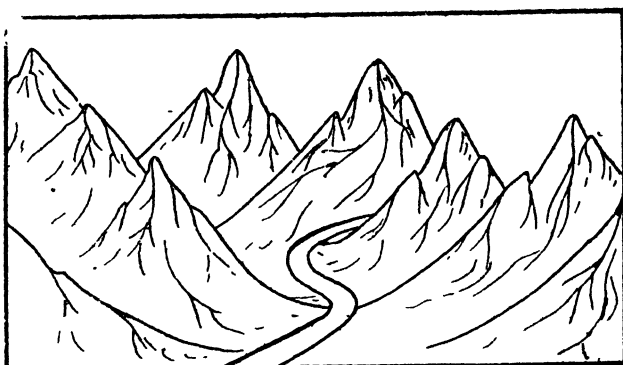
(१) पर्वतीय प्रदेशों में आवरणक्षय ।

(२) निम्न मैदानी प्रदेशों में निक्षेप जिससे पुरानी प्राकृतिक बनावट छिप ही नहीं जाती बल्कि नये स्थल रूपों का निर्माण भी हो जाता है ।

(३) जलप्रवाह की उलट-पुलट ।

हिमनदियों द्वारा आवरणक्षय—नुकीले शिलाखंडों से पूर्ण हिमनदियाँ आवरणक्षय या काट-छाँट अवश्य करती हैं परन्तु उनका यह कार्य न तो धरातल को खोद ही पाता है और न ही बहुत विस्तृत होता है । चलते हुए हिम में अपनी तलहटी खोदने की शक्ति नहीं होती । मार्ग से बड़े-बड़े अवरोधों को भी हटाने की इसमें क्षमता नहीं होती । परन्तु नुकीले शिलाखंडों के अलावा जलधाराओं से भी इसे आवरणक्षय में सहायता मिलती है । ऊपर के दबाव तथा वाष्पीकरण के कारण जब हिम पिघलता है तो जलधाराये इसके सिरे से निकलने लगती है । इस प्रकार हिम के साथ-साथ जल द्वारा आवरणक्षय भी होता है और इस प्रकार निमित्त स्थलरूपों में दोनों कार्य विधियों की विशेषताये पायी जाती है ।

(क)



(ख)



चित्र ११२—(क) हिमाच्छादन के पहिले का भूदृश्य

(ख) हिमाच्छादन के बाद का भूदृश्य

हिमनदी द्वारा आवरणक्षय खसोटन, खोदन, खंरोवन तथा घर्षण विधियों द्वारा होता है । हिम अपनी तलहटी में से बड़े-बड़े टुकड़ों को खसोट लेता है और

उसके कारण बड़े-बड़े गड्ढे बन जाते हैं। ये शिलाखंड हिमनदी के निचले भाग में इकट्ठा हो जाते हैं और तलहटी के साथ रगड़ खाते हुये चलते हैं। इस प्रकार घसिटने से उत्पन्न पारस्परिक रगड़ द्वारा चट्टानी तलहटी और शिलाखंड दोनों ही चिकने हो जाते हैं। इस घर्षण विधि से बोलडर या बड़े-बड़े चट्टानी ढोके चिकने और सपाट तथा खुरच जाते हैं। तलहटी चिकनी और सपाट होने के अलावा खरोंचों से भर जाती है। इस दिशा में हिमनदी के कार्य को जड़िया या हीरे जवाहरात के कारीगर के काम से तुलना कर सकते हैं। जिस प्रकार एक जड़िया माणिक या जवाहरात को अपने औजार में फंसाकर कभी एक तरफ से रगड़ता है तो कभी दूसरी तरफ से और घुमा-घुमाकर बहुमूल्य पत्थर को चिकना कर देता है उसी प्रकार तलहटी में फंसाकर हिम प्रवाह चट्टानों के ढोकों को कभी इधर से और कभी उधर से रगड़ता है तथा साथ-साथ घुमाता भी जाता है और फल यह होता है कि उनकी उबड़-खाबड़ बनावट कट-कटाकर चिकनी तथा सपाट हो जाती है।

घाटी की तली भी चिकनी सपाट हो जाती है और शिलाखंडों के साथ लगा-तार घर्षण से इसकी अनियमित रूपरेखा गोलाकार हो जाती है। इस चौरस सपाट तलहटी को हिमनदी उत्तल (Glacier Pavement) कहते हैं। इसमें खरीच के निशान और धारियाँ बनी रहती हैं। इससे हिम प्रवाह की दिशा का ज्ञान होता है। इस हिम नदी उत्तल पर ढालू या लहरदार मोड़ के टीले उठे खड़े रहते हैं और साधारणतः ऊँचाई कम हो जाती है।

हिमनदी द्वारा आवरणक्षय नदी से बिल्कुल भिन्न होता है क्योंकि उसमें निम्नलिखित विशेषतायें पाई जाती हैं—

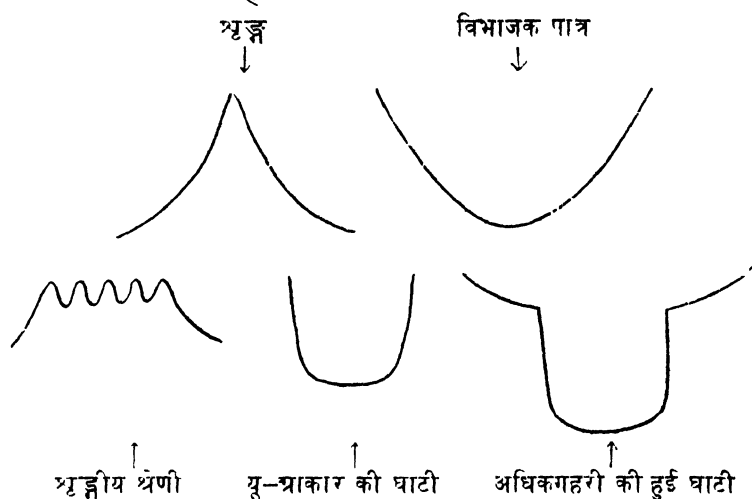
(अ) जल की अपेक्षा हिम में गति नगण्य होती है।

(ब) हिम नदी का निचला भाग तलहटी से रगड़ नहीं खा पाता बल्कि कुछ उठा रहता है।

(स) धरातल की ऊँचाई-निचाई तथा ढाल में परिवर्तन के अनुसार, हिमनदी की गति, मोटाई तथा काट-छाँट करने की शक्ति अलग-अलग होती है। तीव्र ढाल पर हिम नदी की चाल तेज हो जाती है, इसकी मोटाई कम हो जाती है और तलहटी के साथ इसका सम्पर्क टूट जाता है।

डी मारटोन (De Mortonne) ने हिम नदी द्वारा आवरणक्षय के सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है—“यदि हिम नदी का ढाल भिन्न हो जाये जैसा कि रहता ही है तो तलहटी की सबसे अधिक काट-छाँट हिमविवर (Crevasses) के ऊपर तथा नीचे होती है।” दूसरे शब्दों में यू कहा जा सकता है कि ढाल में जैसे ही परिवर्तन होगा, हिम विवर बन जायेंगे और आवरणक्षय की तीव्रता इनसे ऊपर और नीचे सबसे अधिक होगी। परन्तु आवरणक्षय की क्रिया धीरे-धीरे घटती जाती है और हिम नदी के अग्रभाग में जाकर बिल्कुल ही कम हो जाती है। यह तो हिम द्वारा आवरणक्षय की विशेषता है परन्तु अकेले हिम काट-छाँट का काम थोड़े ही करता है। इसके साथ-साथ जल द्वारा आवरणक्षय भी होता रहता है और जल की भीतरी धारा का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है।

आवरणक्षय के विशिष्ट रूप—हिम द्वारा आवरणक्षय से उत्पन्न प्राकृतिक बनावट तथा स्थलरूप पर्वतीय प्रदेशों में पाये जाते हैं। इसलिए पर्वतीय या घाटी हिम नदी को इस दृष्टिकोण से विशेष प्रधान कहा जा सकता है। निम्नलिखित आवरणक्षय से उत्पन्न विशिष्ट रूप हैं—



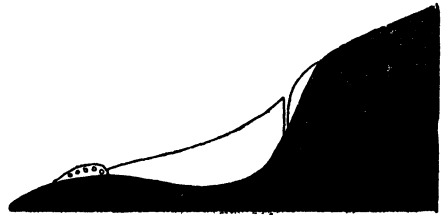
चित्र १०३—आवरणक्षय के विशिष्ट रूप।

(१) हिमागार (Cirques) (२) विभाजक पात्र (Cols) (३) शृङ्ग (Horns) (४) शृङ्गीय श्रेणी (Comb-like range) (५) U-आकार की घाटी (६) अधिक गहरी की हुई घाटी (७) लटकती हुई घाटी (८) चट्टानी सीढ़ी (Rock bastion) (९) मेषशिलाये (Roche Montonnées) (१०) गड्ढेदार, खरोंच पूर्ण, चिकना और गोलाकार हिमनदीय उत्तल (Glacier Pavement) (११) चिकने और सपाट शिलाखण्ड जिन्हें मोरेन (Moraine) कहते हैं।

हिमागार (Cirques)—पर्वतों के पार्श्व में रंगशाला जैसे गड्ढे होते हैं इनका रूप वृत्ताकार होता है और ये एक सिरे पर खुले रहते हैं। पर्वतीय हिमनदियों के लिए तुषार एकत्रित होने की यही जगह है। पर्वतीय हिमनदी के उद्गम के स्रोत यही हैं। चेम्बरलेन और सेलिसबरी जैसे कुछ विद्वानों का विचार है कि हिमागार हिमनदी द्वारा नहीं बनते, परन्तु अब सभी विद्वानों का यह विश्वास है कि इनका निर्माण तो जरूर हिमनदी द्वारा होता है यद्यपि इनका प्रसार एवं विस्तार पाले के कारण होता है। सच तो यह है कि पाले की तीव्र क्रिया द्वारा एक छोटी सी कटान के रूप में हिमागार की उत्पत्ति होती है परन्तु बाद में इसी विधि द्वारा यह चौड़ा होता जाता है। प्राथमिक अवस्था में हिमागार का आकार अर्द्धवृत्त के समान होता है क्योंकि इसे सभी तरफ से बराबर मात्रा में तुषार प्राप्त होता रहता है। परन्तु बाद में तुषार केवल इसके किनारों तक ही पहुँच पाता है जिससे कि यह चपटा और चौड़ा हो जाता है। इस प्रकार के प्राकृतिक आकारों को स्काटलैण्ड में कौरिस (Corries) तथा वेल्स में क्वम (Cwm) कहते हैं। इन गड्ढों या खोखले

स्थानों की तली में बहुधा झील पाई जाती है और तब सम्पूर्ण आकृति एक बड़ी हृत्थेदार कुर्सी की तरह लगने लगती है।

जब एक ही श्रेणी के विरोधी पाइवों पर दो हिमागार बीच की दीवार को चौड़ी करते जाते हैं तो पीछे काटने की क्रिया के फलस्वरूप बीच की श्रेणी नष्ट हो जाती है। यदि दोनों हिमागार एक ही ऊँचाई पर स्थित हैं तो एक ही बिन्दु पर वे एक दूसरे को छू लेंगे। जब ऐसा होता है तो बीच की चट्टानी दीवार टूट जाती है उसके स्थान पर घोड़े की काठी जैसी आकृति बन जाती है। इसको विभाजक पात्र (Col) कहते हैं और विविध पर्वतीय श्रेणियों के बीच वह दर्रे का काम करता है। कॅनेडियन पॅसिफिक रेलमार्ग ऐसे ही विभाजक-पात्र में से होकर गुजरता है।



चित्र १२४—हिमागार

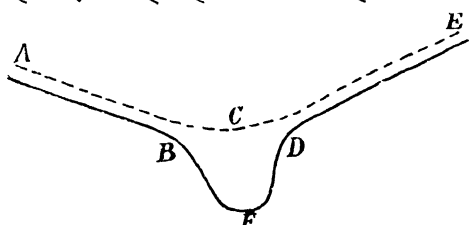
कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही श्रेणी के चारों ओर अनेक हिमागार बन जाते हैं। ये हिमागार समकेन्द्रीय वृत्तों की तरह से सभी दिशाओं में फैलते जाते हैं और तुषार प्राप्ति के अनुसार बीच की दीवार को नष्ट करते जाते हैं। यदि ये हिमागार एक दूसरे के समीप पहुँचने में सफल हुए तो सम्पूर्ण श्रेणी का आकार तीन-चार पहल वाले पिरामिड (Pyramid) के समान बन जाता है। दूर से यह दाँत के समान प्रतीत होता है और इसे शृङ्ग (Horn) कहते हैं। साधारणतया इस प्रकार के शृङ्ग विभाजक-पात्र के दोनों तरफ भी बन जाते हैं। विभाजक पात्र बनने पर काट-छाँट से अवशिष्ट चट्टान पिंड सींग की तरह त्रिकोण आधार पर खड़ा रह जाता है। स्विटजरलैंड का मॅटर हार्न इसका विशिष्ट उदाहरण है।

हिमागार के निर्माण, विकास तथा पीछे काटने की क्रिया से एक गड्ढेदार उच्च प्रदेश बन जाता है जिसमें बहुत-सी नालियाँ बनी होती हैं। कालान्तर में यह गड्ढेदार उच्च प्रदेश कट-छंटकर एक तलहटी-सा बन जाता है और उस तलहटी में अनेक उत्तल बने होते हैं। इन उत्तलों के ऊपर तीव्र ढाल वाली दीवारें पाई जाती हैं और उन पर सपाट चट्टान की नुकीली श्रेणियाँ खड़ी होती हैं। इन चट्टानी सुइयों को एरीट (Arete) कहते हैं। इनको ग्राट (Grats) या एइक्वील पर्वत (Aiguille Mountains) भी कहते हैं। जब एरीट या चट्टानी सुइयाँ समाकार रूप में व्यवस्थित होती हैं तो उन्हें शृङ्गीय श्रेणी (Comb Ridge) कहते हैं। इसके विपरीत यदि एरीट की चोटी भद्दे तौर पर झुकी रहती है तो पिरामिड जैसी श्रेणी बन जाती है जिनका वर्णन पहिले किया जा चुका है।

ये विशिष्ट रूप हिमनदी की सतह से ऊपर के ढालों पर पाये जाते हैं। वहाँ पर खसोटन और घर्षण द्वारा आवरणक्षय नहीं होता। उतनी अधिक ऊँचाई पर आवरणक्षय नीचे से कटाव तथा शोषण द्वारा होता है। इसके फलस्वरूप चट्टानों के शैल टूट कर अलग हो जाते हैं।

घाटियों तथा निचले ढालों पर आवरणक्षय खसोटन तथा घर्षण द्वारा होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है हिमनदी में अपनी घाटी बनाने की शक्ति नहीं होती परन्तु अन्य साधनों से बनी घाटी में से प्रवाहित होने पर हिमनदी उसका रूप आकार बदल देती है। V- आकार की घाटी में से होकर बहने पर हिमनदी इधर-उधर की दीवारों के ऊबड़-खाबड़पन को काट-छांट कर अलग कर देती है और उनको सीधा सपाट बना देती है। इस सतत घर्षण से हिमाच्छादित घाटी की तली चपटी हो जाती है और उसका आकार नांद की तरह हो जाता है जिसमें इधर-उधर तीव्र ढाल वाली दीवारें खड़ी रहती हैं। इसलिए घाटी का आकार U जैसा हो जाता है। अमेरिका की सेंट लारेन्स घाटी इसका विशिष्ट उदाहरण है।

हिमनदी का प्रवाह जितने अधिक समय तक रहता है, घाटी का गर्त उतना ही चौड़ा व गहरा होता जाता है, यहाँ तक कि कालान्तर में अधिक गहरी U आकार



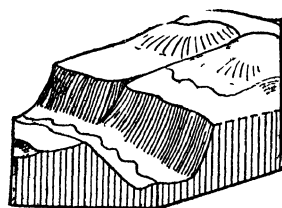
चित्र १२५—अधिक गहरी की हुई घाटी

की घाटी बन जाती है। इसमें बीच की नांद के इधर-उधर उत्तल या कंध बन जाते हैं जो पहिली हिमनदी घाटी के अवशेष होते हैं। ये कंध हल्के से जुड़े हुए हैं होते और आल्पस की घाटी में बहुत पाये जाते हैं। स्विटजरलैंड में इनको एल्ब (Albs) कहते हैं।

इससे साफ जाहिर है कि मिश्रित घाटी हिमप्रवाह के साथ-साथ जल द्वारा गहरी काट-छांट से बनी है।

जिस हिमनदी में दोनों तरफ से बहुत सी सहायक हिम-धारायें आकर मिलती हैं उसमें लटकती हुई घाटियाँ बन जाती हैं। ये हिम द्वारा आवरणक्षय की विभिन्नता के कारण बन जाती हैं। मुख्य हिमनदी अधिक हिमराशि के कारण सहायक हिमनदियों की अपेक्षा अधिक गहराई तक काट-छांट कर ले जाती है। यद्यपि मुख्य और सहायक हिमनदियों में हिम की सतह एक ही ऊँचाई या तल पर होती है परन्तु जैसे ही हिम-प्रवाह समाप्त होता है सहायक घाटियाँ मुख्य घाटी के ऊपर इधर-उधर लटकती हुई दिखलाई पड़ने लगती हैं। ये सहायक घाटियाँ मुख्य घाटी के दोनों किनारों पर अधिक ऊँचाई पर स्थित होती हैं और दूर से लटकती हुई सी प्रतीत होती हैं।

जब हिम पिघलता है तो इन लटकती हुई घाटियों में, जिनका आकार U जैसा होता है छोटी-छोटी जलधारायें बहने लगती हैं। इन धाराओं को देखते हुये इन घाटियों का विस्तार बहुत अधिक होता है। ये छोटी-छोटी धारायें मुख्य घाटी में गिरते समय तीव्र ढाल वाली दीवार पर फीते की तरह के जलप्रपात बना लेती हैं और इनसे भूदृश्य और भी अधिक आकर्षक हो



चित्र १२६—लटकती हुई घाटी

जाता है परन्तु जिन तीव्र ढालू दीवारों पर से होकर यह जल गिरता है वह पूर्णतया चिकनी नहीं होतीं। सहायक हिमनदियाँ उनमें सीढ़ीनुभा कटान बना देती हैं। इन्हें चट्टानी सीढ़ी (Rock Bastion) कहते हैं। जब ढाल और भी अधिक ढालू होता है तो इन चट्टानी सीढ़ियों को चट्टानी अवरोध (Rock Bars) कहते हैं। आल्प्स प्रदेश की घाटियों में इनकी बहुतायत है। जब इनके ऊपर से होकर छोटी-छोटी जल-धाराओं का जल नीचे गिरता है तो ये सीढ़ियाँ फुहार-सी उत्पन्न कर देती हैं और दूर से वह विवाह के समय वधू के घूँघट-सा प्रतीत होता है।



चित्र १२७—चट्टानी सीढ़ी

अक्सर ये सीढ़ियाँ ३०० से ५०० फीट तक ऊँची होती हैं। और जैसे-जैसे हम घाटी में ऊपर की ओर चलते जाते हैं इनकी ऊँचाई बढ़ती जाती है। कभी-कभी ये सीढ़ियाँ वास्तविक पर्वतखंड होते हैं और अक्सर ये केवल तीव्र ढाल मात्र होते हैं। ये या तो विभिन्न आवरणक्षय से या चट्टानों की कठोरता के कारण बन जाते हैं।

मार्ग में जरा सी रुकावट आने पर बहता हुआ जल तो मुड़ जाता है परन्तु हिमनदी में इस प्रकार का मार्ग परिवर्तन नहीं होता। इसके विपरीत चलते हुए हिम से मार्ग के सारे अवरोध कट-छंटकर चौरस तथा सपाट हो जाते हैं। धरातल का ऊबड़-खाबड़पन इस प्रकार परिवर्तित होता है कि उनका प्रवाह अभिमुख ढाल तो चिकना हो जाता है परन्तु प्रवाह विमुख ढाल टूटाफूटा तथा ऊबड़-खाबड़ बना रहता है। इस प्रकार के गोलाकार टीले दूर से काफिले में भेड़ की पीठ के समान दिखलाई देते हैं। इन्हें मेप गिलाये (Roche Montonne) कहते हैं। इन असमान श्रेणियों की उत्पत्ति तथा निर्माण के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। प्राचीन मत के अनुसार मेष शिलाओं का निर्माण कठोर चट्टानी भागों में होता है जहाँ पर हिमनदी द्वारा आवरण-क्षय अपूर्ण रह जाता है। इन्हें उस प्राकृतिक बनावट का अवशिष्ट रूप समझा जाता है जिसके ऊपर से होकर हिमनदियाँ गुजर गईं हैं।

नवीनतम मत, जिसके प्रधान प्रवर्तक फ्लूकीगर (Fluckiger) हैं, के अनुसार मेषशिलाओं की रचना में हिमनदी द्वारा आवरणक्षय की विशेषता छिपी हुई है। हिमनदी लहरों के क्रम में आगे बढ़ती है और जैसे ही इन लहरों के सामने कोई ऊँचाई आई, हिम नदी उसके ऊपर चढ़ने लगती है। चढ़ाव के समय हिम और चट्टान के बीच सीधा सम्पर्क होता है और आवरणक्षय क्रिया तीव्रतम होने लगती है। फल यह होता है कि प्रवाह की तरफ सबसे अधिक दबाव पड़ता है और यह एक सिरे से दूसरे सिरे तक चिकनी हो जाती है। हिम में जमे या फंसे हुए शिलाखंडों से खंरोच तथा धारियाँ पड़ जाती हैं। पीछे हटते समय हिम की कार्यशक्ति इतनी तीव्र नहीं होती क्योंकि हिमनदी और चट्टान के बीच सम्पर्क बराबर लगातार नहीं होता।

घर्षण केवल कुछ ही स्थानों पर तथा एक २ कर होता है। फल यह होता है कि प्रवाह विमुख ढाल की चट्टान की काट-छांट अलग २ स्थानों पर भिन्न होती है और सम्पूर्ण चट्टानी धरातल सीढ़ी जैसा हो जाता है। इस प्रकार मेष शिलाये वहाँ ही सबसे अधिक



चित्र १२८—मेष शिलाए

विकसित पाई जाती है जहाँ हिमनदी का प्रभाव सबसे प्रखर एवं लगातार होता है।

आवरणक्षय के इन

विशिष्ट रूपों के अतिरिक्त हिमनदी की तलहटी चिकनी तथा सपाट हो जाती है और इसके द्वारा ले जाये गये शिलाखंड भी चिकने तथा धारीदार हो जाते हैं। बड़े २ ढोकों, कंकड़-पत्थर तथा शिलाचूर्ण से मिलकर बनी सामग्री—मोरेन का भी रूप-परिवर्तन हो जाता है। हिमनदियों द्वारा निक्षेप के दृष्टिकोण से मोरेन (Moraine) का विशेष महत्त्व है और इनका पूर्ण विवरण निक्षेप के अन्तर्गत दिया जावेगा। हिमनदीय उत्तल या तलहटी पर खरोच और प्रवाह के निशान पड़े होते हैं तथा घर्षण द्वारा यह चिकना हो जाता है। खसोटन से चट्टानी तलहटी में गड्ढे बन जाते हैं और हिमनदी के पिघलने पर इनमें छोटी बड़ी अनेक प्रकार की झीलें बन जाती हैं। उन स्थानों पर जहाँ दरार तथा संधि हैं हिमनदी चट्टानों से घिरे खोखले स्थान बना देती है। इनकी रूप रेखा टेढ़ी-मेढ़ी होती है और कनाडा तथा फिनलैंड के हिम प्रवाहित क्षेत्रों में ये बहुत पाये जाते हैं।

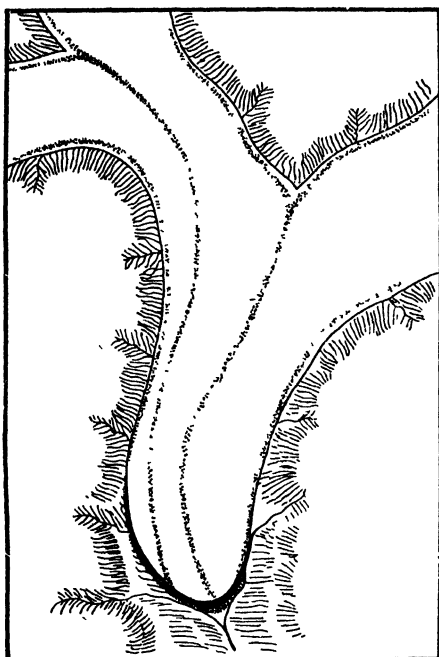
हिमनदी द्वारा निक्षेप कार्य—जब हिमनदियाँ पिघलती हैं या पीछे हटती हैं तो वे अपने साथ बहाकर लाई हुई चट्टानी सामग्री को विभिन्न आकार तथा विस्तार के टीओं में जमा कर देती हैं। इस सामग्री को मोरेन कहते हैं और इसके अन्तर्गत विभिन्न आकार, प्रकार और विस्तार के मिश्रित शिलाखंड सम्मिलित रहते हैं। मोरेन में महीन शिलाचूर्ण से लेकर ५०-६० फीट व्यास वाले तथा कई टन वजन वाले बड़े-बड़े शिलाखंड भी शामिल रहते हैं। दूसरे, हिमनदी निक्षेप की सामग्री असंयुक्त तथा टूटी-फूटी रहती है। बहुधा ऐसे शिलाखंड पाये जाते हैं जिनका प्रदेश-विशेष की भूसंरचना से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। इनको विदेशीय ढोके (Erratic Blocks) कहते हैं और इन्हें हिमनदी बहुत दूर से लाती है। अक्सर एक श्रेणी या टीले में बीस या उससे अधिक विचित्र प्रकार की चट्टानों के टुकड़े पाये जाते हैं और इनका रंग तथा रचना भी विभिन्न होती है। यही असमानता मोरेन की खास विशेषता है।

निक्षिप्त सामग्री दो प्रकार की होती है—(१) हिमनदी निक्षेप और (२) हिम-जलीय निक्षेप। हिमनदी द्वारा निक्षिप्त मोरेन में परतों या तहों का अभाव होता है और इनमें अनेक प्रकार की सामग्री मिश्रित रहती है। इसके विपरीत हिम से अथवा उसके नीचे बहने वाली जल की धाराओं द्वारा निक्षिप्त सामग्री व्यवस्थित तथा परत-वार होती है। हिमनदी निक्षेप या मिश्रित चट्टानी सामग्री को टिल (Till) कहते हैं। इसके विपरीत हिम जल निक्षेप को केम बजरी (Kame Gravel) कहते हैं।

इस प्रकार हिमनदी द्वारा निक्षेप कार्य में मोरेन, टिल तथा केम बजरी (Kame Gravel) शामिल हैं। इनमें से मोरेन तो पर्वतीय या घाटी हिमनदियों से सम्बन्धित है और अन्य दो का सम्बन्ध निम्न प्रदेशीय हिम प्रवाह से है। परन्तु पर्वतीय प्रदेशों में निक्षेप अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता। निक्षेप के विशिष्ट रूप हिम-प्रवाहित निम्न प्रदेशों में पाये जाते हैं।

मोरेन कई प्रकार के होते हैं। इनके भेद निक्षेप स्थान के अनुसार अलग-अलग होते हैं। निम्नलिखित छः प्रकार के मोरेन विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं—

(१) पाश्र्ववर्ती मोरेन (Lateral Moraine) ढीले तथा टूटे-फूटे चट्टानी सामग्री के वे निक्षेप हैं जो हिम नदी के किनारों पर पाये जाते हैं। ये ढीले कई सौ फीट ऊँचे होते हैं और हिम नदी की धीमी चाल तथा हिम के किनारों पर पिघलने के कारण बन जाते हैं। ये पाश्र्ववर्ती मोरेन सीधी रेखा में होते हैं और उनमें एकत्रित चट्टानों के टुकड़े असंयुक्त होते हैं।



चित्र १२६—मोरेन

(२) मध्यवर्ती मोरेन (Medial Moraine) वहाँ बन जाते हैं

जहाँ दो हिमनदियाँ मिलती हैं। जब एक हिमनदी दूसरी हिमनदी से मिलती है तो उनके पाश्र्ववर्ती मोरेन भी आपस में मिल जाते हैं। इन्हें मध्यवर्ती मोरेन कहते हैं। ये सकरी श्रेणियों के रूप में ढाल या प्रवाह की दिशा में स्थित होते हैं। कभी-कभी यह होता है कि मध्यवर्ती मोरेन हिमप्रवाह के नीचे दब जाता है।

(३) प्रवाह मोरेन (Ablation Moraine) वे शिलाखंड होते हैं जो हिमनदी की सतह पर पड़े रहते हैं। ये शिलाखंड या तो हिमप्रवाह के समानान्तर होते हैं या उनके किनारों के समानान्तर रहते हैं। इनमें गोल कंकड़ और चट्टानों की वह चूर होती है जो पहिले तली की परतों में जमी रहती है परन्तु बाद में सतह पर आ जाती है। इसमें हवा द्वारा उड़ा कर लाये हुए नुकीले शिलाखंड भी होते हैं। चूँकि ये सतह पर पड़े रहते हैं इसलिए इन पर घर्षण नहीं होता और फलतः इनकी काट-छांट नहीं हो पाती। इन मोरेन्स का निक्षेप उस समय होता है जब यह शिलाखंड या तो हिम के अग्रभाग से फिसल कर गिर पड़ते हैं या हिमप्रवाह का किनारा इधर-उधर हटता है।

(४) स्थलीय मोरेन (Ground Moraine) वे होते हैं जो हिमनदी के

पिघलने के बाद घाटी की तली पर फंसे पाये जाते हैं। इसमें चट्टानों के चूर्ण के साथ-साथ धारीदार तथा खरोंचपूर्ण ढोके भी होते हैं। ढोकों से पूर्ण होने के कारण इसे बोल्टडर मिट्टी भी कहते हैं। यह असंयुक्त टिल होती है और जहाँ कहीं इसका रूप संयुक्त हो जाता है इसे हार्ड पैन (Hard Pan) कहते हैं। स्थलीय मोरेन या बोल्टडर मिट्टी उन चट्टानों पर निर्भर रहती है जिन पर से होकर हिमनदी गुजरती होती है। इसमें बहुत धिसे घिसाये शिलाखंड पाये जाते हैं जिसकी रंग व रचना मिश्रित होती है। चट्टानों की प्रकृति पर ही इसकी गहराई भी निर्भर रहती है। यदि हिमनदी का प्रवाह कमजोर चट्टानों पर से हुआ है तो स्थलीय मोरेन अधिक गहरा होगा परन्तु यदि यह कठोर चट्टानों पर से गुजरी है तो स्थलीय मोरेन की गहराई कम होगी।

हिम के प्रवाह पर निर्भर स्थलीय मोरेन का वितरण अव्यवस्थित होता है। जहाँ प्रवाह तेज होता है, स्थलीय मोरेन का निक्षेप नहीं हो पाता। इसके विपरीत जहाँ कहीं हिम की गति धीमी पड़ जाती है स्थलीय मोरेन या बोल्टडर मिट्टी की चादर सी बिछी रह जाती है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि चट्टान खंड के प्रवाह विमुख ढाल की ओर स्थलीय मोरेन का निक्षेप पूंछ की तरह लगता है। चट्टान खंड या चट्टान की प्रवाह अभिमुख ढाल को चिकना करने के बाद जब हिमनदी विमुख ढाल पर से नीचे उतरती है तो उसकी चाल धीमी पड़ जाती है और स्थलीय मोरेन का लम्बा निक्षेप हो जाता है। इस प्रकार की प्राकृतिक बनावट को चट्टानखंड और पूंछ वाली बनावट (Crag and Tail Topography) कहते हैं। इस में आवरणक्षय और निक्षेप साथ-साथ होते रहते हैं।

(५) अन्तिम मोरेन (Terminal Moraine) समकेन्द्रीय वृत्तों के समान श्रेणियों को कहते हैं जो संयुक्त सामग्री से बनी होती है और हिम के पिघलने पर बन जाती है। इनमें सम्मिलित चट्टान के टुकड़े आकार और विस्तार में बड़े ही विभिन्न होते हैं। इनको सीमान्तीय मोरेन (Marginal Moraine) भी कहते हैं। हिम के अग्रभाग की विभिन्न स्थितियों के अनुरूप हिमनिक्षेप का विस्तृत ढेर इकट्ठा हो जाता है परन्तु इसके लिए जरूरी यह है कि हिम का किनारा काफी समय तक एक ही स्थान पर रुका रहा हो। जब हिमनदी पीछे हटती है तो श्रेणी के रूप में ये किनारे के मोरेन निक्षिप्त हो जाते हैं। या तो ये श्रेणियाँ एक के पीछे एक करके स्थित होती हैं या अव्यवस्थित रूप से इधर-उधर। अन्तिम मोरेन की प्रत्येक श्रेणी अर्द्ध-चन्द्राकार होती है। उनकी ऊँचाई, चौड़ाई और प्रसार विभिन्न होता है। उनकी चौड़ाई कुछ फीट से लेकर कई मील तक होती है और ये कई सौ फीट ऊँचे होते हैं। आपस में परस्पर सम्बन्धित मेहराब की तरह ये अन्तिम मोरेन सैकड़ों या हजारों मील तक फैले रहते हैं।

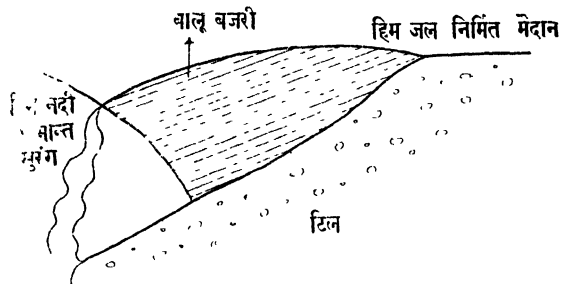
इन श्रेणियों की वृत्ताकार अथवा अर्द्ध-वृत्ताकार रूपरेखा में अस्थायी उथली झीलें बन जाती हैं। सच तो यह है कि हिम का पिघला हुआ जल इन केटलीनुमा बेसिनों में भर जाता है और इनके चारों ओर घुंडी की तरह की श्रेणियाँ स्थित होती हैं। इसी कारण कभी-कभी अन्तिम मोरेन को केटिल मोरेन (Kettle Moraine)

भी कहते हैं और इनसे उत्पन्न प्राकृतिक बनावट को Knob & Basin की भूरचना कहते हैं ।

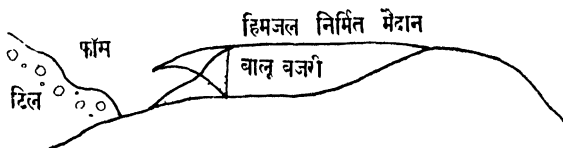
(६) अवकाशीय मोरेन (Recessional or Stadial Moraine) अन्तिम मोरेन की ही तरह होते हैं । केवल उनकी स्थिति भिन्न होती है । हिम के अन्तिम भाग में तो अन्तिम मोरेन बनते हैं परन्तु हिमनदी के पीछे हटने पर हिम का अग्रभाग अलग-अलग स्थितियों में रुकता जाता है । वहाँ पर जो निक्षेप होता है उसे अवकाशीय मोरेन कहते हैं । पीछे हटने की प्रत्येक अवस्था में कुछ समय तक हिमप्रवाह रुक जाता है और निक्षेप बन जाता है । परन्तु कालान्तर में मौसमी क्षति की शक्तियाँ इन के रूप को विकृत कर देती हैं ।

हिमनदी के सिरे से निकलने वाली धाराओं का भी बड़ा ही महत्त्व होता है । हिमप्रवाहित निम्नप्रदेशों में निक्षिप्त स्थलरूपों में इनका विशेष भाग होता है । हिमकूप में प्रवेश करने वाली जलधाराएँ तथा हिम पिघलने पर उनके सिरे से निकलने वाली जलधाराओं के जल में चट्टानों की चूर्ण मिट्टी मिली रहती है । इसी कारण इनके जल को हिमनदी दूध कहते हैं । चट्टानी चूर्ण से पूर्ण होने के कारण ये जलधाराएँ हिम के किनारे से बाहर के मैदान में अपना भार जमा कर देती हैं । इस प्रकार के निक्षेप से बने मैदान को हिम जलनिर्मित मैदान (Outwash Plain) कहते हैं । चूँकि इस का आकार कपड़े की चादर की भाँति होता है इसलिए इसे हिमजल निर्मित चादर भी कहते हैं ।

हिमजल निर्मित मैदान में बालू और बजरी की परतदार तहें निक्षिप्त होती हैं । मैदान के ऊपर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होकर नदियाँ बहती होती हैं । दूर से ये फीते जैसी मालूम पड़ती हैं । इसके अलावा सम्पूर्ण धरातल पर गहरी परन्तु गोलाकार झीले बनी रहती हैं । इन झीलों के कारण इन मैदानों को हिमजल



चित्र १३०—हिमजल निर्मित मैदान



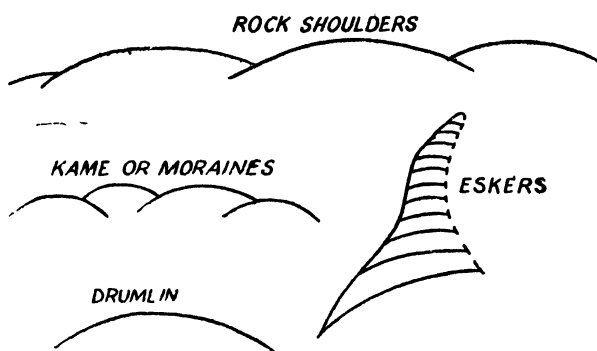
चित्र १३१—एक फॉस झील

गर्तपूर्ण मैदान भी कहते हैं । भद्दी बनावट के होने के कारण यह अक्सर उत्तलों में कट जाती है और कभी २ मोरेन निक्षेप से भी जा मिलती है ।

कभी २ ऐसा होता है कि हिम-प्रवाह के अग्रभाग के ऊपर हिमजल निर्मित

मैदान बन जाता है। बाद में चलकर जब हिम का अग्रभाग पिघलता है तो हिमजल निमित्त मैदान और अन्तिम मोरेन के बीच एक झील सी बन जाती है। इस प्रकार की झील को फॉस (Fosse) कहते हैं।

ड्रमलिन (Drumlin) उल्टी हुई नाव के आकार की अजीब पहाड़ियाँ होती हैं। इनकी लम्बी धुरी हिमप्रवाह की दिशा के समानान्तर होती है। ये पहाड़ियाँ बोल्टर मिट्टी की बनी होती हैं और इनका विस्तार कुछ फीट ऊँचे टीलों से लेकर कई सौ फीट ऊँची पहाड़ियों तक होता है। साधारणतया ये निक्षेप समूह में पाये जाते हैं। ये समूह केन्द्र के चारों ओर अर्द्धव्यास की तरह फैले हुए अन्तिम मोरेन के बिल्कुल पीछे स्थित होते हैं।



चित्र १३२—हिम नदी निक्षेप के विशिष्ट रूप

ड्रमलिन की उत्पत्ति के विषय में ज्ञान अपूर्ण है। परन्तु एक बात बिल्कुल निश्चित है कि इनका निर्माण हिमनदी के नीचे होता है। इनकी उत्पत्ति के विषय में दो मत हैं। एक मत के अनुसार ड्रमलिन स्थलीय मोरेन या बोल्टर मिट्टी के अव्यवस्थित निक्षेप हैं। दूसरे मत के अनुसार ये ड्रमलिन हिम द्वारा आवरणक्षय से बनती हैं और बराबर से जमी हुई बोल्टर मिट्टी की काटछांट से उत्पन्न होती हैं। दूसरा मत निराधार प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रकार के रूप आकार मिट्टी से बने तथा साधारण आवरणक्षय वाले प्रदेशों में नहीं पाये जाते हैं। इसलिए यह सिद्ध प्रतीत होता है कि ड्रमलिन की उत्पत्ति स्थलीय मोरेन के अव्यवस्थित तथा विभिन्न निक्षेप से होती है।

जहाँ ड्रमलिन पायी जाती है, वहाँ की प्राकृतिक बनावट ऐसी हो जाती है जैसे कि टोकरी में अंडे रखे हों। यहाँ का जलप्रवाह न तो नियमित होता है और न ही निश्चित। फल यह होता है कि दो टीलों के बीच की भूमि में दलदल पाये जाते हैं।

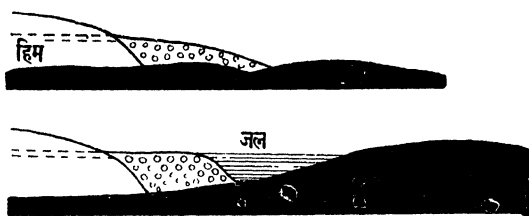
एस्कर (Escher) भी वे रूप हैं जो हिमप्रवाह के नीचे बालू बजरी से बनते हैं। बालू बजरी की ये श्रेणियाँ साँप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं और साँप की तरह बहुत दूर तक फैली रहती हैं। परन्तु ये परस्पर सम्बन्धित नहीं होते। इन्हें स्कैन्डि-नेविया में असार (osar) कहते हैं। ये इतनी संकरी होती हैं कि इनकी चौड़ाई कुछ फीट से अधिक नहीं होती। केवल २०-५० फीट तक ही होती हैं। परन्तु इनका

विस्तार संकड़ों मील लम्बे क्षेत्र में होता है और इनके कारण सम्पूर्ण भूदृश्य लहरदार या ऊँचा-नीचा हो जाता है। कभी तो ये एस्कर ढाल के ऊपर चढ़ते होते हैं तो कभी ये ढाल से नीचे की ओर उतरते रहते हैं।

सच तो यह है कि हिमप्रवाह के नीचे बहने वाली जलधारायें हिम को पिघलाकर अपने लिए सुरंग बना लेती हैं और उन्हीं में एस्कर का निक्षेप हो जाता है। हिम के नीचे की ये धारायें बड़ी वेगशील होती हैं और हिम के किनारे से निकलकर जब ये धारायें बाहर आ जाती हैं तो इनकी तेजी और भी बढ़ जाती है। इसलिए एस्कर केवल वहीं बनते हैं जहाँ तटवर्ती जलप्रवाह इतना तीव्र नहीं होता कि निक्षिप्त सामग्री को पुनः इधर-उधर फेंकावे।

हिम के नीचे बनी सुरंगों में बालू, बजरी भर जाने से कुछ एस्कर का निर्माण हुआ है। इस प्रकार जब तक

हिमप्रवाह था ये नीचे-ही-नीचे बनते रहे परन्तु हिम के पिघलने के बाद ये विस्तृत क्षेत्र में फैल गये। प्राकृतिक बनावट के ढाल से असम्बन्धित ये एस्कर कहीं तो ऊपर को चढ़ते हैं और कहीं नीचे को उतरते हैं।



चित्र १३३—(अ) एस्कर पंख (ब) एस्कर डेल्टा

एस्कर बालू बजरी की मोटी तहों से बने होते हैं परन्तु उनकी बनावट परतदार नहीं होती। इनमें सम्मिलित चट्टानी सामग्री काफी घिसी घिसाई होती है और हिमनदी के पीछे हटने की विशेषताओं के अनुसार इनका आकार विभिन्न हो जाता है तथा विभिन्न प्रकार के समूह में व्यवस्थित हो जाते हैं—

(१) एस्कर पंख (Esker Fan) का आकार मृत्तिकामय पंख के समान होता है और ये अन्तिम मोरेन के समीप बने होते हैं।

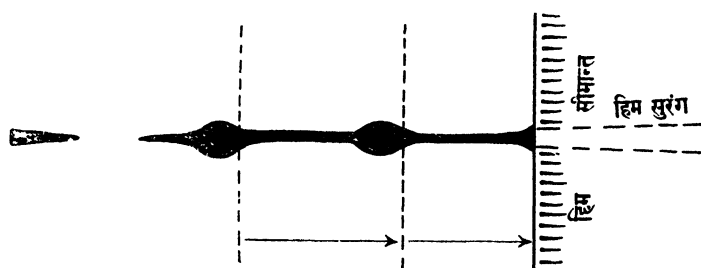
(२) एस्कर डेल्टा (Esker Delta) रुके हुए प्रवाह-रहित जल में बनते हैं और इसीलिए सभी एस्कर का समूह इस प्रकार बन जाता है कि इनके सामने तो तीव्र ढाल हो जाता है तथा उनके ऊपर का भाग चौरस सपाट हो जाता है।

(३) एस्कर ट्रेल (Esker Trail) इसका सबसे सामान्य रूप है। इसमें एस्कर श्रेणियाँ एक के पीछे एक बहुत दूर तल फैली होती हैं।

कभी-कभी एस्कर ट्रेल में दो एस्कर के बीच एक और टीला-सा बन जाता है जो उनको सम्बन्धित करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण रूपरेखा माले से पिरोई हुई गुरियों या बाने के समान मालूम पड़ने लगती है। इसे मालारूप एस्कर कहते हैं। (चित्र १३४)

केम (Kame) शब्द से हिमप्रवाह के सीमान्त पर बनी बहुत सी श्रेणियों तथा टीलों का बोध होता है। परन्तु इनको अंतिम मोरेन नहीं कहा जा सकता यद्यपि इनके और अंतिम मोरेन के बीच देखने से कोई अन्तर समझ में नहीं आता। केम का निक्षेप हिमनदी के नीचे वाली जलधाराओं से होता है और इनका निर्माण हिम-

कूपों के नीचे होता है। जल में निक्षिप्त होने के कारण इसमें बालू बजरी का तरतीब वार जमाव होता है दूसरी विशेषता यह है कि इसका निर्माण असमानरूप से होता है जिससे इनकी ऊँचाई १०० के २०० फीट तक होती है। केम श्रेणियाँ हिम सीमान्त की ही दिशा में बनी होती हैं।



चित्र १३४—मालारूप एस्कर

जलप्रवाह में परिवर्तन या उलट-पुलट—जब कभी हिमनदी आगे बढ़ती है या पीछे हटती है तो हिमाच्छादन से पूर्व बहने वाली कुछ नदियों के जलप्रवाह क्षेत्र इसकी लपेट में आ जाते हैं और फलस्वरूप कई प्रकार के जटिल परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं। हिमाच्छादन पूर्व की नदियाँ या तो बिल्कुल दब ही जाती हैं या उनकी प्रवाह दिशा में परिवर्तन हो जाता है या वर्तमान जलप्रवाह को रोक कर झीलों का निर्माण हो जाता है।

जब कभी कोई हिमनदी किसी जलधारा की घाटी पर जलविभाजक अथवा उद्गम की ओर से आक्रमण करती है तो उसमें बाढ़ आ जाती है और वह किनारे पर से होकर बहने लगती है। इस बाढ़ के फलस्वरूप हिम सीमान्त के समीप परस्पर समानान्तर मोरेन श्रेणियाँ बन जाती हैं और फल यह होता है कि जलप्रवाह की दिशा में स्थानीय परिवर्तन हो जाता है। जलप्रवाह की दिशा परिवर्तन की शुरुआत हिम सीमांत के समीप होती है जहाँ पर रोका गया जल श्रेणियों को काटकर अपना मार्ग ढूँढ़ता है। इस प्रकार नालियों की रचना हो जाती है जिनका हिमाच्छादन पूर्व जल-प्रवाह से कोई सम्बन्ध नहीं होता। निम्न प्रदेशों में जलप्रवाह की दिशा परिवर्तन एक अन्य प्रकार से भी हो सकता है। मूल घाटियाँ हिमनदी निक्षेप से भर जाती हैं और इसके कारण जलप्रवाह घूम कर हिमसीमांत के समानांतर बहने लगता है।

जब कभी हिमनदी मुहाने की तरफ से जलधारा की घाटी में प्रवेश करती है तो नदी का जल स्थायी अथवा अस्थायी रूप से बांध जाता है और झीलों की रचना हो जाती है। ये झीले घाटी के नीचे की तरफ या हिमसीमांत की ओर उठी हुई भूमि के बीच या दो मोरेन श्रेणियों के बीच होती हैं। इस प्रकार की झीलें नार्वे और आल्पस प्रदेश में खूब पाई जाती हैं। बाढ़ में बांध के टूट जाने से इन झीलों का जल निम्नतल की नाली से बाहर निकलने लगता है। इसके अलावा वैसे भी इनका जीवन अधिक लम्बा नहीं होता क्योंकि बाढ़ में आवरणक्षय इनको नष्ट कर देता है। झीलें तो विलीन हो जाती हैं परन्तु उनके जल से बनी नदियाँ जलप्रवाह को बिल्कुल उलट

देती है। जब हिमसीमान्त कई नदियों के जल को रोककर कई झीलें बना देता है, तो इन झीलों का जल नालियों द्वारा एक दूसरे में आने जाने लगता है। ये नालियाँ तेज बहने वाले पानी की विशाल राशि द्वारा खोद ली जाती है। ये प्रवाह नालियाँ स्थायी जलप्रवाह से असम्बन्धित होती हैं और निम्नलिखित प्रकार की होती हैं—

(१) सीधी नालियाँ जिनमें जल मुख्य जलविभाजक के आर-पार प्रवाहित होता है।

(२) पार्श्ववती नालियाँ जो हिम के किनारे-किनारे होती हैं या पर्वत शाखाओं को काटकर निकलती हैं। दोनों ही दशाओं में नालियों की व्यवस्था या तो समानान्तर प्रणाली में होती है या सम्बन्धित प्रणाली में। समानान्तर प्रणाली की रचना एक ही पर्वत शाखा को विभिन्न तल पर काटने से हो जाती है। दूसरी घाटियों में विभिन्न झीलों को जोड़ने से सम्बन्धित प्रणाली की रचना हो जाती है।

इन सभी नालियों की तली सपाट और चपटी होती है तथा दोनों तरफ तीव्र ढाल वाली दीवारें खड़ी होती हैं जिससे कि इनका आकार संकीर्ण नदी कन्दरा जैसा हो जाता है।

जलप्रवाह के उलटने से बढ़कर जलप्रवाह का मुड़ना होता है। यह वह परिवर्तन है जिसके फलस्वरूप उत्तर की तरफ ढाल वाली नदी घाटियों का ढाल दक्षिण की ओर हो जाता है। यह उस समय होता है जब हिमनदी तथा हिमनदी जल के प्रभाव से जलविभाजक नीचे हो जाते हैं या वर्तमान धारा की तलहटी में तलछट जमा हो जाती है। इस प्रकार का परिवर्तन उत्तरी अमरीका में विशेष रूप से दर्शनीय है। वहाँ सेटलारेस नदी की बहुत सी सहायक धाराएँ अब मुड़कर दक्षिण की ओर बहने वाली मिसीसीपी नदी में गिरने लगी हैं।

इनके अलावा हिमनदी निक्षेप से नदी घाटियाँ पूर्णतः या अंशतः दब जाती हैं। फलस्वरूप पुरानी जलप्रवाह प्रणाली विलीन हो जाती है और कालान्तर में नयी जलप्रवाह व्यवस्था आरोपित हो जाती है। इन दशाओं में गहरी कन्दराएँ बन जाती हैं और उनके दोनों ओर हिमनदी निक्षेप की श्रेणियाँ स्थित होती हैं। अन्य दशाओं में हिमाच्छादन पूर्व नदी प्रणाली निक्षेप द्वारा पूर्णतया पुनः व्यवस्थित हो जाती है।

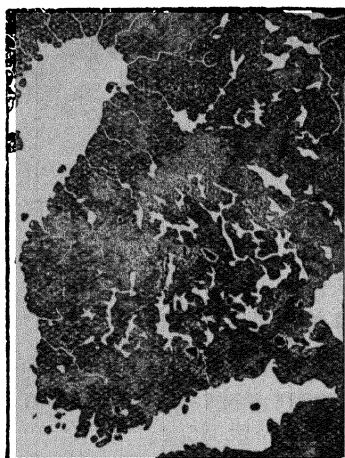
लटकती हुई घाटियाँ, संकीर्ण नदी कन्दराएँ तथा जलप्रपात आदि कुछ और परिवर्तन हैं जो हिमनदी द्वारा जलप्रवाह प्रणाली में हो जाते हैं। इन परिवर्तनों के कारण भूतकाल में हिमाच्छादित प्रदेशों में जलविद्युत की विशेष सुविधा रहती है। स्विटजरलैंड और स्कैंडिनेविया उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

परन्तु सब से प्रकट परिवर्तन झीलों की रचना है। स्थिति के अनुसार झीलें तीन प्रकार की होती हैं—

(१) बाह्य सीमान्तीय झीलें—एस्कर, केम, या ड्रमलिन के बीच में पानी इकट्ठा हो जाने से या हिमजलनिर्मित मैदान में बजरी के गड्ढों में जल भर जाने से इस प्रकार की झीलों का निर्माण हो जाता है।

(२) सीमान्तीय झीलें—वे होती हैं जो हिमप्रवाह के नीचे के जल के अन्तिम मोरेन के पीछे रुक जाने से बन जाती हैं। हिमनदी के पीछे हटने पर अन्तिम मोरेन

के बीच केटिलनुमा गड्ढों में जल इकट्ठा हो जाने से ये झीलें बन जाती हैं।



चित्र १३५

फिनलैंड की हिमनदी झीलें

(३) अन्तरासीमान्तीय झीलें वे होती हैं जो घाटी की तली में हिमनदी द्वारा बनाये गये गड्ढों में जल भर जाने से बन जाती हैं। इसी प्रकार की झीलें मोरेन निक्षेप द्वारा नदी के जल बंध जाने से भी बन जाती हैं। इसी लिए इनको दो उपविभागों में विभाजित करना ठीक होगा—

(१) चट्टानी गड्ढों वाली झीलें और (२) घाटी मोरेन द्वारा निर्मित झीलें और निक्षेप झीलें—दूसरी प्रकार की झीलें पर्वतीय हिमनदी के प्रदेश में पाई जाती हैं और निक्षेप द्वारा जल रुकने से बनती हैं।

हिमनदी द्वारा बनी झीलें अस्थायी होती हैं और उनकी रूपरेखा टेढ़ी-मेढ़ी होती है। उनके रूप आकार के आधार पर उन्हें निम्न तीन प्रकार का कहा जा सकता है—

(१) लम्बी झीलें जो हाथ की अंगुलियों के समान होती हैं।

(२) वृत्ताकार या चन्द्राकार झीलें।

(३) ताड़ के वृक्ष की पत्ती के समान विस्तृत शाखाओं वाली झीलें। कनाडा और फिनलैंड में विभिन्न प्रकार की हिमनदी झीलें पाई जाती हैं। अमरीका की बड़ी झीलें इसका सबसे अच्छा उदाहरण हैं।

हिमाच्छादन चक्र—स्थलमण्डल के अध्ययन से ज्ञात होता है कि बहुत से स्थानों पर एक से ज्यादा टिल (Till) की चादर बिछी हुई पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त दो प्रकार के मोरेन भी पाये जाते हैं। पुराने मोरेन बहुत अधिक घिसे-घिसाये हैं परन्तु नये मोरेन अभी भी ताजे हैं। इससे स्पष्ट है कि पुराने मोरेन पर बहुत दिन तक मौसमी क्षति होती रही और तब कहीं जाकर नये मोरेन का नवीन निक्षेप हुआ। तीसरी बात यह है कि टिल और हिमनदी निक्षेप की विभिन्न चादरों या परतों के बीच पौधों के अवशेष तथा पीट के निक्षेप पाये जाते हैं। ये सब बातें इस बात की प्रमाण हैं कि कुछ विशेष काल में पृथ्वी हिमाच्छादित रही और उस समय हिमनदियाँ आगे बढ़ती रहीं। इन हिमाच्छादित युगों के बीच के काल में पृथ्वी का धरातल हिममुक्त रहा। हिममुक्त और हिमाच्छादित काल एक के बाद तरतीब से एक क्रमिक चक्र के रूप आते रहते हैं और इसी को हिमाच्छादन चक्र कहते हैं।

हिमनदियों का आगे बढ़ना तथा पीछे हटना किन कारणों से होता है यह अभी भी संदिग्ध एवं विवादग्रस्त है। कुछ विशेषज्ञों का विचार है कि इसका कारण सूर्य का ठंडा होना या उसमें धब्बों (Sunspots) की कमीबेशी है जिसका असर सूर्यताप पर पड़ता है। दूसरों का मत है कि पृथ्वी के परिभ्रमण में

दक्षिणायन तथा उत्तरायण स्थितियों में क्रमशः हिमनदियाँ आगे बढ़ती और पीछे हटती हैं। परन्तु आज-कल सबसे अधिक माननीय मत यह है कि हिमचक्र का प्रादुर्भाव भौगोलिक परिवर्तनों जैसे अक्षांश तथा ऊँचाई में अन्तर, जल-थल के वितरण में अन्तर और जलधाराओं आदि से होता है।

इन परिवर्तनों तथा अंतरों के कारण कुछ विशेष काल में जलवायु उत्तरोत्तर अधिक कठोर होती जाती है और पहिले से बनी हुई तलहटियों में से हिमनदियाँ प्रवाहित होने लगती हैं। ये हिमनदियाँ घाटियों में से होती हुई पहाड़ियों के आधार पर



चित्र १३६—अमरीका की बड़ी झीलें और हिमनदी का सीमान्त

पहुँचती हैं जहाँ वे फैल जाती हैं और मिलकर सम्पूर्ण निम्न मैदान को हिम के एक गुम्बद के नीचे दबा लेती हैं। इसे आगे बढ़ता हुआ हिमचक्र कह सकते हैं। जब हिमनदियाँ काफी बढ़ जाती हैं और विकसित हो जाती हैं तो जलवायु धीरे-धीरे क्रमिक रूप से सम होने लगती है और हिमनदियाँ भी पीछे हटने लगती हैं। उनकी प्रगति उलट जाती है और पीछे हटता हुआ हिमचक्र बन जाता है। ये परिवर्तन साधारण रूप से होते रहते हैं और अक्सर कई बार होते हैं। इसलिए एक हिमाच्छादन चक्र में कई बढ़ते हुए और कई पीछे हटते हुए हिमचक्र सम्मिलित रहते हैं।

भूगुण के इतिहास को देखने से पता चलता है कि पृथ्वी तीन विशिष्ट हिमाच्छादन चक्रों में से गुजर चुकी है। परमो-कारबोनीकरस युग में दक्षिणी गोलार्द्ध हिमआवरण के नीचे दबा हुआ था। परन्तु सबसे महत्वपूर्ण चक्र अभी हाल का है जिसे हिम-युग कहते हैं। यह धरातल के इतिहास में प्रातिनूतन कल्प (Quaternary Era) में हुआ। इस हिमयुग में जलवायु के चार परिवर्तन हुए जिनके फल-स्वरूप पाँच हिमाच्छादन चक्रों का सूत्रपात हुआ। इसके कारण उत्तरी अमरीका तथा उत्तरी-पश्चिमी यूरोप का अधिकांश भाग एक विस्तृत हिम-आवरण के नीचे दबा था। प्रगति के केन्द्र कनाडा के प्राचीन पिण्ड और स्कैंडिनेविया में थे।

हिमाच्छादित प्रदेशों की विशेषतायें—हिमाच्छादित प्रदेशों में कुछ ऐसी विशेषतायें तथा नई बातें उत्पन्न हो जाती हैं जो उनको अन्य प्रदेशों से अलग करती हैं। ये विशेषतायें प्राकृतिक बनावट, जल-प्रवाह, चट्टानी धरातल तथा भूआवरण से संबंधित हैं।

(क) अन्य प्रदेशों की प्राकृतिक बनावट में विध्वंस के चिह्न मिलते हैं परन्तु हिमाच्छादित प्रदेशों की भूरचना में निर्माण का स्थान मुख्य होता है। सारी ऊबड़-खाबड़ रूप रेखायें सपाट बना दी जाती हैं और पर्वतखंड तथा टीले गोलाकार बन

जाते हैं। हिम द्वारा काटछांट तो केवल पर्वतीय प्रदेशों में देखने को आती है। वहाँ पर उच्च प्रदेश में हिमागार, विभाजक पात्र, शृङ्ग तथा U-आकार की घाटियों के साथ लटकती हुई घाटियाँ हिमप्रवाह की प्रगति का चित्रण करते हैं।

(ख) जलप्रवाह बिल्कुल उलट-पुलट जाता है और यहाँ वहाँ झीले तथा दलदल बन जाते हैं। हिमप्रवाह से पूर्व की वृक्षसम जलप्रवाह प्रणाली बिल्कुल ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

(ग) अन्य प्रदेशों का चट्टानी धरातल तो बड़ा ही ऊँचा-नीचा तथा ऊबड़-खाबड़ होता है परन्तु हिमाच्छादित प्रदेशों का चट्टानी धरातल चौरस, चिकना और सपाट होता है और इसमें हिमनदी प्रगति के खरौच पाये जाते हैं।

(घ) अन्य प्रदेशों के भूआवरण में जलस्रावयुक्त मिट्टी होती है तथा समान रचना वाले नुकीले शिलाखंड भी पाये जाते हैं। यह सम्पूर्ण राशि विखण्डित अथवा गली हुई होती है। इसके विपरीत हिमाच्छादित प्रदेशों का भू-आवरण न तो विखण्डित होता है और न गला हुआ ही। चट्टानी तली पर सभी ओर असंयुक्त कंकड़-पत्थर तथा शिलाखंड पाये जाते हैं जिनकी उत्पत्ति दूरस्थ प्रदेशों में होती है और जिनका विस्तार विभिन्न होता है। घाटी में बालू बजरी के साथ विदेशीय रोड़े तथा विशाल ढोके भी पाये जाते हैं जोकि जरा-सी जगह में टिके रहते हैं। शिलाचूर्ण ही यहाँ की मिट्टी होती है और इसके अनेक सीमान्तीय, अन्तरासीमान्तीय तथा बाह्य सीमान्तीय रूप नजर आते हैं।

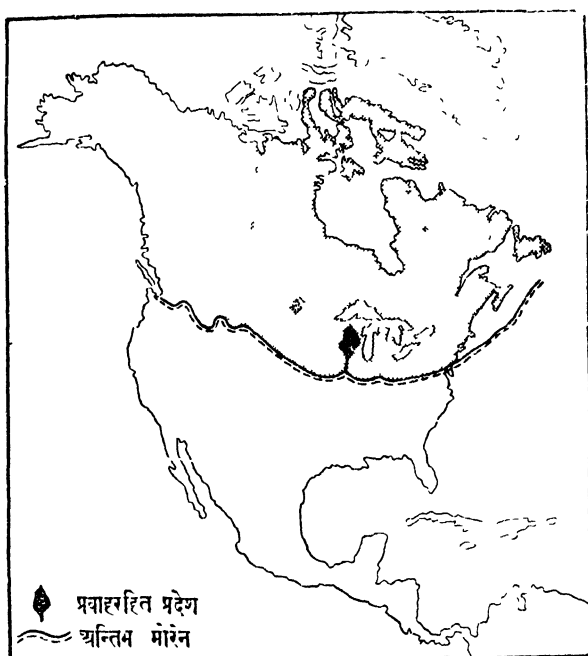
हिमयुग की महाद्वीपीय हिमनदियाँ तथा उनका अमरीका और यूरोप पर प्रभाव

अमरीका और यूरोप में महाद्वीपीय हिमनदियों की सीमा अन्तिम मोरेन से बनती है। अन्तिम मोरेन के एक तरफ तो हिमनदी कार्य के चिन्ह मिलते हैं और दूसरी तरफ का भूभाग बिल्कुल ही भिन्न है। अमरीका में मिसौरी तथा ओहियो नदी का मार्ग इस सीमा को बनाता है और उनके किनारे-किनारे अन्तिम मोरेन पाये जाते हैं। इस सीमा से उत्तर की ओर स्थित भूखंड हिमाच्छादित था परन्तु इससे दक्षिण में हिमप्रवाह के कोई भी चिन्ह नहीं मिलते। इस उत्तरी हिमाच्छादित प्रदेश में भी एक “प्रवाहरहित क्षेत्र” है जिस पर हिमप्रवाह के कोई भी चिन्ह नहीं मिलते। इस प्रवाहरहित क्षेत्र में विसंकासिन इलीनाय तथा मेनीसोटा रियासतों के कुछ भाग शामिल हैं। इसमें जल द्वारा आवरणक्षय की सभी विशेषताएँ पाई जाती हैं।

हिमाच्छादित पट्टी में सबसे महत्त्वपूर्ण चिन्ह बड़ी झीलों की रचना तथा जलप्रवाह की उलट-पलट है। सेंट लारेन्स नदी की सहायक धाराएँ हिमप्रवाह के फलस्वरूप ही मुड़कर अब मिसिसीपी नदी में गिरती हैं। दूसरे सिनसिनाटी से ऊपर की ओर ओहियो नदी का उद्गम स्थान दक्षिण की ओर मुड़ गया है। पहले यह नदी उत्तर की ओर बहती थी।

उत्तरी कनाडा का सम्पूर्ण भाग झीलों से घिरा पड़ा है। ये झीलें विभिन्न आकार प्रकार की हैं। इन्हें हिमनदियों ने बनाया है। ये झीलें लम्बी तथा बहुत-सी

शाखाओं वाली हैं। इनके अलावा बहुतसे दलदल तथा पंक भूमियाँ भी पाई जाती हैं।



चित्र १३७—उत्तरी अमरीका में हिमाच्छादन की सीमा

चट्टानी तलहटी में नालियों, गड्ढों तथा खरौचों की भरमार है। इस प्रदेश के दक्षिणी भाग में हिमनदी निक्षेप बहुत गहरा है परन्तु उत्तरी भाग की मिट्टी तथा भूआवरण हिमप्रवाह में बह गई और अब वहाँ केवल हिमनदी उत्तल ही पाया जाता है।

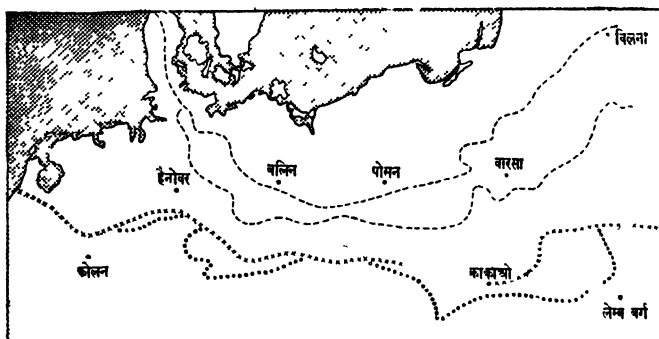
न्यू इंग्लैंड में हिमनदी निक्षेप बहुत अधिक हुआ है। वहाँ पर चट्टानी चूर्ण से उपजाऊ मिट्टी बन गई है। न्यू इंग्लैंड की पहाड़ियों पर बहुत से हिलते-डुलते पत्थर पाये जाते हैं जो और कुछ नहीं बल्कि हिमनदी निक्षेप के टिके हुए रोड़े या ढोके हैं।

यूरोप में हिमआवरण की दक्षिणी सीमा मध्य जर्मनी में थी और इसके अंतिम मोरेन अभी भी बाल्टिक सागर के दक्षिण में पाये जाते हैं। इन्हें बाल्टिक टीले कहते हैं। यह नीची पहाड़ियों की एक शृङ्खला सी है जिन्हें हम या तो केम कह सकते हैं या अन्तिम मोरेन। परन्तु इस सीमा से हिमनदियाँ एक दम से पीछे नहीं हटीं। इसके विपरीत उनके पीछे हटने की क्रिया अवकाशपूर्ण थी। इसलिए स्कैंडिनेविया और फिनलैंड में अवकाशीय मोरेन बन गये हैं। इन्हें विभिन्न स्थानीय नामों से पुकारा जाता है जैसे पोमरनेयिन, स्कैनियन और सालपासेलका।

फिनलैंड में उपजाऊ मिट्टी बह गई है और उनके स्थान पर हिमनदी निक्षेप की अनियमित श्रेणियाँ बन गई हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रदेश अनुपजाऊ हो गया है। और सभी जगह झीलें तथा दलदल पाये जाते हैं। फिनलैंड का जलप्रवाह अव्यवस्थित

हो गया है और नदियों में जलप्रपात तथा प्रपाती पाये जाते हैं ।

स्कैन्डिनेविया में स्वीडन का अनुपजाऊपन हिमप्रवाह के ही कारण है । हिम-आवरण इसकी उपजाऊ मिट्टी को बहा ले गया । सम्पूर्ण प्रायद्वीप में पाई जाने वाली संकड़ों झीलें हिमप्रवाह से ही उत्पन्न हुई हैं । नदियों में प्रपाती और जलप्रपात पाये



चित्र १३—उत्तरी यूरोपीय मैदान में हिमनदियों की सीमा

जाते हैं क्योंकि हिमप्रवाह ने उनके जलप्रवाह को उलट-पुलट दिया । इस प्रकार नाध्यता के दृष्टिकोण से वे जरूर बेकार हैं परन्तु जलविद्युत के दृष्टिकोण से उनका विशेष महत्त्व है । बहुत से भूगर्भवेत्ताओं का विचार है कि नार्वे के फियार्ड भी हिमनदी घाटियों के जलमग्न होने से बने हैं । और भूमि के नीचे धंसने का कारण समुद्र जल के तल तथा भूमि के समतुलन में परिवर्तन भी हिमनदी निक्षेप द्वारा ही सम्भव हुआ ।

बाल्टिक सागर के दक्षिण वाले प्रदेश में हिमाच्छादन के बहुत से चिन्ह अब विलीन हो गये हैं क्योंकि यह प्रदेश कोई २५००० वर्ष पहिले हिमाच्छादित था और हिमनदी का पीछे हटना भी इसी प्रदेश से सबसे पहिले शुरू हुआ । स्वयं बाल्टिक सागर हिमाच्छादन की देन है और इस प्रदेश का जलप्रवाह बड़ा ही अव्यवस्थित था परन्तु अब बहुत सी झीलें तथा दलदलों को सुखा लिया गया है । रूस का उत्तरी-पूर्वी मैदान अभी भी दलदली है ।

जटलंड प्रायद्वीप और सम्पूर्ण मध्य जर्मनी में पश्चिम से पूर्व की ओर कोई ६०० मील तक समुद्र तट के समानान्तर मोरेनी श्रेणियाँ पाई जाती हैं । ये छोटे-मोटे पठार जैसी मालूम पड़ती हैं और अनियमित रूप से फेंकी हुई हैं । इनके उत्तर में उप-जाऊ मिट्टी का मैदान है परन्तु इनके दक्षिण में दलदली घाटियाँ, पंकभूमियाँ, हीथ और झीलें पाई जाती हैं । इन रूपाकृतियों के बीच शिलाचूर्ण का निक्षेप मिलता है जो कि हिमप्रवाह में चूर २ हो गया है और हिमनदी सीमान्त से निकलने वाली धाराओं ने उसे इधर-उधर फैला दिया है ।

उत्तरी सागर के दक्षिण में स्थित मैदानों में हिमजल धाराओं का क्रियाकलाप बड़ा ही प्रखर रहा है । यहाँ पर बालू बजरी के विस्तृत निक्षेप के बीच २ हीथ और मूर प्रदेश पाये जाते हैं । उत्तरी-पश्चिमी जर्मनी और उत्तरी-पूर्वी हॉलैंड इस दृष्टिकोण से विशेष ध्यान देने योग्य हैं ।

इसके अलावा हिमआवरण के पिघलने पर शिलाखंड और दूसरी सामग्री की अपार राशि उन सागर तलहटियों में जमा हो गई जो इसके नीचे दबे पड़े थे। इसी निक्षेप के कारण उत्तरी सागर तथा आंध्रमहासागर में न्यूफाउन्डलैंड के समीप विस्तृत महाद्वीपीय सागर बन गये हैं। समुद्र की तलहटी में हिमनदी निक्षेप के कारण ही डागर तथा ग्रेड बैंक्स इतने प्रसिद्ध मछलीमार प्रदेश हो गये हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य के जीवन पर हिमनदियों का बड़ा ही व्यापक प्रभाव पड़ता है। जलप्रवाह में परिवर्तन तथा मिट्टी में हेरफेर के साथ २ बालू, बजरी और मिट्टी के निक्षेप द्वारा हिमनदी प्रदेश विशेष के प्राकृतिक साधनों को प्रभावित करती है तथा हिमनदी निक्षेप के नीचे भूगर्भवती जल का प्रबन्ध करती है।

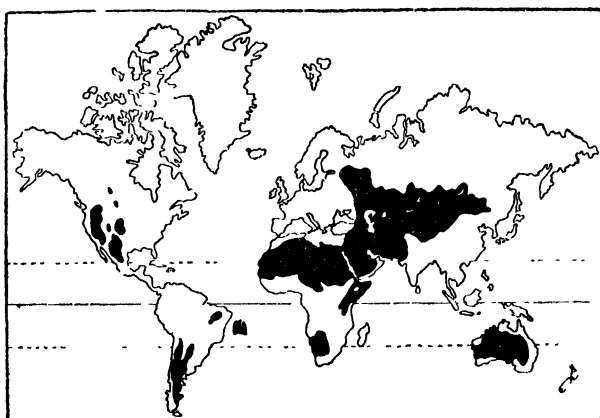
अध्याय : : २१

अनावृत्तीकरण के साधन

(४) हवा

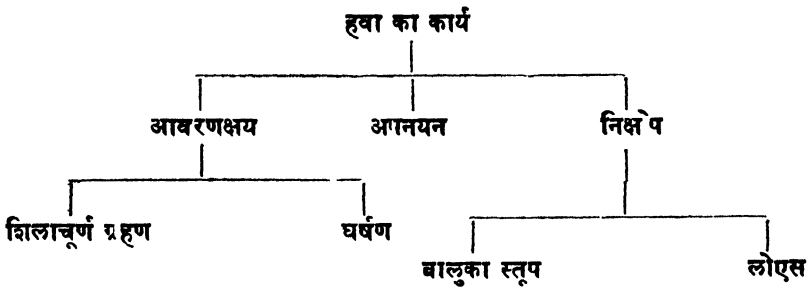
जिस प्रकार आर्द्र प्रदेशों में बहता हुआ जल तथा शीत अक्षांशों में और ऊँचाई पर चलता हुआ हिम अनावृत्तीकरण के प्रधान साधन हैं, उसी प्रकार शुष्क प्रदेशों में—संसार के उष्ण और शीतोष्ण मरुस्थलों में—अनावृत्तीकरण का कार्य वायु करती है। हवा के क्रियाकलाप के लिए वही प्रदेश उपयुक्त होता है जहाँ वर्षा की कमी हो और वनस्पति के आवरण का अभाव। वर्षा की कमी तथा वनस्पति के अभाव के साथ-साथ अत्यधिक सूर्यताप तथा वाष्पीकरण भी हवा के कार्य क्षेत्र को सीमित करते हैं। पौधों की जड़ें ढीली मिट्टी को बांधे रहती हैं और जल का अंश उसके कणों को उड़ने नहीं देता परन्तु इन दशाओं के अभाव में वायु की गति और तीव्रता निम्नलिखित क्षेत्रों में विशेष प्रकट हो जाती है।

हवा अपने साथ हजारों धूल के कण लिए रहती है। ये धूल के कण आपस में टकराकर छोटे होते रहते हैं। इन धूलकणों की सहायता से हवा पृथ्वी के धरातल की काट-छांट नहीं कर पाती। इसके अलावा हवा की गति जब धीमी पड़ने लगती है तो इसे



चित्र १३६—हवा के क्रिया कलाप के विशिष्ट प्रदेश

इन धूलकणों के परिवहन में विशेष कठिनाई होती है। फलतः ये धूल के कण हवा की गति धीमी पड़ते ही टीलों के रूप में निक्षिप्त हो जाते हैं। इसलिए हवा के कार्यों को निम्न तालिका से समझा जा सकता है—



हवा द्वारा आवरणक्षय—शिलाचूर्ण की मात्रा तथा धूल कणों का विस्तार हवा की तेजी और शक्ति पर निर्भर रहती है। यदि हवा धीमी-धीमी चल रही है तो यह केवल बालू और धूल के छोटे-छोटे कणों का ही परिवहन कर सकती है। इसके विपरीत आंधी बड़े-बड़े शिलाखंडों तक को अपने स्थान से हटाकर उड़ा ले जाती है। धूल के कणों की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि सम्पूर्ण वातावरण धुंधला हो जाता है और दृश्यता बिल्कुल हो कम हो जाती है। परन्तु हवा द्वारा उड़ाई हुई धूल राशि की मात्रा का अन्दाजा बड़ा ही कठिन होता है। अनुमान है कि पश्चिमी संयुक्त राष्ट्र अमरीका में प्रत्येक वर्ष हवा ८५०० लाख टन बालू को १४४० मील तक उड़ा ले जाती है। मोटे तौर पर अन्दाज से पता चला है कि २६०० वर्षों के भीतर वायु केवल ८ फीट धूल ही उड़ा पाई है। इससे स्पष्ट है कि वायु का कार्य बहुत ही धीमे-धीमे होता रहता है और जल द्वारा आवरणक्षय से इसका कोई मुकाबला नहीं यद्यपि हवा धूल को बहुत दूर-दूर तक उड़ा ले जाती है।

हवा द्वारा आवरणक्षय पर धरातल की बनावट का कोई असर नहीं पड़ता। भूखंड पर वायु का प्रभाव वही होता है जो काठ या लोहे पर बालू के कागज का। बालू और बज्र के कण जो हवा में मिले रहते हैं चट्टान के धरातल को रगड़ कर चमकाने, चिकनाने और चौरस करने में सफल होते हैं। चलते हुये हिम की भांति वायु छेनी जैसा काम नहीं कर पाती और नाहीं इसके द्वारा गहरा घिसाव ही सम्भव है जैसा कि जलधारायें करती हैं। ढालों को चिपटा करने की अपेक्षा वायु उनको और भी तीव्र बना देती है और फलस्वरूप वे नुकीले तथा तीव्रतर हो जाते हैं। जहाँ कहीं वायु की गति व शक्ति तेज बनी रहती है वहाँ चट्टान के धरातल को चमकाने के अलावा यह उसमें नालियाँ व धारियाँ भी बना देती है। वायु-द्वारा विभिन्न आवरणक्षय से गड्डे बन जाते हैं परन्तु इनको स्वतन्त्र स्थलरूप नहीं माना जा सकता।

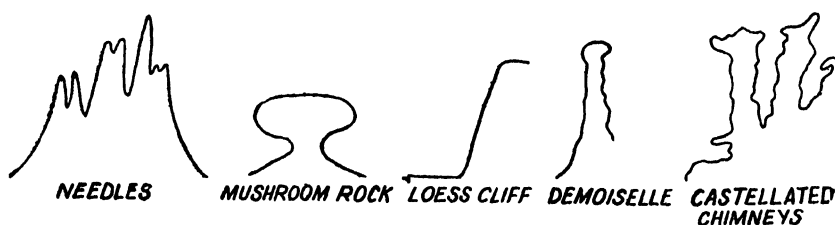
वायु-द्वारा आवरणक्षय भूमि के तल से थोड़ा ऊपर सबसे अधिक तीव्र होता है। भूमि तल के समीप रगड़ तथा रूकावट के कारण इसकी कार्य क्षमता कम हो जाती है। इसी प्रकार कुछ विशेष ऊँचाई पर पहुँचने के बाद हवा में धूल व बालू के कणों को उठाने की शक्ति नहीं रहती। इसलिए हवा न तो गहरा कटाव ही करती है और न चौड़ा कटाव ही। यह तो खड़े हुये चट्टान अथवा पर्वत खण्डों के आधार पर आघात कर उन्हें नीचे से काट देती है। इसके द्वारा आवरणक्षय के चार रूप हैं—नीचे का कटाव, नालियाँ बनाना, धरातल को चिकनाना और खुरचना।

ये सभी प्रकार की क्रियायें निम्नलिखित दो दशाओं पर निर्भर रहती हैं—

(१) हवा के भार—इसके द्वारा उड़ा कर ले जाया गया शिलाचूर्ण ।

(२) हवा की शक्ति—जो इसकी गति तथा मार्ग में रुकावटों के अभाव पर आधारित रहती है ।

मरुस्थलीय प्रदेशों में मौसमी क्षति के कारण वायु को भार प्राप्त होता है । शुष्क तथा उष्ण प्रदेशों में विस्तृत तापान्तर तथा वाष्पीभूत जल द्वारा छोड़े हुए क्षारमय आवरण के कारण बड़ी-बड़ी चट्टानें बिखण्डित हो जाती हैं—टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जाती हैं और चट्टानी धरातल के छिलके से ढाल कर इकट्ठे हो जाते हैं । वायु इनको उठा लेती है और आवरणक्षय के काम में इन्हें ही औजार की तरह प्रयोग करती है ।



चित्र १४०—वायुद्वारा आवरणक्षय के विशिष्ट रूप

वायुद्वारा आवरणक्षय के विशिष्ट रूप—वायुद्वारा खुरचने, नालियाँ पड़ने तथा आधार पर से काटने से मरुस्थलीय प्रदेशों के शिलाखंड बहुत से कुकरमुत्ता पीधे की तरह लगने लगते हैं । इसको कुकरमुत्ता तुल्य (Mushroom) प्राकृतिक बनावट कहते हैं । इसमें आधार पर स्थित एक पतले खम्भ पर मेज की तरह सपाट चट्टान-खण्ड स्थित रहती है । मेज की तरह यह पिण्ड कठोर चट्टान का होता है । कभी-कभी मुलायम चट्टानों के आधार या स्तम्भ कटकर बिलकुल ही नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार सम्पूर्ण चट्टान पिण्ड उट्टा हो जाता है या टेंढ़ा हो जाता है । इसको जूगन (Zeugen) कहते हैं ।



जब हवा स्थायी रूप से बहुत समय तक एक ही दिशा में चलती है तो जूगन

चित्र १४१—जूगन

(Zeugen) का रूप और प्रखर हो जाता है और मेज की तरह के चट्टान पिण्ड का रूप अनियमित हो जाता है और इसके इधर-उधर की शाखाओं के नीचे से कट जाने से सम्पूर्ण शिलाप्रदेश चट्टानी पसलियों या तीलियों के समान दिखने लगता है । इनकी शाखायें काफी गहरी होती हैं और यद्यपि इनकी ऊँचाई १०-२० फीट तक ही होती है, इनकी चौड़ाई कई सौ फीट तक होती है । एक दूसरे के समानान्तर ये तीव्र

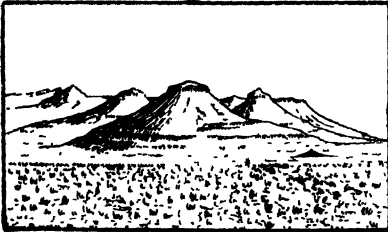
और नुकीली चट्टानी तीलियाँ बहुत दूर तक फैली रहती हैं। इनके बीच-बीच खोखले या गड्ढे पाये जाते हैं। इनको यारदंग (Yardangs) कहते हैं।



हवा को क्रिया-
कलाप का सामूहिक प्रभाव
यह होता है कि आधार की

चित्र १४२—यारदंग

चट्टान के स्थान पर समतल मैदान बन जाता है जिसके धरातल पर नालियाँ या धारियाँ बन जाती हैं। मरूस्थलीय धरातल पर इधर-उधर छोटे-बड़े शिलाखंड खड़े रहते हैं। इन चट्टानी टीलों को इन्जलबर्ग (Inselberge) कहते हैं और दक्षिणी अफ्रीका, नाईजीरिया, युगंडा, बेचुयानालैंड तथा मौजम्बिक में बहुत दिखलाई पड़ते हैं। ये इन्जलबर्ग तीव्र ढाल वाली अवशिष्ट पहाड़ियाँ हैं जो कि मरूस्थलीय मैदान में खड़ी रह जाती हैं कभी-कभी इन पहाड़ियों का आकार पिरामिड की तरह होता है और



चित्र १४३—आवरणक्षय के बाद
इन्जलबर्ग

उनके शीर्ष पर कठोर चट्टान की टोपी-सी रखी रहती है। कभी-कभी इनका आकार गुम्बद की तरह होता है और ये प्रेनाइट चट्टानों से बनी होती हैं।

धरातल की चट्टानों के रूप परिवर्तन के साथ साथ हवा में एकत्रित रोड़ों तथा कंकड़-पत्थरों पर भी प्रहार करती हैं और फलस्वरूप उनका रूप त्रिभुजाकार हो जाता है। फलतः वे छोटे-छोटे पिरामिड की तरह बन जाते हैं और इस रूप में पर्वत

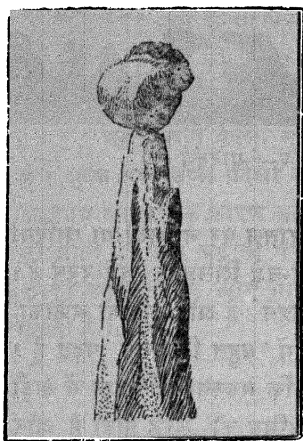
के आधार पर पड़े रहते हैं। इन्हें ड्रीकान्ट (Dreikant) कहते हैं। परन्तु हवा द्वारा कार्य अकेले कदापि नहीं होता। जलधारा द्वारा भी वायु के कार्य में संशोधन होता रहता है। संसार के मरूस्थलीय प्रदेशों में बहुधा मेघ विस्फोट होते हैं जिनसे जल की बाढ़ हो जाती है और अलग-थलग पर्वतीय सीमाओं के समीप बादियों में जलधारा बन जाती है। इन जलधाराओं का अस्तित्व बड़ा ही क्षणिक होता है और ये अपनी क्षमता से अधिक भार वहन करती हैं। फल यह होता है कि इन धाराओं में शिलाचूर्ण की बहुतायत हो जाती है और निक्षेपात्मक रूपों का निर्माण हो जाता है। परन्तु भीषण गति के कारण वर्षा का जल आवरणक्षय में सहा-



चित्र १४४—प्रेनाइट का बना
गुम्बदाकार इन्जलबर्ग

यक होता है और भूस्तम्भ (Earth Pillars) बना देता है। प्रत्येक भूस्तम्भ के शीर्ष पर कोई न कोई रोड़ा टिका होता है। इनको हूडू (Hoodos) या “डोमाइसलस” (Demoiselles) भी कहते हैं। ये भूस्तम्भ गोल या पहलदार होते

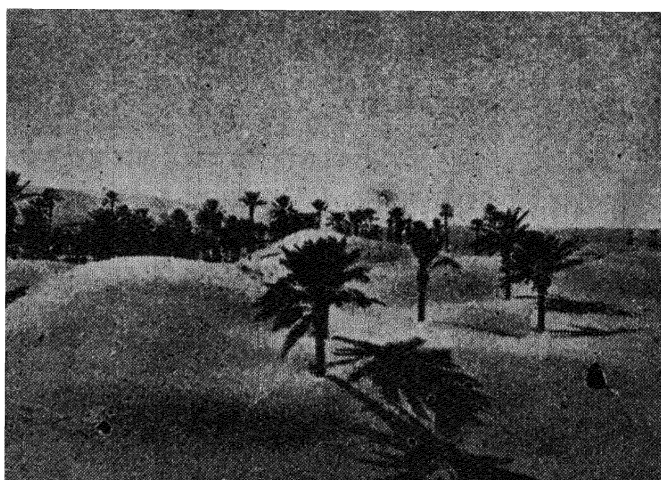
हैं और वायु के प्रहार की दिशा के अनुसार ये या तो चिकने होते हैं या रूखे। इन



चित्र १४५—भूस्तम्भ

के अलावा वर्षा के जल से यारवंग (Yardang) नुकीले हो जाते हैं और सुइयों (Needles) की भांति दिखलाई पड़ने लगते हैं। दूर से देखने पर ये कटी हुई चिमनी की तरह मालूम पड़ती हैं जिन्हें (Castellated Chimneys) कहते हैं। [देखिये चित्र १४०] वायुद्वारा निक्षेप कार्य से दो विशिष्ट स्थलरूपों का निर्माण होता है। महीन धूल के कण तो विशाल पिण्ड या चादरों में जमा हो जाते हैं और इन्हें लोएस (Loess) निक्षेप कहते हैं। मोटे कण टीलों के रूप में जमा हो जाते हैं जिन्हें बलूका स्तूप (Sanddune) कहते हैं। वास्तव में निक्षेप कार्य उस समय शुरू हो जाता है जब हवा की शक्ति तथा तेजी कम हो जाती है या

मार्ग में कोई अवरोध आ जाता है। जब हवा के रास्ते में कोई रुकावट आ जाती है तो बालू के कण उसी अवरोध के आधार पर जमा होने लगते हैं।

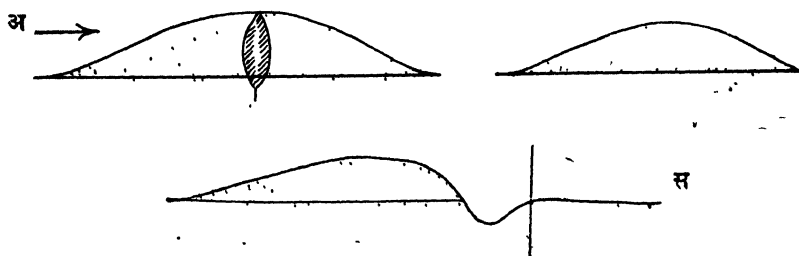


चित्र १४६—विशिष्ट बालुका स्तूप

लोएस निक्षेप मरुस्थलीय प्रदेशों की सीमाओं पर पाये जाते हैं। इसमें धूल के महीन कण होते हैं। यूरोप और अमरीका में लोएस निक्षेप का स्थानीय महत्व है परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण और विस्तृत निक्षेप उत्तरी चीन में हैं जहाँ पीले रंग के लोएस निक्षेप के नीचे घाटियाँ और पर्वत दोनों ही दबे पड़े हैं। इसकी औसत मोटाई ४०० से १०००

फीट तक है। इसकी रचना पिण्डरूप है और उसमें परतों या तहों का अभाव है। महीन कणों से निर्मित यह निक्षेप काटने पर लम्बाकार दीवारों में खड़ा रहता है। इसमें जल प्रवेश कर सकता है और नदियाँ इसमें से होकर गहरी घाटियाँ काट सकती हैं। इसके बीच-बीच पौधों के जड़ों की नलियाँ तथा अवशेषांश मिलते हैं।

बालुका स्तूप मोटे कणों के बने होते हैं और रेगिस्तानों में पाये जाते हैं। परन्तु बालुका स्तूपों की रचना निम्नलिखित दशाओं पर निर्भर रहती है—(१) बालू की पर्याप्त मात्रा, (२) हवा की तीव्र शक्तिशाली धारा, (३) हवा के रास्ते में कोई रुकावट जिसके आधार पर निक्षेप हो सके। यह अवरोध बाहर को निकली हुई चट्टान, नगर की इमारतें या कोई झाड़ी और वृक्ष की शाखा हो सकती है। रुकावट के लोचदार अथवा कठोर होने के अनुसार ही बालुका स्तूपों की रचना सम अथवा विषम होती है। यदि रुकावट कोई वृक्ष अथवा कोई झाड़ी हुई तो हवा इसकी शाखाओं को इधर-उधर मोड़ देगी और एक विषम स्तूप बन जायेगा।



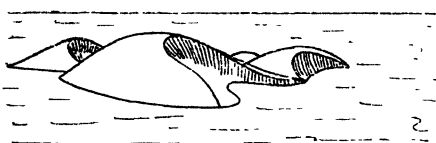
चित्र १४७—बालुका स्तूप और रुकावट—(अ) कठोर रुकावट (ब) लोचदार रुकावट (स) अप्रवेश्य रोक या अवरोध

बालुका स्तूपों का विस्तृत रूप और आकार हवा की शक्ति तथा बालू की उपलब्ध मात्रा पर निर्भर रहता है। उनका रूप या तो हवा की दिशा के समानान्तर होता है या लम्बाकार। इस आधार पर बालुका स्तूपों को तीन प्रकार का कहा जा सकता है—

(१) आड़े-तिरछे (२) लम्बे और (३) अर्द्ध-चन्द्राकार।

आड़े-तिरछे बालुका स्तूप वे होते हैं जो हवा की दिशा पर लम्बाकार बनते हैं। उनका आकार असमान होता है और उनका वायुअभिमुख ढाल क्रमशः होता है। वायुविमुख ढाल पर गड्ढा या नतोदर गर्त होता है। यदि बालुका राशि कम हुई और हवा की शक्ति सामान्य हुई तो हंसिये की शकल के अर्द्ध-चन्द्राकार बालुका स्तूप बन जाते हैं। इनको बारखन (Barchans) कहते हैं। इनके उन्नतोदर या चौरस ढाल हवा की तरफ होते हैं परन्तु उनके वायुविमुख ढाल नतोदर होते ही हैं, साथ साथ तीव्र भी रहते हैं। फलतः प्रत्येक श्रेणी के निचले सिरे हवा की प्रवाह की दिशा की ओर मुड़े रहते हैं और फलस्वरूप उनके सींग बन जाते हैं। इस तरह के बारखन तुर्किस्तान में बहुत पाये जाते हैं। जब ये बारखन मिल जाते हैं, तो ये टेढ़ी-मेढ़ी डोर सी लगते हैं।

लम्बे बालुका स्तूप—टेढ़े-मेढ़े या आड़े-तिरछे बालुका स्तूपों के रूप संशोधन



चित्र १४८—बारखन

से लम्बे बालुका स्तूप बन जाते हैं। यदि हवा तेजी से चलती है और उसकी गति भीषण होती है तो हवा एक सुरंग-सी बना लेती है। वायुविमुख ढाल के गड्ढों को बढ़ाकर हवा यह सुरंग बना लेती है और इसके सहारे

बालू खिंच आती है। फलतः आड़ा-तिरछा बालुका स्तूप दो अलग-अलग श्रेणियों में बंट जाता है और ये श्रेणियाँ प्रचलित हवा की दिशा के समानान्तर होती हैं।

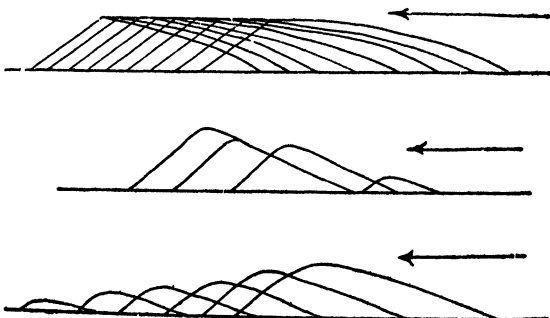
अर्द्ध-चन्द्रकार बालुका स्तूप वे होते हैं जो क्रमशः वायुअभिमुख ढाल पर बालू के निकाले जाने पर बने गड्ढों द्वारा बन जाते हैं। इन गड्ढों के सिरे हवा के प्रवाह दिशा की ओर रहते हैं। इन पर कुछ झाड़ियाँ भी उग आती हैं।

इन सभी प्रकार के स्तूपों के धरातल पर छोटी २ लहरों के निशान बने रहते हैं परन्तु ये स्थायी नहीं होते हैं। ये बालुका स्तूप प्रचलित हवाओं के साथ भ्रमण करते रहते हैं यहाँ तक कि वनस्पति की बाहरी सीमा तक पहुँच जाते हैं। बालुका स्तूप का भ्रमण प्रचलित हवाओं की दिशा तथा उपलब्ध बालू की मात्रा पर निर्भर रहता है। इसी पर बालुका स्तूपों की ऊँचाई तथा विस्तार भी निर्भर रहता है। जब हवा तेजी से चलती है और बालू राशि बहुत अधिक हुई तो बालुका स्तूप कई सौ फीट तक ऊँचे बन जाते हैं। उनकी लम्बाई भी कई सौ फीट तक हो जाती है या वे कई मील तक फैले रहते हैं।

सच तो यह है कि यदि बालू की प्राप्ति तथा वायु की गति स्थायी हुई तो बालुका स्तूप बराबर से व्यवस्थित रूप से आगे बढ़ेंगे। परन्तु ऐसा कदाचित् ही हो पाता है। सामान्यतः बालू की प्राप्ति घटती बढ़ती रहती है। यदि बालू की प्राप्त-राशि उत्तरोत्तर बढ़ती गई तो बालुका स्तूप इस प्रकार बनेंगे कि उनकी ऊँचाई उत्तरोत्तर बढ़ती जायेगी परन्तु उनका विस्तार बहुत विस्तृत क्षेत्र में नहीं होगा। इसके विपरीत यदि बालू की प्राप्त राशि बराबर घटती गई तो बालुका स्तूपों की ऊँचाई बराबर घटती जायेगी यद्यपि उनका फैलाव अधिक विस्तृत क्षेत्र में हो जाता है।

बालुका स्तूपों का

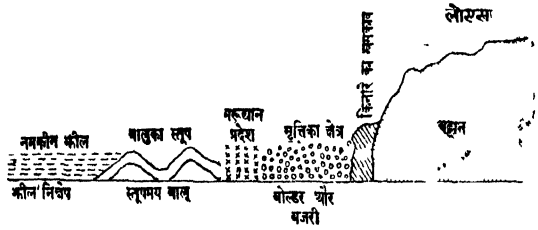
यह भ्रमण बहुधा बहुत ही अनिश्चित एवं भयानक होता है। बहुधा पूरे-पूरे नगर व गाँव बालुका स्तूपों के नीचे दब जाते हैं। इन बालुकास्तूपों द्वारा उत्पन्न प्रलय का नमूना फ्रांस के लैंडीज प्रदेश तथा बाल्टिक तट पर दिखाई



चित्र १४९—बालुका स्तूपों की प्रगति

पड़ता है। परन्तु इत तटीय स्तूप से कहीं अधिक भयानक विशाल मरुस्थलीय स्तूप होते हैं। इन रेगिस्तानों में सदैव बालुका स्तूपों और मरुछानों के बीच युद्ध होता रहता है। भयानक रीति से आगे बढ़ने वाले बालुका स्तूपों के सम्मुख मरुछानों का अस्तित्व तक डावांडोल हो जाता है।

वायुद्वारा निक्षेप कार्य में जल भी महत्त्वपूर्ण हाथ बटाता है। रेगिस्तान की मृत्तिकामय असफल जल धाराये इसमें महत्त्वपूर्ण सहयोग देती हैं। इस प्रकार की अस्थायी धारायें मरुस्थलीय प्रान्ती पर्वतों में पाई जाती हैं और बोल्टडर तथा मोटी बजरी का निक्षेप करती हैं। इसे पेडिमेन्ट



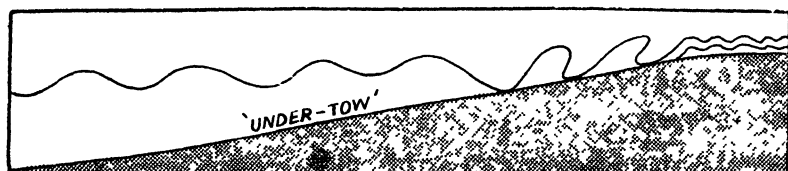
चित्र १५०—मरुस्थलीय निक्षेप का खड चित्र

(Pediment) या मृत्तिकामय पीठिका (Aleuvial Bench) कहते हैं। साथ दिये चित्र से वायु तथा जल द्वारा किये गये निक्षेप के विभिन्न रूपों को भलीभांति समझा जा सकता है।

अनावृत्तीकरण के साधन

(५) लहरें और तटरेखायें

हिम, हवा और बहते हुये जल के समान ही समुद्र की लहरें भी अनावृत्तीकरण करती हैं। यद्यपि कोई दो सौ वर्ष पहिले यह समझा जाता था कि ज्वारभाटा और धारायें तो आवरणक्षय करती हैं परन्तु अब सिद्ध हो गया है कि समुद्री लहरें आवरण-क्षय का कार्य करती हैं और यह हिम, नदियों या वायु के कार्य की अपेक्षा कहीं अधिक अजीब गरीब होता है। लहरों द्वारा आवरणक्षय के बाद निक्षेप होता है और इन दोनों क्रियाओं के बीच सामग्री के अपनयन का स्थान होता है। ये लहरें शिलाखंड व चूर्ण का परिवहन करती हैं और उसकी सहायता से आवरणक्षय करती हैं। बाद में यही सामग्री विविध रूपों तथा आकारों में जमा हो जाती है।



चित्र १५१—लहरों का तट से टकराना

लहरें :—समुद्री लहरों के कार्य का विवेचन करने के पहिले यह अच्छा होगा कि हम देखें कि लहरों में वह शक्ति किस प्रकार पैदा होती है और वे किस प्रकार उत्पन्न होती हैं। कोई वायुधारा जल के धरातल पर से होकर गुजरती है तो जल पर बहुत से मोड़ पड़ जाते हैं। यदि हवा स्थायी रूप से शक्ति और तेजी से बहती रही तो यही मोड़ कालान्तर में बड़ी-बड़ी लहरों में बदल जायेंगे। जल का विस्तृत धरातल मोड़ों या घरेरों के रूप में बदल जाता है और ये घरेरे वायु की दिशा में ही आगे बढ़ने लगते हैं जैसे कि वायु उन्हें पीछे से धकेल रही हो। प्रत्येक लहर के दो भाग होते हैं—ऊर्ध्व (Crust) और गर्त भाग (Trough)। प्रत्येक ऊर्ध्व के बाद गर्त भाग आता है और इस प्रकार ऊर्ध्व भाग तथा गर्त भाग की क्रमिक व्यवस्था का सूत्रपात हो जाता है।

चारों ओर से घिरे या बंधे हुये सागरी तथा उथले जल में लहरों का विस्तार बहुत बढ़ जाता है और उनके द्वारा भारी हलचल मच जाती है। समुद्र से भूखंड की तरफ बढ़ने वाली लहरें गहरे पानी से उथले पानी में आती हैं। फलतः लहर का आधार या निचला भाग समुद्र की तली के साथ रगड़ खाकर पीछे हट जाता है।

परन्तु ऊर्ध्वभाग बराबर आगे बढ़ता रहता है और गिरता हुआ आता है। इस प्रकार की लहर को बिखरी हुई लहर या विध्वंसक लहर कहते हैं। लहर के रगड़ खाने तथा उसके सीमान्त के मुड़ने से उसकी तीव्रता तथा गति बढ़ जाती है और पानी तेजी के साथ आगे को दौड़ता है।

बिखरी हुई या विध्वंसक लहर की तीन स्थितियां होती हैं। उथले पानी में से होकर लहर जैसे-जैसे आगे बढ़ती है, इसका जल किनारे पर इकट्ठा हो जाता है। इसको लहर की टक्कर (Plunge) कह सकते हैं। इसके बाद जल आगे की तरफ दौड़ता है। इसे जल का या लहर का चढ़ाव (Swash) कहते हैं। लहर की टक्कर में लहर उठे हुए पर्वतखंड से टकराती है। उभड़े हुए पर्वतखंड के दोनों तरफ से लहर की टक्कर लगती है परन्तु खाड़ियों और अन्य कटानों में जल शान्त बना रहता है। दूसरी ओर चढ़ाव में लहर का पानी किनारे पर तिरछा होकर तेजी से आगे बढ़ता है और इसके बाद लहर का उतार (Backwash) शुरू होता है। इसमें लहर का पानी पीछे को हटने लगता है।

लहरों का भार—लहरों द्वारा आवरणक्षय की शक्ति उन शिलाखंडों पर रहती है जो इसके साथ बहकर आते हैं। ये चट्टानों के टुकड़े आवरणक्षय के मुख्य यन्त्र हैं और इनके आकार विभिन्न होते हैं। इनमें बड़े-बड़े शिलाखंडों से लेकर महीन कणों वाली बालू होती है ये सब कुछ अंश में तो नदी द्वारा लाये हुये होते हैं और कुछ अंश में इसमें पर्वत खड के ऊपर से घिरने वाले शिलाखंड भी शामिल रहते हैं। परन्तु इस भार का अधिकांश भाग लहरों द्वारा स्वयं प्राप्त किया जाता है।

लहरों द्वारा तोड़ी हुई इस सामग्री पर लहरें ही विभिन्न प्रकार से असर डालती हैं। कुछ तो समुद्र जल में घुल जाता है। अधिकांश भाग लहरों के उतार चढ़ाव से पिट-पिटाकर चूर्ण बन जाता है और लहरें इस महीन कणों वाली बालू को अपने जल में मिला कर इधर-उधर ले जाती हैं। बड़े-बड़े रोड़े लहरों द्वारा उथले पानी की तलहटी के साथ रगड़ खाते हुए चलते हैं। परन्तु शिलाखंड के अपनयन का सबसे अच्छा ढंग अन्डर टो (Undertow) या किनारे के साथ समानान्तर प्रवाह (Long Shore Drift) है। विध्वंसक लहर किनारे से टकराती है और उतार के समय काट-छांट की सामग्री अपने साथ समुद्र जल की ओर बहा ले जाती है। परन्तु शिलाखंड की इस सम्पूर्ण राशि को बहा ले जाना सम्भव नहीं होता। अतः इसका कुछ भाग समुद्र की तलहटी में जमा हो जाता है और इसे जलमग्न टालुस (Submarine Talus) कहते हैं। अन्डर टो (Undertow) द्वारा यह सामग्री तट से दूर गहरे जल में ले जाई जाती है। इसके विपरीत किनारे के साथ समानान्तर प्रवाह (Long Shore Drift) महीन तटश्रेणी निर्माणकारी सामग्री को किनारे के साथ-साथ टेढ़े-मेढ़े तरीके से ले जाता है। इस प्रवाह में चढ़ाव की लहरें विशेष क्रियाशील होती हैं और इस प्रकार ले जाई सामग्री में शिगल, बजरी तथा कंकड़ प्रधान होते हैं। समुद्री अपनयन के इन सफल तरीकों के अलावा महीन कणों के परिवहन में ज्वार-भाटा तथा अन्य जलधारायें भी सहायक होती हैं।

लहरों द्वारा आवरणक्षय—बिखरी हुई या विध्वंसक लहर आवरणक्षय कार्य

करती है और इन लहरों के क्रम को (Surf) कहते हैं। यद्यपि आवरणक्षय का विस्तार लहरों की तीव्रता, तट के भूभाग का सामने पड़ने वाला अंश तथा चट्टानों की प्रकृति पर निर्भर रहता है, तब भी लहरों द्वारा ले जाये गये भार की मात्रा और प्रकृति का स्थान बड़ा ही महत्वपूर्ण है। परन्तु यह समझना सरासर भूल होगी कि इन यन्त्रों की सहायता से लहरें केवल धरातल को घिस ही सकती हैं। घर्षण के अतिरिक्त, विध्वंसक लहर निम्नलिखित चार अन्य प्रकारों से भी अपना कार्य करती है—

(१) जब जल तेजी से आगे बढ़ता है तो तटवर्ती चट्टानों पर भीषण दबाव डालता है जिसकी तुलना कई टन वजन से की जा सकती है।

(२) जल का आगे को झपटना तथा फिर पीछे हटना या उतार-चढ़ाव का क्रम चट्टानों की दरारों में वायु को दबाता तथा फेंकाता है। चढ़ाव के समय वायु बढ़ती है और उतार के समय दबी हुई वायु फैलती है। इस प्रकार की क्रिया सतत रूप से होती रहती है और इसके फलस्वरूप पर्वतखंड का अग्रभाग संघों के अथवा भ्रंशस्तर के सहारे अलग हो जाता है।

(३) चट्टानों की कटानों तथा दरारों में घुसा हुआ जल दबाव डालता है और उसके इधर-उधर की दीवारों को तोड़ कर प्रवेश द्वारा विस्तार को बढ़ा देता है।

(४) लहर का जल एक शिलाखंड की दूसरे शिलाखंड के साथ टक्कर देता है और इस आघात-प्रतिघात से ये शिलाखंड टूट कर चूर-चूर हो जाते हैं।

परन्तु लहरों द्वारा आवरणक्षय की भी एक सीमा होती है। लहरों द्वारा आवरणक्षय का सबसे उच्चबिन्दु वह है जहाँ तक लहरों का उर्ध्व भाग पहुँच सकता है। इसकी निम्नतर सीमा महाद्वीपीय सागर की तलहटी या ६०० फीट की गहराई कह सकते हैं। इस तल से अधिक गहराई पर समुद्र की तलहटी पर लहरों के क्रिया कलाप का कोई भी असर नहीं पड़ता है। इन दोनों सीमाओं के बीच में लहरों के क्रिया कलाप की तुलना पर्वतखंडों के आधार पर चलने वाले आरे से की जा सकती है। इसमें वर्षा का जल लहरों की सहायता करता है। पर्वतखंड में वर्षा के जल के कारण नालियाँ बन जाती हैं और भूमि का खसकाव हो जाता है। फल यह होता है कि पर्वतखंड का अग्रभाग पीछे को हटने लगता है और इस सम्पूर्ण कार्यविधि को पीछे का कटाव (Retrogradation) कहते हैं।

लहरों द्वारा आवरणक्षय के विशिष्ट रूप—लगातार तरंग प्रहार से तट पर एक कटान बन जाती है जिसके ऊपर से पर्वतखंड लटकता रहता है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है यह पर्वतखंड ऊँचाई में बढ़ता जाता है और साथ-साथ पीछे भी हटता जाता है। पीछे के कटाव के साथ-साथ उसी अनुपात में जलमग्न टालुस का विस्तार भी बढ़ता जाता है। तरंग प्रहार की तीव्रता बढ़ने के साथ-साथ पर्वतखंड का ढाल भी तीव्रतर होता जाता है, यह तट की ओर पीछे हटता है और साथ-साथ छोटी-छोटी कटान तटीय दरार में बदल जाती है। जब तटीय दरार (Chasm) बन जाते हैं तो भूखंड का कुछ भाग जल-मग्न हो जाता है और इस जल-मग्न भूखंड का कुछ

भाग प्रधान स्थल भाग से अलग होकर स्कैरीस (Skarris) का निर्माण कर देता है। यदि चट्टानों की बनावट ऐसी है कि वह जल में घुल जाती है तो गुफायें बन जाती हैं।

लहरों के क्रिया कलाप से बनने वाले आवरणक्षय रूपों का आकार प्रकार निम्नलिखित तत्त्वों पर निर्भर रहता है—

(क) प्राथमिक तटरेखा—यह उत्क्षेप से बनी है या निमज्जन से।

(ख) चट्टानों की प्रकृति में अन्तर।

(ग) तरंगों या विध्वंसक लहरों की शक्ति में विभिन्नता।

(घ) स्थलखंड की ऊबड़-खाबड़ बनावट तथा मौसमी क्षति का प्रभाव। इन तत्त्वों के अनुसार, लहरों द्वारा निर्मित प्रमुख विध्वंसक रूप निम्नलिखित हैं :—

(१) उगलने वाले छेद (Spouting Horns)—जब लहरे तट से टकराती हैं तो जल के प्रहार के स्थान से कुछ दूर एक छेद बन जाता है जिसमें से जल और हवा बाहर निकलती रहती है। इस प्रकार का छेद चट्टान के भ्रंशस्तर या संघ पर बन जाता है। इस प्रकार के छेद को उगलने वाले छिद्र कहते हैं क्योंकि इनमें से जल और हवा उसी प्रकार निकलती रहती है जैसे कि किसी नली या टोटी से।

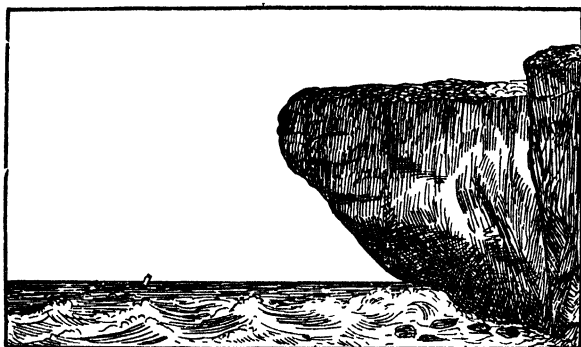
(२) तटीय दरार (Chasm)—चट्टानों की लम्बाकर संघों को काटकर लहरों द्वारा बनी गहरी व संकरी कटान को तटीय दरार (Chasm) कहते हैं। जहाँ कहीं भी मुलायम, घुलनशील या भ्रंश परतें लम्बाकर रूप में स्थित रहती हैं तो वे अपेक्षाकृत जल्दी ही कट जाती हैं और तटीय दरारें बन जाती हैं। परतदार चट्टानों में लम्बरूप परतों के कटाव से तटीय दरारें बन जाती हैं परन्तु आग्नेय चट्टानों में तटीय दरारों का निर्माण संकरे डाइक पर होता है।

जब ये तटीय दरारें काफी बढ़ जाती हैं तो उनके सिरे की तरफ प्रसार रुक जाता है क्योंकि संकरी कटान में अधिक जल प्रवेश नहीं कर पाता। इसके अलावा कटान की तलहटी तथा दीवारों के साथ लगातार घर्षण से लहर की शक्ति का भी ह्रास होता रहता है। ऐसी दशा में अधिक आवरणक्षय कटान के मुँह पर ही होता रहता है। फल यह होता है कि तटीय दरार चौड़ी होती जाती है और शिलाखंड पीछे हटता जाता है। जब तटीय दरार का मुँह काफी चौड़ा हो जाता है तो खाड़ी बन जाती है :

(३) समुद्री गुफा (Sea Cave)—यदि चट्टान कई प्रकार की परतों की बनी हुई है या लहरों का प्रहार केवल एक ही दिशा में अधिक बढ़ा हुआ है तो पर्वतखंड नीचे से कट जाते हैं। फल यह होता है कि मेहराबदार खोखले स्थान से बन जाते हैं। इन्हें समुद्री गुफाएँ कहते हैं। इस प्रकार के खोखले स्थान एक बार बन जाने से लहरों का जल उनको बराबर चौड़ा करतारहता है और कालान्तर में ये ही बड़ी गुफाएँ बन जाती हैं। ये गुफाएँ कभी तो खुली होती हैं परन्तु कभी-कभी वे स्वाभाविक पुलों द्वारा घिरी रहती हैं। स्वाभाविक पुलों से घिरी गुफाएँ केवल चूने के पत्थर से बने प्रदेश में ही होती हैं।

(४) स्टैक या स्कैरी (Stacks or Skarries)—वे चट्टानी द्वीप हैं जो मुख्य

स्थलखंड के कुछ भाग के जलमग्न होने के बाद उनके अवशिष्ट भाग के खड़े रह जाने पर बन जाते हैं। पर्वतखंड जैसे ही पीछे को हटता है स्थलखंड के कुछ भाग जिन्हें लहरों



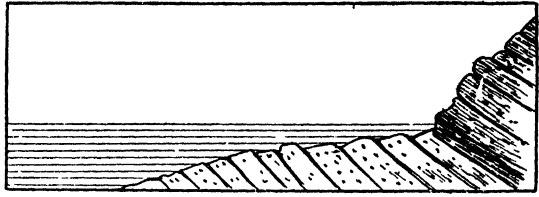
चित्र १५२—समुद्री गुफा

नहीं काट पाती, अलग-थलग हो जाते हैं। इन चट्टानी द्वीपों को स्टैंक या स्कैरी कहते हैं। विभिन्न स्टैंक या स्कैरीज को तटीय दरार एक दूसरे से अलग करती हैं या उनके बीच घुसी समुद्री गुफाएँ उनको विभाजित करती हैं। चूँकि इनकी रचना लहरों के आक्रमण में कुछ घुमाव हो जाने से होता है इसलिए इनका अस्तित्व स्थायी नहीं होता और ये शीघ्र ही कटछंट के नष्ट हो जाते हैं।

(५) अनुतटीय पीठिकाये (Offshore Benches)—जब लहरें तटीय प्रदेश से टकराकर वापस लौटती हैं तो एक उथली पीठिका सी बना देती हैं। इस अनुतटीय पीठिका को लहरें बराबर काटकर गहरा करती रहती हैं। यदि इनको गहरा करने की क्रिया नहीं होती तो इस अनुतटीय पीठिका पर स्थित उथले जल का विस्तार इतना अधिक बढ़ जाता है कि इन पर से गुजरने वाली लहरों में काटछांट करने की बिलकुल भी शक्ति नहीं रह जाती।

लहरों द्वारा निक्षेप कार्य तट तथा अनुतटीय प्रदेशों में होता रहता है और लहरों की तीव्रता कम होने पर काटछांट से प्राप्त सामग्री विविध रूपों में जमा हो जाती है। परन्तु उस तटप्रदेश में जहाँ लहरों द्वारा पीछे का कटाव अधिक प्रधान होता है, इन निक्षेप रूपों का अस्तित्व क्षणिक होता है और बनने के थोड़े अरसे बाद ही नष्ट हो जाते हैं। लहरों द्वारा निक्षेप से तट का ढाल कम हो जाता है और एक के बाद दूसरी तट श्रेणियों की क्रमिक रचना से तट का विस्तार आगे को बढ़ने लगता है। इस कार्य विधि को आगे का बढ़ाव (Progradation) कहते हैं। इसमें नदी द्वारा लाये हुये तलछट का कोई कम महत्व नहीं है। निक्षिप्त सामग्री से बने स्थलरूपों तथा भूआकारों को निमित्त रूप या आगे के बढ़ाव से उत्पन्न आकार कहते हैं। उनका रूप और आकार काटछांट से प्राप्त सामग्री की प्राप्ति, निक्षेप की स्थिति तक ज्वार भाटा तथा जल-धाराओं की उपस्थिति पर निर्भर रहता है।

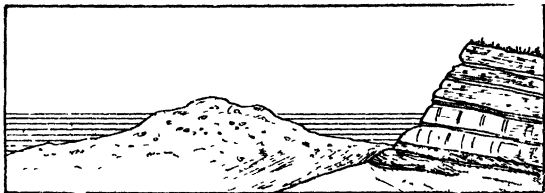
निक्षेप का सबसे साधारण रूप अस्थायी बांध या कगार है जिसे तटीय श्रेणी कहते हैं। ये तटीय श्रेणियाँ (Beaches) बड़े तथा छोटे कंकड़ पत्थरों से बनी होती हैं और इनकी रचना उस समय होती है जब लहरें किनारे पर वृत्त के अर्द्धव्यास की तरह टक्कर लेती हैं। काटछांट से प्राप्त सामग्री की प्राप्ति तथा लहरों की तीव्रता के अनुसार इन तटीय श्रेणियों का विस्तार तथा



चित्र १५३—चट्टानी तटश्रेणी

प्रसार अलग-अलग होता है। चट्टान निर्मित तट में बनी छोटी खाड़ियों तथा कटानों के चारों ओर रोड़ों और कंकड़ से बनी तटीय श्रेणियाँ स्थापित हो जाती हैं। इनको सूक्ष्म तटीय श्रेणियाँ (Pocket Beaches) या खाड़ी के मुहाने की तटीय श्रेणी भी कहते हैं। यदि लहरों की शक्ति अधिक हुई, खाड़ी में जल की गहराई काफी हुई और काटछांट से प्राप्त सामग्री पर्याप्त हुई तो विस्तृत तटीय श्रेणियाँ बन जाती हैं। ये अर्द्ध-चन्द्राकार होती हैं और इन्हें शिलाखंड पर्वत श्रेणी भी कहते हैं। इनका चन्द्राकार होने का मुख्य कारण लहरों की कार्यविधि है। लहरें जब कटान में प्रवेश करती हैं तो वे झुकने या मुड़ने लगती हैं और जब वे खाड़ी के शीर्ष या सिरे पर पहुँचती हैं तो उनकी शक्ति किनारों की अपेक्षा मध्य में अधिक होती है। फलतः अर्द्धचन्द्राकार निक्षेप बन जाते हैं।

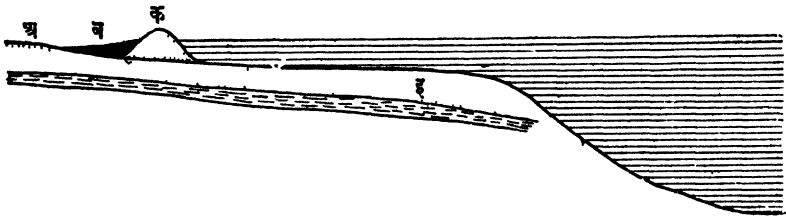
कुछ निचले तट प्रदेशों में तटरेखा के समानान्तर तटीय श्रेणियाँ बन जाती हैं जोकि दूर से बेलफीते की भाँति प्रतीत होती हैं इनको अवरोधक श्रेणी (Barrier Beaches) कहते हैं। इन्हें अनुतटीय अवरोधक श्रेणी या बालू की दीवार भी कहते हैं। ये अवरोधक



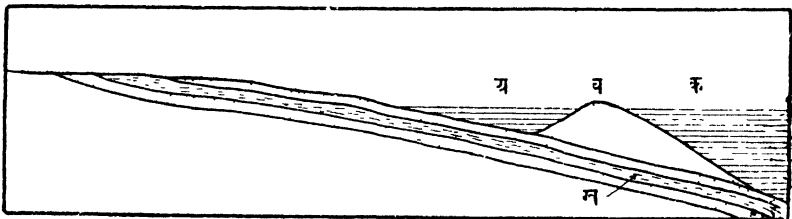
चित्र १५४—बलुही तटश्रेणी

श्रेणियाँ जोकि बालुका भित्त के समान दिखलाई पड़ती हैं न्यूयार्क से दक्षिण की ओर वाले तट तथा टेक्सास के तट के समीप विशेष रूप से पाई जाती हैं। ये तटीय श्रेणियाँ लहरों द्वारा काटीछांटी हुई सामग्री तथा नदी द्वारा लाई हुई तलछट से बनती हैं। परन्तु उथले बलुहे समुद्रों में अवरोधक श्रेणियों की रचना का चट्टानी सामग्री से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार के प्रदेशों में विध्वंसक लहरें उथले सागर की बलुही तलहटी के सम्पर्क में आती हैं और बालू की एक दीवार सी आगे की धकेल देती हैं। लगातार धक्का लगते रहने से बालू की यह दीवार अवरोधक श्रेणी बन जाती है और उसका प्रसार स्थलखंड की तरफ होने लगता है। यदि स्थलखंड की तरफ से शिलाखंडों से लदी हुई नदियाँ आकर समुद्र में गिरती हैं तो इन अवरोधक

श्रेणियों का प्रसार समुद्र की ओर होने लगेगा। इनकी विशेषता यह है कि इनके और तट के बीच लैगून झीलें पायी जाती हैं।



चित्र १५५—(क) अवरोधक श्रेणी (ब) लैगून झील (द) महाद्वीपीय सागर



चित्र १५६—(ब) अनुतटीय बाधक श्रेणी (अ) लैगून झील (क) महासागर (ख) महाद्वीपीय सागर

ये सब प्रकार की तटीय श्रेणियाँ तूफान के समय लहरों की क्रिया कलाप से बन जाती हैं परन्तु उनकी रचना करने वाली सामग्री किनारे के साथ समानान्तर प्रवाह (Long shore Drift) से प्राप्त होती है। इसके विपरीत जहाँ पर तट से इतनी अधिक बालू कट-कट कर आती है कि लहरें उसे किनारे के साथ-साथ ही बहा ले जाती हैं तो किनारे के दोनों तरफ बालू की बाधक श्रेणियाँ बन जाती हैं। इन्हें अनुतटीय बाधक श्रेणियाँ (Offshore Bars) कहते हैं। कभी-कभी तट की ओर से इतनी अधिक बालू कट-कट कर आती है कि इन बलुही बाधक श्रेणियों से खाड़ी तथा अन्य कटान के मुंह बन्द हो जाते हैं। कभी-कभी यह बाधक श्रेणी द्वीपों की शृङ्खलां सी बन जाती है और इस प्रकार के शृङ्खला-बद्ध द्वीपों का एक सिरा तट से जुड़ा रहता है। इन्हें शृङ्खलित द्वीप (Tied Islands) कहते हैं। जिब्राल्टर इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।



चित्र १५७—टेक्सास के तट के समीप बलुही बाधक श्रेणियाँ

परन्तु सबसे महत्वपूर्ण निक्षेपात्मक रूप स्पिट (Spit) है। यह तटरेखा के

छूता हुआ रहता है और अक्सर कटानों को छोटा कर देता है। किनारे से कुछ दूरी पर जब बजरी या बालू का एक बिन्दु बन जाता है तो स्पिट (Spit) का निर्माण शुरू हो जाता है। इसकी रचना उस समय सम्भव है जब बहुत अधिक शिलाचूर्ण राशि किनारे से दूर बहाकर ले जाई जाये। इस प्रकार स्पिट किनारे से लम्बी रेखा में बनते हैं और थोड़े से परिवर्तन से खाड़ी की बाधक श्रेणी बन जाते हैं। कभी-कभी दो स्पिट का निर्माण हो सकता है। इनमें से एक तो प्रधान स्थलखंड से समुद्र की ओर फैला होता है और दूसरा किसी द्वीप से स्थलखंड की ओर। कभी-कभी इस प्रकार के स्पिट आपस में मिल जाते हैं और इन्हें झूलाकार बाधक श्रेणी (Looped Bar) या (Tombolo) कहते हैं। साधारण स्पिट का सिरा नुकीला या गोलाकार होता है। कभी-कभी दोनों बाधक श्रेणियाँ एक मोड़ या घुमाव के रूप में मिल जाती हैं। ऐसा होने पर इन्हें नतोदर अग्र प्रदेश (Cusped Foreland) कहते हैं। इनमें बुबारा घुमाव पड़ सकता है और शाखायें भी बन सकती हैं। वास्तव में इनकी रचना में किनारे के साथ समानान्तर प्रवाह तथा ज्वारभाटे के उतार चढ़ाव का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है।



चित्र १५८—अंकुश (Hook)
या नतोदर अग्र प्रदेश

तटरेखायें और उनका विकास—समुद्र और स्थल की मिलन रेखा को तटरेखा कहते हैं। इसी रेखा पर समुद्र के सीमान्त का स्थलखंड के साथ सम्पर्क होता है। सच तो यह है कि तटरेखा प्रदेश निम्न या उथले जल प्रदेश से पर्वतखंड के आधार तक फैला रहता है। इस प्रदेश का अग्रभाग अग्रतट प्रदेश कहलाता है और पर्वतखंड के बिल्कुल पीछे का भाग पृष्ठतट प्रदेश कहलाता है। निम्न जल सीमा से समुद्र की ओर फैले हुए भाग को अनुतटीय प्रदेश कहते हैं। (देखिये चित्र १६२)

तटरेखा का प्रादुर्भाव या विकास प्रथम तो स्थल भाग के निमज्जन (जल-मग्न होने) या समुद्री तलहटी के उत्क्षेप (ऊपर उठने) पर निर्भर रहता है। तटरेखा का यह प्राथमिक रूप पीछे के कटाव तथा आगे के बढ़ाव द्वारा बाद में बदल जाता है। निमज्जन (Submergence) से बनी प्राथमिक तटरेखा अनियमित एवं तीव्र होती है। इसलिए लहरों का प्रहार बड़ा ही सफल रहता है और एक कटान बन जाती है। समय बीतने के साथ-साथ कटान तटीय दरार में और तत्पश्चात् समुद्री गुफा में बदल जाती है। पर्वतखंड स्थलखंड की ओर पीछे हटने लगता है और जल-मग्न टालुस का विस्तार बढ़ने लगता है। अनियमित रूपरेखा और भी नुकीली हो जाती है और काट-छांट के साथ निक्षेप द्वारा विभिन्न आकार प्रकार की तटीय श्रेणियों का भी निर्माण होने लगता है। कल्पना रूप में यह कहा जा सकता है कि अन्तिम अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते लहरें पर्वतखंड को इतना पीछे हटा देती हैं कि सम्पूर्ण

स्थलखंड लहरों के आधारतल पर आ जाता है परन्तु ऐसा कभी भी होता नहीं। ऐसा तभी हो सकता है जब कटाव के काल में कोई भी निक्षेप कार्य न हो और उस विस्तृत कालान्तर में जल और स्थल के तल में कोई महान परिवर्तन न हो। परन्तु बहुधा स्थलखंड के उत्क्षेप से लहरों द्वारा आवरणक्षय चक्र में हेर फेर हो जाता है। यद्यपि इस प्रकार के उत्क्षेप से नदियों में नवजीवन का संचार हो जाता है और वे अधिक तेजी से काट-छांट करने लगती हैं परन्तु लहरों का काम रुक जाता है। उनके किये कराये पर पानी फिर जाता है और लहरों को अपना कार्य फिर से शुरू करना पड़ता है। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। इसे हम अत्यधिक विषम परिस्थिति कहेंगे। साधारण-तया निमज्जन से बनी प्राथमिक तटरेखा में कटानों तथा द्वीपों की बहुतायत होती है। जलनिमग्न घाटियां कटान बन जाती हैं और पर्वत शिखर द्वीप। लहरों के सतत प्रहार से सारी तटरेखा बड़ी ही अव्यवस्थित हो जाती है। इस प्रकार की तटरेखा को कटीफटी कहते हैं। इसमें उगलने वाले छिद्र, गुफाएँ, स्टैक आदि बन जाते हैं। मध्यकाल या अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते अवरोधक श्रेणियों तथा तटीय श्रेणियों द्वारा ये कटानें बन्द हो जाती हैं और तटरेखा कुछ कम कटीफटी या टूटी हुई हो जाती है।

इसके विपरीत, यदि तटरेखा का प्राथमिक रूप उत्क्षेप (Emergence) द्वारा बना है तो इसका ढाल क्रमशः तथा इसकी रूपरेखा व्यवस्थित होगी। इसलिए आवरणक्षय अनुतटीय प्रदेश में सबसे तीव्र होगा और तट के समीप निक्षेप होता रहेगा। फलतः अनुतटीय बाधक श्रेणी बन जायेगी और इसके तथा तट के बीच लैगून झील बन जायेगी। समय बीतने के साथ-साथ अनुतटीय बाधक श्रेणी लहरों के प्रहार के कारण स्थलखंड की ओर बढ़ने लगेगी। लैगून झील के स्थान पर नमकीन दलदल बन जायेंगे और जब बाधक श्रेणी तट से मिल जाती है तो मध्य अवस्था का प्रौढ़ काल समझना चाहिए। इसके पश्चात् पीछे का कटाव शुरू होता है और पर्वतखंड पीछे को हटने लगता है। परन्तु उत्क्षेप द्वारा उत्पन्न वर्तमान तट रेखाओं में यह देखने को नहीं मिलता। वे सभी नवीन अवस्था में ही हैं।

तट रेखाओं का वर्गीकरण—तटरेखाएँ समुद्र के सीमान्त पर स्थित होती हैं। उनके समीपवर्ती स्थलखंड के सीमान्त को समुद्र तट कहते हैं। तटरेखाओं के अध्ययन में समुद्रतट को समझ लेना बड़ा ही आवश्यक है क्योंकि तटरेखाका प्राथमिक रूप समुद्रतट के प्रकार पर ही निर्भर रहता है।

रचना क्रम की प्रकृति तथा विशेषताओं के अनुसार समुद्रतट निम्नलिखित प्रकार के होते हैं—

समुद्रतट

लम्बे या सामानान्तर समुद्रतट
(Longitudinal Coastline)
यह स्थलखंड की बनावट के समानान्तर होते हैं। इसे प्रशान्त महासागर तुल्य समुद्रतट भी कहते हैं। यह नवीन मोड़-दार पर्वतों के समानान्तर है।

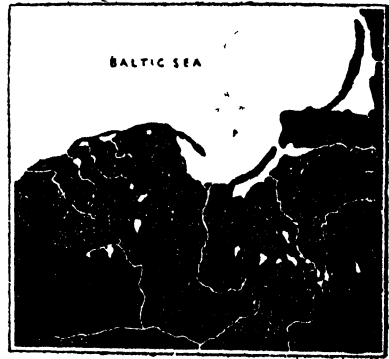
आड़े-तिरछे समुद्रतट
(Transverse Coastline) यह स्थलखंड की प्राकृतिक बनावट पर लम्बाकार होते हैं। इसे आन्ध्र समुद्रतट भी कहते हैं। महाद्वीपों के सीमान्त पर इसकी स्थिति आड़ी तिरछी है।

डालमेशियन (Dalmation) समुद्रतट

हैफ (Haff) समुद्रतट

फियार्ड (Fiord) रिया (Ria) समुद्रतट
या निमग्न घाटी समुद्रतट

(१) डालमेशियन समुद्रतट का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण पूर्वी एड्रियाटिक सागर में दिखलाई पड़ता है। यूगोस्लाविया का पश्चिमी समुद्रतट और बम्बई का समुद्रतट इनके अन्य उदाहरण हैं। इस प्रकार के समुद्रतट में समानान्तर बटानें तथा समुद्र में कुछ दूर पर लम्बे संकरे पहाड़ी द्वीप होते हैं जो कि तट के समानान्तर ही स्थित होते हैं। उत्तर पश्चिम से दक्षिणपूर्व दिशा में फैली हुई पर्वत श्रेणियों के जलनिमग्न होने से ही इस प्रकार के समुद्रतट की रचना हुई है। इस प्रकार लम्बी घाटियाँ तो कटान हो गईं और जल-मग्न पर्वती शिखर चट्टानी टापू बन गये हैं।

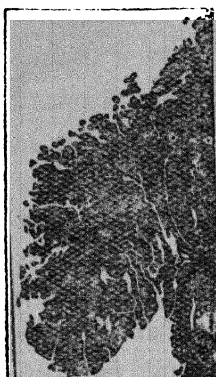


(२) हैफ समुद्रतट का सर्वोच्च उदाहरण पूर्वी जर्मनी का निचला तथा सपाट समुद्रतट है। इस प्रकार का समुद्रतट वहाँ बनता है जहाँ पर जलनिमग्न होने से पहिले स्थलखण्ड परतदार चट्टानों का बना था। विशिष्ट हैफ समुद्रतट में बलुही पट्टियाँ तट के समानान्तर स्थित होती हैं। इन बलुही पट्टियों के बीच उथली लैगून झीलें पाई जाती हैं जिन्हें हैफ कहते हैं। इस प्रकार के समुद्रतट में अच्छे पोताश्रय की सुविधा नहीं होती और पीछे हटती हुई लैगून झीले बंधा हुआ जल-क्षेत्र बना देती हैं।

चित्र १५६—पूर्वी जर्मनी का हैफ समुद्रतट

(३) फियार्ड समुद्रतट की रचना हिमनदी घाटियों के जलनिमग्न होने से बन

जाता है और स्कैन्डिनेविया, स्काटलैण्ड, लेब्रेडर और न्यू फाउन्डलैण्ड की तट रेखा



चित्र १६०

नार्वे के फियार्ड समुद्रतट में अच्छे पोताश्रय बन जाते हैं।

(४) रिया या निमग्न घाटी समुद्रतट—दक्षिणी पश्चिमी आयरलैण्ड, उत्तरी पश्चिमी स्पेन तथा इंगलैंड के कार्नवाल प्रदेश में पाई जाती है। यह बहुत ही टेढ़ी-मेढ़ी तथा कटी-फटी होती है। नदी घाटियों के जलमग्न होने से इस प्रकार के समुद्रतट का निर्माण होता है। फियार्ड से भिन्न, रिया निमग्न नदी घाटियां होती हैं और इसीलिए इनकी दीवारें क्रमशः बालू होती हैं। इस प्रकार के समुद्रतट में स्थल खंड तक पहुँचना आसान होता है। लहरों के सतत प्रहार तथा घर्षण के कारण इस प्रकार के समुद्रतट में लहरों द्वारा आवरणक्षय के विशिष्ट रूप वृष्टिगोचर होते हैं।

तटरेखा की प्राकृतिक बनावट (१) उसके प्राथमिक रूप अथवा समुद्रतट रेखा (२) जल-थल की गति या हलचल पर निर्भर रहती है। तटरेखा के रूप विन्यास में लहरों द्वारा आवरणक्षय या पीछे के कटाव तथा निक्षेप या आगे के बढ़ाव का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। इस आधार पर तट रेखाओं को निम्न प्रकार का कहा जा सकता है—



चित्र १६१—दक्षिणी पश्चिमी आयरलैण्ड के रिया

तटरेखा

उत्क्षेप प्रधान तटरेखा निमज्जन प्रधान तटरेखा सामान्य तटरेखा मिश्रित तटरेखा

उत्क्षेप प्रधान तटरेखा (Shoreline of Emergence)—महाद्वीपीय सागर की तलहटी के उत्क्षेप से इसकी रचना हो जाती है। समुद्रजल के तल में परिवर्तन या महाद्वीप निर्माणकारी भौगर्भिक शक्तियों के कारण समुद्र की तलहटी जल से बाहर को उठ आती है। या तो स्थलखंड उठ जाता है या समुद्रजल का तल गिर जाता है। फलतः एक नवीन संदानी पट्टी बन जाती है और इसकी समुद्र से मिलन रेखा को ही उत्क्षेप प्रधान तटरेखा कहते हैं। इस प्रकार की तटरेखा बिल्कुल सीधी और सपाट होती है। इसमें बहुत कम खाड़ियाँ व खलीज होते हैं और इसीलिए बहुत अच्छे पोताश्रय नहीं पाये जाते। उत्तरी अमेरिका का आन्ध्र महासागरीय तट इसका विशिष्ट उदाहरण है। इस प्रकार की तटरेखा में महाद्वीपीय सागर बहुत गहरा नहीं होता और नदी द्वारा लाये हुए तलछट से इसके पास का भाग दलदली और जलपूर्ण हो जाता है।

इसकी बाद वाली रूपरेखा निक्षेप से बनती है और अनुतटीय बाधक श्रेणी का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राथमिक तटरेखा और अनुतटीय बाधक श्रेणी के स्थल खंड की तरफ बढ़ने पर ये लंगून झीलें नमकीन दलदल में परिणत हो जाती हैं।

निमज्जन प्रधान तटरेखा (Shoreline of Submergence)—प्रायः टेढ़ी-मेढ़ी होती है और स्थलखंड के जल निमग्न होने पर बनती है। यह निमज्जन या तो समुद्रजल तल में परिवर्तन के कारण हो जाता है या महाद्वीप निर्माणकारी भौगर्भिक शक्तियों की हलचल के फलस्वरूप। इस प्रकार की तटरेखाये बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी होती है और निमग्न घाटियाँ खाड़ियाँ व खलीज बन जाती है और निमग्न पर्वत शिखर अनुतटीय चट्टानी द्वीप बन जाते हैं। इस प्रकार की तटरेखा पर लहरों द्वारा आवरणक्षय प्रधान होता और तटीय चट्टानों की प्रकृति के अनुसार बहुत से क्षयात्मक रूप उत्पन्न हो जाते हैं। उगलने वाले छेद, गुफाएं, तरंग घर्षित उत्तल कुछ विशिष्ट रूप हैं। अनुतटीय प्रदेश में निक्षेपात्मक रूप जैसे स्पिट, नतोदर अग्रप्रदेश आदि बन जाते हैं। चिली का दक्षिणी भाग, लंब्रेडर, नार्वे, ब्रिटिश कोलम्बिया आदि इस प्रकार के विशिष्ट उदाहरण हैं। इनमें सुरक्षित पोताश्रय बन जाते हैं।

परन्तु यह कदाचित ही सम्भव है कि कोई तटरेखा पूर्णतः उत्क्षेप या निमज्जन से ही बनी हो। वास्तव में उत्क्षेप और निमज्जन दोनों ही क्रियाओं का हाथ रहता है परन्तु उनमें से जो क्रिया प्रधान होती है उसी के आधार पर तटरेखा का नाम रख देते हैं।

सामान्य तटरेखा (Neutral Shorelines)—वे हैं जो न तो उत्क्षेप से ही बनती हैं और न निमज्जन से ही। इस प्रकार की तटरेखा समुद्र में स्थलखंड के बढ़ाव से बनती है। नदी द्वारा बनाये गये डेल्टा या पबाल कीड़ों द्वारा निर्मित चट्टानों से इस प्रकार की तटरेखा बन जाती है। इनकी विशेषतायें उत्क्षेप प्रधान तटरेखा से मिलती-जुलती होती हैं।

मिश्रित या संयुक्त तटरेखा (Compound Shorelines) वह होती हैं जिसमें उत्क्षेप और निमज्जन दोनों से ही सम्बन्धित विशेषतायें पाई जाती हैं। इस प्रकार के संयुक्त रूप उत्तरी कैरीलिना, पश्चिमी ससेक्स तथा चीपसेक खाड़ी

के प्रदेश में देखने को मिलते हैं। उनकी सीधी सपाट तथा चौड़ी आकृति उत्क्षेप प्रधान मालूम पड़ती है परन्तु उनकी कटी-फटी बरारे, कटान और लंगून झीलें निमज्जन की ओर इशारा करती हैं। परन्तु उनका तीव्र ढाल यह प्रमाणित करता है कि उनके निर्माण में उत्क्षेप की अपेक्षा निमज्जन ही अधिक प्रधान रहा है।

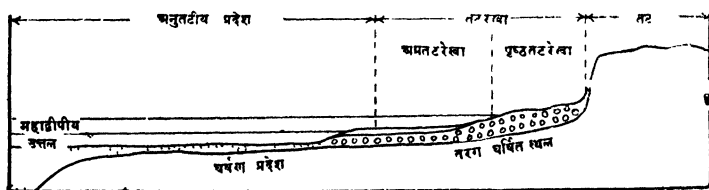
जलमंडल

पृथ्वी के धरातल का तीन चौथाई भाग या ७१ प्रतिशतांश में जल ही जल है और इसे जलमण्डल (Hydrosphere) कहते हैं। इसके अन्तर्गत बहुत से महासागर, समुद्र, खाड़ियाँ, खलीज तथा झीलें शामिल हैं। विस्तार के अनुसार संसार के पाँच प्रधान महासागर निम्नलिखित हैं—प्रशान्त महासागर, आन्ध्र महासागर, हिन्द महासागर, अर्न्तकटिक महासागर, आर्कटिक महासागर। इनमें सबसे महत्वपूर्ण आन्ध्र महासागर है जिसके दोनों तरफ अत्यन्त प्रगतिशील देश—यूरोप और संयुक्त राष्ट्र अमरीका स्थित हैं।

महासागरों की गहराई विभिन्न होती है। एक ही महासागर में स्थान-स्थान पर गहराई अलग-अलग होती है। महासागर की गहराई फंदमों में नापी जाती है और प्रत्येक फंदम ६ फीट का होता है। महासागर की गहराई नापने के लिए फंदम रेखा का प्रयोग करते हैं। यह एक रस्सी होती है जिसके एक सिरे पर जस्ते का लंगर लगा रहता है। अधिक गहरे सागरों में फंदोमीटर का प्रयोग करते हैं। इसमें एक स्वयंचालित ढोल होता है जो तली पर पहुँचने पर अपने आप बजने लगता है और उसकी आवाज यन्त्र द्वारा निरीक्षक तक पहुँच जाती है। इसके बाद इस आधार पर कि ध्वनि की लहरे जल में से होकर ४८४० फीट प्रति सेकिन्ड की दर से चलती है, समुद्र की गहराई नाप ली जाती है।

गहराई के अनुसार महासागर को ४ विभागों में बाँटा जा सकता है।

- (१) महाद्वीपीय सागर (Continental Shelf)
- (२) महाद्वीपीय ढाल (Continental Slope)
- (३) अगाध सागर तल (Ocean Trough)
- (४) महासागरीय गर्त (Ocean Deep)



चित्र १६२—जलमण्डल के विभाग

महाद्वीपीय सागर और महाद्वीपीय ढाल को मिलाकर महासागर के महाद्वीपीय भाग की रचना होती है। यह भाग या खंड गहरे महासागर को महाद्वीपों से सम्बन्धित

करता है। इस विभाग की गहराई विभिन्न होती है—कुछ फीट से लेकर कुछ मील तक। कभी-कभी तो इसकी गहराई कई सौ मील तक हो जाती है।

महाद्वीपीय सागर महासागर का वह भाग है जो महाद्वीपीय सीमान्त के सबसे अधिक समीप रहता है। इसकी औसत गहराई १०० फंदम है और यह वास्तव में जलनिमग्न स्थलखंड ही है। महाद्वीपीय सागर का विस्तार तटवर्ती स्थलखंड की प्राकृतिक बनावट पर निर्भर रहता है। यदि तटवर्ती प्रदेश मैदान है तो महाद्वीपीय सागर की चौड़ाई कई मील तक होगी। इसके विपरीत यदि तटवर्ती प्रदेश पहाड़ी हुआ तो महाद्वीपीय सागर संकरा होगा।

इनका निर्माण भूमि के निम्नज्जन या समुद्रजल तल में परिवर्तन होने से होता है। लहरों द्वारा आवरणक्षय से भी इनके निर्माण में सहायता मिलती है। इसके अलावा, उत्तरी सागर तथा न्यूफाउन्डलैण्ड के समीप के विस्तृत महाद्वीपीय सागर का निर्माण हिमयुग की हिमनदियों के पिघलने पर शिलाखंड निक्षेप के कारण हुआ है।

महाद्वीपीय ढाल से समुद्र की तली आगे की तरफ ढालू हो जाती है। यह महाद्वीपीय सागर के आगे स्थित होता है। इसका ढाल बहुत तीव्र होता है और इसकी गहराई कभी-कभी तो २००० फंदम तक हो जाती है। इसका विस्तार अपेक्षाकृत कम होता है और अगाध सागर तल तथा महाद्वीपीय सागर के बीच यह अन्तरिम प्रदेश बनाता है।

इसके बाद अगाध सागरतल आता है जो गहरे समुद्री मैदान की तरह होता है। इसका ढाल क्रमशः होता है और महाद्वीपीय सीमाओं से यह इतनी अधिक दूर होता है कि नदियों द्वारा बहा कर लाया हुआ तलछट यहाँ तक पहुँच ही नहीं पाता। इसलिए अगाध सागर तल पर ज्वालामुखी से निकली हुई लाल मिट्टी या प्राणिज अवशेष का निक्षेप रहता है। इसकी औसत गहराई ३००० फंदम है। सागर तल के इस भाग में बहुत से जलनिमग्न चबूतरे तथा अन्य अनियमितार्ये रहती हैं।

महासागरीय गर्त सबसे गहरा भाग होता है। इसका विस्तार सीमित होता है और इनका ढाल बड़ा ही तीव्र होता है। ये गर्त उन तटों के समीप विशेषरूप से पाये जाते हैं जहाँ ज्वालामुखी उद्गार तथा भूकम्प अक्सर आते रहते हैं। प्रशान्त महासागर में बहुत से गर्त पाये जाते हैं। सबसे गहरा गर्त फिलीपाइन द्वीप समूह के समीप है। इसकी गहराई ३५००० फीट है और इसकी उत्पत्ति का कारण अज्ञात है। शायद ये गर्त और कुछ नहीं बल्कि महासागर तल के गड्ढे हैं।

महासागरीय का महत्व—मनुष्य के लिए महासागरों का विशेष महत्व है—

(१) महासागरों से ही वायुमण्डल को जलवाष्प प्राप्त होती है और वही सामान्यतः वृष्टि पर प्रभाव डालते हैं। महासागर से आती हुई हवायें नमी से लदी होती हैं और इसीलिए महासागरों के समीपस्थित स्थलखंड पर काफी वर्षा होती है। महासागर से दूरी जितनी अधिक होती जाती है, वृष्टि की मात्रा कम होती जाती है।

(२) महासागरों का तापक्रम पर भी नियन्त्रण रहता है। समुद्र से समीपता का तापक्रम पर बड़ा असर पड़ता है। महासागर के ऊपर स्थित वायु राशि देर में गरम होती है और देर में ठंडी होती है। इसके निम्नलिखित तीन कारण हैं—(अ)

जल की सापेक्ष गर्मी स्थल की अपेक्षा पांच गुनी अधिक है (ब) गर्मी को जल के अधिक भाग में फैलना पड़ता है। (स) महासागर पर सदैव वाष्पीकरण होता रहता है जिस से ठंडक बढ़ती है। इसी कारण समुद्री पवन इतनी मनोहर होती है और तापक्रम की विषमता को कम कर देती है। महासागरों के समीप तापान्तर कभी भी अधिक नहीं होता। मौसम हमेशा सम रहता है।

(३) महासागर अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के बड़े अच्छे साधन हैं। महासागरीय जहाजों के आविष्कार के पहिले, इस जलीय विस्तार से परस्पर सम्पर्क में बाधा पड़ती थी। परन्तु अब महासागरों द्वारा सारा संसार एक हो गया है।

(४) संसार की भोजन प्राप्ति के दृष्टिकोण से भी महासागरों का कोई कम महत्त्व नहीं है। इनसे मछली प्राप्त होती है जिसे भोजन, तेल, औषधि तथा चमड़े के लिए प्रयोग करते हैं। भूमि में खाद के लिये भी इसका प्रयोग होता है। शीतोष्ण कटिबन्ध के तटवर्ती प्रदेशों में मछली पकड़ना एक महत्त्वपूर्ण उद्यम है। भोजन प्राप्ति का यह ऐसा साधन है जो कभी भी खतम नहीं हो सकता। भोजन के लिये मछली पकड़ने के महत्त्वपूर्ण क्षेत्र तट के समीप महाद्वीपीय सागर प्रदेश या नदियों में स्थित हैं। इनके अलावा, गहरे महासागरों से सील तथा ह्वेल मछलियों का शिकार किया जाता है जिनसे तेल, चमड़ा और दांत प्राप्त किये जाते हैं।

(५) महासागर साधारण नमक और मैगनीशियम के भी महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। समुद्रजल को भाप बनाकर इन तत्वों को प्राप्त किया जाता है।

(६) महासागर की लहरों और ज्वारभाटा में सभाविक्त शक्ति छिपी हुई है। यद्यपि इसका अभी अधिक विकास नहीं हुआ है परन्तु भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है।

महासागरों का खारीपन—समुद्र का पानी खारा या नमकीन होता है। इसके कई कारण हैं—(१) नदियाँ अपने जल में बहुत से खनिज नमकों को घुलाकर ले आती हैं। (२) वाष्पीकरण द्वारा जल भाप में बदल जाता है और प्रतिवर्ष खनिज तत्त्व अंश महासागर के जल में बढ़ जाता है। (३) जलवृष्टि द्वारा मीठा तथा ताजा पानी महासागरों में बहुत कम मात्रा में आ पाता है।

चूँकि ये सब दशायें सभी जगह एक सी नहीं रहतीं, महासागर का खारापन स्थान-स्थान पर अलग-अलग होता है। खारेपन के साथ-साथ महासागर के जल का घनत्व भी भिन्न होता है। उष्ण कटिबन्ध में भारी वर्षा के क्षेत्रों में खारीपन कम रहता है परन्तु उष्ण मरूस्थलों के प्रदेश में जहाँ वर्षा कम होती है तथा वाष्पीकरण अत्यधिक होता है खारीपन का प्रतिशतांश बहुत अधिक होता है। उन शीत प्रदेशों में जहाँ हिम पिघलने से ताजे मीठे पानी की विशाल राशि हरवम समुद्र में मिलती है महासागरीय जल का घनत्व तथा खारीपन दोनों ही कम रहता है।

यद्यपि महासागर के जल का खारीपन औसतन ३६ प्रति सहस्रांश है यह अयन रेखाओं के समीप सबसे अधिक तथा ध्रुव प्रदेशों में सबसे निम्न रहता है। कर्करेखा और मकररेखा के समीप समुद्र सबसे ज्यादा खारी है। स्थल से घिरे समुद्रों और खुले महासागरों के जल के खारीपन में बड़ा अन्तर रहता है। लालसागर में खारीपन ३७ प्रति सहस्र है परन्तु भूमध्य सागर में यह ३६ प्रति सहस्र है।

जल के खारीपन का प्रभाव केवल घनत्व पर ही नहीं पड़ता बल्कि यह इसके रंग और तापक्रम को भी प्रभावित करता है। यदि खारीपन अधिक है तो जल का रंग गहरा नीला होगा परन्तु यदि यह कम है तो हरे रंग का रहेगा। नमकीन या खारे पानी का तापक्रम भी ऊँचा रहता है। इसलिए जल में खनिज तत्व का मिश्रण जितना ही कम होगा, तापक्रम उतना ही कम होगा।

महासागर के जल का तापक्रम—महासागर में गर्मी का मुख्य स्रोत सूर्य ही है परन्तु कुछ विशेषताओं के कारण जल का ताप ग्रहण करना स्थल से बिल्कुल भिन्न होता है। जल की सापेक्ष तापशक्ति स्थल से पाँच गुनी अधिक है। इसके अलावा समुद्रतल पर बराबर वाष्पीकरण के होते रहने से शीतलता आ जाती है। इन कारणों से पानी को गर्म तथा ठंडा होने में स्थल की अपेक्षा कुछ अधिक बेर लगती है। फलतः जाड़ों में जल प्रदेश अपेक्षाकृत गर्म तथा गर्मी में अपेक्षाकृत ठंडे रहते हैं।

परन्तु महासागर के जल का तापक्रम अक्षांश, गहराई तथा खारीपन के अनुसार बदलता रहता है। इनके अलावा प्रचलित हवाओं, जलधाराओं तथा महा-द्वीपों के तटों का भी इस पर प्रभाव पड़ता है।

(१) ध्रुवीय अक्षांशों में, सूर्य ताप की न्यूनता, गर्मी के छोटे मौसम तथा सूर्य की किरणों के तिरछे होकर आने के कारण तापक्रम कभी-कभी २६° फा० से अधिक नहीं होता। इसके विपरीत उष्ण कटिबंध में समुद्रजल का तापक्रम ८५° से ६५° फा० तक होता है।

(२) महासागर में हम जैसे-जैसे गहराई में पहुँचते जाते हैं, तापक्रम उत्तरोत्तर गिरता जाता है। सच तो यह है कि सूर्य की किरणें धरातल से ६६० फीट से अधिक गहराई में नहीं पहुँच पातीं। इसलिए उस गहराई के बाद तापक्रम एकदम गिर जाता है।

(३) तापक्रम खारीपन के अनुसार भी बदलता रहता है। खारीपन जितना ही अधिक होगा तापक्रम भी उतना ही ऊँचा रहेगा।

(४) प्रचलित हवाये जल की सतह को इधर-उधर धकेल देती हैं और फलतः नीचे का शीतल पानी सतह के जल के तापक्रम को प्रभावित कर देता है।

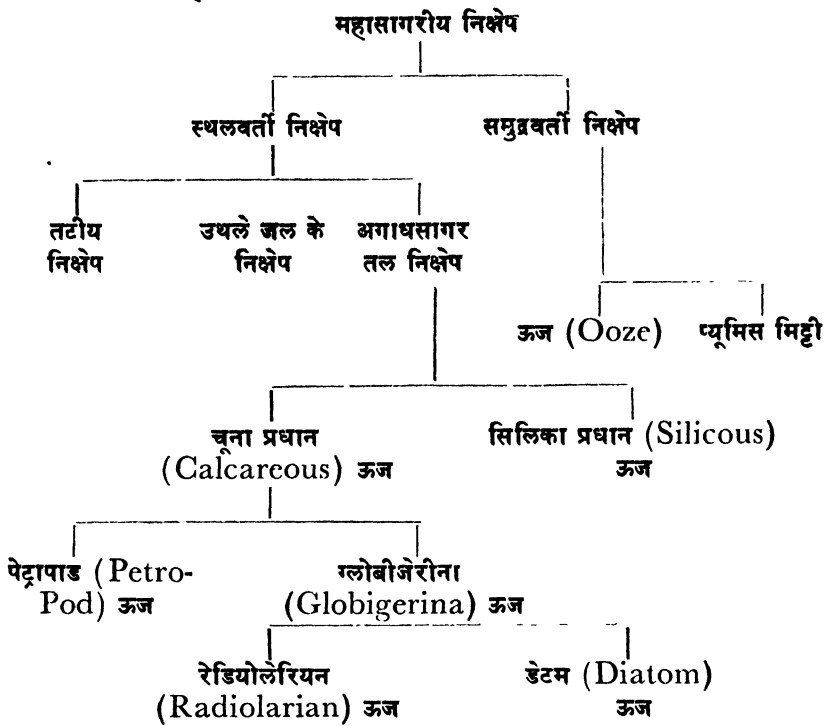
(५) ध्रुवों या भूमध्य रेखा की तरफ से आने के कारण जलधाराये क्रमशः शीतल या गर्म होती हैं। जिन प्रदेशों से होकर वे प्रवाहित होती हैं वे उनके सम्पर्क से प्रभावित होकर गर्म या ठंडे हो जाते हैं। गर्म जलधारायें जल को गर्म कर देती हैं और शीतल जलधारायें ठंडा कर देती हैं।

(६) महासागर की स्थिति का भी उसके जल के तापक्रम पर बड़ा असर पड़ता है। खुले महासागरों की अपेक्षा स्थल से घिरे समुद्रों का जल अधिक गर्म होता है।

मौसमी परिवर्तन तथा रात-दिन के हेर-फेर से भी महासागर के जल के तापक्रम पर असर पड़ता है।

महासागरीय निक्षेप—समुद्रतल की विविध गहराई पर पाये जाने वाले निक्षेप अनेक प्रकार के होते हैं और अनेक स्रोतों से आकर जमा हो जाते हैं जैसा कि निम्न-

तालिका से स्पष्ट हो जायेगा ।



स्थलवर्ती निक्षेप में बालू, बजरी, कंकड़, रोड़े आदि होते हैं जिनका सम्बन्ध स्थलखंड से होता है। नदियों इस सामग्री को अपने साथ बहा कर लाती हैं और निक्षेप स्थान के अनुसार इन्हें तीन प्रकार का कहा जाता है। जो तट के समीप जमा हो जाता है उसे तटवर्ती निक्षेप कहते हैं। जो महाद्वीपीय सागर में जमा हो जाता है उसे उथले जल का निक्षेप कहते हैं और जो सामग्री अगाध सागरतल में जमा हो जाती है उसे अगाध सागर तल का निक्षेप कहते हैं। तटवर्ती निक्षेप में भारी घनत्व और बड़े आकार की मोटी सामग्री रहती है। उसमें रोड़े, कंकड़ और शिगल की प्रधानता रहती है। उथले जल के निक्षेप में बजरी बालू की प्रधानता रहती है और चोका मिट्टी का पंक गहरे सागर तल पर जमा हो जाता है।

समुद्रवर्ती निक्षेप की सभी सामग्री समुद्र में उत्पन्न होती है। इनमें सर्वप्रधान ऊज होते हैं। ये ऊज विभिन्न प्रकार के समुद्री जीव-जन्तुओं से बनते हैं। ये जीव-जन्तु बड़े ही सूक्ष्म होते हैं। इनका रूप घोंघे के समान होता है परन्तु इनकी बनावट खड़िया की तरह होती है। इनकी बनावट लुच-लुची होती है और इनमें चूने तथा सिलिका की प्रधानता रहती है। चूना प्रधान ऊज में चूने की अधिकता रहती है और सिलिका प्रधान ऊज में सिलिका अधिक रहता है।

चूना प्रधान ऊज दो प्रकार के जीव-जन्तुओं से बनते हैं—पेट्रोपाड जो कि ८०० से १५०० फीट की गहराई तक पाया जाता है और ग्लोबीजेरीना जो १५००

से २००० फंदम की गहराई में मिलता है। दूसरी प्रकार का ऊज हिन्द महासागर में अधिक पाया जाता है।

सिलिका प्रधान ऊज भी दो प्रकार की होता है। रेडियोलैरियन ऊज तो जीवजन्तुओं से बनता है परन्तु डेटम ऊज कुछ पौदों से बनती है।

लाल मिट्टी का निक्षेप २५०० फंदम के बाद समुद्र की तलहटी में बिखरा हुआ पाया जाता है। यह लाल मिट्टी ज्वालामुखी से निस्सृत होती है और या तो जल निमग्न उद्गार से प्राप्त हुई है या स्थलखंड पर स्थित ज्वालामुखी से उड़कर आई है।

इस समुद्रवर्ती निक्षेप का मनुष्य के लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं है परन्तु इन का अप्रत्यक्ष प्रभाव परतदार चट्टानों पर दिखलाई पड़ता है। संसार की परतदार चट्टानें जल के नीचे बनी थीं और उनमें पाया जाने वाला चूने तथा फासफोरस तत्वांश इस समुद्रवर्ती निक्षेप की ही देन है। हमारे लिये इन तत्वों का कितना महत्त्व है यह तो हमें अच्छी तरह मालूम है। इसी सिलसिले में प्रवाल (Coral) चट्टानों व द्वीपों का विवरण देना भी आवश्यक है जो कि निक्षेप के ही एक विशिष्ट रूप हैं।

प्रवाल रचना (Coral Formation)—प्रवाल या मूंगा एक प्रकार का बहुत छोटा कीड़ा है जो कि गर्म समुद्र जल में पनपता है। इसके लिए कम से कम ६८° फा० का तापक्रम चाहिये और ये १५० फीट से अधिक गहरे जल में नहीं पनपते। ये कीड़े वहाँ भी नहीं रह सकते जहाँ के जल में तलछट अधिक रहता है। इसलिए ये उन तटों के समीप नहीं पाये जाते हैं जहाँ नदियाँ समुद्र में आकर गिरती हैं।

प्रवाल कीड़े कर्क और मकर रेखाओं के बीच के प्रदेश में अधिक पनपते हैं। इस उष्ण कटिबंधीय पेटो में भी प्रवाल की अधिकता महाद्वीपों के पूर्वी किनारों पर रहती है जहाँ पर व्यापारिक हवायें चलती रहती हैं। चूँकि आंध्र महासागर में बहुत सी नदियाँ गिरती हैं और तापक्रम भी बहुत ऊँचा नहीं रहता इसलिए प्रवाल रचना का पूर्णतः अभाव है।

प्रवाल कीड़ों का मनुष्य के लिए बड़ा महत्त्व है क्योंकि ये चट्टानों की रचना करती हैं। इन कीटाणुओं में चूने का अंश अधिक रहता है और इनमें आपस में सटने की आदत होती है। इस प्रकार जब ये प्रवाल कीड़े मर जाते हैं तो उनके शरीर समुद्र की तलहटी में जमा हो जाते हैं और उन पर नये कीड़े इकट्ठा हो जाते हैं। इस प्रकार प्रवाल कीड़ों के पिंजर एक दूसरे पर इकट्ठा होते रहते हैं और सम्पूर्ण पिंड मक्खियों के छत्ते के समान फँल जाता है। ऊपर के दबाव के कारण आधार के प्रवाल पत्थर की तरह पक्के हो जाते हैं। इसके ऊपर सम्पूर्ण रचना उठती जाती है और कालान्तर में सतह पर बड़ी चट्टान के रूप में पहुँच जाती है। इन्हें प्रवाल श्रेणी कहते हैं। इन चट्टानों पर बालू बजरी का निक्षेप हो जाता है और सम्पूर्ण आकृति एक चबूतरे की तरह हो जाती है। यह कदाचित् ही समुद्रजल से अधिक ऊपर निकल पाता है। सामान्यतः प्रवाल चट्टानें जल से थोड़ा नीचे ही रहती हैं और भाटे के समय ही दिखलाई पड़ती हैं।

ये प्रवाल चट्टानें ऊँचाई की अपेक्षा चौड़ाई में अधिक बढ़ जाती हैं। ये ऊपर

की तरफ तथा बाहर की तरफ साथ-साथ बढ़ती हैं। और कालान्तर में उनके अनेक आकार बन जाते हैं। उनकी स्थिति तथा आकार के अनुसार प्रवाल चट्टानों को निम्नलिखित चार प्रकार का कहा जा सकता है—

- (१) परातटीय श्रेणी (Fringing Reefs)
- (२) बाधक श्रेणी (Barrier Reefs)
- (३) नालाकार श्रेणी (Atolls)
- (४) प्रवाल दीप (Coral Islands)

परातटीय श्रेणी महाद्वीपों के तट के समीप स्थित होती है। अन्य श्रेणियों की तरह, ये प्रवाल या मृगे के कीटाणुओं से बनती हैं। परातटीय श्रेणी और किनारे के बीच छिछली लैगून झील होती है। परातटीय श्रेणी की सतह ऊबड़-खाबड़ होती है। निम्नजल सीमा से यह कभी भी ऊपर नहीं उठपाती और इसका प्रसार ऊपर की अपेक्षा बाहर की ओर अधिक होता है। फलतः इसका बाहिरी किनारा समुद्रजल की सतह तक पहिले पहुँच जाता है और जब ऐसा होता है तो तट तथा श्रेणी के बीच एक लैगून झील बन जाती है। परातटीय श्रेणी का बाहिरी किनारा ३० फंदम की अधिक गहराई में कदाचित् ही रह पाता है। इसके बाद यह गहरे समुद्र की तरफ ढालू हो जाता है।

बाधक श्रेणी तट से कुछ दूर पर स्थित होती है। तट और इसके बीच की लैगून झील कुछ अधिक चौड़ी होती है। इसकी गहराई भी अधिक होती है। बाधक श्रेणी के बाहिरी किनारे का ढाल गहरे पानी की तरफ तीव्र होता है। इसका बाहर की तरफ विस्तार अधिक नहीं होता और कुछ विशेषज्ञों का विचार है कि यह भिन्न आधार पर बना है या इसके बनने के बाद से समुद्र की गहराई बढ़ गई है।

सबसे बड़ी बाधक श्रेणी वह है जो आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट के सामानान्तर फैली हुई है। महाद्वीप से २० मील से लेकर १५० मील की दूरी पर, यह प्रवाल श्रेणी एक विशाल दीवार की तरह १२०० मील तक फैली हुई है। इस श्रेणी की सबसे अधिक चौड़ाई १० मील है परन्तु कहीं-कहीं इसकी चौड़ाई ६० मील तक भी हो गई है। यह विशाल भित्ति निम्न जल या भाटे के समय को छोड़कर कदाचित् ही विखलाई पड़ती है और सम्बद्ध शृङ्खला के रूप में कदापि नहीं है। बहुत से स्थानों पर यह टूटी हुई है।

नालाकार प्रवाल श्रेणी का आकार अंगूठी या घोड़े की नाल जैसा होता है और इसके बीच में एक लैगून झील होती है। कभी-कभी इस लैगून झील के बीच एक और द्वीप होता है। यह अंगूठी या नालाकार प्रवाल श्रेणी संयुक्त अथवा सम्बद्ध नहीं होती। यह एक या अधिक स्थानों पर खुली रहती है और इस खुले स्थान पर से लैगून झील खुले समुद्र से सम्बद्ध हो जाती है।

इनकी रचना के विषय में दो मत हैं। एक के अनुसार जिसके मुख्य प्रतिपादक डार्विन (Darwin) हैं नालाकार प्रवाल श्रेणी एक द्वीप के चारों ओर परातटीय श्रेणी मात्र है। बाद में इस द्वीप के जलमग्न हो जाने से लैगून झील और उसके चारों ओर अंगूठी की तरह की श्रेणी बनी रह गई। दूसरे मत के अनुसार,

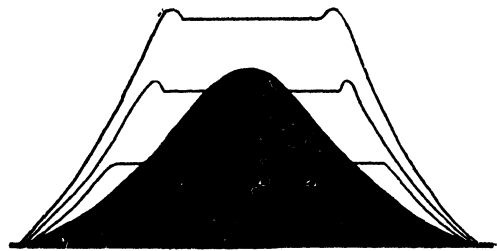
नालाकार श्रेणी की उत्पत्ति एक बाधक श्रेणी के रूप में हुई जो किसी पठार या पहाड़ी के शिखर पर बन गई। इसकी बाहर की तरफ को बाढ़ उठान की अपेक्षा अधिक थी। इसलिए एक अंगूठी सदृश्य रचना बन गई। इस प्रकार की नालाकार श्रेणियाँ प्रशान्त महासागर में बहुत पाई जाती हैं। इनके धरातल पर हवा तथा लहरों द्वारा उड़ाकर लाये हुये बीज जम जाते हैं। अतएव वनस्पति उग आती है और पास से गुजरने वाले जहाजों के लिए मनोरम दृश्य उपस्थित करते हैं।

प्रवाल द्वीप वह प्रवाल श्रेणी है जो स्थलखंड से बहुत दूर किसी अलग-थलग स्थान पर स्थित होती है। इस सपाट तथा चौरस प्रवाल श्रेणी पर बालू का निक्षेप हो जाता है और इसकी आकृति एक चबूतरे की तरह दिखलाई पड़ने लगती है। कुछ दशाओं में ये प्रवाल द्वीप कई मील लम्बे चौड़े होते हैं। परन्तु समुद्रतल से उनकी ऊँचाई अधिक नहीं होती। कभी-कभी भूमि के सामान्य उत्क्षेप के कारण प्रवाल द्वीप भी ऊँचा हो जाता है। हवाएं और लहरें बीज उड़ाकर लाती हैं और कालान्तर में इस पर घनी वनस्पति उग आती है।

प्रवाल श्रेणियों की उत्पत्ति के विषय में कई विरोधी मत व्यक्त किये जाते हैं। इस समय इस बारे में तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं—

(१) डारविन (Darwin) का सिद्धान्त सबसे पुराना है। इसका समर्थन डाना (Dana) ने किया तथा इसको डेविस (W.M. Davies) ने प्रमाणित किया है।

इस सिद्धान्त के अनुसार महासागर की तलहटी का नीचे का धंसना ही प्रवाल श्रेणियों की रचना का मुख्य कारण है। डारविन का विश्वास है कि सभी प्रवाल श्रेणियों की उत्पत्ति परातटीय श्रेणी के रूप में ही हुई और उनकी ऊपर को उठान नीचे धंसने के अनुपात में ही होती



चित्र १६३—प्रवाल रचना के सम्बन्ध में डारविन का सिद्धान्त

रही। फलतः वे बाधक अथवा नालाकार श्रेणी बन गई। इस सिद्धान्त से प्रवाल रचना की बहुत अधिक मोटाई तो समझ में आ जाती है परन्तु यह समझ में नहीं आता कि समुद्र की तलहटी इतने विस्तृत रूप से कैसे और क्यों धंसेगी। यह सिद्धान्त यह भी नहीं समझा पाता कि उठान के साथ-साथ तलहटी का धंसना किस प्रकार जारी रह सकता है।

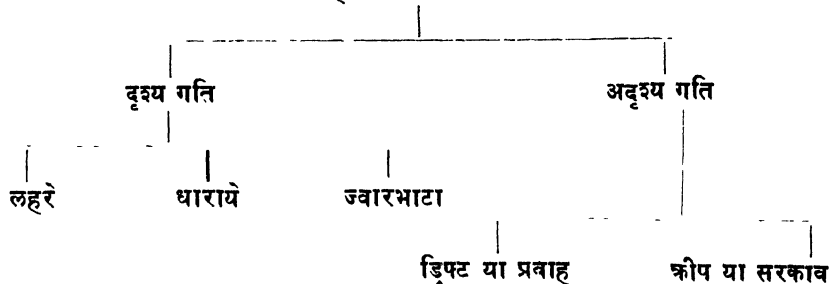
(२) मरे (Murray) का सिद्धान्त—इसके अनुसार प्रवाल श्रेणियों की उत्पत्ति ऐसे आधारों पर हुई जिनका प्रवाल कीड़ों से कोई भी सम्बन्ध न था। जलनिमग्न ज्वालामुखी शंकु पर या जलमग्न टालुस पर प्रवाल रचना शुरू हुई थी। इस सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि इस आधार में परिवर्तन होने से प्रवाल श्रेणियों के आकार और रूप में भी परिवर्तन हो गया परन्तु इससे प्रवाल रचना की मोटाई स्पष्ट नहीं होती।

(३) डैली (Daly) का सिद्धान्त—प्रथम दो सिद्धान्तों के नियमों को मिला देता है। इसके अनुसार प्रबाल श्रेणियों की रचना जलनिमग्न चबूतरों पर हुई थी। ये चबूतरे हिमप्रवाह के पहले युग में बने थे और बाद में लहरों के प्रहार से कट-छंट गए। इन चबूतरों पर मुकुट की तरह प्रबाल रचना शुरू हुई और इनकी दीवार बड़ी ही तीव्र ढाल वाली थी। हिमयुग में हिम आवरण के पिघलने पर हिमनदी निक्षेप और पिघलते हुए हिम से समुद्रजल का तल ऊँचा हो गया। समुद्रतल ऊँचा उठने से आस-पास का क्षेत्र धंस गया। इस प्रकार डारविन के सिद्धान्त के दोषों का निवारण किया गया है और साथ-साथ इसके द्वारा प्रबाल श्रेणियों की वर्तमान स्थिति को भी समझा दिया गया है। अधिकतर श्रेणियों की बनावट दीवार की तरह होती है, इनकी प्राकृतिक रूपरेखा नवीन है तथा इनकी चौड़ाई संकरी है और इनका धरातल समतल है। ये सभी विशेषताएं डैली के सिद्धान्तानुसार प्रतीत होती हैं।

परन्तु इनमें से कोई भी सिद्धान्त इतना सार्वभौमिक नहीं है कि उसके द्वारा सभी प्रकार की प्रबाल रचना समझ में आ जाती हो। अन्तिम विश्लेषण में हमें उत्क्षेप और निमज्जन के स्थानीय तत्व समझने पड़ते हैं। इसके अलावा यह भी सम्भव है कि बहुत-सी वर्तमान प्रबाल श्रेणियाँ इन तीनों ही या अन्य दूसरे प्रकार से बनी हों।

महासागर की गतियाँ—महासागर का जल कभी भी शान्त नहीं रहता। इस पर सदैव कुछ तत्वों द्वारा हलचल उत्पन्न होती रहती है और इन्हीं के द्वारा इसमें गति उत्पन्न हो जाती है। सच तो यह है कि ये सभी शक्तियाँ जो महासागर के जल को प्रभावित करती हैं, इसकी समस्थिति को तोड़ देती हैं और जल को गति प्रदान करके प्रकृति इस समस्थिति को द्वाारा स्थापित कर देती हैं। महासागर की गतियाँ कई प्रकार की होती हैं और विभिन्न प्रकार के तत्व इनको उत्पन्न करते हैं। इसी कारण इनकी विशेषतायें भी विभिन्न हो जाती हैं। महासागर की विभिन्न गतियाँ निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगी—

महासागर की गतियाँ



लहरें हवा द्वारा उत्पन्न होती हैं। जल की सतह पर जब हवायें चलती हैं तो वे जल से रगड़ खाती हैं और इसकी सतह पर टक्कर देकर ऊँचे-नीचे मोड़ उत्पन्न कर देती हैं। इनको लहरें कहते हैं और इनकी लम्बाई, ऊँचाई तथा शक्ति हवा की तेजी पर निर्भर रहती है। तेज हवा के झोंके में लहरें कई सौ मील लम्बी हो सकती हैं और दस-बीस पचास फुट तक ऊँची हो सकती हैं। लहरें समाकार रूप से आगे

नहीं बढ़ती। केवल इनके ऊर्ध्व मोड़ तथा गर्त ही अगड़ाकार पथ में आगे बढ़ते हैं। जैसे ही तट के निकट आते हैं, इन्हें उथले जल में से होकर गुजरना पड़ता है और उनकी तरंग की गति धीमी पड़ जाती है, उनका अग्रभाग मुड़ जाता है और वे किनारे से तरंग के रूपमें आकर टक्कर लेती हैं।

लहरे आवरणक्षय का एक महत्त्वपूर्ण साधन है और तटवर्ती काट-छांट में इनका बड़ा ही प्रधान स्थान है। इसके अलावा ये चट्टानों के लिए विशेष घातक होती हैं। जब समुद्र पर ऊँची-ऊँची लहरे उठती रहती हैं तो छोटे बड़े जहाज डूब जाते हैं या उन्हें अन्य प्रकार से हानि पहुँचती है। परन्तु ये लहरे सम्भावित शक्ति का अपार भंडार हैं जिसका प्रयोग अभी होना है। जब यह शक्ति प्राप्त होवेगी तो संसार के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हो जायेगा।

धारायें—महासागर की वे शक्तिशाली गतियाँ हैं जो एक निश्चित दिशा में सततरूप से बराबर चलती रहती हैं। इन धाराओं की गति जल की सतह पर स्पष्ट दिखलाई पड़ती है और जल की ये धारायें स्थलीय जलधाराओं की अपेक्षा अधिक तेजी से चलती हैं। महासागरीय धाराओं की औसत चाल दो से छः मील प्रति घण्टा तक होती है। चाल की ही तरह, इन धाराओं की चौड़ाई और गहराई भी अधिक होती है।

समुद्र जल का धाराओं के रूप में प्रवाहित होने के कई कारण होते हैं परन्तु उनमें सबसे प्रधान कारण प्रचलित वायु व्यवस्था है। धाराओं को उत्पन्न करने वाले कारण महत्व के अनुसार निम्नलिखित हैं—

(१) प्रचलित हवायें समुद्र के जल को अपने आगे सततरूप से धकेलती रहती हैं। संसार की हवाओं और जलधाराओं के मानचित्रों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि संसार की प्रमुख जलधारायें स्थायी वायु व्यवस्था के अनुरूप ही हैं। निम्न अक्षांशों में या व्यापारिक हवाओं की पेटों में महासागरीय जलधारायें पश्चिम की ओर चलती हैं। हिन्द महासागर में प्रचलित हवाओं की दिशा मौसम के अनुसार बदलती रहती है। इसलिए हिन्द महासागर की धारायें दक्षिणी पश्चिमी और उत्तरी पूर्वी मानसून हवाओं के अनुरूप चलती हैं।

(२) घनत्व में अन्तर—समुद्र के जल का घनत्व स्थान-स्थान पर अलग होता है। तापक्रम तथा खारीपन के अनुसार यह बदलता रहता है। तापक्रम जितना ही ऊँचा होगा, घनत्व उतना ही कम होगा। अतः भूमध्यरेखा के समीप का कम घना जल ध्रुवों की तरफ चलता है और ध्रुवों के समीप का ठंडा तथा काफी घना जल भूमध्यरेखा की तरफ रिक्त स्थान की पूर्ति करने के लिए बड़ने लगता है। इस प्रकार शीतल जलधारायें हमेशा ध्रुवों की तरफ से भूमध्यरेखा की ओर चलती हैं तथा गर्म जलधारायें भूमध्यरेखा से ध्रुवों की तरफ चलती हैं।

स्थलखंड से घिरे हुए समुद्रों में, घनत्व खारीपन पर निर्भर रहता है। भूभाग से घिरे समुद्रों में, अधिक बाष्पीभवन तथा ताजे जल की कम प्राप्ति के कारण खारीपन अधिक रहता है। पास के खुले समुद्र अपेक्षाकृत कम खारी होते हैं। फलतः घने नमकीन पानी की धारा जल के नीचे-नीचे घिरे हुए समुद्र से खुले महासागर की

और चलने लगती है। और उस रिक्त स्थान को पूरा करने के लिए महासागर की ओर से एक सतह जल धारा घिरे हुए समुद्र की ओर चलने लगती है। यदि घिरे हुए समुद्र में अधिक नदियों के गिरने के कारण खारीपन अपेक्षाकृत कम हुआ तो धाराओं की व्यवस्था उपर्युक्त वर्णन के बिल्कुल विपरीत होगी। प्रथम दशा तो भूमध्य सागर तथा लाल सागर में पाई जाती है परन्तु विपरीत अवस्था बाल्टिक, काला सागर और हडसन की खाड़ी की है।

इन दो प्रमुख कारणों के अतिरिक्त पृथ्वी के आवर्तन तथा स्थलखंड की प्राकृतिक बनावट का भी जल धाराओं की दिशा पर असर पड़ता है। पृथ्वी के आवर्तन के कारण तथा प्रसिद्ध फेरल नियम के अनुसार जल धाराओं की दिशा उत्तरी गोलार्द्ध में घड़ी की सुइयों की तरह होती है और दक्षिणी गोलार्द्ध में घड़ी की सुइयों से विपरीत। इस दिशा में ध्यान देने योग्य बात यह है कि जलधाराओं की दिशा उसकी जाने की ओर वाली तरफ के आधार पर ही होती है।

भूमि की बनावट से जलधारा के मार्ग में बाधा उपस्थित होती है और इसके अनुरूप ही जल मुड़ जाता है। भूमध्यरेखीय प्रदेश में यह बात स्पष्टतया दिखलाई पड़ती है। वहाँ पूर्व से पश्चिम की तरफ फँले हुए भूखण्ड धाराओं को उत्तर तथा दक्षिण की ओर मोड़ने में सफल होते हैं। जलनिम्न बाधाओं का भी इस दिशा में महत्वपूर्ण स्थान है और अगाध सागर तल की बनावट का भी असर पड़ता है।

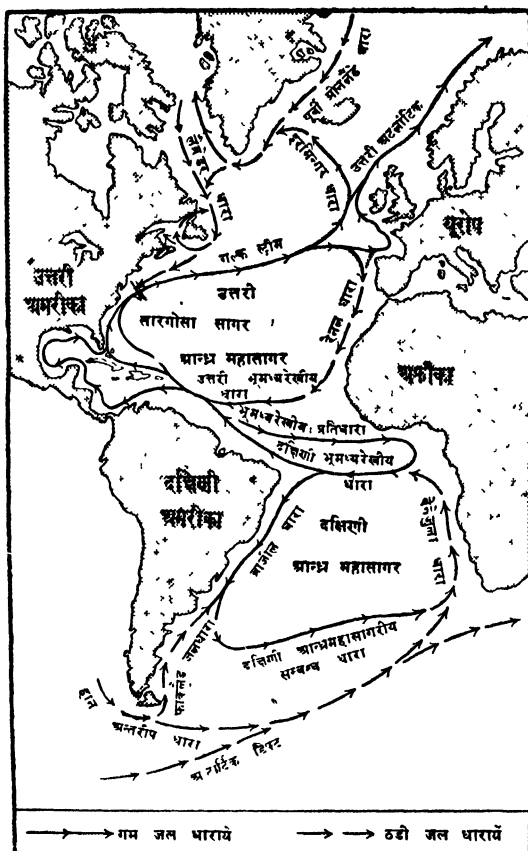
आन्ध्रमहासागर की धाराएँ—आन्ध्र महासागर के भूमध्यरेखीय प्रदेश में दो सबसे महत्वपूर्ण धाराएँ—उत्तरी भूमध्यरेखा धारा और दक्षिणी भूमध्यरेखा धारा हैं। ये धाराएँ व्यापारिक हवाओं द्वारा उत्पन्न होती हैं और दक्षिणी धारा दक्षिणी अमेरिका के महाद्वीप से दो भागों में बंट जाती है। पश्चिमी द्वीप समूह के समीप उत्तरी जलधारा के भी दो भाग हो जाते हैं। इसकी उत्तरी शाखा बहामास जलधारा कहलाती है और दूसरी शाखा को कैरीबियन जलधारा कहते हैं।

दक्षिणी आन्ध्र महासागर में ब्राजील के तट के समीप से गर्म ब्राजील जलधारा प्रवाहित होती है। यह जलधारा 40° दक्षिणी अक्षांश के बाद पूर्व की ओर बहने लगती है और तब इसे दक्षिणी आन्ध्रमहासागरीय धारा कहते हैं। अफ्रीका के पश्चिमी तट के पास से ठंडी बेंनेजुला धारा प्रवाहित होती है। आगे बढ़कर यह धारा दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा से मिल जाती है।

परन्तु उत्तरी आन्ध्र महासागर की धाराएँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। सबसे महत्वपूर्ण दो जलधाराएँ गर्म गल्फ स्ट्रीम तथा ठंडी लैब्रेडर धारा हैं।

गल्फ स्ट्रीम आन्ध्र महासागर की सबसे महत्वपूर्ण धारा है और मेक्सिको की खाड़ी से निकलती है। इस खाड़ी में उत्तरी भूमध्यरेखीय जलधारा की कैरीबियन शाखा का जल इकट्ठा हो जाता है। जल का यह एकत्रीकरण मिसौरी-मिसी-सीपी नदियों के जल द्वारा और भी बढ़ जाता है। इकट्ठा हुआ यह पानी फ्लोरीडा के जलडमरूमध्य से बाहर को निकलता है और जब यह खाड़ी से बाहर निकलती है तो यह केवल आधा मील गहरी तथा ३० मील चौड़ी रहती है। उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा का $\frac{1}{3}$ अंश जल इसी में रहता है और उसकी कुल गति ३ से ५ मील

प्रति घंटा है। इसकी सतह का तापक्रम 20° फा० रहता है। जब यह आन्ध्र महासागर के बीच में पहुँचती है तो यह चौड़ी हो जाती है। चौड़ी होने पर यह उथली तथा ठंडी हो जाती है। इसकी गति भी एक मील प्रति घंटा हो जाती है और इसे उत्तरी आन्ध्र महासागरीय ड्रिफ्ट कहते हैं। 40° उत्तरी अक्षांश के समीप उसकी दो शाखायें हो जाती हैं। एक शाखा तो उत्तर की तरफ चली जाती है और ब्रिटिश द्वीप समूह का चक्कर काट कर यह नार्वे के तट के पास से गुजरती है और अन्त में आर्कटिक सागर पर पहुँचकर समाप्त हो जाती है। दूसरी शाखा पूर्व की तरफ जाकर स्पेन पहुँचती है जहाँ यह दो भागों में विभाजित हो जाती है—एक भाग दक्षिण की ओर मुड़ जाता है और इसे कैनरीज धारा कहते हैं। इसका दूसरा भाग पश्चिमी यूरोप के पास से गुजरता है और आगे जाकर उत्तरी आन्ध्र महासागरीय ड्रिफ्ट से मिल जाता है।



चित्र १६४—आन्ध्र महासागर की जलधारायें

गल्फ स्ट्रीम धारा का जल इतना गर्म होता है कि इसका प्रभाव आर्कटिक महासागर तक में दिखलाई पड़ता है। जहाँ से होकर यह गुजरती है उन ठण्डे प्रदेशों के तापक्रम को भी यह प्रभावित करती है। इसके प्रवाह के सागरों का जल कभी नहीं जमता। इसके ऊपर से गुजरने वाली हवायें गर्म हो जाती हैं और उसमें नमी को मात्रा भी बढ़ जाती है। फलतः जब ये हवायें महाद्वीपों पर पहुँचती हैं तो काफी वर्षा होती है। ब्रिटिश द्वीपसमूह तथा पश्चिमी यूरोप को इस गर्म जलधारा से सबसे अधिक लाभ होता है। उत्तरी आन्ध्र महासागरीय ड्रिफ्ट से तो इसे प्रत्यक्ष लाभ होता है और इस पर से गुजर कर जो पछुवाँ हवायें पश्चिमी यूरोप पहुँचती हैं उनसे इस प्रदेश को अप्रत्यक्ष लाभ होता है।

लैब्रेडर धारा, गल्फ स्ट्रीम की पूरक है। ग्रीनलैंड के दक्षिण से होकर

बहती है और लंब्रेडर स्थल पिण्ड के किनारे से होकर गुजरती है। बेफिन खाड़ी और डेविस जलडमरूमध्य से होकर यह उत्तरी अमेरिका के पूर्वी किनारे से होकर गुजरती है और तापक्रम को काफी कम कर देती है।

न्यूफाउण्डलैण्ड के दक्षिण में पहुँच कर यह दो शाखाओं में बंट जाती है—छोटी शाखा, कोबट धारा सेंटलारेन्स नदी में प्रवेश कर जाती है और जलडमरूमध्य धारा दक्षिण पश्चिम की ओर मुड़ कर मुख्य धारा से मिल जाती है। लंब्रेडर धारा हैटरास अन्तरीप तक बहती है और अपने मार्ग के अधिकांश भाग में यह जल के नीचे-नीचे ही प्रवाहित होती है।

लंब्रेडर धारा में आर्कटिक सागर का बहुत अधिक जल सम्मिलित रहता है और इसलिए जब वह गल्फ स्ट्रीम के गर्म जल से मिलती है तो न्यूफाउण्डलैण्ड के समीप बहुत अधिक कुहरा उत्पन्न हो जाता है जो कि जहाजों के लिए बड़ा ही हानिकर होता है। साथ में बहुत से हिमखण्ड (Icebergs) भी बहते हुए चले आते हैं। हिम के इन तैरते हुए शैलों से टकराकर बहुत से जहाज नष्ट हो जाते हैं। जहाज संचालन के लिए बाधक होने के कारण न्यूयार्क के समीप इसे “शीतल दीवार” कहते हैं।

प्रशान्त महासागर की धाराएँ अपनी व्यवस्था तथा क्रम में आन्ध्रमहासागर की धाराओं से मिलती हैं। केवल अन्तर इतना है कि स्थलखण्डों की प्राकृतिक बनावट के कारण उनकी दिशा में कुछ परिवर्तन हो गया है।

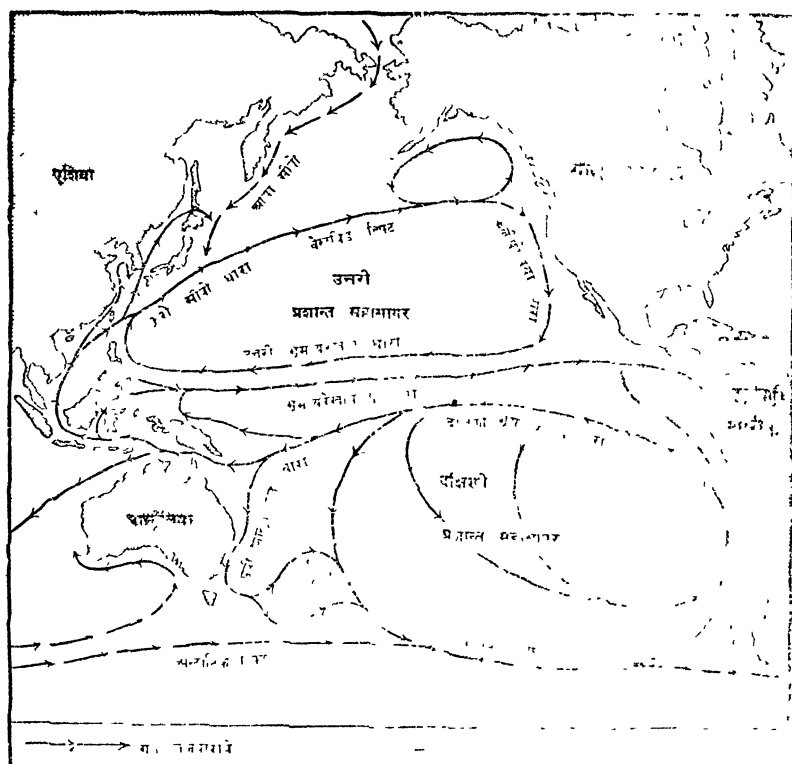
भूमध्य रेखीय प्रदेश में उत्तरी भूमध्यरेखीय धारा और दक्षिण भूमध्यरेखीय धारा बहती रहती हैं। उत्तरी धारा पश्चिम की तरफ फिलीपाइन द्वीप समूह की ओर जाती है और वहाँ से यह उत्तर की तरफ मुड़ कर जापानी द्वीपों के साथ-साथ बहती है। यहाँ इसे क्यूरो सीवो धारा कहते हैं। जापान पर इस गर्म जलधारा का वही प्रभाव पड़ता है जो पश्चिमी यूरोप पर गल्फ स्ट्रीम का। पछुवाँ हवाओं के प्रभावसे क्यूरोसीवो की एक शाखा ब्रिटिश कोलम्बिया के तट पर पहुँचती है। वहाँ इसे वेस्ट विड ड्रिफ्ट कहते हैं। जब यह शाखा कैलीफोर्निया के पास से गुजरती है तो इसे कैलीफोर्निया धारा कहते हैं।

इसकी पूरक ठंडी क्यूराइल जलधारा है जो उत्पत्ति तथा प्रभाव दोनों ही दृष्टिकोण से लंब्रेडर जलधारा से मिलती है।

दक्षिणी प्रशान्त महासागर में दक्षिणी भूमध्यरेखीय धारा से कई स्थानों पर शाखा निकलने के बाद मुख्य जलधारा आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर पहुँचती है जहाँ इसे पूर्वी आस्ट्रेलियन धारा कहते हैं। प्रशान्त महासागर के तट पर ठंडी पीरूवियन या हमबोल्ट धारा बहती है। यह अर्न्तार्कटिक प्रदेश से आती है।

हिन्द महासागर की धाराएँ मानसून हवाओं में दिशा परिवर्तन के साथ-साथ अपना रुख बदलती रहती हैं। जाड़े के मौसम में मानसून हवाएँ उत्तरपूर्व से चलती होती हैं और इसलिए हिन्दुस्तान की तटरेखा के साथ-साथ प्रवाहित जलधारा पश्चिम की तरफ मुड़ जाती है और इसे उत्तरी पूर्वी मानसून ड्रिफ्ट कहते हैं। पूर्वी अफ्रीका तट के साथ-साथ उसकी एक शाखा दक्षिण की ओर मुड़ जाती है और फिर पश्चिम की ओर चलती है। इसे भारतीय प्रतिधारा कहते हैं।

गर्मी में मानसून ड्रिफ्ट भारत की तटरेखा के साथ-साथ पूर्व की ओर प्रवाहित होती है। इसे दक्षिणी पश्चिमी मानसून ड्रिफ्ट कहते हैं। यह सिंगापुर जलडमरूमध्य में प्रवेश नहीं करती बल्कि एक घुमाव के बाद मुख्य भूमध्यरेखीय धारा से मिल जाती है।

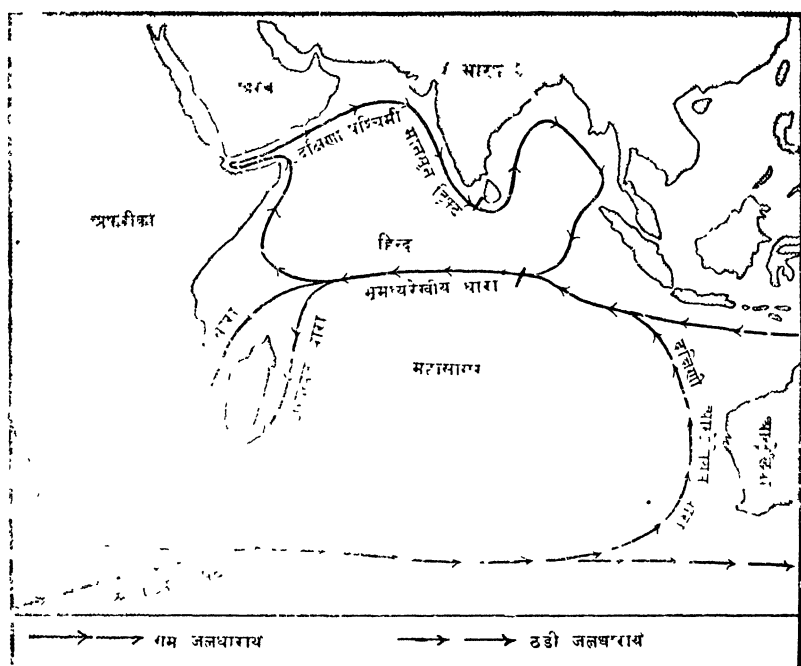


चित्र १६५—प्रधान महासागर की जलधाराएँ

दक्षिणी हिन्द महासागर की धाराएँ साल भर बराबर एक समान बनी रहती हैं। उनकी दिशा पर मानसून हवाओं का बिल्कुल भी प्रभाव नहीं पड़ता। दक्षिणी पूर्वी व्यापारिक हवाओं से भूमध्यरेखीय धारा उत्पन्न होती है और यह अर्द्धवृत्त में होकर गुजरती है। इसकी पूर्वी शाखा आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट पर से गुजरती है और उसे पश्चिमी आस्ट्रेलियन धारा कहते हैं। इसकी पश्चिमी शाखा दो भागों में बंट जाती है—मोजम्बिक धारा जो कि पूर्वी अफ्रीका के तट से गुजरती है और मैडागास्कर धारा जो मैडागास्कर द्वीप के चारों ओर चक्कर काट कर मोजम्बिक धारा से मिल जाती है। तत्पश्चात् यह दक्षिणी अफ्रीका के पूर्वी तट से गुजरती है जहाँ इसे अगुलहास धारा कहते हैं।

ज्वारभाटा—समुद्र जल के व्यवस्थित समयानुकूल उतार-चढ़ाव को ज्वार-भाटा कहते हैं। इनके कारण नदियों के खुले मुहाने या समुद्र में उच्च व निम्न जल

के कुछ विशिष्टकाल होते हैं। जल के उतार को भाटा (Ebb tide) कहते हैं और जल के चढ़ने को ज्वार (High tide) कहते हैं। साधारणतः यह देखा जाता है कि



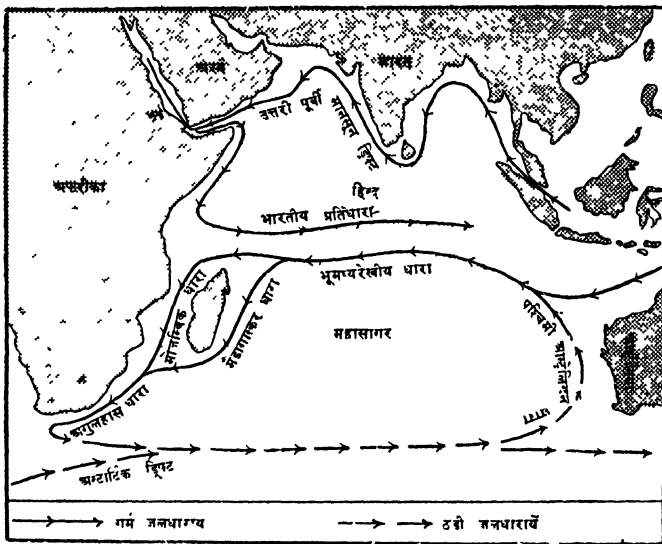
चित्र १६६—हिन्द महासागर की जलधाराये (गर्मी के मौसम में)

ज्वार का चढ़ाव तथा भाटे का उतार प्रति ६१ घंटे के बाद होता है। इस प्रकार दो ज्वार तथा दो भाटे के बीच का समयान्तर १२ घंटे २६ मिनट होता है।

सच तो यह है कि ज्वारभाटा सूर्य व चन्द्रमा के गुरुत्वाकर्षण से उत्पन्न होता है। ज्वारभाटे की उत्पत्ति में चन्द्रमा का स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होता है। वास्तव में पृथ्वी का जल पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के कारण ही अपने स्थान पर टिका रहता है परन्तु सूर्य और चन्द्रमा का गुरुत्वाकर्षण इस पर अपनी प्रतिक्रिया करता है और फल यह होता है कि पृथ्वी के विरुद्ध पार्श्वों पर जल, ज्वारभाटे के रूप में इकट्ठा हो जाता है।

चन्द्रमा के आकर्षण से ज्वारभाटा उत्पन्न होता है। यद्यपि चन्द्रमा सूर्य की अपेक्षा बहुत छोटा है परन्तु यह पृथ्वी से अधिक समीप है। इसी कारण इसका आकर्षण पृथ्वी पर सूर्य की अपेक्षा २१ गुना अधिक रहता है। चन्द्रमा पृथ्वी के सभी भागों को आकर्षित करता है परन्तु इसका प्रभाव सबसे अधिक जल पर पड़ता है क्योंकि थल की अपेक्षा जल असंयुक्त रहता है। इस दिशा में ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि चन्द्रमा की आकर्षण शक्ति के कारण दो ज्वार उत्पन्न होते हैं—एक तो बिल्कुल उसके सामने और दूसरा अप्रत्यक्ष रूप से उसकी विपरीत दिशा में।

१. ५५ से उत्पन्न ज्वार चन्द्रमा के ठीक नीचे या सामने वाले भाग में होता है। परन्तु इस स्थान के बिल्कुल विपरीत चन्द्रमा के आकर्षण के फलस्वरूप ही पृथ्वी का



चित्र १६७—हिन्द महासागर की जलधाराये (जाड़े के मौसम में)

धरातल जल से दूर खिंच जाता है। फल यह होता है कि जल एक टीले के रूप में इकट्ठा होने लगता है और अप्रत्यक्ष रूप से एक दूसरा ज्वार उत्पन्न हो जाता है।

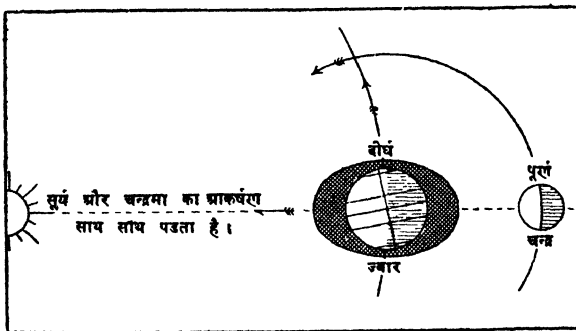
पृथ्वी के आवर्तन के कारण पृथ्वी का प्रत्येक भाग एक समय चन्द्रमा के सामने आता है और दूसरी बार इससे विपरीत दिशा में चला जाता है। इसलिए दिन-रात में या २४ घंटे में प्रत्येक स्थान पर दो ज्वार आते हैं परन्तु उनके बीच का समयान्तर ठीक १२ घंटे से २६ मिनट अधिक होता है। इस अन्तर का कारण यह है कि चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर एक चक्कर २८ दिन में पूरा कर पाता है।

जबकि चन्द्रमा के सामने तथा उससे बिल्कुल विपरीत दिशा में स्थित स्थानों पर ज्वार आते हैं तो इन दोनों के बीच वाले स्थानों पर भाटा आता है—जल का उतार होता है। जब ज्वार के लिए जल दौड़ कर चढ़ता है तो उनके बीच में स्थित स्थान पर जल का उतार होने लगता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्वार के स्थानों के बीच में स्थित स्थानों पर भाटा आता है।

ज्वार भाटे से बहुधा शक्तिशाली धारायें बन जाती हैं जो नदियों की इस्चुरी तथा खुले मुहानों में प्रवेश कर जाती हैं। नदियों के मुहाने पर नदी की धारा और ज्वारीय धारा के बीच संघर्ष होता है। कभी-कभी इन ज्वारीय धाराओं का जहाजों के लिए बड़ा ही महत्व होता है। जहाज ज्वार के साथ अन्दर आ सकते हैं और भाटे के साथ वापस हो सकते हैं। इसके विपरीत संकरी नालियों में ज्वारीय धारायें बड़ी ही तेज तथा भयानक हो जाती हैं। फल यह होता है कि जल भंवर तथा जल-चन्द्र बन जाते हैं। इस प्रकार की ज्वारीय धारा को रेस (Race) कहते हैं।

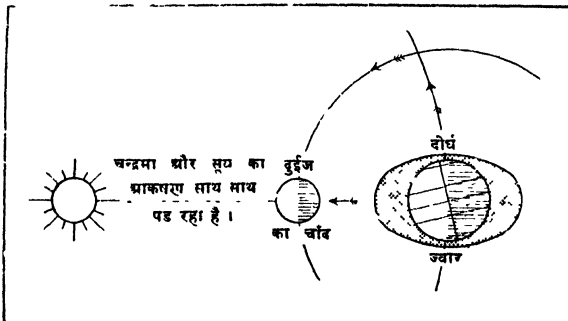
आरकनी द्वीप समूह और उत्तरी स्कॉटलैण्ड के बीच पेण्टलैण्ड रेस नामक ज्वारीय धारा १० मील प्रति घण्टे की चाल से चलती है। डोवर जलडमरूमध्य में आर-पार तैराकों को ज्वारीय धाराओं से बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

दीर्घ और लघु ज्वार विशेष रूप से अधिक ऊँचे तथा नीचे ज्वार होते हैं जो कि विशेष समय पर होते हैं क्योंकि उस समय सूर्य की आकर्षणशक्ति भी चन्द्रमा के साथ-साथ कार्य करने लगती है। पूर्णमासी और बुईज के दिन सूर्य, पृथ्वी और चन्द्रमा एक सीधी रेखा में होते हैं। फलतः चन्द्रमा के आकर्षण के साथ-साथ सूर्य का भी आकर्षण पृथ्वी पर कारगर होता है और अत्यधिक ऊँचे ज्वार उठते हैं। इन्हें दीर्घ ज्वार (Springtide) कहते हैं। जंसा नाम से ही स्पष्ट है पानी बहुत ऊँचा उठता है और यह माह में दो बार होता है।



चित्र १६८—पूर्णमासी के दिन दीर्घ ज्वार

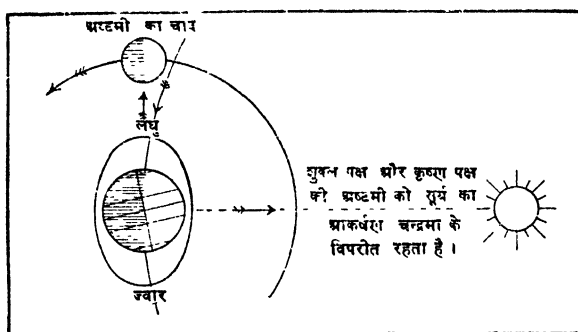
इसके विपरीत, शुक्ल और कृष्ण पक्ष की अष्टमी के दिन सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति एक दूसरे पर लम्बाकार या लम्बरूप होती है। पृथ्वी पर ये समकोण बनाते हैं। फल यह होता है कि सूर्य का आकर्षण चन्द्रमा के आकर्षण को कम कर देता है और उसके नीचे से थोड़ा-सा जल अपनी ओर खींच लेता है। अतः जो ज्वार



चित्र १६९—दुईज के दिन दीर्घ ज्वार

उठता है वह साधारण ऊँचाई से कम ही रह जाता है। सूर्य के आकर्षण के कारण इसकी साधारण ऊँचाई दब जाती है और इसे लघु ज्वार (Neap tide) कहते हैं।

ज्वारभाटे की उत्पत्ति के सिद्धान्त—ज्वारभाटा बनने तथा पृथ्वी के चारों ओर उनके परिभ्रमण के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं—(१) प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त (Progressive Wave Theory) (२) स्थायी तरंग सिद्धान्त (Stationary Wave Theory)।



चित्र १७०—लघु ज्वार

(१) प्रगतिशील तरंग सिद्धान्त के अनुसार दक्षिणी महासागर में दो ज्वारीय लहरें उत्पन्न हो जाती हैं। इस महासागर में देशान्तर रेखाओं के १८६ अंशों के बीच स्थलखंड की कोई भी रुकावट नहीं है। इसी कारण वहाँ चन्द्रमा का आकर्षण सब से अधिक होता है और ये लहरे चन्द्रमा के साथ-साथ चलने लगती हैं। जब ये चलती-चलती गुड़ होप अन्तरीप पर पहुँचती हैं तो एक गौण धारा उत्पन्न हो जाती है और यह गौण धारा आन्ध्र महासागर के तट के साथ-साथ आगे बढ़ती है।

इस सिद्धान्त के अनुसार यही धारायें ज्वार भाटे को अपनी प्रगति के साथ-साथ संसार के विभिन्न भागों तक ले जाती हैं।

(२) स्थायी तरंग सिद्धान्त के प्रमुख प्रवर्तक हैगिस नामक विद्वान हैं। उनका विचार है कि ज्वारीय लहर स्थायी होती है और इनकी खोज का आधार तालाब में पानी की दशा है। यदि तालाब को जरा-सा टेढ़ा कर दिया जाय तो जल हिलने-डुलने लगेगा और सीमान्त की मध्यवर्ती धुरी के चारों तरफ घूमने लगेगा। कुछ इसी प्रकार की क्रिया खुले समुद्र में भी होती है जब चन्द्रमा जल को पृथ्वी के एक ओर खींच लेता है। विभिन्न स्थानों में हिलना-डुलना स्थायी लहर की गति मात्र है और यह उसी समय होता है जब ज्वार-भाटा उत्पन्न करने वाला चन्द्रमा का आकर्षण कारगर रहता है।

वास्तविक प्रयोग द्वारा यह देखा गया है कि आन्ध्र महासागर का ज्वार-भाटा एक स्थायी लहर द्वारा उत्पन्न होता है और यह लहर उत्तर से दक्षिण की ओर हिलती रहती है। परन्तु एक बात का प्रमाण प्रयोग द्वारा नहीं प्राप्त हो सका है। वह है ज्वारहीन काल के बारे में। कुछ स्थानों पर ज्वार-भाटा आता ही नहीं। इन बिन्दुओं से ही वे रेखायें खींची जाती हैं जो उन स्थलों को मिलाती हैं जहाँ एक ही समय पर ज्वार आता है।

ज्वारीय लहर—ज्वार और भाटे से ज्वारीय लहर बनती है। इस ज्वारीय

लहर का ऊर्ध्व भाग तो ज्वार होता है और भाटा इसका गतं होता है । ज्वार और भाटे के जल की ऊँचाई के अन्तर से ही ज्वारीय लहर की लम्बाई पता चलती है । वैसे तो इसकी लम्बाई को सम्पूर्ण संसार की आधी परिधि के बराबर कह सकते हैं परन्तु स्थल भागों की प्राकृतिक रूपरेखा के कारण यह लहर तटरेखा के साथ-साथ ही चलती है और उसी के प्रभाव से इसमें अनेक विशेषतायें उत्पन्न हो जाती हैं । इस प्रकार की रुकावट के कारण ज्वारीय लहर अक्सर कई भागों में बंट जाती है और फिर मिल जाती है ।

खुले समुद्र में ज्वार और भाटे या जल के उतार-चढ़ाव के बीच का अन्तर केवल कुछ ही फीट होता है । इसी लिए ज्वारीय लहर की ऊँचाई खुले सागर में ५-१० फीट से कदाचित् ही अधिक होती है । भूमध्य-सागर और बाल्टिक जैसे घिरे हुए समुद्रों में इनकी ऊँचाई और भी कम होती है—केवल दो फीट । झीलों में ज्वारीय लहर की ऊँचाई केवल कुछ ही इंच होती है ।

खुले महासागर में ज्वारीय लहर की चाल कई सौ मील प्रति घण्टा होती है । परन्तु जैसे ही यह लहर उथले जल प्रदेश में प्रवेश करती है, महाद्वीपीय सागर के साथ रगड़ के कारण इसकी चाल तो कम हो ही जाती है, साथ-साथ यह मुड़ भी जाती है । इसका अप्रभाग मुड़कर ढालू हो जाता है और ऊर्ध्व भाग ऊपर से गिरने लगता है । जल एक विस्तृत दीवार के रूप में खड़ा हो जाता है जो कि १०-२०-५० फीट तक चलती जाती है । यह स्थिति उम समय और भी प्रखर हो जाती है जब ज्वारीय लहर किसी संकरी उथली नाली में प्रवेश करती है । ब्रिस्टल में इसकी ऊँचाई ४२ फीट तक होती है । कनाडा में फन्डी की खाड़ी में ज्वारीय लहर का जल ७० फीट तक ऊँची दीवार के रूप में उठ जाता है ।

जब यह एकत्रित जल किसी नदी के खुले मुहाने में आगे की बढ़ता है तो ऐसा मालूम पड़ता है जैसे कि कोई दीवार आगे बढ़ती चली आ रही हो । इसको एगर (Ager) या नदी जलभित्त (Tidal Bore) कहते हैं । यह उन नदियों में विशेष रूप से दिखलाई पड़ता है जिनका खूला मुहाना कुप्पी की तरह होता है । इस जलभित्त से बहुत-सा झाग उठता रहता है और इससे बहुत हानि होती है । इनकी सबसे अधिक ऊँचाई यांगत्सिक्वॉंग में रहती है जहाँ नदी जल भित्त की ऊँचाई १२ फीट है । अमेजन नदी में इसकी प्रगति की चाल २५ मील प्रति घण्टा होती है । गंगा, सेवर्न, ट्रेन्ट तथा सालवे नदियों में भी ये जल भित्त दिखलाई पड़ती है ।

ये ज्वारीय लहरे साधारण हवा द्वारा उत्पन्न लहरों से भिन्न होती हैं । इनकी उत्पत्ति, क्षेत्र, विस्तार तथा चाल सब कुछ भिन्न होती है । साधारण लहरे हवा के द्वारा घर्षण से उत्पन्न होती हैं और इनके द्वारा केवल समुद्र की सतह ही प्रभावित होती है । इनकी सबसे अधिक ऊँचाई खुले समुद्र में होती है और इनकी सब से अधिक लम्बाई आधा मील से अधिक नहीं होती । इसके विपरीत, ज्वारीय लहरे सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षण से उठती हैं और सम्पूर्ण महासागर को प्रभावित करती हैं । उर्ध्व-भागों के बीच इनकी लम्बाई ६००० मील तक होती है । इनकी सब से अधिक ऊँचाई वहाँ होती है जहाँ स्थलखंड द्वारा बाधा पड़ती है और खुले समुद्र में उनकी गति

७०० मील प्रति घण्टा तक होती है। इसके अलावा उनकी प्रगति सदैव एक-सी तथा व्यवस्थित होती है।

ज्वारभाटे का महत्व—ये मनुष्य के लिए अत्यधिक महत्व के हैं। बहुत से उथले सागरों में जहाज पोताश्रय तक केवल उसी समय पहुँच पाते हैं जब ज्वार के समय पानी चढ़ा हुआ है। कुछ पोताश्रयों में तलहटियों या पात्रों को बना दिया गया है ताकि ज्वार का पानी उनमें आकर रुक जाए। इन ज्वारीय पात्रों में ज्वार का पानी इकट्ठा कर लिया जाता है ताकि भाटे या उतार के समय जल की कमी न हो। इस प्रकार की व्यवस्था का सबसे अच्छा उदाहरण लन्दन पोताश्रय है। इसके विपरीत, लिवरपुल और कलकत्ता में जहाज ज्वार के साथ तो आते हैं और भाटे के साथ बाहर चले जाते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था में बड़ी देर होती है परन्तु इस से जहाज बहुत काफी कोयले की बचत कर लेते हैं।

ज्वारभाटे से पोताश्रय में गन्दगी नहीं इकट्ठी होने पाती। बहुत-सी नदियाँ अपने साथ कूड़ा-करकट तलछट आदि बहा कर लाती हैं। इससे नदी का मुहाना और पोताश्रय धिर जाता है। ज्वार का पानी इस सामग्री को खुले सागर में बहा ले जाता है और भाटे के कारण पोताश्रय में तलछट जमा नहीं हो पाता।

ज्वारभाटे से जलविद्युत उत्पन्न करने की भी सम्भावना है। ज्वारभाटे में बहुत अधिक शक्ति सन्निहित है जिसे भविष्य में उपभोग किया जा सकेगा। *

महासागरीय ड्रिफ्ट (प्रवाह) सतह जल की अवश्य गति है। यह मोकों के साथ चलती है परन्तु इनकी गति बहुत धीमी होती है। धाराओं की तरह ड्रिफ्ट या प्रवाह चौड़ी तथा उथली होती है। घनत्व, खारीपन, तापक्रम तथा दबाव में विभिन्नता के कारण यह उत्पन्न होती है। इनके द्वारा घनत्व तथा खारीपन की विभिन्नता तथा अन्तर दूर हो जाता है। सबसे महत्वपूर्ण तो आर्न्टार्किक ड्रिफ्ट है। बहुत-सी जलधाराएँ चौड़ी तथा उथली होने पर ड्रिफ्ट बन जाती हैं। उत्तरी आन्ध्र महासागरीय ड्रिफ्ट और वेस्ट विड ड्रिफ्ट इसी प्रकार के उदाहरण हैं जो क्रमशः आन्ध्र और प्रशान्त महासागर में मिलते हैं।

महासागरीय क्रीप या सरकाव सतह जल की गति नहीं है। यह जल के नीचे की धारा है जो शीतल तथा भारी जल के नीचे की तरफ बँठने से उत्पन्न हो जाती है। ठंडा पड़ने पर जल सिकुड़ता है और इसका घनत्व बढ़ जाता है। इसलिए ध्रुवों का ठंडा जल धीमे सरकाव के रूप में जल के नीचे-नीचे भूमध्यरेखा की ओर चलने लगता है। इस पर की महासागरीय जल निमग्न धाराएँ क्रीप या सरकाव कहलाती हैं और ड्रिफ्ट की तरह घनत्व तथा तापक्रम को सम करती हैं।

झीलें और दलदल

झीलें और दलदल थल से घिरे हुए जल के वे रूप हैं जो मनुष्य और प्रकृति के जीवन में बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं ।

दलदल—जब किसी स्थान पर सतह का जलप्रवाह इतना अपर्याप्त होता है कि जल न तो बह ही पाता है और न जमीन के अन्दर ही धंस पाता है तो समस्त क्षेत्र नम या तर हो जाता है और जमीन संतृप्त हो उठती है । इनका निम्नलिखित में से कोई भी एक कारण हो सकता है—

(१) भूमि इतनी समतल हो कि पानी का बहाव किसी प्रकार भी सम्भव न हो ।

(२) प्रदेश की जलरेखा स्थायी हो और भूमि संतृप्त हो ।

(३) भूमि की प्रकृति अप्रवेद्य हो जिससे कि जल अन्दर न धंस सके ।

परन्तु साधारणतया यह देखा जाता है कि दलदल कदाचित् ही उपर्युक्त किसी एक कारण से बनते हैं । उनकी उत्पत्ति एक से अधिक कारणों के फलस्वरूप होती है । इसके अलावा दलदल वहाँ भी बन जाते हैं जहाँ नदी या हिमनदी निक्षेप से जल-प्रवाह उलट-पलट जाता है । इसलिए दलदल नए निचले तटीय मैदानों में, बाढ़ के मैदानों में, नदियों के डेल्टा में तथा हिम प्रवाहित घाटियों में पाए जाते हैं ।

यद्यपि शुष्क प्रदेशों में साधारणतया दलदल नहीं पाए जाते परन्तु वाष्पी भवन द्वारा झील के पानी के सूख जाने पर दलदली प्रदेश बन सकते हैं । इस प्रकार के रेगिस्तानी दलदलों को क्षारमय क्षेत्र (Alkaliflats) और सेलाइन (Saline) कहते हैं । ये या तो अस्थायी नदियों के मार्ग में पाये जाते हैं या प्लाया (Playa) और नमकीन झीलों के स्थान पर ।

शीत उत्तरी प्रदेशों तथा पर्वतीय प्रदेशों के ढालों पर एक विशेष प्रकार के दलदल मिलते हैं । इनको पंक भूमि, बोग या मस्केग कहते हैं । जल से ओत-प्रोत इन क्षेत्रों में काई तथा एक विशेष प्रकार की वनस्पति पाई जाती है । इस सड़ती हुई वनस्पति के कारण इसकी सतह चटनी की तरह हो जाती है और जब कोई उन पर चलता है तो उनका धरातल हिलने लगता है । इनको कांपने वाली पंक भूमि (Quaking Bogs) कहते हैं ।

इसी प्रकार के दलदल जब पहाड़ियों के ढाल पर पाये जाते हैं तो उन्हें चढ़ते हुये (Climbing bogs) दलदल कहते हैं । कभी-कभी ऐसा होता है कि इस

प्रकार की पंक भूमियाँ नीचे की फिसल पड़ती हैं । तब इन्हें फटने वाले दलदल कहते हैं ।

कोयले की रचना के दृष्टिकोण से इन दलदलों का विशेष महत्व है और यह नितान्त सत्य है कि वर्तमान कोयला भंडार कार्बोनिफेरस युग में इसी प्रकार के दलदलों में बना ।

झीले—वे आन्तरिक जलाशय हैं जो विभिन्न आकार-विस्तार की चट्टानी तल-हट्टियों में बन जाते हैं । झीलों का अस्तित्व या स्थायित्व उस प्रदेश के संतृप्त तल पर निर्भर रहता है जहाँ जल भर गया है और झीले बन गई हैं । यदि प्रदेश का संतृप्त तल धरातल पर नहीं है तो झीलों का जल भाप बन कर या जमीन में धंस कर नष्ट हो जायेगा । इसी कारण शुष्क प्रदेशों में गलाया और नमकीन झीलें शीघ्र ही सूख कर क्षारमय क्षेत्र या सेलाइन में परिणत हो जाती हैं । इसके अलावा झीलों की गहराई या उथलापन जल की प्राप्ति और तलहटी की बनावट पर निर्भर रहती है । यदि जल की प्राप्ति इतनी अधिक है कि अतिरिक्त जल तलहटी में नहीं समा सकता तो उसका कहीं-न-कहीं से निकास हो जायेगा और झीलें नदी का उद्गम बन जायेगी । इस प्रकार की झीलों का जल मीठा और ताजा होता है । इसके विपरीत जिन झीलों के जल का निकास नहीं होता उनका जल खारी हो जाता है क्योंकि आने वाली धाराये अपने साथ नमक लाती हैं जो कि पानी के भाप बन जाने या जमीन के भीतर धस जाने से वहीं पड़ा रह जाता है ।

इसलिए झीलों के अस्तित्व के लिए निम्नलिखित दशाओं का होना जरूरी है—(१) जल भरने के लिए चट्टानी तलहटी (२) धरातल पर ही संतृप्त जल का होना ताकि वे स्थायी रहें (३) जल की पर्याप्त प्राप्ति ताकि उनका जल मीठा बना रहे । इस दृष्टिकोण से झीलों को धरातल के जलप्रवाह का एक रूप कहा जा सकता है जिनके द्वारा स्थल निर्माण और जलप्रवाह प्रणाली के विकास का चित्र प्रस्तुत होता है ।

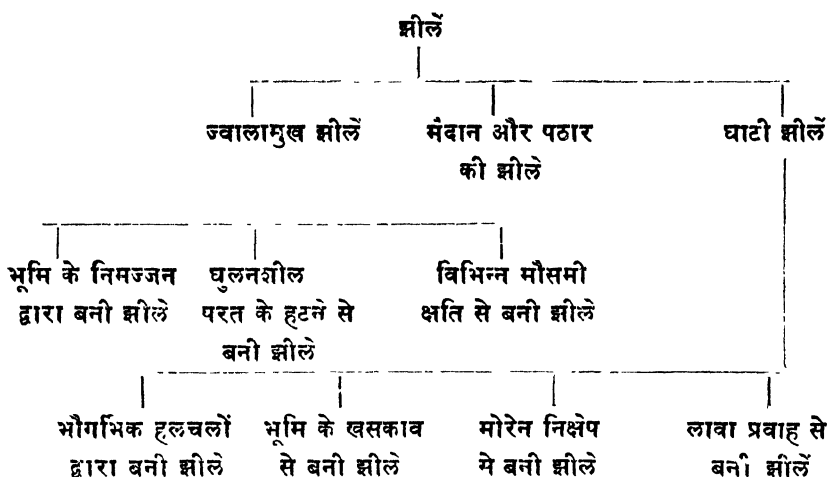
झीलो का वर्गीकरण—झीलों का वर्गीकरण कई प्रकार से किया जा सकता है । डेविम के अनुसार (१) झीले नवीन भूमि के उत्क्षेप के फलस्वरूप बनती हैं (२) नदी घाटी के सामान्य विकास में भी झीले बन जाती हैं (३) प्रकृति के इतिहास में आकस्मिक घटनाओं और हलचलों के कारण भी झीलें बन जानी हैं ।

झीलों के वर्गीकरण का दूसरा तरीका यह है कि उन्हें निर्माणकारी साधन के आधार पर अलग-अलग कर दिया जाय जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायेगा—

झीले				
भौगोलिक	ज्वालामुखी	नदी कार्य द्वारा	लहरों की	हवा की
हलचलों से विस्फोट से बनी	बनी झीलें	क्रिया द्वारा	क्रिया द्वारा	द्वारा बनी
बनी झीलें	झीलें	बनी झीलें	बनी झीलें	झीलें

झीलों के एक अन्य वर्गीकरण का आधार निर्माणकारी साधन नहीं होते बल्कि

वे स्थान होते हैं जहाँ वे बनी होती हैं। इस आधार पर झीलों के तीन मोटे-मोटे विभाग होते हैं और प्रत्येक विभाग के अनेक उपविभाग होते हैं—



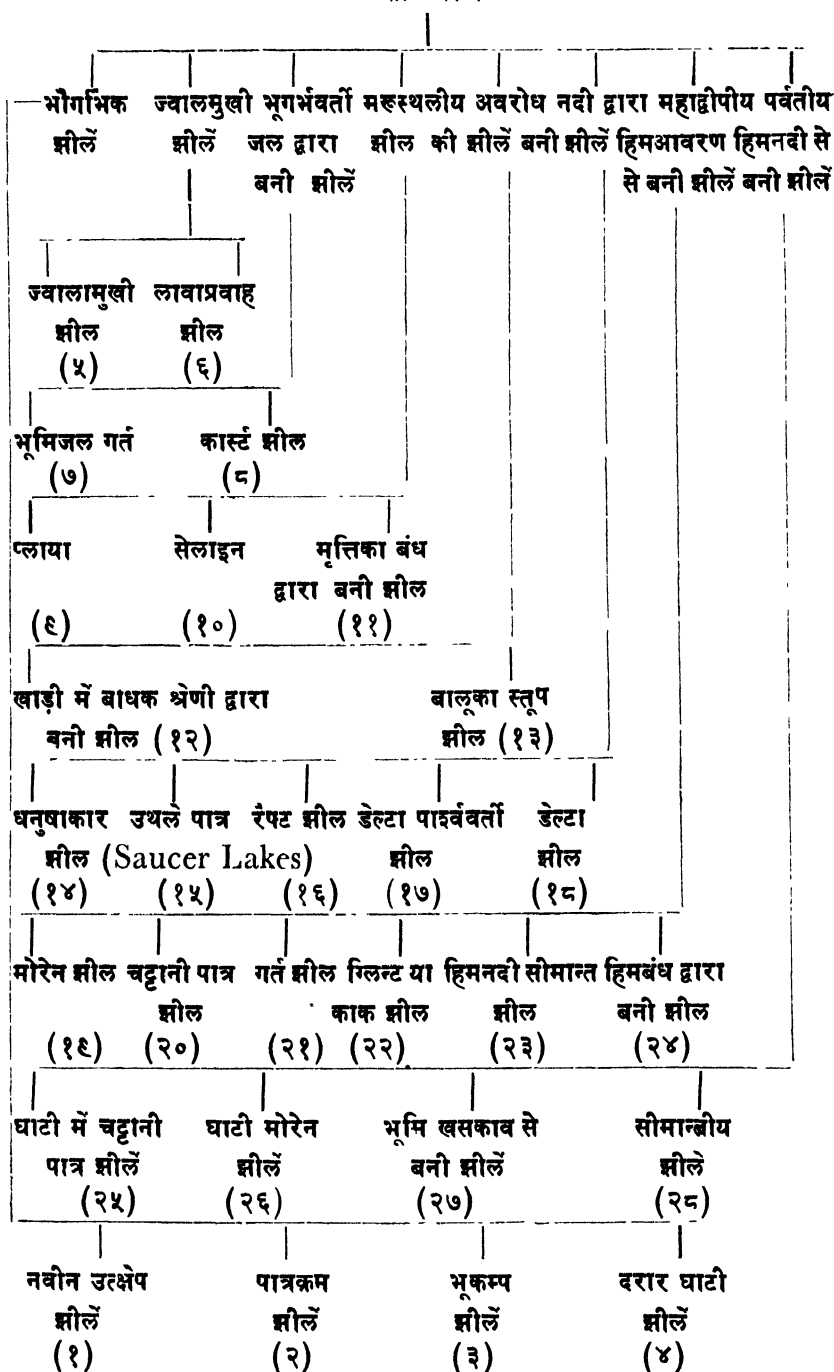
इसके अलावा झीलों को ताजे पानी की और नमकीन पानी की या खुली हुई और घिरी हुई या नदी को उद्गम प्रदान करने वाली और प्रवाहमय कह सकते हैं। उद्गम झील से कोई नदी निकलती है परन्तु प्रवाहमय झील में एक ओर से पानी आता है और दूसरी ओर से जलधारा के रूप में निकल आता है। परन्तु ये सभी वर्गीकरण सीमित हैं। सबसे विस्तृत और व्यापक वर्गीकरण हाब्स (Hobbs) द्वारा दिया गया है। हाब्स के अनुसार विभिन्न प्रकार की झीलों को २८ वर्गों में बाँटा जा सकता है। ये २८ श्रेणियाँ या वर्ग ८ मोटेमोटे विभागों में शामिल हैं। इस वर्गीकरण का आधार उनकी रचना विधि और विशेषता हैं—हाब्स का वर्गीकरण अगले पृष्ठ की तालिका से स्पष्ट हो जायेगा।

(१) नवीन उत्पन्न झीले समुद्र की तलहटी के ऊपर उठकर जल के बाहर निकल आने से बन जाती हैं। इस प्रकार की नवीन भूमि पर धरातल की साधारण अनियमितताओं में जल भर जाने से झीले बन जाती हैं। इस प्रकार की झीले लम्बी, उथली तथा टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं। इनके किनारे बहुत नीचे होते हैं और उनका अस्तित्व बड़ा ही अस्थायी होता है। बनने के फौरन बाद उनमें घनी वनस्पति उग आती है और फलतः झील दलदल में परिणत हो जाती है। इस प्रकार की झीले पलो-रीडा के दक्षिण भाग में बहुत पाई जाती हैं।

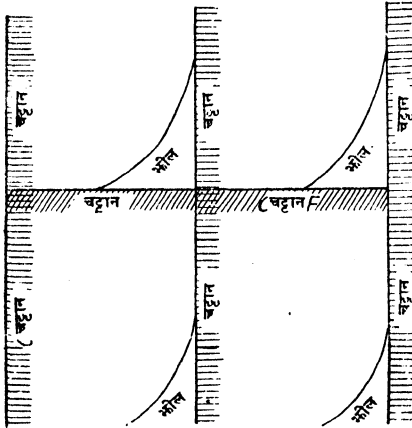
(२) पात्रक्रम झीले भूपृष्ठ पर दरार पड़ने से बन जाती हैं। दरार पड़ने या तनाव से भूपृष्ठ तड़ककर सीड़ियों के रूप में बन जाते हैं और इन पर्वतखंडों में जल भर जाने से झीले बन जाती हैं। इस प्रकार की झीले क्रम में पाई जाती हैं और टेढ़े किए हुए पात्र के समान दीखती हैं। ओरीगन की गर्म झीले इसका उदाहरण है। इनकी रूप रेखा त्रिभुजाकार होती है।

(३) भूकम्प झीले भूकम्प द्वारा बन जाती हैं। यह हलचल दो प्रकार की हो

भौलपात्र



सकती है—या तो वर्तमान जलप्रवाह इस प्रकार उलट-पलट जाये कि उसका पानी एक झील के रूप में बंध जाये या भूपृष्ठ का कुछ भाग मुड़मुड़ाकर जल पात्र के रूप में विकृत हो जाये और उसमें पानी भर जाने से झीलें बन जायें। टेनीसी घाटी में

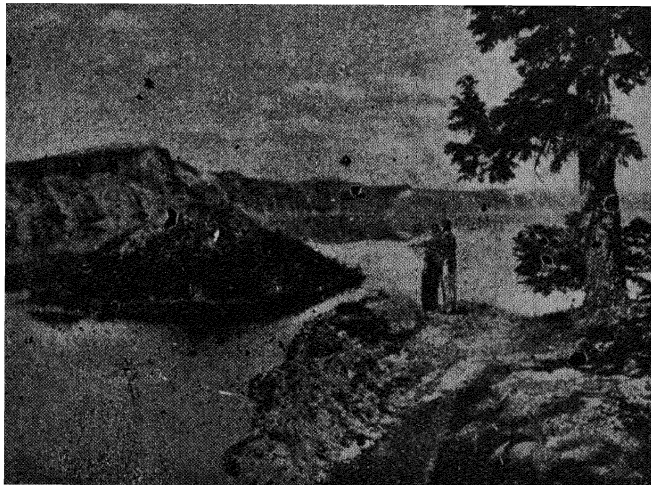


रीलफुट झील इस प्रकार का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसी प्रकार की झीलें भारत के कच्छ तथा बिहार राज्यों में भी बन गई हैं। ये झीलें या तो छोटी-छोटी तलैया जैसी हो सकती हैं या काफी चौड़ी तथा स्थायी।

चित्र १७१—पात्र क्रम झीलें।

अधिक होती है और उनके किनारे तीव्र सीधी दीवार की भांति खड़े रहते हैं। टेंगनाइका, न्यासा, रुडोल्फ आदि अफ्रीका की झीलें; इजराइल का मृतसागर इसी प्रकार की झीलें हैं। अमेरिका की ग्रेट साल्ट लेक भी इसी प्रकार के पात्र में स्थित है।

(४) दरार घाटी झीलें दो समानान्तर दरारों के बीच के भूभाग के नीचे धंस जाने से बन जाती हैं। इस प्रकार की झीलें उस समय बनती हैं जब किसी दरारघाटी में जल भर जाता है। इनका आकार लम्बा और संकरा होता है। इनकी गहराई बहुत



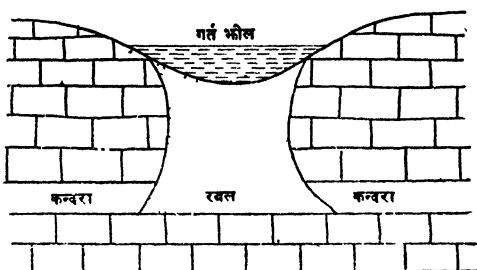
चित्र १७२—ज्वालामुख झील, आरीगन राज्य

(५) ज्वालामुख झीलें शान्त ज्वालामुखी पर्वत के मुख में जल भर जाने से बन जाती हैं। इन झीलों की रूपरेखा वृत्ताकार होती है और इनके चारों ओर लावा

की तीव्र दीवारें खड़ी रहती हैं। साधारणतया ज्वालामुख झीलें बहुत गहरी होती हैं और उनकी गहराई केन्द्र के समीप सबसे अधिक होती है। ओरीगन की ज्वालामुख झील और रोमन कैम्पगना की कैल्डरा झील इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस प्रकार की झीले फ्रांस और जर्मनी में भी पाई जाती हैं।

(६) लावाप्रवाह या कूली (Coulee) झीले भी ज्वालामुखी उद्गार से सम्बन्धित हैं परन्तु ये उस समय बनती हैं जब किसी नदी की घाटी के आर-पार लावा प्रवाह एक बांध-सा बना लेता है। फलतः नदी का प्रवाह रुक जाता है और झीले बन जाती हैं। एबोसीनिया की टाना झील इसका विशिष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार की कुछ झीले आइसलैंड में भी पाई जाती हैं। इनकी आकृति चतुर्भुज की तरह होती है परन्तु ये कभी-कभी टेढ़ी-मेढ़ी भी होती हैं।

(७) भूमि जलगर्त (Sink) झीलें चूने के पत्थर से बने प्रदेशों में पाई जाती हैं। वहाँ धरातल पर की जल-धारायें सोखने वाले गर्त से भूगर्भ में प्रवेश करके वहाँ बड़ी-बड़ी कन्दरायें बना देती हैं। जब कभी इस प्रकार की भूगर्भवर्ती कन्दरा की छत टूट जाती है तो एक पात्र या तलहटी बन जाती है। इस तलहटी का आकार हाथ धोने के बर्तन के समान होता है और इसे भूमिजल गर्त कहते हैं। यह भूमि के नीचे धंसने से बनता है। इनमें जल भर जाने से जो झीले बनती हैं उन्हें भूमिजल गर्त झील कहते हैं। बहुधा ये आकार में छोटी होती हैं।



चित्र १७२—भूमिजलगर्त झील

(८) कार्स्ट झीले मौसमी होती हैं और उस समय बन जाती हैं जब पोलजे में जल भर जाता है। यह उस समय होता है जब भूगर्भवर्ती जलप्रवाह में बहुत अधिक जल के कारण बाढ़ आ जाती है या उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार की झीले कार्स्ट मैदानों में पाई जाती हैं।

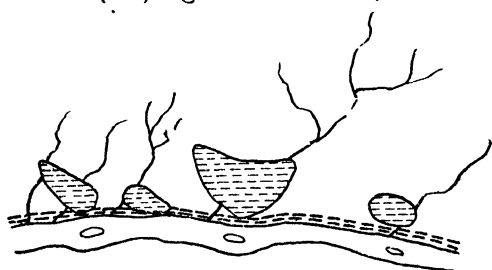
(९) प्लाय़ा झीले उन शुष्क प्रदेशों में पाई जाती हैं जो पर्वत श्रेणियों से घिरे रहते हैं। यह कड़ाई की तरह के पात्रों में जल भर जाने से बनती हैं। इस प्रकार के आन्तरिक जलप्रवाह के क्षेत्रों में वर्षा का अतिरिक्त जल बहकर अन्दर की तरफ जाता है और एक प्लाय़ा के रूप में इकट्ठा हो जाता है। इस प्रकार की झीले उथली तथा अस्थायी होती हैं। अक्सर ये दलदली हो जाती हैं और सूखने पर इनके स्थान पर क्षारमय क्षेत्र (Alkali flats) बन जाते हैं।

(१०) सैलाइन (Saline) या खारी पानी की झीले मरुस्थली प्रदेशों की विशेषता हैं। प्लाय़ा की अपेक्षा ये अधिक स्थायी होती हैं। इनमें जल प्राप्ति भी अधिक नियमित होती है परन्तु जल के लिए कोई निकास न होने के कारण इनके जल का स्वाद बड़ा ही विकट होता है।

(११) मृत्तिका बंध झीले पर्वतीय जलधाराओं के पर्वतों के आधार पर पहुँचने पर बन जाती है। जब ये नदियाँ पर्वत प्रदेश को छोड़कर मैदानों में प्रवेश करती हैं तो इनकी चाल धीमी पड़ जाती है और अपने साथ बहाकर लाई हुई सामग्री को ये मृत्तिका पंख रूप में जमा कर देती है। कभी-कभी ये मृत्तिका शंकु या पंख घाटी के मुँह को बंद कर देते हैं और जल रुक जाता है। इस प्रकार की झीले मरुस्थलों के किनारे बाले भागों में पाई जाती हैं। जब किसी मुख्य घाटी और उसकी सहायक घाटी के मिलन स्थान पर अवरोध उत्पन्न हो जाता है तो भी जल रुक जाता है और इसी प्रकार की झील बन जाती है। सच तो यह है कि जैसे तर प्रदेशों में डेल्टा पाश्चवर्ती झीले पाई जाती हैं, शुष्क प्रदेशों में मृत्तिका बंध झीलों की प्रधानता होती है।

(१२) खाड़ी बाधक श्रेणी झीले समुद्रतट पर पाई जाती हैं। लहरों और धाराओं से कंकड़ बालू-मिट्टी का निक्षेप बहुत सी बाधक श्रेणियों के रूप में हो जाता है। कभी-कभी ये बाधक श्रेणियों की आकृति थोड़ी मुड़ी हुई या अर्द्धचन्द्राकार होती है। फलतः ये खाड़ी के मुहाने को अवरुद्ध करने में सफल होते हैं। इस प्रकार के बाँध के पीछे महासागर के जल का कुछ भाग रुक जाता है और उथली अस्थायी झीले बन जाती हैं। इनको लैगून झील या साउन्ड झील भी कहते हैं। इस प्रकार की झीलों के लिए कटी-फटी तटरेखा और तटश्रेणी की सामग्री से बाधक श्रेणी के निर्माण की सुविधा आदर्श दशाये है।

(१३) बालूका स्तूप झीले भी समुद्रतट पर पाई जाती हैं जहाँ वायु तथा लहरों से बालू के टीले बन जाते हैं। ये बालूका स्तूप बहुधा नदियों के मुहानों को रोक देते हैं और टेढ़ी-मेढ़ी झीलें बन जाती हैं। कभी-कभी इस प्रकार की झीलों का सम्पर्क समुद्रजल से भी रहता है और ज्वार के समय समुद्र का जल उनमें आकर भर जाता है। फ्रांस के ब्रिस्के की खाड़ी की तरफ वाले समुद्रतट पर इस प्रकार की झीले बहुत पाई जाती हैं। [चित्र १७४]



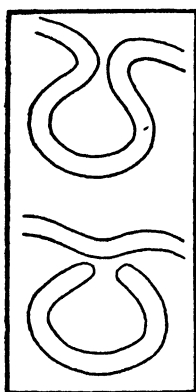
चित्र १७४—बालूका स्तूप झीले

(१४) धनुषाकार झीले बाढ़ के मैदानों में नदी के घुमावदार मार्ग से बन जाती हैं। इस प्रकार की नदियाँ बहुधा अपने किसी घुमाव के संकरे भाग में मिट्टी और तलछट का इतना अधिक निक्षेप करती हैं कि वह कटकर अलग हो जाता है और नदी उसे छोड़ कर सीधे मार्ग से बहने लगती है। ऐसा बहुधा बाढ़ के समय ही होता है। इस प्रकार की झील अर्द्ध

चन्द्राकार होती है और इनकी सामान्य रूपरेखा लम्बी होती है। चौड़ाई में संकरी होती है। इन झीलों की गहराई उन्नतोंदर किनारे के पास अधिक होती है। [चित्र १७५]

(१५) उथले जलपात्र की झीले भी नदी के बाढ़ के मैदान में ही पाई जाती हैं परन्तु वे उन्नत कगारों से बनती हैं। प्रौढ़ नदी प्रणाली में मुख्य धारा ऐसे किनारों से

बीच से होकर बहती रहती है जो आस पास के प्रदेश की अपेक्षा अधिक ऊँचे होते हैं।



चित्र १७५
धनुपाकार झील

अतः सहायक नदियों को काफी दूर तक मुख्य नदी के समानान्तर बहना पड़ता है और तब कहीं वे मुख्य धारा से मिलपाती हैं। ये सहायक धारायें भी उन्नत कगार बनाती हैं और इन दो प्रकार की नदियों द्वारा निर्मित उन्नत कगारों के बीच उथले जलपात्र पाये जाते हैं। इनका आकार चाय की तश्तरी के सदृश होता है। गंगा नदी के द्वाब प्रदेश में भी इसी प्रकार के उथले जलपात्र पाये जाते हैं। बाढ़ के समय जब इन उथले जलपात्रों में पानी भर जाता है तो झीले बन जाती हैं। बाद में घाटी की दीवारों से ही जल प्राप्त होता रहता है और ये उथली तलहटी बहुत दिन तक बनी रहती हैं। आस्ट्रेलिया के मरे डार्लिंग प्रदेश की विलिवाग इसी प्रकार की झीले हैं। परन्तु सबसे उत्कृष्ट उदाहरण संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की मेनीसोटा नदी के किनारे पर मिलता है।

(१६) रैफ्ट झीले नदी के प्रवाह के आरपार बड़े-बड़े पेड़ों के गिरने से बन जाती हैं। कुछ विशेषतर प्रदेशों में नदी के किनारों पर बड़े घने जंगल उगने रहते हैं। इधर-उधर टक्कर मारती हुई नदी पेड़ों की जड़ों को काटकर पेड़ों को गिरा देती है। ये पेड़ नदी की धारा के आरपार गिर जाते हैं और नदी के जल को रोक लेते हैं। कालान्तर में मिट्टी बालू और कंकड़ के इसके ऊपर जमते रहने से सम्पूर्ण पेड़ पक्का बांध बन जाता है। इस प्रकार की झीले अस्थायी होती हैं और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका की लाल नदी तथा अफ्रीका की श्वेत नील की घाटी में इस प्रकार की बहुत झीले पाई जाती हैं।

(१७) डेल्टा पार्श्ववर्ती झीले—जब सहायक नदियों द्वारा बना डेल्टा-मुख्य नदी से मिलनस्थान पर आगे बढ़ जाता है तो इस प्रकार की झीले बन जाती हैं। इस प्रकार का डेल्टा वे सहायक नदियाँ बनाती हैं जो तलछट से लदी हुई आती हैं। कालान्तर में ये डेल्टा आगे को बढ़ कर मुख्य नदी की तलहटी को रोक देते हैं। फलतः लम्बी-लम्बी डेल्टापार्श्ववर्ती झीलें बन जाती हैं। इसके विशिष्ट उदाहरण मिनीसोटा राज्य की वारेन नदी की ट्रावर्स और बिग स्टोन झीलें हैं।

(१८) डेल्टा झीले दो नदियों के डेल्टा के बीच में स्थित उथले पात्रों में जल भर जाने से बन जाती हैं। मिसिसिपी के वेयो, नील की मेह तथा नाइजर नदी की जेरीगाट झीले इसी प्रकार की हैं। पक्षी के पैर के सदृश डेल्टा में इसके लम्बे सिरे किनारे से मिल जाते हैं और इस प्रकार कई अलग-अलग पात्रों की रचना कर देते हैं जिनमें भी झीले बन जाती हैं। एक और अन्य प्रकार की डेल्टा झील उस समय बनती है जब डेल्टा समुद्र में आगे बढ़ जाता है। जब ऐसा होता है तो डेल्टा का अग्रभाग लहरों के प्रहार से झुक जाता है और इसके मुड़े हुए भाग में लंगून झीले बन जाती हैं।

(१९) मोरेन झीले—महाद्वीपीय हिमनदी द्वारा निक्षिप्त मोरेन के बीच टेढ़े-मेढ़े गड्ढे बन जाते हैं। इनमें महाद्वीपीय हिमनदी के पिघलने पर जल भर आता

है और उथली झीलें बन जाती हैं। इस प्रकार की झीलें छोटी और टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं। अक्सर जल के बीच से छोटे-छोटे द्वीप भी निकले रहते हैं। इनके किनारों पर बोल्टर मिट्टी या स्थलीय मोरेन बिछा रहता है।

(२०) चट्टानी पात्र झील

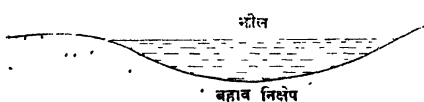
महाद्वीपीय हिमनदी के काट-छांट के परिणाम-स्वरूप बन जाती है। महाद्वीपीय हिमनदियाँ जैसे-जैसे आगे बढ़ती हैं अपनी तलहटी में से चट्टान के टुकड़े खसोटती जाती हैं। फलतः



चित्र १७६—मोरेन झील की रूपरेखा

चट्टानी तलहटी में पात्र या गड्ढे बन जाते हैं। इस प्रकार की झीले कनाडा और फिनलैंड में बहुत पाई जाती हैं। इनकी रूपरेखा और आकृति मोरेन झीलों से

मिलती-जुलती है। ये या तो लम्बी उँगली के आकार की होती हैं या गोलाकार परन्तु अनेक शाखाओं वाली।



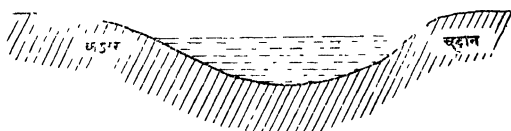
चित्र १७७—मोरेन झील का पात्र

(२१) हिमजल गर्त

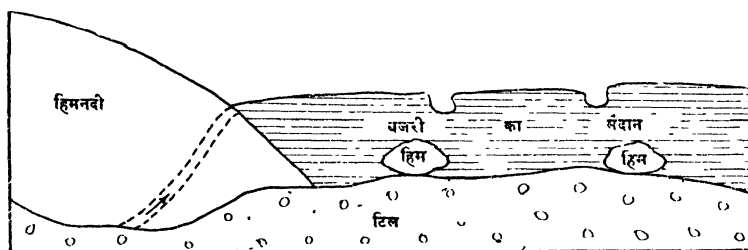
झीले हिमनदियों के सीमान्त

से निकलती हुई जलधाराओं द्वारा निर्मित मैदान में पाई जाती हैं। ये झीले बालू बजरी के निक्षेप से बने पात्रों में पाई जाती हैं। इसकी साधारण रूपरेखा

वृत्ताकार होती है और ये केटल के सदृश होते हैं। बहुधा इनको केटल झील भी कहते हैं। हिमजल निर्मित निक्षेप के झुकाव की ओर ही इन झीलों का भी झुकाव होता है।



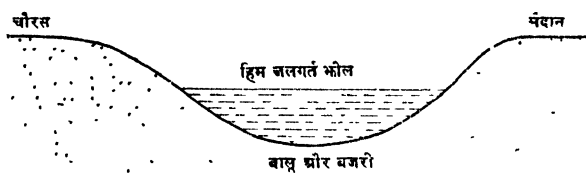
चित्र १७८—चट्टानी पात्र झील



चित्र १७९—हिमजलगर्त झील

(२२) ग्लिन्ट या काक झीलें उन हिम प्रवाहित मैदानों में पाई जाती हैं जहाँ हिमनदी की प्रगति किसी पर्वतीय दीवार के कारण रुक जाती है। जब प्रगति इस प्रकार रुकती है तो सतह की हिम की चाल इतनी कम हो जाती है कि केवल

कुछ इंच प्रति दिन ही रह जाती है परन्तु नीचे की हिमपरतें भीषणगति से आगे बढ़ती जाती हैं। फल यह होता है कि हिमविवर या दरारों के नाचे बड़-बड़े गड्ढे बन जाते हैं। हालैण्ड में इस प्रकार के गड्ढों को काक (Cock) कहते हैं और इनमें बाई जाने वाली झीले गिल्ट या काक झील कहलाती हैं।



चित्र १८०—हिमजल गत झील की रचना विधि

(२३) हिमनदी सीमान्त झील असमान हिमनदी निक्षेप के कारण बन जाती है। असमान निक्षेप के कारण प्रदेश उत्तरोत्तर ऊँचा उठता जाता है। उत्तरी अमेरिका की बड़ी झीले इसके विशिष्ट उदाहरण हैं। महाद्वीपीय हिमनदियों के सीमान्त जंसे-जंसे पीछे हटते गये निकास स्थान खुलते और बन्द होते गए। इस प्रकार ईरी, ओन्टेरियो, सुपीरियर और मिशीगन झीले बन गईं।

(२४) हिमबध झीले अस्थायी होती हैं और किसी जलधारा पर हिमनदी के प्रवाह के कारण बन जाती हैं। आगे बढ़ती हुई हिमनदी का सीमान्त हिमनदी के जल को बाँध देता है जिससे कि एक अस्थायी झील बन जाती है। इस प्रकार की झीले हिमाच्छादन काल में बन जाती हैं परन्तु हिमसीमान्त के पीछे हटते ही यह विलीन हो जाती है। इसका सबसे विशिष्ट उदाहरण अगासी (Agaziz) झील है जो हिमयुग की महाद्वीपीय हिमनदियों के अवरोध के कारण बनी थी। इसी झील में वर्तमान विनीपेग, विनीपिगूरी, मेनीटोबा तथा वुड्स झीले सम्मिलित हैं।

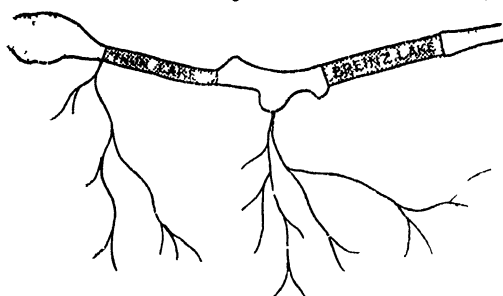
(२५) घाटी चट्टानीपात्र झीले हिमाच्छादित घाटी की तलहटी में खूबे हुए गड्ढों में पाई जाती हैं। ये गोलाकार आकृति की होती हैं और दूर से डोरे में पिरोये हुए मोतियों की तरह प्रतीत होती हैं। इसी कारण से इनको यूरोप में पेटर-नास्टर झीले कहते हैं। पर्वतीय घाटी के निचले भाग में ये झीले फीते की तरह दिखलाई पड़ती हैं।

(२६) घाटी मोरेन झीले पर्वतीय हिमनदियों द्वारा निक्षिप्त मोरेन के नदी घाटी के आरपार इकट्ठा हो जाने से बनती हैं। इस प्रकार की झीले उत्तरी इटली, स्कॅन्डिनेविया और स्कॉटलैंड में पाई जाती हैं। स्विटजरलैंड की जिनेवा, थुन और ब्रॉज झीले इसी प्रकार की हैं। इंग्लैंड के झील प्रदेश में भी इस प्रकार की झीले पाई जाती हैं।

पर्वतीय हिमनदी से प्रवाहित घाटी में इस प्रकार की झीले चट्टानी पात्र झीलों के साथ क्रम से अथवा मिली-जुली पाई जाती हैं।

(२७) भूमि के खसकाव से बनी झीले घाटी की दीवारों से खसकती हुई भूमि द्वारा नदी धारा में अवरोध पड़ जाने से बन जाती हैं। वास्तव में पाले की क्रिया

से भ्रंशस्तर या संधों से पूर्ण चट्टान असंगुप्त हो जाती है और जल संतृप्त चट्टाने नीचे को खसक जाती हैं। इस प्रकार के हिम-शैल या भूमिखण्ड बहुधा सम्पूर्ण घाटी को रोक देते हैं और बहुत बड़ी भोले बन जाती हैं।



चित्र १८१—घाटी मोरेन झीले

कभी-कभी उत्तरोत्तर भूमि खसकाव से घाटी की दीवार का तीव्र ढाल उत्तल-पूर्ण या सीढ़ीदार हो जाता है और इन उत्तलों की सीढ़ियों का क्रमिक ढाल पीछे को होता है। इन उत्तलों पर लम्बी और संकरी झीले बन जाती हैं। ये या तो गहरी होती हैं या केवल उथली।

(२८) सीमान्तीय झीले पर्वतीय हिमनदियों द्वारा पर्वतप्रान्ती प्रदेशों में बन जाती है। जब कोई पर्वतीय हिमनदी का सीमान्त अपनी घाटी के आगे बढ़ जाता है तो यह फैल जाती है और मोरेन का भारी निक्षेप कर देती है। यह मोरेन निक्षेप टीलों या घुंडी की तरह चारों ओर बिखरे रहते हैं। जब बर्फ पिघलती है तो हिम-प्रवाह के स्थान पर एक झील बन जाती है। आल्प्स पर्वत प्रान्ती प्रदेशों में ऐसी झीले खूब पाई जाती हैं। कानस्टांस, लूसीरेना, कोमो, गाडो आदि इस प्रकार की अत्यन्त सुन्दर झीले हैं।

मनुष्य और प्रकृति के लिए झीलों का महत्व—झीलों से मनुष्य को अनेक लाभ हैं। इनका प्रभाव निम्नलिखित तरीकों से विशेषतया दिखलाई पड़ता है—

(१) झीले लाभप्रद जलाशय हैं। उनमें एकत्रित जल पीने के लिए, कल-कारखानों के लिए तथा मंदानों को सींचने के लिए प्रयोग किया जाता है। इसके अलावा बहुत-सी झीलों का पानी जलविद्युत उत्पन्न करने में भी प्रयोग किया जाता है। जापान की वीवा झील तथा उत्तरी इटली की बहुत-सी झीले इस दिशा में विशेष महत्वपूर्ण हैं।

(२) नदी के जल के लिए झीले छलनी का काम करती हैं। जब पानी झीलों में से होकर गुजरता है तो इसमें मिली बालू, बजरी और तलछट वहीं छुट जाती है। और डेल्टा नहीं बन पाता।

(३) नदी के प्रवाह को नियमित करके और जल की मात्रा को न बढ़ने देकर झीले महत्वपूर्ण सेवा करती हैं। झीलों में से होकर प्रवाहित होने वाली नदियों में भयंकर बाढ़ नहीं आती। अमेरिका की बड़ी झीलों के ही कारण सेट लारेन्स नदी में बाढ़ नहीं आती परन्तु इनके अभाव में निचली मिसिसिपी में बड़ी भयंकर बाढ़ आती है। फ्रांस की रोन नदी के लिए ज़िनेवा झील का भी यही प्रभाव रहता है।

(४) झीले जलवायु को भी प्रभावित करती हैं। जलवायु को सम तथा सुखकर बनाने में इनका महत्वपूर्ण हाथ रहता है। झीले गर्मी के मौसम में हवा को

ठण्डी कर देती है और जाड़े में इसे गर्म कर देती है। वायुमण्डल में आद्रता भी बढ़ा देती है। सच तो यह है कि समीपवर्ती अन्य प्रदेशों की अपेक्षा ये आन्तरिक जलाशय देर में गर्मी पकड़ते हैं। फलतः गर्मी का मौसम पतझड़ के मौसम तक बढ़ जाता है और जल्दी पड़ने वाले पाले नहीं हो पाते। झीलों की इस विशेषता के कारण ही अमेरिका की बड़ी झीलों के प्रदेश में फल उगने का काम इतना सफल हुआ है। झीले वर्षा की भी प्रभावित करती हैं। और इनके करीब में वर्षा अपेक्षाकृत अधिक होती है।

(५) कभी-कभी झीलों के कारण सड़कों और रेलों को चक्कर देकर जाना पड़ता है परन्तु नाध्य जलमार्ग प्रस्तुत करने में झीलों का स्थान अद्वितीय है। नहरों द्वारा परस्पर सम्बन्धित ये झीले किसी भी देश के आर्थिक जीवन में महत्वपूर्ण जलमार्गों की व्यवस्था करती हैं। अमेरिका की बड़ी झीले विशिष्ट उदाहरण हैं।

(६) झीलों से अच्छी मछलियाँ भी प्राप्त होती हैं जिन्हें भोजन और खाद दोनों ही प्रकार से प्रयोग किया जाता है।

(७) नमकीन झीलों से नमक प्राप्त होता है। भारत, अमेरिका और इजराइल में नमकीन झीलों के पानी को गर्म करके भाप में बदल कर नमक प्राप्त करते हैं।

(८) झीलों से सुहावने दृश्य की रचना होती है। इन्हीं झीलों के कारण स्विटजरलैंड और काश्मीर दर्शकों के लिये स्वर्ग बन गये हैं। अक्सर झीलों के पास स्वास्थ्य या मनोरंजन केन्द्र स्थापित हो जाते हैं।

झीलों का अस्थायित्व—झीलों का अस्तित्व बहुत लम्बा नहीं होता। भूपृष्ठ पर उनका जीवनकाल अत्यन्त छोटा होता है। उनका अस्तित्व क्षणिक तथा अस्थायी होता है। तलछट भरने या जलप्रवाह से झीले नष्ट हो जाती हैं। झीलों के विलीन होना की निम्नलिखित कुछ विशेष विधियाँ हैं—

(१) नदी द्वारा लाये हुये तलछट में भरना—नदी के मार्ग में पड़ने वाली झीले बहुधा नदी निक्षेप का स्थान बन जाती हैं। नदी द्वारा बहा कर लाया हुआ तलछट उनमें इकट्ठा होता रहता है। झील में प्रवेश करते समय झीले मोटी बजरी तो पहिले जमाकर देती हैं और फिर महीन मिट्टी तलहटी में जाकर जमा हो जाती है। कुछ समय के भीतर एक डेल्टा बन जाता है जो बढ़ता-बढ़ता झील को दो भागों में बाँट देता है। इसीलिए गिलबर्ट ने नदियों को झीलों का घातक शत्रु कहा। स्काटलैंड के स्ट्रेथ वास्तव में झीले हैं जो कि डेल्टा द्वारा कट गई हैं।

नदी द्वारा झीलों का विलीन होना स्विटजरलैंड में अक्सर होता रहता है। वहाँ छोटी-छोटी वेग शील धाराये चट्टानचूर्ण से भरी हुई आती हैं और झीलों को भर देती हैं। धीरे-धीरे जिनैवा झील भी भरती जा रही है।

(२) विकास का आवरणक्षय—बहुत-सी झीलों में आकर गिरने वाली नदियाँ निक्षेप उतना नहीं कर पातीं जितना कि विकास की धाराये काट-छांट कर लेती हैं। फलतः झीलों का तल नीचा हो जाता है और पानी बह जाने से झीले सूख जाती हैं।

(३) वाष्पीभवन और जलस्राव—मरुस्थलीय प्रदेशों में जल के भाप बन कर उड़ने और जमीन में सोखने से झीले सूख जाती हैं तथा उनके स्थान पर क्षारमय क्षेत्र या नमकीन पपड़ी अवशेष रह जाते हैं। यह क्रिया विधि तीन स्थितियों

से होकर गुजरती है—झील का सूखना जब उसमें जल प्राप्ति कम हो जाती है; झील के तल का निकास से नीचा होना तथा झील का विलीन होना। इस प्रकार से झील के विलीन होने में हवा द्वारा उड़ाकर लाये हुये बालूका स्तूपों का स्थान नगण्य नहीं है।

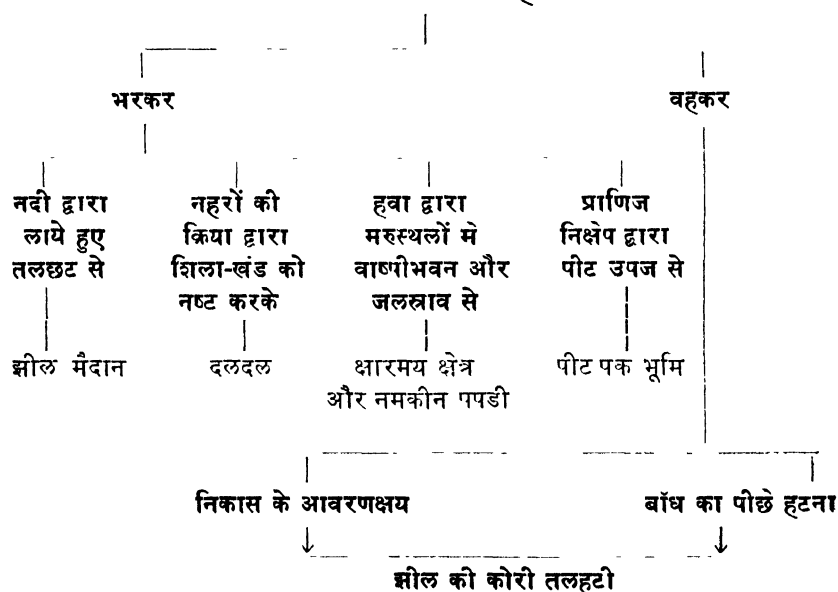
(४) शिलाखंडों का टूटना—समुद्र तट के समीप की झीलों में लहरों के प्रहार से पानी खतम हो जाता है और झीले विलीन हो जाती हैं। लहरे शिलाखंडों को काट-काट कर पीछे हटा देती हैं और झील का क्षेत्रफल बढ़ जाता है परन्तु उत्तल रचना से जल की मात्रा कम हो जाती है। फल यह होता है कि खाड़ियाँ कटकर अलग हो जाती हैं और लंगून बन जाते हैं। बादमें ये लंगून भी सूख कर दलदल हो जाते हैं।

(५) प्राणिज निक्षेप—झीलों के बनने के तुरन्त बाद ही उसमें जलीय वनस्पति उगने लगती है। यह वनस्पति सड़ जाती है और जल में गिर कर गलने लगती है। कालान्तर में झील का जल सड़ती-गलती वनस्पति से भर जाता है। इस प्रकार की पीट प्रधान उपज से जल का अंश कम हो जाता है और छोटी-छोटी झीले पीट प्रधान दलदल में बदल जाते हैं।

(६) बाधों का पीछे हटना—नदी घाटी में बाँध बनने से बनी झीलें उस समय नष्ट हो जाती हैं जब जल का अवरोधक बाँध नष्ट हो जाता है। बाँध निम्न-लिखित तरीकों से पीछे हटता या नष्ट हो जाता है :—(१) नदियाँ उनको बीच से काट देती हैं (२) जलस्राव से उनका आधार कमजोर हो जाता है (३) पानी में घुल कर नष्ट हो जाता है। हिम बाँध तीसरी विधि द्वारा हट जाते हैं। जब ये बाँध नष्ट हो जाते हैं तो जल बह कर निकल जाता है और झील गायब हो जाती है।

संक्षेप में, निम्न तालिकासे झीलोंके विलीन होनेकी कहानी स्पष्टहो जाती है।

झीलों का विलीन होना



मिट्टी और वनस्पति

वनस्पति और जीव-जन्तुओं का वितरण प्रकाश और ताप, जल तथा मिट्टी में उपस्थित पौधों के भोजन के ऊपर निर्भर रहता है। वनस्पति आवरण के अध्ययन के दृष्टिकोण से मिट्टी का विशेष महत्त्व है। भूपृष्ठ पर बिछे हुए सब से ऊपरी आवरण को मिट्टी कहते हैं। यह चट्टानों की काट-छांट से प्राप्त चूर्ण है जिसमें वनस्पति व प्राणिज अवशेषांश भी मिला रहता है। इस प्रकार मिट्टी और भू-आवरण में बड़ा अन्तर है यद्यपि भू-आवरण के अन्दर मिट्टी शामिल रहती है। मिट्टी भू-आवरण का सब से ऊपरी भाग है जो पौधों की क्रिया-कलाप और नाश से बहुत बदल गई है। मिट्टी की गहराई कदाचित् ही ५-१० फीट होती है। इस गहराई के बाद चट्टानी आवरण में पौधों की उपज और विकास के लिए आवश्यक तत्वों का अभाव हो जाता है।

मिट्टी का महत्त्व उसके उपजाऊपन के कारण है और उपजाऊपन या उपज-शक्ति मिट्टी में उपस्थित तत्वों पर निर्भर रहती है। मिट्टी के गुण विश्लेषण करने पर इसके अन्दर प्राणिज और अप्राणिज तत्वों का मिश्रण पाया जाता है। मिट्टी का प्राणिज तत्व जो इसे भू-आवरण से भिन्न करता है तथा पेड़-पौधों और जानवरों के सड़ने-गलने से प्राप्त होता है, उसे ह्यूमस (Humus) कहते हैं। ह्यूमस के कारण मिट्टी में कई विशेषताएँ आ जाती हैं—

(१) इसके कारण छोटे-छोटे कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं जो पौधों के विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक होते हैं।

(२) इसके द्वारा पौधों के लिए आवश्यक भोजन प्रस्तुत हो जाता है।

(३) ह्यूमस के कारण मिट्टी में जल ग्रहण करने की अधिक शक्ति होती है।

(४) यह मिट्टी में नमी रखता है और जलस्राव नहीं होने देता।

(५) ह्यूमस के कारण मिट्टी के कण आपस में जुटे मिले रहते हैं और फल यह होता है कि सम्पूर्ण वस्तु चिपचिपी और मोम की तरह हो जाती है।

मिट्टी के अप्राणिज तत्वों के अन्दर वे खनिज नमक आते हैं जो भौतिक क्रिया-कलाप द्वारा आधारभूत चट्टान से प्राप्त कर लिए जाते हैं। मिट्टी में उपस्थित सबसे महत्त्वपूर्ण खनिज नाइट्रोजन, पोटाशियम, मैगनीशियम, बोरन, गंधक, फासफोरस, कैल्शियम, लोहा और ताँबा हैं। इनमें से प्रत्येक तत्व की अपनी विशेषता है। पौधों के विकास तथा पुनर्जन्म के लिए नाइट्रोजन बहुत आवश्यक है। मिट्टी को यह तत्व नाइट्रोजन खेचने वाले सूक्ष्म कीटाणुओं (Bacteria) द्वारा प्राप्त होता है। फास-फोरस से पौधों के विकास तथा फसल की उपज में सहायता मिलती है। इससे बीज

भी पकते हैं। पोटेशियम से पौधों को माढ़ (Starch) प्राप्त होता है। यह डंठलों को मजबूत करता है और बीजों के गुण बढ़ाता है। मैगनीशियम और कैल्शियम (चूना) पौधों के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है और पत्तियों की उपज में सहायता देते हैं। लोहे और गंधक से भी पौधों की उत्पत्ति और विकास में सहायता मिलती है। इनमें से अधिकतर तत्त्व मूल चट्टानों के खनिज तत्त्वों से प्राप्त होते हैं।

मिट्टी की रचना को निम्नलिखित तालिका से समझा जा सकता है—

चट्टान

रासायनिक क्रियाये व शक्तियाँ			— मौसमी क्षति —		भौतिक क्रियाये व शक्तियाँ		
पौधों की क्रिया व सड़ना	रासायनिक क्रिया	जीव-जंतुओं की क्रिया और सड़ना			हवा	ताप और शीत	जल हिमनदी
ह्यूमस, प्राणिज अंश सूक्ष्म कीटाणु	अम्ल, आधार, घुलना, ओषजी-करण, कारबनो-करण	ह्यूमस, प्राणिज अंश			छीलना और मिलाना	प्रसार और संकुचन	घर्षण और मिश्रण

मिट्टी

रासायनिक क्रियाओं और शक्तियों के द्वारा पौधों की उपज के लिए आवश्यक तत्त्व उत्पन्न होते हैं परन्तु भौतिक शक्तियों की घर्षण क्रिया द्वारा मिट्टी में रचनाक्रम उत्पन्न होता है। वास्तव में उत्पत्ति, बनावट और रचनाक्रम के अनुसार मिट्टी कई प्रकार की कही जा सकती है।

उत्पत्ति : उत्पत्ति के अनुसार मिट्टी दो प्रकार की हो सकती है—अवशिष्ट और स्थान्तरित। अवशिष्ट मिट्टियाँ वे होती हैं जो मूल स्थान पर ही बनती हैं। इस प्रकार की मिट्टी ढाल पर तथा दो नदियों के बीच के क्षेत्र में पाई जाती हैं। इनकी विशेषता यह है कि महीन कण तो सबसे ऊपर रहता है परन्तु जैसे-जैसे हम गहराई में आते हैं मोटे टुकड़े मिलते जाते हैं। नीचे गहराई में चलने के साथ मोटे टुकड़ों का विस्तार बढ़ता जाता है। इस प्रकार की मिट्टी में खनिज नमक वे ही होते हैं जो आधारभूत चट्टान में उपस्थित रहते हैं। इसके अलावा अवशिष्ट मिट्टी में जलस्राव खूब होता है तथा सबसे ऊपर की परत बहुधा बहकर या उड़कर नष्ट हो जाती है। जब ऐसा होता है तो इसका उपजाऊपन बिल्कुल ही खतम हो जाता है। साधारणतया तर प्रदेशों में ऊपरी परत हवा द्वारा उड़ा ले जाई जाती है।

स्थान्तरित मिट्टी वह होती है जो उत्पत्ति स्थान से किसी विशेष साधन द्वारा बहाकर या उड़ाकर ले जाई जाती है और कुछ दूर स्थित स्थान पर जमा कर दी जाती है। यह मिट्टी बहुत उपजाऊ होती है और उनकी अपनी विशेषताये अपनयन या परि-

वहन करने वाले साधन विशेष पर निर्भर रहती है। चट्टानी खंड को वायु, जल तथा हिमनदी एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाते हैं। फलस्वरूप परिवहित मिट्टी को क्रमशः लोएस, मृत्तिका तथा टिल कहते हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये उन चट्टानों से भिन्न रहती है जो इनके नीचे दबी रहती है। यह अन्तर भौतिक तथा रासायनिक दोनों ही प्रकार का होता है। दूसरी बात यह है कि सभी प्रकार की परिवहित मिट्टी से मृत्तिका या नदी के जल द्वारा बहाकर लाई हुई मिट्टी सबसे अधिक उपजाऊ होती है क्योंकि इसके खनिज तत्वों की पूर्ति हर वार्षिक बाढ़ से हो जाती है।

मिट्टी की बनावट उसके कणों के आकार तथा व्यवस्था पर निर्भर रहती है। कुछ मिट्टी में कण बड़े होते हैं और कुछ में कण छोटे होते हैं। इसी प्रकार कुछ मिट्टी में कणों की व्यवस्था एक दूसरे से अधिक मिली हुई होती है। कणों की व्यवस्था पर मिट्टी में छिद्रों का विस्तार आधारित रहता है और इससे मिट्टी को पानी की कितनी जरूरत है यह निर्धारित होता है। मिट्टी के कण जितने भी बड़े होते हैं उनके बीच छिद्रों की बनावट उतनी ही अधिक बड़ी होगी और फलस्वरूप उनमें से होकर पानी आसानी से गुजर सकेगा। बालू इस प्रकार की बनावट का विशिष्ट उदाहरण है और इसमें जल जल्दी सोख जाता है। परन्तु बड़े कण वाली मिट्टी में से जल जल्दी भाप बनकर उड़ भी जाता है। इसके विपरीत महीन कणों तथा संयुक्त बनावट की मिट्टी में नमी काफी समय तक ठहरती है। चीका मिट्टी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

बनावट के आधार पर मिट्टी को चार प्रकार का कहा जा सकता है—बजरी, बालू, तलछट और चीका मिट्टी। बालू और चीका मिट्टी के मिश्रण को दोमट कहते हैं। उसमें बालू या चीका मिट्टी के अनुपात के अनुसार दोमट को बलुही दोमट या चीका दोमट कहते हैं।

मिट्टी के रचना क्रम से तात्पर्य उसमें कणों की तरतीब से है। परन्तु सभी मिट्टी में यह तरतीब कदापि नहीं होती। बालू, लैंटराइट और पौडसोल जैसी प्रसिद्ध मिट्टी में किसी प्रकार का रचनाक्रम नहीं होता है। परन्तु कुछ मिट्टी में बड़ा अच्छा रचनाक्रम होता है। साधारणतया यह देखा जाता है कि जिस मिट्टी में रचनाक्रम नहीं होता वे खेती के दृष्टिकोण से अनुपयुक्त होती हैं। इसके विपरीत अच्छी रचनाक्रम की मिट्टी में जोताई की आसानी होती है। विभिन्न प्रकार की मिट्टी में रचनाक्रम अलग-अलग होता है। कुछ मिट्टी में कण स्तम्भ रूप से सजे होते हैं, तो कुछ में ढोके से बने होते हैं और अन्य में कणों का रचनाक्रम गुठली जैसा होता है। प्रत्येक प्रकार की रचनाक्रम की अपनी विशेषताये होती हैं परन्तु रचनाक्रम के अनुसार ही मिट्टी उपजाऊ होती है और उसी पर उपजाऊपन की पूर्ति भी निर्भर रहती है।

(१) जलस्राव और सिंचाई से होने वाली हानि रचनाक्रम वाली मिट्टी में कम भयानक होती है क्योंकि घुलकर नष्ट होने वाले खनिज तत्व रचनाक्रम की इकाई में फँस जाते हैं और सम्पूर्ण मिट्टी से नुकसान नहीं हो पाता।

(२) ह्यूमस और चूने के तत्वों के कारण ही मिट्टी में रचनाक्रम बन जाता है और इन तत्वों के होने से भूमि उपजाऊ भी हो जाती है।

(३) अच्छी रचनाक्रम की मिट्टी में बाढ़ से होने वाली हानि का डर नहीं

रहता। इस प्रकार की मिट्टी में पानी सोखने की अधिक शक्ति होती है। अतः जल द्वारा आवरणक्षय से हानि नहीं होती।

(४) अच्छी रचनाक्रम की मिट्टी में पेड़ों की जड़ें आसानी से प्रवेश कर सकती हैं। इस प्रकार की मिट्टी में पौधों की जड़ें आसानी से ऊपर-नीचे तथा दायें-बायें फैल जाती हैं।

मिट्टी का क्षय—इस प्रकार मिट्टी का उपजाऊपन उत्पत्ति, खनिज तत्व, बनावट तथा रचनाक्रम पर निर्भर रहता है। इसके कारण मिट्टी जुताई के योग्य हो जाती है और खेती हो सकती है। परन्तु इन सब में प्राणिज तथा अप्राणिज तत्वों का महत्व सबसे अधिक होता है क्योंकि इन्हीं पर पौधों का भोजन निर्भर रहता है। इन तत्वों का अनुपात निश्चित नहीं होता और विवरण भी व्यवस्थित नहीं होता। कुछ मिट्टी में एक तत्व प्रधान होता है और कुछ में दूसरा तत्व प्रधान होता है। इसके अलावा बार-बार फसल उगाने से ये खनिज तत्व खतम हो जाते हैं। प्रत्येक फसल के बाद मिट्टी का उपजाऊपन कम हो जाता है, कुछ तत्वों का उपभोग हो जाता है। यदि फसलें बार-बार लगातार उगाई जाती हैं तो भूमि अनुपजाऊ हो जाती है और खेती के लिए अयोग्य हो जाती है। मिट्टी का क्षय निम्नलिखित तीन कारणों से होता है—

(१) जल, वायु तथा हिम द्वारा काट-छांट से।

(२) बेतरतीब तथा लापरवाही से खेती द्वारा।

(३) अनियमित रूप से सिंचाई द्वारा।

चलता हुआ हिम या हिम नदी ऊपर की मिट्टी की परत को बहा ले जाता है और नीचे की कोरी चट्टान निकल आती है। फिनलैंड और स्कैन्डिनेविया में बहुत विस्तृत क्षेत्र इसी प्रकार से अनुपजाऊ हो गए हैं। इसके अलावा हिम नदियाँ विभिन्न आकार के शिलाखंडों को ऊपर की मिट्टी पर फैला देती हैं और इस प्रकार से भूमि खेती के लिए बेकार हो जाती है। इस प्रकार की पथरीली भूमि चराई के काम आती है।

हवा भी उष्ण तथा उपोष्ण प्रदेशों की मिट्टी का क्षय करती है। तेज हवा मिट्टी की ऊपरी परत को उड़ा ले आती है परन्तु हवा की क्रिया भूमि की प्राकृतिक बनावट तथा वनस्पति आवरण पर निर्भर रहती है। मिट्टी की रचनाक्रम तथा बनावट भी हवा की क्रिया को सीमित करती है। हवा द्वारा भूमि के आवरणक्षय को चाहर-दीवारी बनाकर या पेड़-पौधे झाड़ियाँ लगाकर रोका जाता है।

जल द्वारा आवरणक्षय सबसे महत्वपूर्ण होती है। यह तीन प्रकार का होता है और इसे कन्दरा कटाव, नाली कटाव और सतह का खमकाव कहते हैं। तेज बहने वाला जल काटकर कन्दराये बना देता है। ऐसा बहुधा तीव्र खाली ढाल पर होता है। नाली कटाव इतना स्पष्ट नहीं होता परन्तु तलछट से बनी मिट्टी में भारी वर्षा के समय इसी प्रकार का क्षय होता है। मूसलाधार वर्षा की धाराये मिट्टी में सैकड़ों गड्ढे तथा नालियाँ बना देती हैं जिससे कि भूमि खेती के लिए बेकार हो जाती है। परन्तु नाली कटाव से हुई हानि को खेती द्वारा ठीक किया जा सकता है। सबसे भया-नक क्षति सतह के खसकाव द्वारा हुई होती है और ऊपर से सबसे बड़ी बात यह

है कि इसके द्वारा हुई हानि दिखाई नहीं पड़ती। जल द्वारा ऊपरी मिट्टी की परत परत बह जाती है। यह सब भूमि के ढाल, मिट्टी की प्रकृति तथा वृष्टि के रूप प्रकार पर निर्भर रहता है।

जल द्वारा मिट्टी के क्षय को अनेक प्रकार से रोका जा सकता है। सबसे साधारण तरीका जल के प्रवाह व गति को रोक कर है। ढाल पर लट्ठे या घास गाड़ कर या ढाल को उत्तलों और सीढ़ियों में काट कर इसे रोका जा सकता है। ऐसा कर देने से पानी तेजी से नहीं उतर पाता। जल द्वारा आवरणक्षय से होने वाली हानि को रोकने के लिए खेती के तरीके में बहुत हेरफेर कर दिये गये हैं। ढाल प्रदेशों की खेती में अब सीढ़ीदार खेत बनाकर या उच्चभूमि के अनुसार जोताई से खेती की जाती है। इन तरीकों से क्षय कम हो नहीं हो जाता बल्कि इसके द्वारा भूमि को जल भी अधिक मिल पाता है।

खेती के लापरवाह तथा बेतरतीब तरीकों से भूमि का क्षय दो प्रकार से होता है। एक ही प्रकार की फसल को एक खेत में बार-बार उगाते रहने से एक या कुछ विशेष खनिज तत्वों का बिल्कुल ह्रास हो जाता है और मिट्टी में खनिज तत्वों का अनुपात बिगड़ जाता है। फलतः मिट्टी बिल्कुल कमजोर हो जाती है और उसमें कुछ खनिज तत्वों का बिल्कुल अभाव हो जाता है। इसलिए यदि मिट्टी के उपजाऊपन को कायम रखना है तो इन खोए हुए तत्वों को मिट्टी में वापस पहुँचाना जरूरी होता है प्रकृति यह अंशतः चट्टानों की टूट-फूट तथा छोटे कीटाणुओं द्वारा करती रहती है। प्रकृति की इस क्रिया के लिये यह आवश्यक है कि भूमि को कुछ दिनों के लिए खाली छोड़ दिया जाय ताकि उसके भीतर खनिज तथा प्राणिज तत्वों की उपयुक्त राशि पूरी हो जाय। परन्तु भूमि पर जनसंख्या के बढ़ते हुए भार के कारण यह सम्भव नहीं है। फिर भी ऐसे बहुत से साधन हैं जिनके द्वारा मनुष्य मिट्टी के उपजाऊपन को बनाए रख सकता है।

निम्नलिखित कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण तरीके हैं—

(१) फसलों का हेरफेर—इसमें कुछ दालों, मटर तथा फलियों के पौधों को मुख्य फसलों के बाद उगाया जाता है। इनके द्वारा नाइट्रोजन का अंश मिट्टी में पहुँच जाता है और ह्यूमस मिल जाता है। इसका नियम यह है कि किसी एक फसल को बार-बार लगातार नहीं उगाया जाता है। विभिन्न फसलों को हेरफेर से उगाया जाता है ताकि जब एक प्रकार के खनिज तत्व का उपभोग हो तो दूसरे की पूर्ति होती रहती है। इससे सीमित क्षेत्र से अत्यधिक लाभ तथा उपज प्राप्त होती है। पौधों के रोगों तथा जंगली घास फूस पर भी अच्छा नियंत्रण रहता है।

(२) खाद द्वारा—मछली, हड्डी, कम्पोस्ट तथा टट्टी पेशाब के द्वारा मिट्टी में सड़ी-गली वनस्पति तथा प्राणिज अंश को पहुँचाया जाता है।

(३) हरी खाद—किसी विशेष फसल को उगा कर जब वह बढ़ जाती है तो खड़े-खड़े फिर से जोताई कर देते हैं जिससे कि वह मिट्टी में मिल जाती है और मिट्टी को ह्यूमस प्राप्त हो जाता है। इसके लिये ऐसी फसलों को चुना जाता है जो आसानी से टूट जाये और मिट्टी में मिल जायें।

(४) चूने के पत्थर और माल के द्वारा मिट्टी में चूने का अंश पहुँचा दिया जाता है ।

(५) रासायनिक खादों द्वारा—जिनमें फास्फेट, नाइट्रेट और अमोनियम सल्फेट प्रधान हैं ।

मिट्टी के वर्गीकरण का सबसे सार्वभौमिक आधार वह विशिष्ट जलवायु तथा वनस्पति है जिसके प्रभाव में मिट्टी की उत्पत्ति तथा विकास होता है । तदनुसार संसार की मिट्टी को निम्नलिखित दो मोटे-मोटे विभागों में बांटा जा सकता है—

(१) पेडाल्फर (Pedalfar) या वे मिट्टी जो तर प्रदेशों में घनी वनस्पति के नीचे बनती हैं । इसमें अल्युमिनियम तथा लोहे की प्रधानता रहती है । परन्तु इसमें पोटाशियम, चूने और फास्फोरस जैसे पौधों के भोजन का अभाव रहता है ।

(२) पेडोकॉल (Pedocol) या वे मिट्टी जो शुष्क दशाओं में बनती हैं । इनमें वे सभी तत्व बने रहते हैं जो पौधों के भोजन के लिए जरूरी होते हैं । यह मिट्टी उन प्रदेशों में पाई जाती है जहाँ की वार्षिक वर्षा का औसत २५ इंच से कम होता है । इनका रंग हल्का होता है और इनमें जलस्राव नहीं हुआ रहता । ये क्षारपूर्ण होती हैं ।

मिट्टी के इन मोटे विभागों के कई उपविभाग हैं । इन उपविभागों को निर्धारित करने के लिए देखना पड़ता है कि वनस्पति का आवरण किस प्रकार का है, तापक्रम की दशाये क्या हैं और वर्षा की कितनी मात्रा है । निम्नलिखित तालिका से मिट्टी के प्रकार स्पष्ट हो जायेंगे ।

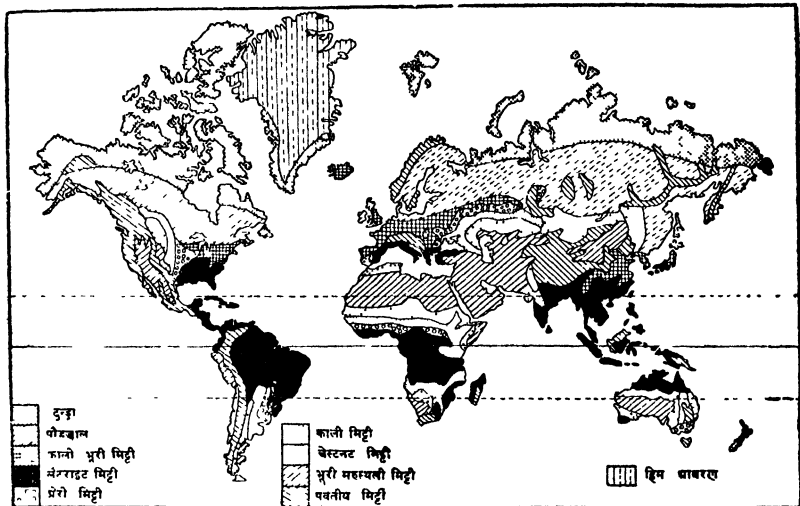
मिट्टी

पेडाल्फर (Pedalfar)		पेडोकॉल (Pedocol)	
लैटराइट	उष्णकटिबंधीय लाल मिट्टी	काली भूरी मिट्टी	प्रेरी मिट्टी
	लाल मिट्टी	मिट्टी	पौडसॉल टुंड्रा मिट्टी
काली मिट्टी	चेस्टनट के रंग की मिट्टी	स्लेटी रंग की मिट्टी	भूरी मिट्टी
या चेरनाजेम			

लैटराइट—विषुवन रेखीय प्रदेशों में साल भर भारी वर्षा होती रहने के कारण वहाँ पर पाई जाने वाली मिट्टी में मौसमी क्षति और जलस्राव के सबसे अधिक चिन्ह मिलते हैं । इनको लैटराइट मिट्टी कहते हैं और इसमें सिलिकेट अल्युमिनियम के ऑक्साइड तथा लोहे के ऑक्साइड की प्रधानता रहती है । ह्यूमस की कमी के कारण इनका रंग पीला और लाल लिए हुए होता है । ये मिट्टी बहुत अधिक छिद्रपूर्ण होती हैं और इसमें जल आसानी से प्रवेश कर जाता है । इन विशेषताओं के कारण खेती के

दृष्टिकोण से यह मिट्टी सबसे कमजोर रहती है।

उष्णकटिबंधीय लाल मिट्टी विशिष्ट रूप से उष्णकटिबंधीय घास के मैदानों में पाई जाती है और इस कारण उसमें ह्यूमस का अंश अधिक होता है। जलस्राव और रासायनिक विलयन की कमी के कारण, खेती के लिए ये अपेक्षाकृत अच्छी होती हैं।



चित्र १८२—पृथ्वी की मिट्टी

लाल मिट्टी में लोहे की मात्रा तो अधिक होती है परन्तु ह्यूमस बहुत कम होता है। क्षारतत्वों का इसमें अभाव होता है और चूना भी कम ही होता है। यह मिट्टी अधिकतर उच्च प्रदेशों में पाई जाती है और इस पर नुकीली पत्ती के जंगल पाये जाते हैं।

काली भूरी मिट्टी तर महाद्वीपीय जलवायु के पतझड़ वाले जंगलों के प्रदेश में पाई जाती है। गर्मी और सर्दी के अलग-अलग मौसम होने के कारण उनमें जलस्राव अधिक नहीं होता और इसलिए ह्यूमस की मात्रा अधिक रहती है। चूने और पोटाश का भी अंश अधिक रहता है। इन्हीं कारणों से यह मिट्टी बहुत अधिक उपजाऊ होती है।

प्रेरी मिट्टी, जैसा नाम से ही प्रकट है, अमरीका के शीतोष्ण घास के मैदान में राकी पर्वत के पूर्व में पाई जाती है। यद्यपि इस मिट्टी का सबसे अधिक विस्तार अमरीका में है परन्तु इस मिट्टी के प्रदेश अर्जेंटाइना, मन्चूरिया और अफ्रीका में भी पाए जाते हैं। ये प्रेरी मिट्टी काले रंग की होती है परन्तु इसमें चूना बिल्कुल भी नहीं होता। इनमें क्षारतत्वों की भी कमी होती है। इनका काला रंग ह्यूमस की अधिकता के कारण होता है।

यह मिट्टी घास की वनस्पति के आवरण के नीचे बनती है। इन्हीं लम्बी घास के कारण इस मिट्टी में ह्यूमस का अंश इतना अधिक हो जाता है। परन्तु इनमें

जलस्राव जरूर होता है। फिर भी इनकी उपजशक्ति इतनी अधिक होती है कि ये प्रदेश संसार में सबसे अधिक खाद्यान्न उत्पन्न करते हैं।

पोडसाल मिट्टी नुकीली पत्ती वाले जंगलों के प्रदेश में पाई जाती है और सबसे कमजोर होती है। इनमें ह्यूमस बिल्कुल नहीं होता और सड़ते हुए वनस्पति अंश से ढके रहने के कारण ये बहुत अधिक अम्ल हो जाती है। इसमें रचनाक्रम का अभाव होता है। इसलिए खादों के विस्तृत उपभोग के बाद भी इनकी उपजशक्ति को बढ़ाया नहीं जा सकता। जुताई में भी कठिनाई होती है।

यह मिट्टी उत्तरी पश्चिमी यूरोप के किनारे-किनारे उत्तरी अमेरिका तथा न्यूजीलैंड के उत्तरी पश्चिमी तटीय प्रदेशों में भी पाई जाती है। जहाँ कहीं जंगल काट डाले गए हैं, पशु को चराया जाता है।

टुन्ड्रा मिट्टी उत्तरी गोलार्द्ध के ध्रुव उत्तरी प्रदेश में है जहाँ साल के आठ वस महीने बराबर बर्फ जमी रहती है। छोटे गर्मियों के मौसम में भी, बर्फ केवल दो-तीन फीट की गहराई तक पिघल पाती है। इन सब कारणों से टुन्ड्रा मिट्टी न केवल अनुपजाऊ ही होती है बल्कि दलदली भी होती है। इसलिए वहाँ पर कुछ काइ, लिचैन तथा इसी प्रकार की झाड़ियाँ ही उग पाती हैं।

काली मिट्टी या चेरनोजेम अर्द्ध शुष्क प्रदेशों की मिट्टी है और इसका रंग काला भूरा होता है। इसका रंग ह्यूमस के कारण काला नहीं है बल्कि उसमें चूने का अधिक अंश पाया जाता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें नमी ठहर सकती है और इसीलिए शुष्क प्रदेशों की खेती के लिए यह बड़ी ही उपयुक्त रहती है। कुछ प्रदेशों में इस प्रकार की मिट्टी ज्वालामुखी लावा के टूटने-फूटने से बनी है। इसका रचनाक्रम बड़ा ही अच्छा होता है। इस कारण बीजों की उत्पत्ति तथा जड़ों के लिये यह मिट्टी बड़ी ही अच्छी होती है। इसे कपास की काली मिट्टी भी कहते हैं।

चेस्टनट मिट्टी का रंग चेस्टनट से मिलता-जुलता है। गहरे भूरे रंग की यह मिट्टी प्रेरी मिट्टी या काली मिट्टी से रंग में बहुत भिन्न होती है। जलस्राव के अभाव के कारण यह मिट्टी बड़ी ही उपजाऊ होती है यद्यपि इस मिट्टी में प्राणिज अंश तथा नाइट्रोजन की भारी कमी रहती है। जहाँ कहीं सिंचाई की सुविधा है, इन पर फसले उगाई जाती हैं। अन्य स्थानों पर चरी आदि उगाई जाती है। इस मिट्टी के प्रदेशों में शुष्क खेती की जाती है।

स्लेटी मिट्टी शुष्क तथा शीतोष्ण रेगिस्तानों में पाई जाती है। इनमें ह्यूमस, प्राणिज अंश तथा नाइट्रोजन की कमी होती है। हवा द्वारा आवरणक्षय भी होता है। परन्तु कम वर्षा के क्षेत्रों में स्थित होने के कारण, इनमें जलस्राव नहीं होता और मूल-चट्टान में पाई जाने वाले प्रमुख खनिज तत्त्व इसमें बने रहते हैं।

भूमी मिट्टी भूमध्यसागरीय जलवायु के प्रदेशों में पाई जाती है। यह चेस्टनट मिट्टी की ही तरह होती है। खनिज तत्त्व तो काफी रहते हैं परन्तु नाइट्रोजन का अभाव होता है। इनका सबसे बड़ा दोष यह है कि यह मिट्टी टुकड़ों में गर्म मरुस्थल और चेस्टनट मिट्टी के प्रदेश के बीच की अन्तरिम पट्टी में पाई जाती है।

पृथ्वी का वनस्पति आवरण

किसी विशेष स्थान पर वनस्पति का विकास और वहाँ की जलवायु तथा प्राकृतिक बनावट पर निर्भर रहता है। प्रत्येक प्रकार की वनस्पति के लिए प्रकाश और गर्मी की आवश्यकता होती है। इसे जल तथा खनिज भोजन की भी जरूरत होती है। ताप या प्रकाश के अनुसार वनस्पति सदा बहार या वार्षिक होती है। जल की प्राप्ति के आधार पर वनस्पति को दो प्रकार का कहा जा सकता है—हिग्रोफाइट (Hygrophyte) जिसकी जड़े छोटी, डंठल कमजोर और बड़ी-बड़ी पतली पत्तियाँ होती हैं। यह तर प्रदेश की वनस्पति है। इसके विपरीत शुष्क प्रदेश की वनस्पति जेरोफाइट (Xerophyte) कहलाती है और इसकी जड़े लम्बी शाखादार, डंठल छोटे पर मजबूत और पत्तियाँ छोटी पर मोटी होती हैं। प्रकृति ने शुष्कता के खिलाफ मुकाबला करने के लिए इन पौधों में अनेक प्रकार की विशेषताएँ उत्पन्न कर दी हैं। इनकी पत्तियाँ पर रूखे निकले रहते हैं, डंठल में काँटे होते हैं, छाल कार्क जैसी होती है और सम्पूर्ण पर मोम की परत जैसी चढ़ी रहती है। जहाँ जल की प्राप्ति मौसमी होती है वहाँ ट्रोपोफाइट (Tropophyte) वनस्पति उगती है जो कि एक मौसम में एक प्रकार की और दूसरे मौसम में दूसरे प्रकार की होती है।

जलवायु की भिन्नता और वनस्पति आवरण के घनत्व के आधार पर संसार की वनस्पति को निम्नलिखित प्रकार का कहा जा सकता है—(१) जंगल (२) घास के मैदान (३) मरुस्थलीय झाड़ियाँ।

जंगल—वृक्षों का पास-पास घने प्रकार से उगना वन या जंगल कहलाता है। वास्तविक जंगल तो वह है जिसमें पेड़ इतने पास उगते हैं कि शीर्ष एक दूसरे को छूने लगते हैं। यदि वृक्ष दूर-दूर पर हों और उनके बीच में झाड़ियाँ पाई जाती हों तो इसे झाड़ीदार जंगल कहेंगे। इसके विपरीत यदि पेड़ कम हो तो इस प्रकार के झाड़ी प्रदेश को झाड़ीवन कहते हैं।

संसार के जंगलों के अनेक प्रकार हैं जैसा कि निम्न प्रकरण से स्पष्ट हो जायेगा—

(१)	{	(अ) कठोर लकड़ी के वन—	(२)	{	(अ) चौड़ी पत्ती के जंगल—	(३)	{	(अ) पतझड़ वाले जंगल—
		(ब) कोमल लकड़ी के वन—			(ब) नुकीली पत्ती के जंगल—			(ब) सदाबहार जंगल—

कठोर लकड़ी के वन पतझड़ व सदाबहार दोनों ही किस्म के होते हैं। परन्तु कोमल लकड़ी के वन केवल सदाबहार ही होते हैं। इस प्रकार संसार में प्रायः तीन सामान्य प्रकार के वन पाये जाते हैं—

(१) उष्ण कटिबंधीय वर्षा वाले वन या चौड़ी पत्ती और कठोर लकड़ी के सदाबहार जंगल।

(२) मानसून वन या चौड़ी पत्ती और कठोर लकड़ी के पतझड़ वाले जंगल।

(३) नुकीली पत्ती वाले वन या कोमल लकड़ी और नुकीली पत्ती वाले

सदाबहार जंगल ।

उष्णकटिबंधीय वर्षा वाले वन को भूमध्यरेखीय जंगल कहते हैं और यह अमेजन बेसिन, कांगों बेसिन, इण्डोनेशिया, पूर्वी अफ्रीका तथा मानसून प्रदेशों के तर भागों में पाये जाते हैं । इनमें पेड़ ऊँचे-ऊँचे होते हैं । उनकी लकड़ी कठोर होती है और भूमि पर सड़ती हुई वनस्पति पड़ी रहती है । इन पेड़ों के तनों का व्यास बहुत अधिक होता है और इनकी शाखाओं पर लतायें तथा घनी लतरें चढ़ी पाई जाती हैं । महोगनी, चन्दन, बेंत, रबड़, सिनकोना, आइवरी, आबनूस और रोजवुड यहाँ के विशिष्ट वृक्ष हैं । ये चौड़ी पत्ती तथा कठोर लकड़ी के सदाबहार जंगल हैं ।

भूमध्यसागरीय प्रदेशों में भी चौड़ी पत्ती वाले कठोर लकड़ी के सदाबहार वृक्ष पाये जाते हैं परन्तु वास्तविक वन की अपेक्षा उन्हें झाड़ी वन कहना अधिक उचित होगा । लारेल, कार्क ओक, चेस्टनट, साइप्रेस, जंतून वहाँ के वृक्षों की विशिष्ट जातियाँ हैं । इन वृक्षों की जड़ें लम्बी होती हैं, पत्तियाँ मोटी और चिकनी रहती हैं तथा उनकी शाखायें काँटेदार होती हैं ।

मानसून वन—४० से ८० इंच वार्षिक वर्षा वाले प्रदेशों में पाये जाते हैं । साल और सागौन यहाँ की विशिष्ट लकड़ी के वृक्ष हैं । इसके अलावा बांस के झुर-मुट तथा मोटी घास भी पेड़ों के बीच-बीच में पाई जाती हैं । ये चौड़ी पत्ती वाले कठोर लकड़ी के वृक्ष होते हैं जो शुष्क गर्मी के मौसम में अपनी पत्ती गिरा देते हैं ।

इसी प्रकार के जंगल मध्य अक्षांशों में पाये जाते हैं परन्तु उनमें पाये जाने वाले वृक्ष भिन्न प्रकार के होते हैं । मध्य अक्षांशों में ये जंगल मामूली मिट्टी के पर्वतीय ढालों पर पाये जाते हैं । इनमें ओक, एश, बीच, एल्म, मेपल तथा बर्च के पेड़ पाये जाते हैं । परन्तु इनके साथ-साथ सदाबहार नुकीली पत्ती वाले वृक्ष भी पाये जाते हैं । इसीलिए इन जंगलों को मिश्रित वन भी कहते हैं ।

नुकीली पत्ती वाले वन—नुकीली पत्ती वाले कोमल लकड़ी के सदाबहार जंगल हैं जो एक लम्बी पेट्टी में उत्तरी अमेरिका तथा यूरोशिया के उत्तर में पाये जाते हैं । इनकी स्थिति अर्द्ध-आर्कटिक है परन्तु फिर भी ये दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिणी अमेरिका और न्यूजीलैण्ड के धुर दक्षिण में पाये जाते हैं । उष्णकटिबंधीय पर्वतों के ढाल पर भी इसी प्रकार के जंगल पाये जाते हैं । चीड़, स्प्रूस, फर, सीडार, हेमलॉक यहाँ के विशिष्ट पेड़ हैं । इनके तने मोटे, सिर नुकीले तथा छाल मोटी और चिकनी होती है । परन्तु ये वन बहुत घने नहीं होते । यद्यपि एक ही जगह पाये जाते हैं । इससे इन वनों में लकड़ी काटना आसान होता है और ये प्रदेश संसार में लकड़ी काटने के प्रमुख क्षेत्र हो गये हैं । साइबेरिया में दलदलों के कारण जंगलों में काम करना कठिन होता है ।

इनके अलावा कुछ और विशेष प्रकार के जंगल उन तटीय भागों में पाये जाते हैं जहाँ ज्वार का पानी आ जाता है । इनको दलदली या ज्वारीय वन कहते हैं और इनमें मैनग्रोव जाति के पेड़ प्रधान रहते हैं ।

घास के मैदान कम वर्षा के प्रदेशों में पाये जाते हैं । वर्षा जैसे-जैसे कम होती जाती है, जंगलों के स्थान पर घास के मैदान शुरू हो जाते हैं । संसार के घास के

मैदान तीन प्रकार के होते हैं—

(१) सवाना (२) स्टेपी और (३) प्रेरी ।

सवाना उष्णकटिबंधीय घास के मैदान हैं जो उष्ण मरुस्थल और मानसून प्रदेशों के बीच अन्तरिम पट्टी के रूप में पाये जाते हैं । अफ्रीका के सूडान, जम्बीबार और जम्बेसी बेसिन; दक्षिणी अमेरिका के ब्राजील तथा ओरिनिको बेसिन तथा आस्ट्रेलिया का उत्तरी भाग इसी वर्ग में आते हैं । संसार के विभिन्न प्रदेशों में इन घास के मैदानों को अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है—अफ्रीका में इनको पार्क-लैण्ड, वेनेजुला में लैनाज, ब्राजील में कैंपोंस और आस्ट्रेलिया में डाउन्स कहते हैं । घास की औसत ऊँचाई ५ से १० फीट तक होती है और इसकी जड़ें जमीन पर चटाई की तरह बिछी रहती हैं जिससे कि चलना फिरना मुश्किल हो जाता है । यहाँ-वहाँ छाते की तरह के वृक्ष भी पाये जाते हैं जिससे ये पार्क की तरह लगते हैं ।

स्टेपी छोटी घास के मैदान हैं । घास गुच्छों में उगती है । उपोष्ण प्रदेशों में विशेषकर उगती है और निम्न तथा मध्य अक्षांशों में इस प्रकार के घास के मैदान पाये जाते हैं । निम्न तथा उच्च अक्षांशों के स्टेपी की घास की ज्यादा चराई हो गई है । इसलिए आजकल मूल वनस्पति के स्थान पर केवल जंगली घास-फूस ही पाई जाती है ।

प्रेरी शीतोष्ण घास के मैदान हैं जिसमें लम्बी घनी तथा गहरी जड़ों वाली घास उगती है । घास के साथ मिले-जुले बहुत से फूल वाले पौधे भी पाये जाते हैं । प्रेरी घास के मैदानों का सब से अधिक विस्तार उत्तरी अमेरिका में है, यद्यपि इसी प्रकार के घास के मैदान दक्षिणी रूस, मध्य यूरोप, मन्चूरिया और अर्जेंटाइना में भी पाये जाते हैं । परन्तु मूल वनस्पति अब साफ की जा सकती है और अब यहाँ पर खेती की जाती है जिससे कि ये प्रदेश संसार के खाद्यान्न भंडार हो गये हैं ।

इनके अलावा बहुत से चरागाह पाये जाते हैं तो कृत्रिम रूप से तैयार किये गये घास के मैदान होते हैं । इनमें अक्सर सिंचाई की जाती है । घास बोई तथा काटी जाती है । इस प्रकार के मैदान इंग्लैंड तथा उत्तरी पश्चिमी यूरोप में खूब पाये जाते हैं ।

मरुस्थलीय झाड़ियों के अन्तर्गत उष्ण बलुहे रेगिस्तानों की नीची झाड़ियाँ तथा शीत दुन्ड्रा की काई और लिचन दोनों ही आती हैं । उष्ण मरुस्थलों में अनिश्चित वर्षा के कारण छोटी-छोटी गुच्छेदार घास, बबूल की तरह के कांटेदार पौधों तथा चट्टानी मरुछानों के समीप ताड़ व खजूर के पेड़ पाये जाते हैं । हिमाच्छादित दुन्ड्रा में लिचन, काई और सेज के पौधे तथा तटीय प्रदेशों में छोटी घास उगती है ।

जीव-जन्तु और उनका वितरण—वनस्पति की तरह जीव-जन्तु भी जलवायु की दशा पर निर्भर रहते हैं । संसार में कई प्रकार के जीव-जन्तु पाये जाते हैं—(१) भ्रमणशील कीड़े और पक्षी (२) घास खाने वाले जानवर (३) मांस खाने वाले जानवर । इसके अलावा जानवरों को जलीय, स्थलीय और वायव्य कहा जा सकता है । इसके अन्तर्गत वह जीव-जन्तु आते हैं जो जल-थल और हवा में रहते हैं । परन्तु सबसे व्यापक वर्गीकरण निम्नलिखित है—

(१) गर्म देशों के जानवर

(२) शीतोष्ण देशों के जानवर

(३) आर्कटिक प्रदेशों के जानवर

गर्म देशों में कई प्रकार के जानवर पाये जाते हैं । घने भूमध्यरेखीय वनों में केवल पक्षी, बन्दर, जहरीले कीड़े और सांप पाये जाते हैं । अधिक खुले मानसून वन में मांस खाने वाले जीव—शेर, बाघ, तेदुआ आदि पाये जाते हैं । साथ में हाथी, दरियाई घोड़ा और गेडा भी पाया जाता है । मरुस्थलीय प्रदेशों का मुख्य जानवर ऊँट है । नदियों में मगर और घड़ियाल पाये जाते हैं ।

शीतोष्ण देशों में सांप और कीड़े-मकोड़े कम पाये जाते हैं । जो कुछ मिलते भी हैं वे छोटे-छोटे तथा कम जहरीले होते हैं । बैल, भेड़, बकरी घोड़े और गधे जैसे पालतू जानवर भी पाये जाते हैं । बहुत प्रकार के पक्षी भी पाये जाते हैं । बत्तख और फेजन्ट काफी महत्वपूर्ण हैं । मांस खाने वाले जानवर कम हैं । भालू, भेड़िया और लोमड़ी ही उनमें प्रधान हैं ।

आर्कटिक प्रदेशों में स्थल पर के फरदार जानवर पाये जाते हैं और समुद्र में ह्वेल, सील तथा वालरस मिलते हैं । रोंयेदार जानवरों में ध्रुवीय भालू, लोमड़ी, सेबल तथा मस्क बैल प्रधान हैं । यहाँ के लोगों का पालतू जानवर बारहसिंगा है जिससे बहुत से घरेलू काम लिए जाते हैं

इस प्रकार प्राकृतिक बनावट और जलवायु से वनस्पति निर्धारित होती है । इन तीनों पर जीव जन्तुओं का जीवन निर्भर रहता है और ये चारों—प्राकृतिक बनावट, जलवायु, वनस्पति तथा जीव-जन्तु—पृथ्वी पर मनुष्य की परिस्थिति बनाते हैं तथा मनुष्य के रहन-सहन और उसके व्यवसाय को निश्चित करते हैं ।

शब्दावली

[भौतिक भूगोल के कुछ सामान्य पारिभाषिक शब्द तथा ब्रिटिश एसोसियेशन द्वारा दी गई व्याख्यायें]

धरातल (Earth's surface)—यद्यपि भूगोल धरातल का ही अध्ययन करता है, इसके अन्तर्गत वायुमण्डल और भूपृष्ठ को भी शामिल कर लेते हैं क्योंकि इन दोनों का धरातल पर असर पड़ता रहता है ।

भूगोल (Geography)—यह वह विज्ञान या शास्त्र है जो धरातल का वर्णन करता है और जिसमें विविध क्षेत्रों के अन्तर तथा पारस्परिक सम्बन्ध को विशेष रूप से समझाया जाता है ।

प्रदेश (Region)—धरातल का वह क्षेत्र जो एक या अधिक विशेषताओं के कारण अन्य निकटवर्ती क्षेत्रों से इस प्रकार भिन्न होता है कि एक अलग सम्पूर्ण इकाई मालूम पड़े । परस्पर अन्तर के आधार पर प्रदेशों को आर्थिक, राजनीतिक, प्राकृतिक आदि कहा जा सकता है ।

प्रादेशिक भूगोल (Regional Geography)—विशेष प्रदेशों या क्षेत्रों के भौगोलिक अध्ययन को प्रादेशिक भूगोल कहते हैं ।

विश्व भूगोल (World Geography)—संसार का प्रादेशिक भूगोल ।

सामान्य भूगोल (General Geography)—(१) सम्पूर्ण संसार का भौगोलिक अध्ययन ।

(२) सम्पूर्ण संसार को प्रभावित करने वाले तथ्यों का अध्ययन ।

प्राकृतिक भूगोल (Physical Geography)—(१) पृथ्वी की स्वाभाविक विशेषताओं का भौगोलिक अध्ययन ।

(२) पृथ्वी के धरातल के प्राकृतिक रूपों तथा जड़ तत्वों का भौगोलिक विवेचन ।

प्राणि भूगोल (Biogeography)—(१) जीवित प्रकृति का भौगोलिक अध्ययन ।

(२) प्राणियों—जीव-जन्तुओं का भौगोलिक अध्ययन ।

भौतिक भूगोल (Physiography)—यह शब्द कई प्रकार से प्रयोग में लाया जाता है । इसे या तो प्राकृतिक भूगोल के पर्यायवाची रूप में प्रयोग करते हैं या धरातल के भौतिक रूपों के भौगोलिक अध्ययन तक ही सीमित रखते हैं ।

भूप्रकृति विज्ञान (Geomorphology)—स्थल रूपों के उत्पत्ति विषयक अध्ययन या शास्त्र को भूप्रकृति विज्ञान कहते हैं ।

मानव भूगोल (Human Geography)—धरातल के उन रूपों, वस्तुओं तथा तत्वों का अध्ययन जो या तो मनुष्य और उसकी क्रियाओं से सम्बन्धित होते हैं या मनुष्य की क्रियाओं के फलस्वरूप बने होते हैं।

राजनीतिक भूगोल (Political Geography)—(१) मानव भूगोल की वह शाखा है जो विभिन्न राज्यों की सीमाओं, विभागों, राज्यविस्तार तथा प्राकृतिक साधनों का अध्ययन करती है।

(२) मानव भूगोल पर राजनीतिक क्रिया कलापों के प्रभाव का अध्ययन।

आर्थिक भूगोल (Economic Geography)—(१) भूगोल की वह शाखा जिसके अन्तर्गत हम वस्तुओं और पदार्थों का उत्पादन, वितरण, विनिमय तथा उपभोग का अध्ययन करते हैं।

(२) धरातल के विभिन्न प्रदेशों के बीच अन्तर उत्पन्न करने वाले आर्थिक प्रयत्नों का अध्ययन।

बन्धुर (Relief)—(१) धरातल के किसी भाग की प्राकृतिक बनावट का उच्चता में अन्तर के दृष्टिकोण से अध्ययन।

(२) धरातल के किसी भाग की ऊँची-नीची प्राकृतिक बनावट।

स्थानावृत या भूमिति (Topography)—किसी प्रदेश के बन्धुर, प्राकृतिक बनावट तथा स्वाभाविक या मानवी स्थायी तत्वों का विस्तृत वर्णन विशेषकर किसी मान चित्र पर उनका स्पष्ट चित्रण भूमिति या स्थानावृत कहलाता है।

भूप्रकृति (Orography)—(१) धरातल या उसके किसी विशेष भाग की प्राकृतिक बनावट का वर्णन।

(२) किसी मान चित्र पर बन्धुर का चित्रण।

स्थलरूप विज्ञान (Morphology)—स्थल रूप, उनकी बनावट तथा विकास का अध्ययन।

अन्तरस्तल (Base-level)—वह तल जिसके नीचे आवरणक्षय सम्भव नहीं होता। स्थलखंड का सामान्य अन्तरस्तल तो समुद्रतल है परन्तु स्थानीय या अस्थायी अन्तरस्तल और भी हो सकते हैं।

आवरणक्षय चक्र (Cycle of Erosion)—आवरणक्षय द्वारा किसी स्थलखंड के अन्तरस्तल तक पहुँचने की विभिन्न स्थितियाँ, दशा तथा परिवर्तन का क्रम आवरणक्षय चक्र कहलाता है। आवरणक्षय द्वारा उच्च भूखंड निम्न तल तक पहुँचने में कितना समय लेता है, उसको इसी के अन्तर्गत लेते हैं।

आवरणक्षय की स्थितियाँ (Stages of erosion)—आवरणक्षय चक्र की तीन स्थितियाँ होती हैं—प्राथमिक, माध्यमिक तथा अन्तिम। स्थितियों की विशिष्ट प्राकृतिक बनावट को नवीन, प्रौढ़ और पुरातन कहते हैं।

आवरणक्षय का मैदान (Peneplain)—रूप आकार रहित मैदान जो काट-छांट द्वारा बना होता है। इसका वहाँ के रचनाक्रम से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता और इस पर अन्तरस्तल की समीपता का नियन्त्रण रहता है।

नवजीवन संचार (Rejuvenation)—विकास क्रम की प्रौढ़ अवस्था

में आवरणक्षय के दर के बढ़ जाने से नवीन स्थलरूप या प्राथमिक स्थिति जैसी प्राकृतिक बनावट के उत्पन्न हो जाने को नवजीवन संचार कहते हैं ।

निक पाइन्ट (Knick-point)—नदी के प्रवाह मार्ग में ढाल का बदलना ।

मोनाडनक (Monadnock)—आवरणक्षय के मैदान में उठा हुआ अवशिष्ट पर्वत ।

ढाल खंड (Profile)—धरातल पर खिंची रेखा पर दिए हुए आधार तल के अनुसार बनाया गया लम्बाकार खंड चित्र । नदी के मार्ग या किसी घाटी व जल विभाजक के आरपार का खंड चित्र ।

निक्षेप (Aggradation)—शिलाखंड के जमाव द्वारा धरातल की निर्माण विधि ।

काट-छांट (Degradation)—आवरणक्षय और शिलाखंडों के हटाव द्वारा धरातल को नीचा करने की विधि ।

अन्तरस्थिति (Grade)—जब न तो काट-छांट होती है और न निक्षेप तो धरातल या स्थलरूप को अन्तरस्थिति में कहा जाता है ।

सम ढालखंड (Profile of Equilibrium)—अन्तरस्थित नदी के ढाल-खंड को सम ढालखंड कहते हैं ।

पर्वतीय शुष्क मैदान (Pediment)—तीव्र ढाल वाले पर्वत के आधार पर काट-छांट द्वारा बना हुआ चट्टानी चबूतरा जो कि शुष्क व अर्द्धशुष्क प्रदेशों में अक्सर बन जाता है ।

उच्छृङ्खल (Scarp)—शिलाखंड या ढाल जैसी तीव्र चट्टान जो निम्नतल वाले उच्च धरातल पर स्थित होती है । इसका तीव्र ढाल कठोर चट्टान की हल्की झुकी हुई परत के झुकाव के बिल्कुल विपरीत होता है और सम्पूर्ण रूप एक सड्युष्टा पूर्ण श्रेणी जैसा प्रतीत होता है ।

पर्वत खंड (Escarpmnt)—लगातार दूर तक फैले हुए उच्छृङ्खल ढाल के लिए प्रयुक्त सामान्य पारिभाषिक शब्द ।

उच्छृङ्खल प्रदेश (Scarp land)—पूर्णतया समानान्तर या करीब-करीब समानान्तर उच्छृङ्खल श्रेणियों से बना प्रदेश । दो उच्छृङ्खल श्रेणियों के बीच घाटी होती है ।

उत्क्षेप अनुरूप जलप्रवाह (Consequent Drainage)—धरातल के प्राथमिक ढाल के अनुसार बना जलप्रवाह ।

यथापूर्व जलप्रवाह (Antecedent Drainage)—स्थानीय उत्क्षेप के होते हुए भी अपने पहिले स्थान पर ही मूल दिशा में बहती हुई जलप्रणाली ।

पूर्वआरोपित जलप्रवाह (Superimposed or Epigenetic Drainage)—ऊपर की कोमल चट्टान पर बनी जल प्रणाली जो अब नीचे की कठोर चट्टान पर स्थित है क्योंकि आवरणक्षय द्वारा नीचे की चट्टानें बाहर आ गई हैं ।

बाद में बनी सहायक नदियाँ (Subsequent Tributaries)—संध, दरार या भ्रंशस्तर के अनुरूप बनी जलधाराएँ जो उत्क्षेप अनुरूप जलप्रवाह के बाद बनती हैं और मुख्य धारा में जा मिलती हैं ।

ढाल के विपरीत उपधारायें (Obsequent Tributaries)—बाद में बनी सहायक नदी घाटी से जाकर मिलने वाली सहायक धारायें जो उत्क्षेपानुरूप नदियों की विपरीत दिशा में बहती हैं और सहायक नदियों में आ मिलती हैं ।

आकस्मिक जलप्रवाह (Insequent Drainage)—आकस्मिक घटना-चक्र के फलस्वरूप बनी नदीधाराये जिनकी उत्पत्ति का कोई विशिष्ट कारण नहीं बतलाया जा सकता है ।

सहायक ग्रंथ

१. The Earth : Its Origin, History and Physical Constitution लेखक—H. Jeffrey.
२. The Unstable Earth लेखक—J.A. Steers.
३. The Physical Basis of Geography
लेखक—S.W. Wooldridge and R.S. Morgan.
४. A Modern Geography लेखक—S. Evelyn Thomas.
५. Elements of World Geography
लेखक—J. Riley Staats and George E. Haraing.
६. A Dictionary of Geography लेखक—W.J. Moore.
७. Our Mobile Earth लेखक—R.A. Daly.
८. Earth Sculpture लेखक—J. Geikie.
९. Earth Features and their Meaning
लेखक—W.H. Hobbs.
१०. The Great Ice Age लेखक—J. Geikie.
११. Physical Geography लेखक—Morris Davis.
१२. The Earth and Man लेखक—H. Davis.
१३. Asia's Land and People लेखक—George Cressey.
१४. Geomorphology लेखक—C. A. Cotton.
१५. College Physiography लेखक—Tarr and Martin.
१६. Elements of Geography : Physical and Cultural
लेखक—Finch and Trewartha.
१७. Physical Elements of Geography
लेखक—Finch and Trewartha.

